श्रीतन्त्रालोकः

खण्डः १

आचार्यकृष्णानन्दसागरः

٩١-١

श्रीशिवोऽहंसागरग्रन्थमालायाः तृतीयं पुष्पम्

श्रीमन्महामाहेश्वराचार्यवर्य–

श्रीमदभिनवगुप्तविरचितः

श्रीतन्त्रालोकः

भागः –१

(आह्निकाः १–६)

श्रीमन्महामाहेश्वराचार्यवर्य-

श्रीजयरथविरचित-

विवेक-

टीकायुतः

अनन्तश्रीविभूषित १००८ महामण्डलेश्वर

अखण्डानन्दसागरमहाराजानां

निदेशेन

सर्वदर्शनाचार्यश्रीकृष्णानन्दसागरेण

भूमिकया सह सम्पाद्य

प्रकाशितः

Published by
© **Acharya Krishnananda Sagar**
Shri Madhavanand Ashram
P. O.—Dharmaj : Dist.—Kheda
GUJARAT
&
Shri Totakachary Ashrama,
P. O.—Uttar Kashi U. P.

First Edition
1984

Price Rs. 200/-

Copies can be had from
Shri Om Prakasha Saraf
D 38/135 Bans Phatak
VARANASI-221 010

Shri Aravind Bhai P. Patel
Vill.—Khandhali : P.O.—Matar : Dist—Kheda
GUJARAT

Printed by
Varanasi Mudran Sansthan D 51/42 Suraj kund Varanasi.

निदेशिका

भूमिका	१–९
प्रथममाह्निकम्	१–१३२
द्वितीयमाह्निकम्	१३३–१५१
तृतीयमाह्निकम्	१५२–२७२
चतुर्थमाह्निकम्	२७३–३९५
पञ्चममाह्निकम्	३९६–४५८
षष्ठमाह्निकम्	४५९–५३८

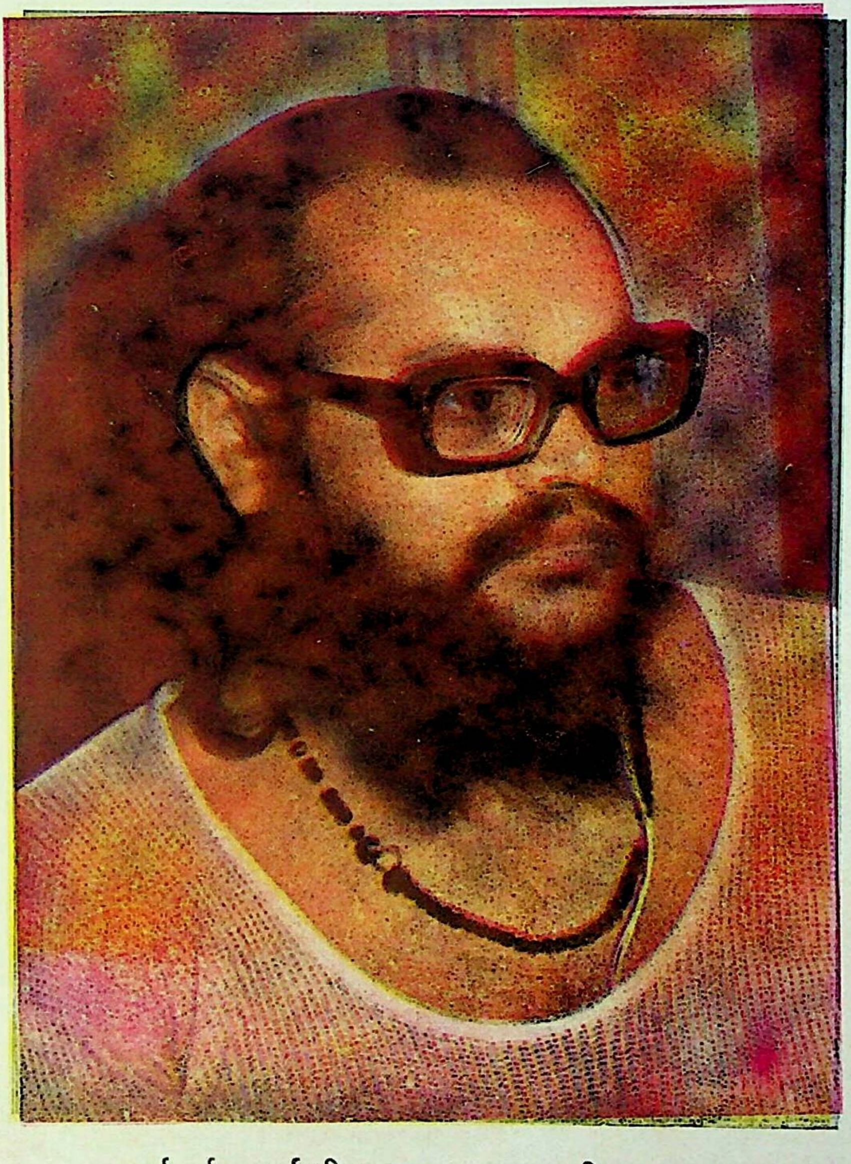

सर्वदर्शनाचार्य श्रीकृष्णानन्द सागर जी महाराज

भूमिका

निगम की दृष्टि में आगम का स्थान :

निगम और आगम के द्वारा आध्यात्मिक तत्त्वज्ञान का मार्ग प्रशस्त हुआ है। समस्त वेदराशि कर्मकाण्ड, उपासनाकाण्ड और ज्ञानकाण्ड में विभाजित हुई है। किन्तु वेदों का तात्पर्यार्थ मुख्यरूप से तत्त्वज्ञान के प्रतिपादन में ही अभिहित है। अन्य सभी बातें तो गौण मानी जायेंगी। यद्यपि वेदों का ज्ञान-वैभव अपने आप में परिपूर्ण है, किन्तु दार्शनिक रीति से विचार करने पर यही सिद्ध होता है कि जो निगम-वेदशास्त्र से कार्य अवशिष्ट रहा है, वह अवशिष्ट कार्य आगम-तन्त्रशास्त्र ने पूर्ण किया है। इसलिए आगमशास्त्र को निगमशास्त्र का पूरक मानने में कोई अतिशयोक्ति नहीं है। वेदों का प्रादुर्भाव परम ब्रह्म परमात्मा से हुआ है और इस विषय में यजुर्वेद का प्रमाण भी प्राप्त होता है—

'तस्माद्यज्ञात् सर्वहुतः ऋचः सामानि जज्ञिरे।
छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत ॥' (३१।७)

उस सर्वज्ञ परमात्मा से ऋग्, यजुः, साम और अथर्ववेद उत्पन्न हुए हैं। किसी व्यक्ति द्वारा वेदों का निर्माण नहीं हुआ है। क्योंकि 'ऋषयो मन्त्रद्रष्टारः' ऋषि लोग तो मात्र मन्त्र के द्रष्टा ही थे। 'यस्य निःश्वसितं वेदाः' यह वेद राशि तो परमेश्वर के श्वास-निःश्वास की भाँति ही है।

अच्छा तो, परमात्मा द्वारा प्रणीत वेदराशि मान ली जाती है किन्तु आगमशास्त्र की उत्पत्ति किससे मानी जाय? उत्तर यही है कि तन्त्रशास्त्र वेद के पूरक हैं इसमें किञ्चित् भी सन्देहास्पद नहीं है। विचार-विमर्श की दृष्टि से अथवा साधना की परम्परा के रूप में तान्त्रिक दर्शन वेदराशि के समकालीन या इससे भी प्राचीन हो सकता है। क्योंकि इस विषय में श्रीपुष्पदन्ताचार्य के वाक्यों का उल्लेख मिलता है—'भवः शर्वो रुद्रः पशुपतिरथोग्रः सहमहांस्तथा भीमेशानाविति यदभिधानाष्टकमिदम्। अमुष्मिन् प्रत्येकं प्रविचरति देव श्रुतिरपि' इत्यादि। यह तान्त्रिक दर्शन की विचारधारा वैदिक परम्परा से भी प्राचीन है; क्योंकि वेदों में सर्वत्र शिव के विभिन्न नामों का संकेत प्रचुर मात्रा में पाया जाता है। इस दर्शन की

परम्परा के आद्य प्रवर्तक भगवान् शंकर ही हैं। यही बात श्रीसोमानन्दपाद की 'शिवदृष्टिः' से सिद्ध होती है कि स्वयं शिव ने दुर्वासा मुनि को इसके प्रचारार्थ आदेश दिया था। इसलिए कि कालक्रम से इस तान्त्रिक परम्परा का सर्वथा जनमानस से लोप हो गया था। भगवान् शिव का आदेश पाकर दुर्वासा मुनि ने इस दार्शनिक परम्परा को पुनः जीवित कर प्रतिष्ठित किया है। हमने इस दर्शन की परम्परा का "ईश्वरप्रत्यभिज्ञा" की प्रस्तावना में यथावत् उल्लेख किया है।

यह शैवाद्वैत शास्त्र की लिखित रूप से परम्परा श्रीवसुगुप्त एवं श्रीसोमानन्दपाद से प्रारम्भ हुई है। किंवदन्ती है कि भगवान् परमशिव द्वारा स्वप्न में श्रीवसुगुप्त को शिवसूत्रों का ज्ञान प्राप्त हुआ था। इसके अनन्तर ही श्रीवसुगुप्त द्वारा 'स्पन्दकारिका' आदि ग्रन्थों का निर्माण हुआ है। इस प्रकार इस तान्त्रिक दर्शन की परम्परा उत्तरोत्तर पुष्पित एवं पल्लवित हुई है। श्रीउत्पलदेव ने 'शिवदृष्टिः' के आधार पर 'ईश्वरप्रत्यभिज्ञा' आदि ग्रन्थों की रचना की है। श्री आचार्य अभिनवगुप्त द्वारा सर्वाधिक इस तान्त्रिक दर्शन का विकास हुआ है। इन्होंने तन्त्रालोक जैसे विशालकाय ग्रन्थों का निर्माण कर इस शैवाद्वैत शास्त्र को अमर बना दिया है। इनका काल दसवीं शताब्दी के पूर्व माना जाता है।

तन्त्रालोक में अद्वैतवाद :

यह शैवाद्वैत शास्त्र अपने आप में परिपूर्ण है; क्योंकि जिस अद्वैतता का उपनिषदों द्वारा विवेचन हुआ है उससे कहीं अधिक स्पष्टतया एवं युक्तिपूर्वक इस तान्त्रिक दर्शन में पाया जाता है। इसका अपना काश्मीरदर्शन औपनिषद सिद्धान्त से कुछ वैशिष्ट्य रखता है। यह हम इस दर्शन के सम्यग्रूप से अध्ययन करने पर ही अवगत कर सकते हैं, व्यक्ति ऊपरी अवलोकन से गहनता को नहीं पा सकता है। अद्वैतज्ञान ही मोक्ष का हेतु है और द्वैतज्ञान बन्धनकारक है। जैसा कि "अज्ञानसंसृतेर्हेतुर्ज्ञानं मोक्षैककारणम्।" तन्त्रालोक (१-२२) जीवात्मा के लिये अज्ञान ही संसारबन्धन का कारण बन जाता है और अपने आत्मस्वरूप का ज्ञान मोक्ष का हेतु हो जाता है। तत्त्वज्ञानियों की दृष्टि में जगत् अद्वैत रूप ही है; क्योंकि इन लोगों की दृष्टि ज्ञानमय हो गई है। इसलिये तत्त्वज्ञानियों के लिये द्वैतज्ञान नहीं रह जाता है। श्रीजयरथ की विवेक व्याख्या के अनुसार यह अद्वैततत्त्व ही सम्पूर्ण दर्शनशास्त्रों में अनुस्यूत है; क्योंकि अद्वैततत्त्व

भेदप्रथा को भी अपने में आत्मसात् कर लेता है और यही इस दर्शन का वैशिष्ट्य भी है कि भेदप्रथा से युक्त यह संसार अद्वैतरूप परम शिव का ही स्वातन्त्र्य-विस्फार है। शिव ही पृथिवी तत्त्व पर्यन्त सर्वत्र अपने आत्मस्वरूप का अवभासन करते हैं। शिव से संसार की अभिन्न दशा का विवेचन करते हुए आचार्य श्री अभिनवगुप्त कहते हैं कि जैसे दर्पण में परस्पर भिन्नरूप से प्रतिविम्बित वस्तु-पदार्थ दर्पण से अभिन्न होते हुए भी पृथग्रूप से प्रतीत होते हैं। इसी प्रकार परम शिव अपनी स्वातन्त्र्य-शक्ति से अपने संविद् ज्ञान स्वरूप में अवस्थित विश्व को भिन्नतया अवभासित करते हैं। 'सर्वो ममायं विभव इत्येवं परिजानतः। विश्वात्मनो विकल्पानां प्रसरेऽपि महेशता ॥ (ई० प्र०) इस प्रकार विकल्पसृष्टि भी महेश्वर का ही ऐश्वर्य है और इसमें माहेश्वर्यभाव यथावत् बना रहता है।

अनुभूति के आधार स्तम्भ पर तान्त्रिक दर्शन :

आत्मा का स्वरूप अनुभवगम्य है और अनुभव करने वाले तत्त्वदर्शियों के द्वारा प्रणीत यह तान्त्रिक दर्शन अपनी एक अलौकिक विशिष्टता रखता है। इसलिये इस कश्मीर शैवाद्वैत आगम के रचयिता 'आचार्य अभिनवगुप्त' तन्त्र परम्परा को 'अनुभव सम्प्रदाय' भी कहते हैं। तथा 'परात्रिंशिका विवरण' में अनुभवपरिशीलनेन····इत्यादि वाक्यों से उल्लेख मिलता है। तार्किक विचार दृष्टि से निगम अर्थात् निगमन करना होता है कि जिस आधारभूमि पर वाक्यों को मान करके एक सारभूत अर्थ का निष्कर्ष निकालना है और आगम अर्थात् आगमन इसमें स्वीकार करना नहीं है अपितु अनुभूति के आधार पर वाक्यों को स्वीकार कर सत्यवस्तु का बड़े ही गहनरूप से अध्ययन करना है। अतः तन्त्र-आगम अनुभूति की आधार-भूमि पर उत्पन्न हुआ एक पारमार्थिक तत्त्वज्ञान है। तत्त्वज्ञानियों का यही बौद्धिक तत्त्वज्ञान 'तन्त्रालोक' के रूप में हमारे सामने प्रत्यक्ष है इस प्रकार अनुभूति की आधारभूमि में पल्लवित हुआ यह तान्त्रिक दर्शन वेद का पूरक ही सिद्ध होता होता है अथवा यही कहना होगा कि वेद द्वारा जो तत्त्वज्ञान प्राप्त है वह तन्त्र ने युक्तिपूर्वक व्यावहारिक क्षेत्र में अनुभव प्रमाण के बल से परिपुष्ट किया है। श्रुति की पुष्टि तो अनुभूति से ही हुई है। इसीलिए पूज्यपाद श्रीशङ्कराचार्य का अद्वैत सिद्धान्त सर्वत्र सर्वोत्कृष्टता को प्राप्त हुआ है। शांकर सिद्धान्त अनुभूति की आधार भूमि पर अत्यधिक परिपुष्ट देखा जाता है; क्योंकि श्रुति वाक्यों का समन्वय बड़े

ही अलौकिक ढंग से किया है। इसलिए शांकर सिद्धान्त अपने आप में परिपूर्ण है। आज के अर्ध शिक्षितजनों ने उस पर आक्षेप किये हैं कि किन्तु यह मात्र उनकी वाचालता है।

वेदान्त वाक्य श्रद्धा-विश्वास एवं मान्यता की वस्तु न रहकर अनुभूति का विषय बन करके सत्यरूप में प्रतिष्ठित हो गया। यह शैवाद्वैत शास्त्र काल्पनिक विचारों के आधार स्तम्भ पर स्थित नहीं है अपितु अनुभूति आध्यात्मिक सत्यों पर आधारित है।

भारतीय दर्शनशास्त्र का आधार स्तम्भ उच्च आध्यात्मिक अनुभव हैं। आचार्य श्री अभिनवगुप्त द्वारा विरचित यह द्वादश खण्डों में विभक्त विशालकाय ग्रन्थ आत्मतत्त्व का विवेचक होता हुआ जीवन के गहन-गम्भीर रहस्य को भी समझाता है। यद्यपि भारतीय संस्कृति का मूल वेद है। किन्तु धार्मिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक धारा में आगम शास्त्र का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है।

शिव की सृष्टिरूप में अभिव्यक्ति :

भगवान् परमशिव से ही समस्त चराचर पदार्थ आविर्भूत होते हैं और पुनः उन्हीं तत्त्व में विलीन हो जाते हैं। शिव की इच्छा मात्र से ही यह सारा का सारा विश्व अभिव्यक्त हो जाता है विश्व शिव की अभिव्यक्त दशा में भी शिव से अभिन्न ही रहता है।

'यथा न्यग्रोधवीजस्थः शक्तिरूपो महाद्रुमः।
तथा हृदयबीजस्थः विश्वमेतच्चराचरम् ॥'

अर्थात् जैसे वटवृक्ष के वीज में शक्तिरूप में बड़ा भारी वृक्ष स्थित रहता है उसी प्रकार परम शिव में यह स्थावर-जङ्गमरूप विश्व अवस्थित है इसकी प्रतीति मात्र पृथग्रूप से भासती है।

यद्यपि शिव का स्वभाव स्वातन्त्र्य हैं तो भी वे स्वयं पशुभाव को प्राप्त कर लेते हैं; क्योंकि शिव अपनी स्वातन्त्र्य-शक्ति से ही सृष्टि करते हैं और अनेक रूपों में अभिव्यक्त हो जाते हैं। जैसे एक ही गगनस्थ सूर्य अनेक जलाशयों में प्रतीत होता है। ऐसी स्थिति में भी परम शिव के मूल-भूत स्वरूप में किसी प्रकार का भी परिवर्तन नहीं आता है जो कुछ परिवर्तन भासित होता है वे सव प्रतीतिमात्र विषय हैं।

परमशिव अपने आप में परिपूर्ण है और उसे न किसी भी वस्तु-पदार्थं की अपेक्षा है। वस्तुतः सृष्टिरूप कार्यं में उसका कोई प्रयोजन भी नहीं है, तो भी जिज्ञासा यह होती है कि उसे सृष्टिरूप कार्य करने की अपेक्षा क्यों हुई ? या उसमें यह सब प्रपञ्चरूप कार्य किसी निमित्त को लेकर हुआ ? क्योंकि "प्रयोजनमनुद्दिश्य मन्दोऽपि न प्रवर्तते' इस युक्ति से सिद्ध होता है कि बिना प्रयोजन के मूढजन भी किसी कार्यं में प्रवृत्त नहीं होता है तो यह महान् सर्ववेत्ता पुरुष कैसे बिना किसी उद्देश्य से प्रवृत्त हुआ ? तन्त्रालोक के अनुसार उत्तर यही है कि यह विश्व शिव का लीला-विलास है तथा 'प्रत्य-भिज्ञाहृदयम्' में 'नमः शिवाय सततं पञ्चकृत्यविधायिने' परमशिव पञ्च-कृत्यकारी हैं और यदि परमशिव सृष्टिरूप कार्यं सम्पादन नहीं करते और अपने आप में स्थित रहते तो यह परम तत्त्व न होकर घट-घट जैसे विचित्र ही कुछ भासित होता। अथवा उपनिषदों के शब्दों में परमात्मा 'एकाकी न रमते' समष्टिभाव को लेकर यह संसार परमात्मा का आनन्दमय क्रीडा मात्र है; क्योंकि परमेश्वर का स्वभाव ही परमेश्वरता है। इसलिए इस दर्शन के अनुसार सृष्टिरूप कार्य परमशिव से स्वभावतः माना जाता है और स्वभावसिद्ध वस्तु में कारण का प्रश्न ही नहीं उठ सकता है; क्योंकि स्वभाव से होने वाले कार्यं में क्रिया किसी हेतु को लेकर नहीं हुआ करती है अथवा तार्किक दृष्टि से कोई निमित्त माना जाय तो यही समझ में आता है कि उसका कारण स्वभाव में ही निहित हैं अर्थात् अपने आत्मभाव में स्थित होकर प्रपञ्च को देखने में एक प्रकार का आनन्द होता है। अतः परमशिव आनन्द के लिए ही सृष्टि, स्थिति एवं लय निरन्तर करते रहते हैं। जैसे अग्नि का दाह करना स्वभाव है। इसी प्रकार शिव का स्वभाव ही पदार्थों को आभासित करना है और यह स्वतन्त्र स्वभाव ही उसकी पञ्चकृत्यकारी क्रीडा मानी जाती है। सृष्टि की अभिव्यक्ति में मात्र उद्देश्य उसके अपने आत्मविलास से अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं हो सकता है अथवा श्रीसोमानन्दपाद के शब्दों में यही सिद्ध होता है कि यह परमशिव का सृष्टिरूप कार्य आनन्द-प्रमोद के रूप में ही लक्षित होता है। जैसे चक्रवर्ती सम्राट् नाना प्रकार के वाहनों को अपने अधीन रखता हुआ भी अपने आनन्द-प्रमोद के लिए पैदल चलता है। सम्राट् राजा का पैदल गमन करने में आनन्द-प्रमोद के अतिरिक्त कोई भी निमित्त नहीं हो सकता है। इसी प्रकार परमशिव अपनी स्वातन्त्र्य-शक्ति द्वारा इच्छा मात्र से ही शिवतत्त्व से लेकर धरणी पर्यन्त प्रमातृ-प्रमेय, विषयी-विषयादि विभिन्न

रूपों में क्रीडा करते हैं। 'तस्य स्वातन्त्र्यभावो हि किं किं तन्न विचिन्तयेत्। (त०–१–१३६) अर्थात् परमशिव की स्वातन्त्र्य-शक्ति से सब कुछ सम्पन्न होता है और स्वातन्त्र्य-शक्ति ही विश्व का आभास करने में एक मात्र निमित्त है। बन्ध-मोक्ष और सृष्टि-लय आदि उनका स्वातन्त्र्य स्वभाव ही है। इसलिए परम शिव को सच्चिदानन्द स्वरूप माना जाता है और इसी से वे कहीं क्रम से, कहीं अक्रम से तथा अभेद, भेदाभेद एवं भेदरूप से अवभासित होते हैं। शिव की नर्तक संज्ञा अनेकविध भूमिकाओं में अपनी इच्छावशात् अभिनय करने से हुई है। यह जगत् शिव द्वारा ही अभिव्यक्त होता है और अभिव्यक्ति के अनन्तर भी इसका तादात्म्यभाव शिव में बना रहता है इसलिए अभेद दोनों में एक भाव है। अभिव्यक्त होने के पहले अव्यक्तावस्था में सृष्टिरूप कार्य शिव में वैसे ही अवस्थित रहता है जैसे कुम्भकार द्वारा निर्मित घट उसके मन में अव्यक्त दशा में रहता है। शिव की इच्छा-शक्ति से ही विश्व के रूप में अभिव्यक्त होती है और शिव को सृष्टिरूप कार्य करने के लिए किसी बाह्य उपकरणों की अपेक्षा भी नहीं है; क्योंकि शिव सर्वशक्तिमान् हैं इसलिए वे अपने आप में अपनी स्वातन्त्र्य-शक्ति की इच्छा के द्वारा सृष्टिरूप कार्य अभिव्यक्त कर देते हैं। परम शिव स्वात्म-विलास के निमित्त सृष्टि, स्थिति, प्रलय, निग्रह और अनुग्रहरूप पञ्चकृत्यों को सम्पादित करते हुए भी अपने परिपूर्ण स्वरूप से च्युत नहीं होते हैं और मायिक अशुद्धभाव किसी भी स्थिति में उन्हें स्पर्श नहीं करता है। सूर्यवत् सदैव उनकी परिशुद्धता बनी रहती है। 'नहि तस्य स्वातन्त्रस्य कापि कुत्रापि खण्डना' (त० २।४७) इसलिए आगम शास्त्रों में शिव को विश्वोत्तीर्ण एवं अनुत्तर शब्दों से सम्बोधित किया जाता है।

शिव और विश्व में तारतम्य :

यद्यपि शिव और विश्व में तत्त्व की दृष्टि से एकरूपता है तो भी स्वरूपगत भेद पाये जाते हैं। विश्व शिवमय है किन्तु शिव नहीं हैं। क्योंकि समस्त विश्व शिव में स्थित होता हुआ भी उससे पृथक् है इसलिए कि विश्व को शिव के समान सत्यरूप से स्वीकार नहीं किया जायेगा और यदि विश्व को भी शिव के समान सत्यरूप में मान लेते हो तो विश्व की अपनी एक स्वतन्त्रसत्ता सिद्ध होगी इससे अद्वैतरूप का भंग हो जायेगा इसलिए तन्त्रालोक में विश्व को शिव का आभास ही माना गया है। विश्व की शिव

से एकता दिखलाने के लिए यह कहा जाता है कि विश्व शिव का एक मात्र प्रतिबिम्ब है और यही विश्व और शिव का स्वरूपगत भेद भी सिद्ध होता है। जबकि प्रतिबिम्ब परोक्षरूप में बिम्ब ही है। किन्तु सर्वथा प्रतिबिम्ब बिम्ब नहीं होता है। बिम्ब पारमार्थिकरूप है और प्रतिबिम्ब आभास मात्र है। जैसे प्रतिबिम्ब तत्त्व की दृष्टि से शिवरूप ही है। किन्तु परमार्थदृष्टि से आभास है वैसे ही विश्व तत्त्व की दृष्टि से शिवरूप ही है किन्तु परमार्थतया शिव का आभास मात्र है।

वस्तुतः बाह्य-पदार्थ शिव का प्रतिबिम्ब है। कुछ लोग प्रतिबिम्ब के समान वस्तु-पदार्थ को नहीं मानते हैं इसका उत्तर यही है कि—

"ननु बिम्बरूपविहरे प्रतिबिम्बं कथं भवेत्।
किं कुर्मो दृश्यते तद्धि ननु तद्बिम्बमुच्यताम्॥" (त० ३।५२)

अर्थात् बिम्ब के बिना प्रतिबिम्ब सर्वथा असम्भव है इसलिए वस्तु-पदार्थ का बोध तो प्रतिबिम्ब से ही सम्भव है ऐसी स्थिति में बिम्बरूप में पदार्थ की पारमार्थिक सत्ता को स्वीकार करना ही पड़ेगा। अच्छा तो, प्रतिबिम्ब को मानने के लिए बिम्बरूप पदार्थ की पारमार्थिक सत्ता मानी जाती है तो हम शिव में पदार्थ की पारमार्थिक सत्ता को स्थित न स्वीकार करके उस पदार्थ को ही मान लेते हैं। इससे तो फिर पदार्थ की सत्ता अपना अलग ही अस्तित्व रखने वाली हो जाती है। इसके समाधान में यही उत्तर देते हैं कि बिम्ब के बिना प्रतिबिम्ब स्वप्न में देखा गया है। और वस्तु-पदार्थ के प्रतिबिम्बत होने के लिए बिम्ब का होना कोई जरूरी नहीं है; क्योंकि जो भी हम वस्तु-पदार्थ स्वप्नकाल में देखते हैं उनका कोई बिम्ब नहीं होता है वे सभी प्रतिबिम्बत ही होते हैं और इससे विश्व बिना बिम्ब के भी प्रतिबिम्बित हो सकता हैं; क्योंकि स्वप्नकाल में बिना बिम्ब के वस्तु-पदार्थ का प्रतिबिम्बित होना देखा गया है। तथा च विश्व को प्रतिबिम्ब के समान स्वीकार करने में जिज्ञासा करते हैं कि चिद्रूप में ये सारे प्रत्यय कैसे उत्पन्न होते हैं ? या स्वाभाविक है ? आभासवादी का समाधान यह है कि चिद्रूप में ये सारे प्रत्यय स्वाभाविक ही होते हैं और चिद्रूप से प्रसृत होकर प्रत्यय वस्तु-पदार्थ के स्वरूप को निर्मित करते हैं। किन्तु आचार्य अभिवनगुप्त के मतानुसार चिद्रूप में प्रत्यय का होना स्वाभाविक होता हुआ भी आवश्यक नहीं है एवं इसका पदार्थ के रूप में आभासित होना भी जरूरी नहीं हैं। किन्तु परमशिव की स्वातन्त्र्य-शक्ति पर आधारित

रहता है। जैसा कि इन्होंने अपने 'तन्त्रसार' में दिखलाया है कि—

'अन्तर्विभाति सकलं जगदात्मनीह यद्वद्विचित्ररचना मकुरान्तराले।
बोधः पुनर्निजविमर्शनसारवृत्त्या विश्वं परामृशति नो मकुरस्तथा तु॥'

विश्व की अभिव्यक्ति शिव का स्वातन्त्र्य विस्फार है और उसे वस्तु-पदार्थों की आभासरूपता की दृष्टि से आभास नाम दिया गया है एवं जगत् के पदार्थों को आभासरूप इस निमित्त को लेकर कहा जाता है कि ये सभी पदार्थ शिव से ही आभासित होते हैं।

परमशिव द्वारा भासित विश्व में तादात्म्यभाव दर्पणगत नगर के समान है; क्योंकि शिव दर्पण में दृश्यमान नगरी के समान अपने स्वरूपात्मक भित्ति से अभिन्न होता हुआ भी यह विश्व विभिन्नरूप से प्रकाशित करते हैं। अन्तः स्थित पदार्थ राशि को बाह्य की ओर प्रकट करते हैं और यह विश्व चिद्रूप शिव से भिन्न किसी भी स्थिति में नहीं है और न दर्पण से अतिरिक्त प्रतिबिम्ब की कोई अपनी स्वतन्त्रसत्ता भी देखी जाती है। तन्त्रालोक के अनुसार

'न देशो नो रूपं न च समययोगो न परिमा
न चोऽन्योन्यासङ्गो न च तदपहानिर्न घनता।
न चावस्तुत्वं स्यान्न च किमपि सारं निजमिति
ध्रुवं मोहः शाम्येदिति निरादिशद्दर्पणविधिः॥' (त० ३।२३)

इस प्रकार बिम्ब की दर्पण से भिन्नरूप से सत्ता देखी जाती है किन्तु शिव स्वयमेव बिम्ब, दर्पण और प्रतिबिम्ब सब कुछ है; क्योंकि अपने स्वरूपभूत दर्पणरूप भित्ति पर अपने आप को बिम्ब के रूप में प्रकाशित करते हैं। यद्यपि बिम्ब और प्रतिबिम्ब में एकरूपता है किन्तु सर्वथा बिम्ब प्रतिबिम्ब नहीं है और न प्रतिबिम्ब सर्वथा बिम्ब ही है जबकि बिम्ब की यथार्थ सत्ता है और प्रतिबिम्ब मात्र उसका आभास है। जो कि शिव और विश्व में अभिन्नता है। किन्तु विश्व सर्वथा शिवरूप न होकर शिव का केवल आभास ही माना जाता है। चिद्रूप और दर्पण की अभिव्यक्ति अत्यन्त भिन्न है। दर्पण प्रतिबिम्ब के प्रकाशरूप कार्य के लिए अपने से भिन्न प्रकाशादि का आश्रय लेता है; क्योंकि दर्पण की अपनी शक्ति उसमें नहीं रहती है इसलिए दर्पण परापेक्षी माना जाता है और चिद्रूप स्वयं प्रकाशात्मक है इसलिए स्वात्मेच्छा मात्र से पदार्थराशि को आभासित कर देते हैं। यही उन दोनों के प्रकाशनरूप कार्य में अन्तर है कि दर्पण में

वस्तु-पदार्थ प्रतिबिम्बित करने का सामर्थ्य नहीं है जबकि चिद्रूप में सदैव स्वातन्त्र्य शक्ति स्फुरित रहती है।

इन ग्रन्थों का प्राप्त करना जिज्ञासु पुरुष के लिए कठिन हो गया था इसलिए आचार्य श्रीजयरथ की संस्कृत में **'विवेक'** व्याख्या के साथ प्रस्तुत ग्रन्थ का प्रकाशन करवाना अत्यधिक आवश्यक समझा और भगवान् परम शिव की अनुकम्पा से हमें सब प्रकार से सहयोग प्राप्त हुआ है। इसके प्रकाशन कार्य में आर्थिकरूप से सहयोग देने वाले कुछ ऐसे धर्मात्मा हैं जिनकी जीवन में रघु के समान उदारभावना इस विषम परिस्थिति से घेरे हुए युग में भी देखी जाती है। **श्री दानुभाई हालुभाई जादव, श्री करशन भाई जे० पटेल, श्री मनुभाई काशीभाई पटेल, श्री पुरुषोत्तम भाई रणछोड़ भाई पटेल, श्री रमणभाई एम० पटेल लंडन।** भगवान् सच्चिदानन्ददेव इन सबका कल्याण करें।

कृष्णानन्दसागरः

अथ

श्रीतन्त्रालोकः

श्रीमन्महामाहेश्वराचार्यवर्यश्रीमदभिनवगुप्तविरचितः
श्रीमदाचार्यवर्यजयरथविरचितविवेकाभिख्यव्याख्यानोपेतः

प्रथममाह्निकम्

यस्मादेषणवित्क्रिया यदुदिता ह्यानन्दचिद्भूमयो
यस्यैवोद्धुरशक्तिवैभवमिदं सर्वं यदेवंविधम् ।
तद्धाम त्रिकतत्त्वमद्वयमयं स्वातन्त्र्यपूर्णप्रथं
चित्ते स्ताच्छिवशासनागमरहस्माच्छादनध्वंसि मे ॥१॥

देहे विमुक्त एवास्मि श्रीमत्कल्याणवारिधेः ।
यस्य कारुण्यविप्रुड्भिः सद्गुरुं तं हृदि श्रये ॥२॥

मूर्ध्न्युत्तंस इव क्ष्मापैः सर्वैर्यस्यानुशासनम् ।
हृदये भवसंभारकर्कशेऽप्याशु शिश्रिये ॥३॥

न ग्रन्थकारपदमाप्तुमथास्म्यपूर्वं
वाक्कौशलं च न निदर्शयितुं प्रवृत्तः ।
किं त्वेतदर्थपरिशीलनतो विकल्पः
संस्कारवांश्च समियादिति वाञ्छितं नः ॥४॥

यातायाताः स्थिताः केचिदज्ञा मत्सरिणः परे ।
संदिग्धाः केऽपि किं ब्रूयां श्रोतारो यदनागताः ॥५॥

तदनाकर्ण्य गूढार्थं स्वादु स्वाशयकौशलम् ।
साकूतमुक्तमन्यैर्यत्तेन दोलायते मनः ॥६॥

अत्र मद्वागशक्तापि यन्निर्यन्त्रणमुल्लसेत् ।
तत्पारमेश्वरं श्रीमन्महानन्दविजृम्भितम् ॥७॥

इह खलु शास्त्रादावलौकिकाशीर्वादमुखेन वक्ष्यमाणषडर्धशास्त्रार्थगर्भीकारेणसमुचितेष्टदेवतां शास्त्रकारः परामृशति

विमलकलाश्रयाभिनवसृष्टिमहा जननी
भरिततनुश्च पञ्चमुखगुप्तरुचिर्जनकः ।
तदुभययामलस्फुरितभावविसर्गमयं
हृदयमनुत्तरामृतकुलं मम संस्फुरतात् ॥ १ ॥

'मम' आत्मनो 'हृदयं' जगदानन्दादिशब्दवाच्यं तथ्यं वस्तु, सम्यक् देहप्राणादिप्रमातृतासंस्कारत्यक्कारपुरःसरसमावेशदशोल्लासेन दिक्कालाद्यकलिततया 'स्फुरतात्' कालत्रयावच्छेदशून्यत्वेन विकसतात्–इत्यर्थः । तच्च कीदृक् ?–इत्युक्तं 'तदुभय' इति । 'तत्' आद्यार्धव्याख्यास्यमानं च तत् 'उभयं तस्य 'यामलं'

'तयोर्यद्यामलं रूपं स सघट्ट इति स्मृतः ।'

इति वक्ष्यमाणनीत्या शक्तिशक्तिमत्सामरस्यात्मा संघट्टः, ततः 'स्फुरितभावः' परानपेक्षत्वेन स्वत एवोल्लसितसत्ताको योऽसौ

'अत एव विसर्गोऽयमव्यक्तहह-कलात्मकः ।'

इत्युक्त्या कुलाकुलोभयच्छटात्मकहकारार्धार्धरूपो 'विसर्गो' बहिरुल्लिलसिषास्वभावः स प्रकृतिर्यस्य तत्, अत एवाह 'अनुत्तरामृतकुलम्' इति । 'अनुत्तरं' कतिपयकालदार्ढ्यकार्यमृतान्तरवलण्यात् उत्कृष्टं च तत्

'यत्रास्ति न भयं किंचिन्न जरा व्याधयोऽपि वा ।
न विघ्ना न च वै मृत्युर्न कालः कलयेच्च तम् ।'

इत्यकालकलितत्वात् अविद्यमानं मृतं यत्र तत् 'कुलं' शरीरं यस्य तत् अमाख्यकलास्वरूपम्–इत्यर्थः तदुक्तम्

'कला सप्तदशी यासावमृताकाररूपिणी ।'

इति । किं च तदुभयम् ?–इत्याह 'जननी जनकश्च' इति । कीदृशी जननी ? 'विमलकलाश्रय' इति । विगता 'मला' अवच्छेदका यस्यास्तादृशी या 'कला' परविमर्शकस्वभावकर्तृतालक्षणा, सा 'आश्रय' आलम्बनं स्वरूपं यस्या सा शुद्धस्वातन्त्र्यशक्तिरूपा–इत्यर्थः ।

अत एव 'अभिनवायाम्' आद्यायां 'सृष्टौ' शुद्धाध्वमार्गे

'शुद्धेऽध्वनि शिवः कर्त्ता........................ ।'

इति नीत्या शिवस्यैव तत्र साक्षात्कारित्वात् 'महः' पारिपूर्ण्यलक्षणं तेजःस्फारो यस्याः सा—इत्युक्तम्। इहाद्वयनये हि भगवानेव स्वस्वातन्त्र्यमाहात्म्यात् आभासमात्रसारतया स्वाव्यतिरिक्तमपि व्यतिरिक्तत्वेनेव जगत् आभासयति,-इत्यनन्यापेक्षिणः स्वातन्त्र्यस्यैव जगद्वैचित्र्यनिमित्ततत्त्वमुक्तम्, अविद्यावासनादीनां भेदाभेदविकल्पोपहतत्वात् जगद्वैचित्र्यनिमित्तत्वाभिधानानुपपत्तेः, अत एव भगवतश्चिदाद्यनन्तशक्तिसंभवेऽपि तत्स्फुरणमात्रत्वात् तासां तस्या एव प्राधान्यात् इहाभिधानम्। यद्वक्ष्यति

'तेन स्वातन्त्र्यशक्त्यैव युक्त इत्याञ्जसो विधिः।'

इति। जनकश्च कीदृक्?-इत्युक्तं 'भरिततनुः' इति। 'भरिता' सर्वाकाङ्क्षासंक्षयात् परिपूर्ण्येन पूरिता 'तनु' स्वभावो यस्य सः, अनन्योन्मुखतया स्वतन्त्रः इति यावत्। अत एव 'पञ्चभिः' चिदानन्देच्छाज्ञानक्रियात्मभिः 'मुखैः'

'.............................शैवी मुखमिहोच्यते।'

इत्युक्तया शक्तिभिः 'गुप्ता' परिपूरिता प्रबन्धेनानुवर्तमाना 'रुचिः' अभिलाषो विशेषानुपादानात् कृत्यपञ्चकविषयो यस्यासौ; सदैव पञ्चविधकृत्यकारी त्यर्थः। तदुक्तम्

'सृष्टिसंहारकर्त्तारं विलयस्थितिकारकम्।
अनुग्रहकरं देवं प्रणतार्तिविनाशनम्॥'

इति। तदेवम् अत्र विसर्गप्रसरस्वभावत्वेन जगद्वैचित्र्यबीजभूतं शिवशक्तिसंघट्टात्मकपरत्रिकशब्दवाच्यम् अनाख्यात्मकं विघ्नौघप्रध्वंसाय परामृष्टम्। तदुक्तम्

'तत्रापि शक्त्या सहितः स्वात्ममय्या महेश्वरः।
यदा संघट्टमासाद्य समापत्तिं परां व्रजेत्॥'
'तदास्य परमं वक्त्रं विसर्गप्रसरास्पदम्।
अनुत्तरविकासोद्यज्जगदानन्दसुन्दरम् ॥'
'भावविवक्त्राविभागेन बीजं सर्वस्य संस्थितम्।
हृत्स्पन्दोद्यत्परासारनिर्नामोर्म्यादि तन्मतम्॥'
'एतत्परं त्रिकं सूक्ष्मं सर्वशक्त्यविभागवत्।'

इति।

अथ च 'हृदयं'

'हृदयं शक्तिसूत्रं तु ....।'

इत्याद्युक्तया श्रीसृष्टिकाल्याद्यखिलशक्तिचक्रासूत्रणेन प्रस्फुरद्रूपं श्रीकालसंकर्षणीधाम 'संस्फुरतात्' तादात्म्येनैकः स्याम्-इत्यर्थः। तच्च कीदृशम् ?- इत्युक्तम् 'अनुत्तरामृतकुलम्' इति। सृष्ट्यादीनामत्रैव लयाद् अविद्यमानम् उत्तरम् अन्यत् यस्मात् अत एव 'अमृतं' स्वात्मचमत्कारमात्रपरमार्थम्, अत एव च 'कुलं'

'कुलं पदमनामाख्यं ....।'

इत्यनाख्यरूपम्-इत्यर्थः। अन्यच्च कीदृक् ?-इत्याह 'तदुभय' इति। तच्च तत् व्याख्यास्यमानं सृष्टिसंहारात्मकम् 'उभयं' तस्य यामलं लोलीभाव ततः

'चक्रद्वयेऽन्तः कचति लोलीभूता परा स्थितिः।'

इति। तथा

'प्रभवाप्यययोरन्तर्लोलीभावात्क्रमोऽवताराख्यः।'

इत्यादिनीत्या स्फुरितसत्ताकः स्थित्यात्मा विविधः सर्गस्तन्मयम्। परैव हि अनाख्या भगवती संवित् स्वस्वातन्त्र्यात् स्वात्मनि सृष्ट्यादि अवभासयति विलाययति च-इत्यभिप्रायः। यदुक्तम्

'यस्य नित्योदिता ह्येकाभासा कालक्षयंकरी।
राजते हृदयाम्भोजविकासिगगनोदरे॥
सृष्टिस्थित्युपसंहाररूपा तद्भूरणेरता।'

इति। तच्छब्दपरामृष्टमुभयं व्याचष्टे 'जननी जनकश्च' इति। जनयति विश्वम्-इति 'जननी' परा पारमेश्वरी सृष्ट्यादिचक्राद्या, सा च शुद्धबोधमात्रस्वभावत्वात् 'विमला' येयम् आदिभूता चान्द्रमसी 'कला' सा 'आश्रयः' आलम्बनं गतिर्यस्याः सा, सकलजगदाप्यायकारिपरामृतमयी-इत्यर्थः। तदुक्तम्

'ऊर्ध्वे तु संस्थिता सृष्टिः परमानन्दरूपिणी।
पीयूषवृष्टिं वर्षन्ती बैन्दवी परमा कला॥'

इति। तथा

'ऊर्ध्वे स्थिता चन्द्रक[illegible] च शान्ता पूर्णामृतानन्दरसेन देवी।'

इति । अत एव 'अभिनवायां'

'सदा सृष्टिविनोदाय.............................।'

इत्यादिनीत्या सदा द्योतमानायां 'सृष्टौ' बहीरूपतायां स्वातन्त्र्यलक्षणं 'महः' तेजो यस्याः सा–इत्युक्तम् । जनयति भावसंहारम्–इति 'जनकः' अभिरूपः परः प्रमाता, स च 'पञ्चानां' वामेश्यादिवाहशक्तीनां 'मुखैः' चक्षुरादीन्द्रियवृत्तिरूपैर्द्वारैः

'येन येनाक्षमार्गेण यो योऽर्थः प्रतिभासते ।
स्वावष्टम्भबलाद्योगी तद्गतस्तन्मयो भवेत् ॥'

इत्यादिनीत्या तत्तद्विषयाहरणेन 'गुप्ता' स्वावष्टम्भबलेन परिरक्षिता 'रुचिः' दीप्तिर्यस्यासौ, निखिलभावग्रसिष्णुतया समुद्दीपितपरप्रमातृभावः–इत्यर्थः । अत एव 'भरिततनुः' तत्तद्भावसंचर्वणेन निराकाङ्क्षतोत्पादात् स्वात्ममात्रविश्रान्त्या पूर्णः–इत्यर्थः । तदेवम् अत्र ग्रन्थकृता सृष्ट्यादिक्रमत्रयरूपतामवभासयन्त्यपि तदतिवर्तनेन परिस्फुरन्ती क्रमाक्रमवपु परैव अनाख्या पारमेश्वरी संवित् परामृष्टा,–इत्युक्तं स्यात् । यदुक्तमस्मत्परमेष्ठिगुरुभिः

'क्रमत्रयसमाश्रयव्यतिकरेण या संततं
क्रमत्रितयलङ्घनं विदधती विभात्युच्चकैः ।
'क्रमैकवपुरक्रमप्रकृतिरेव या द्योतते
करोमि हृदि तामहं भगवतीं परां संविदम् ॥'

इति ।

अथ च 'हृदयं' निजबलसमुद्भूतिलक्षणं तत्त्वं विशेषानुपादानात् सर्वस्य सम्यक् प्रख्योपाख्यारोहेण 'स्फुरतात्' विकसतात्–इत्यर्थः । तच्च कीदृक् ? 'तदुभय' इति तत् आद्यार्धव्याख्यास्यमानं मातापितृलक्षणम् 'उभयं' तस्य यत् 'यामलम्' आद्ययागाधिरूढं मिथुनं तस्य परस्परौन्मुख्येन चमत्कारतारतम्ययोगात् 'स्फुरितः' सोल्लासो योऽसौ 'भावः' आशयविशेषः तेन यो 'विसर्गः' क्षेपः कुण्डगोलाख्यद्रव्यविशेषनिःष्यन्दः, स प्रकृतिर्यस्य तत्, अत एव च 'अनुत्तरे' श्वेतारुणात्मदेवतामयताद्यनुसंधानेन पशुशुक्रशोणितवैलक्षण्यादुत्कृष्टे 'अमृते' सारे

'.................................कुलमुत्पत्तिगोचरः ।'

इत्युक्तया 'कुलम्' आकारो यस्य तत् । किं तदुभयम् ? इत्याह 'जननी

जनकश्च' इति । कीदृशी जननी ? 'विमलकलाश्रया' इति । 'विमला' इति वर्णकला 'आश्रयः' आलम्बनं यस्याः सा, विमलकलाभिधाना—इत्यर्थः । तथा 'अभिनवसृष्टिमहा इति । 'अभिनवस्य' श्रीमदभिनवगुप्तस्य 'सृष्टिः' जन्म सैव

'नन्दन्ति पितरस्तस्य नन्दन्ति च पितामहाः ।
अद्य माहेश्वरो जातः सोऽस्मान्संतारयिष्यति ॥'

इत्याद्युक्तेः सत्पुत्रप्रसवेन कृतकृत्यतया चमत्कारातिशयकारित्वेन 'महा' उत्सवो यस्याः सा तथा । तथा जनकश्च कीदृशः ? 'पञ्चमुखगुप्तरुचिः' । 'पञ्चमुखः' सिंहः, सिंहगुप्तेति संज्ञया 'रुचिः' दीप्तिः सर्वत्र प्रथा यस्यासौ

'तस्यात्मजश्चुखुलकेति जने प्रसिद्ध-
श्चन्द्रावदातधिषणो नरसिंहगुप्तः ।'

इति वक्ष्यमाणदृशा नरसिंहगुप्तसंज्ञया ख्यातः—इत्यर्थः । अस्य हि ग्रन्थकृतः श्रीनरसिंहगुप्तविमलाख्यौ पितरौ,—इति गुरवः ।

'सन्ति [न्तो] हि पदेषु पदैकदेशान्प्रयुञ्जानाः ।'

इति नीत्या 'भीमो भीमसेनः, इतिवत् अत्रापि नरसिंहगुप्तसिंहगुप्तपदयोः प्रयोगः । 'भरिततनुः' इति

'शिवशक्त्यात्मकं रूपं भावयेच्च परस्परम् ।
न कुर्यान्मानवीं बुद्धिं रागमोहादिसंयुताम् ॥
ज्ञानभावनया सर्वं कर्तव्यं साधकोत्तमैः ।'

इत्याद्युक्तनीत्या द्वयोरपि शिवशक्तिसमावेशमयत्वाभिधानस्येष्टे काकाक्षिन्यायेन योज्यम् । तदेवम् एवंविधसिद्धयोगिनीप्रायपितृमेलकसमुत्थतया

'तादृङ्मेलककलिकाकलिततनुर्यो भवेद् गर्भे ।
उक्तः स योगिनीभूः स्वयमेव ज्ञानभाजनं भक्तः ॥'

इत्युक्तनीत्या स्वात्मनि निरुत्तरपदद्वयज्ञानपात्रतामभिधता ग्रन्थकृता निखिलषडर्धशास्त्रसारसंग्रहभूतग्रन्थकरणेऽप्यधिकारः कटाक्षीकृतः । अत्र च संभवन्त्यपि व्याख्यान्तराणि न कृतानि, ग्रन्थगौरवभयात् प्रकृतानुपयोगाच्च । केषांचिदपि व्याख्यान्तराणामसमञ्जस्यमतीव संभवदपि न प्रकाशितम् । एवं हि

'......................तस्यै हेतुं न चाचरेत् ।'

इति वक्ष्यमाणदृशा स्वात्मनि समयलोपावहं महात्मनाम् महागुरूणां निन्दाबीजमासूत्रितम्,-इति भवेत्, को नाम शान्तिकर्मारभमाणो वेतालोत्थापनं कुर्यात्, इह चास्माभिस्तद्व्याख्यासारोच्चयनस्यैव प्रतिज्ञातत्वात् तदेव क्रियते,-इति तदितरत् स्वयमेव सर्वत्रासारतयाचिन्वन्तु सचेतसः-इत्यलमनेनापि वचनेन, प्रस्तुतमिहाभिदध्मः ॥ १ ॥

तदेवं परं त्रिकं परामृश्य परापरमपि परामष्टुमुपक्रममाणः प्रथमं तावत् परां देवीं परामृशति

नौमि चित्प्रतिभां देवीं परां भैरवयोगिनीम् ।
मातृमानप्रमेयांशशूलाम्बुजकृतास्पदाम् ॥ २ ॥

'परां' पूर्णाम्, अत एव भिन्नमपि जगत् स्वात्मनि अभेदरूपतया पालयन्तीम् अनन्योन्मुखतया च प्रकृष्टां

'या सा शक्तिर्जगद्धातुः कथिता समवायिनी ।'

इत्याद्युक्त्या 'भैरवयोगिनीं' नित्यमेव परप्रमात्रवियुक्तत्वात् तदात्मभूताम्, अत एव

'इच्छात्वं तस्य सा देवी सिसृक्षोः प्रतिपद्यते ।'

इत्याद्युक्त्या चिद्रूपा चासौ 'प्रतिभा' प्रज्ञा ताम् आद्योच्छलत्तात्मकत्वेन बहिरुल्लिलसिषास्वभावाम्, अत एव 'देवीं' प्रमातुरपि विश्रान्तिधामत्वात् प्रमितिरूपतया द्योतमानाम्, अत एव बहिरपि प्रमातृप्रमाणप्रमेयाण्येव 'अंशा' अरारूपा भागा यस्य 'शूलस्य' तत्र यानि औन्मनसानि अम्बुजानि, तत्र 'कृतास्पदां' तदुत्तीर्णतया भासमानां 'नौमि' देहप्राणादिप्रमातृरूपन्यग्भावेन तत्स्वरूपमाविशामि-इत्यर्थः ॥ २ ॥

एवमुक्तेऽपि परास्वरूपेऽपरास्वरूपमनभिधाय, तदुभयमयस्य परापरस्वरूपस्य वक्तुमशक्यत्वात् क्रमप्राप्तां देवीं परिहृत्य, प्रथमं तावदपरां देवीमभिमुखयति

नौमि देवीं शरीरस्थां नृत्यतो भैरवाकृतेः ।
प्रावृण्मेघघनव्योमविद्युल्लेखाविलासिनीम् ॥३॥

'नृत्यतो' 'नर्तक आत्मा' (शि० ३ उ० ९ सू०) ।

इति शिवसूत्रदृष्टया निगूहितस्वस्वरूपावष्टम्भमूलं तत्तद्विश्ववैचित्र्य-भूमिकाप्रपञ्चं प्रकाशयतो 'भैरवाकृतेः' पूर्णस्वरूपस्य परमात्मना 'शरीरस्थाम्'

'एवंभूतमिदं वस्तु भवत्विति यदा पुनः ।
जाता तदैव तद्वस्तु कुर्वत्यत्र क्रियोच्यते ॥'

इत्याद्युक्त्या तत्तत्प्रमातृप्रमेमाद्यनन्ताभासवैचित्र्यकारितया स्वरूपाविष्टाम्, अत एव 'देवीं' जगदुल्लासनक्रीडाकारिणीम् अपरां भगवतीं 'नौमि' इति सम्बन्धः । अत एव बहिरपि विश्वात्मना द्योतमानत्वेऽपि

'भेदभावकमायीयतेजोंशग्रसनाच्च तत् ।
सर्वसंहारकत्वेन कृष्णं तिमिररूपधृतत् ॥'

इत्याद्युस्वरूपे परप्रमातर्येव विश्रान्तत्वात् कृष्णपिङ्गलरूपाम् इत्युक्तं 'प्रावृण्मेघघनव्योमविद्युल्लेखाविलासिनीम्' इति ॥ ३ ॥

अथ परापरोभयस्वरूपमयीं परापरां देवीं परामृशति

दीप्तज्योतिश्छटाप्लुष्टभेदबन्धत्रयं स्फुरत् ।
स्ताज्ज्ञानशूलं सत्पक्षविपक्षोत्कर्तनक्षमम् ॥ ४ ॥

'ज्ञानं'

'एवमेतदिदं वस्तु नान्यथेति सुनिश्चितम् ।
ज्ञापयन्ती जगत्यत्र ज्ञानशक्तिर्निगद्यते ॥'

इत्याद्युक्तज्ञानशक्तिस्वभावमपि अन्तरासूत्रितेच्छाक्रियात्मकम्, अत एव परापराशब्दव्यपदेश्यम्, अत एव तत्

'लोलीभूतमतः शक्तित्रितयं तत्त्रिशूलकम् ।'

इति वक्ष्यमाणनीत्या 'त्रिशूलम्' अत एव 'दीप्ताभिः' अप्रतिहताभिः तत्तदिन्द्रियवृत्तिरूपाभिः 'ज्योतिश्छटाभिः

'यत्र यत्र मिलिता मरीचयस्तत्र विभुरेव जृम्भते ।'

इत्यादिनीत्या वक्ष्यमाणस्वरूपस्य भेदप्रधानस्य बन्धहेतुत्वात् आणवादिमलत्रयस्य ८ लोषकम्, अत एव 'स्फुरत्' शुद्धबोधैकरूपतया स्फुरत्तासारम्, अत एव 'सन्' च असौ 'पक्षो' जगदानन्दस्तस्य 'विपक्षाः'

तदप्रथारूपा निजानन्दाद्या आनन्दा अनानन्दाश्च तेषाम् 'उत्कर्तनं' पूर्णप्रथात्मकत्वेन क्षपणं, तत्र 'क्षमं' समर्थं 'स्तात्' इति वाक्यार्थः । तदुक्तं

'जयन्ति जगदानन्दाविपक्षक्षपणक्षमाः ।
परमेशमुखोद्भूतज्ञानचन्द्रमरीचयः ॥'

इति ॥ ४ ॥

इदानीमपरमपि त्रिकं परामष्टुमाह

स्वातन्त्र्यशक्तिः क्रमसंसिसृक्षा
क्रमात्मता चेति विभोर्विभूतिः ।
तदेव देवीत्रयमन्तरास्ता-
मनुत्तरं मे प्रथयत्स्वरूपम् ॥ ५ ॥

'स्वातन्त्र्यरूपा शक्तिः' यस्यासौ अनन्तशक्तिर्भगवान् शिवः, 'क्रमस्य'

'मूर्तिवैचित्र्यतो देशक्रममाभासयत्यसौ ।
क्रियावैचित्र्यनिर्भासात् कालक्रममपीश्वरः ॥' (ई० २।१।५)

इत्याद्युक्तनीत्या देशकालात्मनो विश्ववैचित्र्यस्य सर्गस्य, सम्यग्भेदेन 'सिसृक्षा' जगत्सृष्टिनिमित्तं पारमेश्वरी इच्छारूपा शक्तिः, 'क्रमात्मता'

'क्रमो भेदाश्रयो भेदोऽप्याभाससदसत्वतः ।' (ई०२।१।४)

इत्यादिनीत्या भेदप्रधानं तत्तदनन्ताभाससंभिन्नं संकुचितात्मरूपं नरत्वम्, इत्येवं येयं नर-शक्ति-शिवात्मिका 'विभोः, भगवतः परस्यानुत्तरस्य प्रकाशस्य 'विभूतिः' तत्तत्स्फुरणात्मत्वेन ऐश्वर्यं 'तदेव' क्रमेण तत्स्फारसारत्वात् समनन्तरोक्तस्वरूपं 'देवीत्रयं परप्रकाशात्मकत्वात् 'अनुत्तरं' 'स्वं' सर्वकर्तृत्वादेरसाधारणं 'रूपं' 'प्रथयत्' तत्तद्भेददशोदयेऽप्यतिरोदधत् मम आत्मनः 'अन्तरास्ताम्' ऐकात्म्येन स्फुरतात् इत्यर्थः ॥५॥

एवं स्वदर्शनोचितदेवतापरामर्शानन्तरं तत्स्वरूपानुप्रवेशेनैव युगपद् गणेशवटुकावपि अभिमुखयति

तद्देवताविभवभाविमहामरीचि-
चक्रेश्वरायितनिजस्थितिरेक एव ।
देवीसुतो गणपतिः स्फुरदिन्दुकान्तिः
सम्यक्समुच्छलयतान्मम संविदब्धिम् ॥ ६ ॥

'एक एव अनन्यापेक्षतया निःसहायो 'गणस्य' करणचक्रस्य
'दिनकरसममहदादिकगणपतितां वहति यो नमस्तस्मै ।'

इत्यादिदृशा 'पति' अहङ्काररूपः प्रभुः अत एव 'तासां' समनन्तरोक्तानां देवानां' 'विभववेन' परप्रकाशात्मना स्फारेण

'यत्तत्र नहि विश्रान्तं तन्नभः कुसुमायते ।'

इति वक्ष्यमाणनीत्या भवनशीलाः तन्मयतया परिस्फुरन्त्यो या 'महामरीचयः तत्तदिन्द्रियदेवताः तासा यत् 'चक्रं' तत्रेश्वरवदाचरन् निजस्थितिर्यो 'मम' आत्मनः 'संविद्' एव अनवगाह्यत्वात् 'अब्धिः' 'सम्यक्' विषयकालुष्यविलायनेन समन्तात् सर्वत एव तत्तदिन्द्रियप्रसृतसंविद्द्वारेण 'उच्छलयात्' विकासयतात् तदेकमयतामुत्पादयतात् इत्यर्थः । अब्धिसमुच्छलनसमुचितत्वाच्च 'स्फुरदिन्दुकान्तिः, इत्युक्तम् । वस्तुतो हि अपानव्याप्तिरस्यास्ति इत्येवं निर्देशः ।

अथ च 'देवीसुतो' वटुकोऽप्येवंविधः, किंतु शरीरस्य धवलिम्ना 'स्फुरदिन्दुकान्तिः' । अस्य हि प्राणव्याप्तिरस्ति इत्येवं निर्दिशन्ति गुरवः । 'देवीसुत' इत्युभयोरपि कुलशास्त्रोचितोऽयं व्यपदेशः । तदुक्तम्

'देवीपुत्रोऽत्र वटुकः स्वशक्तिपरिवारितः ।'

इति ।

'गणेशो विघ्नहर्तासौ देवीपुत्रः.................. ।'

इति च ॥ ६ ॥

इह खलु शास्त्रादौ

'...........................स्रोतोभेदं संख्यानमेव च ।
प्रवर्तयेद् गुरुं स्वं च स्तेयी स्यात्तदकीर्तनात् ॥'

इत्याद्युक्तदृशा अवश्यमेव शास्त्रकारैः स्वगुर्वादेः कीर्तनं कार्यम्' अतश्च वक्ष्यमाणशास्त्रस्य कुलतन्त्रप्रक्रियात्मकत्वेन द्वैविध्येऽपि

'नभःस्थिता यथा तारा न भ्राजन्ते रवौ स्थिते ।
एवं सिद्धान्ततन्त्राणि न विभान्ति कुलागमे ।।
तस्मात्कुलादृते नान्यत्संसारोद्धरणं प्रति ।'

इत्याद्युक्त्या कुलप्रक्रियायाः प्रक्रियान्तरेभ्यः प्राधान्यात्

'भैरव्याभैरवात्प्राप्तं योगं व्याप्य ततः प्रिये ।
तत्सकाशात्तु सिद्धेन मीनाख्येन वरानने ।।
कामरूपे महापीठे मच्छन्देन महात्मना ।'

इत्यादिनिरूपितस्थित्या तदवतारकं तुर्यनाथमेव तावत् प्रथमं कीर्तयति

रागारुणं ग्रन्थिबिलावकीर्णं
यो जालमातानवितानवृत्ति ।
कलोम्भितं बाह्यपथे चकार
स्तान्मे स मच्छन्दविभुः प्रसन्नः ।। ७ ।।

'स' सकलकुलशास्त्रावतारकतया प्रसिद्धः

'मच्छाः पाशाः समाख्याताश्चपलाश्चित्तवृत्तयः ।
छेदितास्तु यदा तेन मच्छन्दस्तेन कीर्तितः ।।'

इत्याद्युक्तया पाशखण्डनस्वभावो मच्छन्द एव परमेश्वरसमावेशशालित्वात् 'विभुः' मम प्रसन्न 'स्तात्' स्वात्मदर्शनसंविभाग पात्रतामाविष्कुर्यात् इत्यर्थः। यो 'जालं' मत्स्यबन्धनम्, इन्द्रजालप्रायां च मायां 'बाह्यपथे चकार'

'अष्टौ सिद्धा महात्मानो जालपृष्ठाः सुतेजसः ।'

इत्याद्युक्त्या तुरीयतास्वरूपावहितत्वेन संकोचापहस्तनादनवधेयतां च निन्ये इत्यर्थः। तच्च 'रागेण' गैरिकादिद्रव्येण रागतत्त्वेन च 'अरुणं' लोहितीकृतम् इयर्ति गच्छति इत्यर्थानुगमात् तत्तद्भेददशाप्रसररूपं च, तथा 'ग्रन्थिभिः' बन्धनैः 'बिलैः' च सलिलनिर्गमनस्थानैः 'ग्रन्थौ' मायाया द्वितीयस्मिन् भेदे 'बिलैः' बिलाकाराभिः भगसंज्ञाभिभोगभूमिभिश्च 'अवकीर्णं' व्याप्तम्, तथा 'आतानवितानवृत्ति' आयामपार्श्वमानयुक्तं विश्वाकारत्वात् सर्वतः प्रसरद्रूपं च, तथा 'कलया' विच्छित्तिविशेषेण कलातत्त्वेन च अर्थात्क्षितिपर्यन्तेन 'उम्भितम्' आरब्धम् । यदुक्तम्

'मायारूपं भवेज्जालं दारयेत्कुलचिन्तकः ।
विश्वाकारं महाजालं नाडीसूत्रनियोजितम् ॥
भुवनाक्षसमोपेतं तत्त्वग्रन्थिदृढीकृतम् ।
कलारागयुतं चैव .... ॥'

इत्यादि ॥ ७ ॥

'श्रीमच्छ्रीकण्ठनाथाज्ञावशात्सिद्धा आवातरन् ।
त्र्यम्बकामर्दकाभिख्यश्रीनाथा अद्वये द्वये ॥
द्वयाद्वये च निपुणाः क्रमेण शिवशासने ।
अद्यस्य चान्वयो जज्ञे द्वितीयो दुहितृक्रमात् ॥
स चार्धत्र्यम्बकाभिख्यः सन्तानः सुप्रतिष्ठितः ।
अतश्चार्धचतस्रोऽत्र मठिकाः सन्ततिक्रमात् ॥'

इति वक्ष्यमाणस्थित्या श्रीसन्तत्यामर्दकत्रैयम्बकार्धत्रैयम्बकख्यासु सार्धासु तिसृषु मठिकासु मध्यात् वक्ष्यमाणतन्त्रप्रक्रियायाः त्रैयम्बकमठिकाश्रयणेन आयातिक्रमोऽस्ति इति सामान्येन तावत् गुरूनभिमुखयति

त्रैयम्बकाभिहितसन्तितिताम्रपर्णी-
सन्मौक्तिकप्रकरकान्तिविशेषभाजः ।
पूर्वे जयन्ति गुरवो गुरुशास्त्रसिन्धु-
कल्लोलकेलिकलनामलकर्णधाराः ॥८॥

'त्रैयम्बक' इति 'अभिहिता' 'सन्ततिः' मठिका इत्यर्थः ॥ ८ ॥

एवं

शैवादीनि रहस्यानि पूर्वमासन्महात्मनाम् ।
ऋषीणां वक्त्रकुहरे तेष्वेवानुग्रहक्रिया ॥
कलौ प्रवृत्ते यातेषु तेषु दुर्गमगोचरम् ।
कलापिग्रामप्रमुखमुच्छिन्ने शिवशासने ॥
कैलासोद्रौ भ्रमन्देवो मूर्त्या श्रीकण्ठरूपया ।
अनुग्रहायावतीर्णश्चोदयामास भूतले ॥
मुनिं दुर्वाससं नाम भगवानूर्ध्वरेतसम् ।
नोच्छिद्यते यथा शास्त्रं रहस्यं कुरु तादृशम् ॥

ततः स भगवान्देवादादेशं प्राप्य यत्नतः ।
ससर्ज मानसं पुत्रं त्र्यम्बकादित्यनामकम् ।।

इत्याद्युक्त्या कलिकालुष्याद्विच्छिन्नस्य निखिलशास्त्रोपनिषद्भूतस्य षडर्धक्रमविज्ञानस्य त्रैयम्बकसन्तानद्वारेण अवतारकत्वादाद्यं कैलासस्थं श्रीश्रीकण्ठनाथाख्यं गुरुं प्रसङ्गात् मठिकान्तरगुरूंश्चोत्कर्षयति

जयति गुरुरेक एव श्रीश्रीकण्ठो भुवि प्रथितः ।
तदपरमूर्तिर्भगवान् महेश्वरो भूतिराजश्च ।।९।।

'एक एव गुरुः' इत्यनेन अस्य अवतारकत्वं सूचितम् । 'महेश्वर' इति यः श्रीसन्तत्यर्धत्रैयम्बकाख्यमठिकयोर्गुरुतया अनेन अन्यत्रोक्तः परमेश इति ईश इति च । यदाह

'भट्टारिकादिभूत्यन्तः श्रीमान्सिद्धोदयक्रमः ।
भट्टादिपरमेशान्तः श्रीसन्तानोदयक्रमः ।।
श्रीमान्भट्टादिरीशान्तः परमोऽथ गुरुक्रमः ।
त्रिकरूवस्त्रिकार्थे मे धियं वर्धयतांतराम् ।।'

इति । 'तदपरमूर्तिः' इत्यनयोर्भगवदावेशमयत्वं दर्शितम् । यद्यपि

'यो यत्र शस्त्रेऽधिकृत स तत्र गुरुः .... ।'

इति । वक्ष्यमाणनीत्या मठिकान्तरगुरूणां त्रिकार्थे गुरुत्वाभावात् इह नमस्काराप्रस्ताव एव । तथापि

'तस्य मे सर्वशिष्यस्य नोपदेशदरिद्रता ।'

इत्यादिदृशा सर्वत्रैव गुरूपदेशस्य भावात् आत्मनि भूयोविद्यत्वं दर्शयता ग्रन्थकृता अस्य ग्रन्थस्यापि निखिलशास्त्रान्तरसारसंग्रहाभिप्रायत्वं प्रकाशितम् । यद्वक्ष्यति

'अध्युष्टसन्ततिस्रोतःसारभूतरसाहृतिम् ।
विधाय तन्त्रलोकोऽयं स्यन्दते सकलान्रसान् ।।'

इति ।। ९ ।।

'पूर्वे जयन्ति गुरवः' इति सामान्येन कृतेऽपि नमस्कारे योगाङ्गत्वेन समानेऽपि

'........................तर्को योगाङ्गमुत्तमम् ।'

इत्याद्युक्त्या परमोपादेयस्वप्रकाशस्वात्मेश्वरप्रत्यभिज्ञापनस्य तर्कस्य कर्तारो व्याख्यातारश्च परं नमस्कर्तव्याः इति विशेषप्रयोजकीकारेण गुरु-परम-गुरु-परमेष्ठिनः पुनरपि परामष्टुमाह

श्रीसोमानन्दबोधश्रीमदुत्पलविनिःसृताः ।

जयन्ति संविदामोदसन्दर्भा दिक्प्रसर्पिणः ॥१०॥

तदास्वादभरावेशबृंहितां मतिषट्पदीम् ।

गुरोर्लक्ष्मणगुप्तस्य नादसंमोहिनीं नुमः ॥११॥

इदानीम्

उपाध्यायाद्दशाचार्य आचार्याणां शतं पिता ।

इत्याद्युक्त्या तस्याचार्यादपि गौरवातिरेकस्मृतेर्निजमपि पितरमाशीर्वादमुखेन परमृशति

यः पूर्णानन्दविश्रान्तसर्वशास्त्रार्थपारगः ।

स श्रीचुखुलको दिश्यादिष्टं मे गुरुरुत्तमः ॥१२॥

'चुखुलक' इति लोकप्रसिद्धमस्य नामान्तरम् । 'गुरुरुत्तम' इति उत्तमत्वत्य आचार्यगौरवातिरेक स्मृतिरेव निमित्तम्, अत एव अन्यत्रापि

'गुरुभ्योऽपि गरीयांसं जनकं चुखुलाभिधम् ।'

इत्याद्युक्तम् ॥ १२ ॥

एवं च तन्त्रप्रक्रियोपासन्नगुर्वभिमुखीकरणानन्तरं विश्रान्तिस्थानतया कुलप्रक्रियागुरुमपि उत्कर्षयति

जयताज्जगदुद्धृतिक्षमोऽसौ

भगवत्या सह शंभुनाथ एकः ।

यदुदीरितशासनांशुभिर्मे

प्रकटोऽयं गहनोऽपि शास्त्रमार्गः ॥ १३ ॥

भगवत्याख्या अस्य दूती, कुलप्रक्रियायां हि दूतीमन्तरेण क्वचिदपि कर्मणि नाधिकारः इत्यतस्तत्सहभावोपनिबन्धः ।

'योक्ता संवत्सरात्सिद्धिरिह पुंसां भयात्मनाम् ।
सा सिद्धिस्तत्त्वनिष्ठानां स्त्रीणां द्वादशभिर्दिनैः ॥
अतः सुरूपां सुभगां सुरूपां भाविताशयाम् ।
आदाय योषितं कुर्यादर्चनं यजनं हुतन् ॥'

इति । 'शास्त्रमार्गो विमलो जातः इत्यनेनास्य त्रिकाद्यागमव्याख्यातृत्वमपि प्रकाशितम् । यदुक्तमनेनैव

'इत्यागमं सकलशास्त्रमहानिधाना-
च्छ्रीशंभुनाथवदनाधिगम्य सम्यक् ।
शास्त्रे रहस्यरससंततिसुन्दरेऽस्मिन्
गम्भीरवाचि रचिता विवृतिर्मयेयम् ॥'

इति ॥ १३ ॥

इदानीं स्वप्रवृत्तिप्रयोजनादि आचक्षाणो ग्रन्थकारो ग्रन्थकरणं प्रतिजानीते

सन्ति पद्धतयश्चित्राः स्रोतोभेदेषु भूयसा ।
अनुत्तरषडर्धार्थक्रमे त्वेकापि नेक्ष्यते ॥१४॥

न चात्र अन्यथा संभाव्यम् इत्यात्मन्याप्तत्वं प्रख्यापयन्नेवं प्रतिज्ञाकरणे सामर्थ्यं दर्शयति

इत्यहं बहुशः सद्भिः शिष्यसब्रह्मचारिभिः ।
अर्थितो रचये स्पष्टां पूर्णार्थां प्रक्रियामिमाम् ॥१५॥

श्रीभट्टनाथचरणाब्जयुगात्तथा
श्रीभट्टारिकांघ्रियुगलाद्गुरुसन्ततिर्या ।
बोधान्यपाशविषनुत्तदुपासनोत्थ-
बोधोज्ज्वलोऽभिनवगुप्त इदं करोति ॥१६॥

तस्य गुरुपरम्परागतस्य ज्ञानस्य 'उपासनं' पुनः पुनः चेतसि विनिवेशनं तत उत्थितो योऽसावुपदेष्टव्यविषयो 'बोधः' साक्षात्कारस्तेन 'उज्ज्वलः' सम्यगवगतधर्मा सन् 'इदं' गुरूपदेशात्संशयविपर्यासादिरहितत्वेनाधिगतमनुत्तरत्रिकार्थप्रक्रियालक्षणं परान्प्रति चिख्यापयिषया 'करोति' उपदिशति

इत्यर्थः । 'अभिनवगुप्त' इति सकललोकप्रसिद्धनामोदीरणेनापि आप्तत्वमेव उपोद्बलितम् । उक्तं हि

'साक्षात्कृतधर्मा यथादृष्टस्यार्थस्य चिख्यापयिषया प्रयुक्त

उपदेष्टा चाप्तः ।'

इति । तच्छब्दपरामृष्टं व्याचष्टे 'या गुरुसन्ततिः, इति, 'गुरुसन्ततिः, गुरुपारम्पर्यमविच्छिन्नतया स्थितं तदुपदिष्टं ज्ञानमित्यर्थः, सा च कीदृक् ?- इत्युक्तं-'बोधान्यपाशविषनुत् इति

'यत्किंचित्परमाद्वैतसंवित्स्वातन्त्र्यसुन्दरात् ।
पराच्छिवादुक्तरूपादन्यत्तत्पाश उच्यते ॥'

इत्यादिवक्ष्यमाणनीत्या 'बोधात्' पराच्छिवाद्यदख्यात्यात्मभेदप्रथात्मकम् 'अन्यत्' तदेव 'पाशः' स एव मोहकत्वात् 'विषं' तत् नुदति या सा । तथा 'श्रीभट्टनाथ; इति श्रीशंभुनाथः । 'श्रीभट्टारिका' इति भगवत्याख्या अस्य दूती । यदुक्तमनेनैव

'भट्टं भट्टारिकानाथं श्रीकण्ठं दृष्टभैरवम् ।
भूतिकलाश्रिया युक्तं नृसिंहं वीरमुत्कटम् ॥
नानाभिधानमाद्यन्तं वन्दे शंभुं महागुरुम् ।

इति ।

'स्त्रीमुखे निक्षिपेत्प्राज्ञः स्त्रीमुखाद्ग्राहयेत्पुनः ।'

इत्याद्युक्तेः कुलप्रक्रियायां दूतीमुखेनैव शिष्यस्य ज्ञानप्रतिपादनाम्नायात् इह गुरुतद्दूत्योः समस्कन्धतया उपादानम् ॥ १६ ॥

ननु सामान्येन त्रिकदर्शनप्रक्रियाकरणं प्रतिज्ञाय, संभवत्यपि तदर्थाभिधायिनि शास्त्रजाते किमिति श्रीमालिनीविजयोत्तरमेवाधिकृत्य तन्निर्वाहयिष्यते इत्याशङ्क्याह

न तदस्तीह यन्न श्री-मालिनीविजयोत्तरे ।
देवदेवेन निर्दिष्टं स्वशब्देनाथ लिङ्गतः ॥१७॥

'श्रीमालिनीविजयोत्तरे' इति नादि-फान्ताया मालिन्या 'विजयेन' सर्वोत्कर्षेण उत्तरति सर्वस्रोतोभ्यः प्लवते, सारभूतत्वात्सर्वशास्त्राणाम् ॥ १७ ॥

एतदेवाह

दशाष्टादशवस्वष्टभिन्नं यच्छासनं विभोः ।
तत्सारं त्रिकशास्त्रं हि तत्सारं मालिनीमतम् ॥१८॥

इह खलु परपरामर्शसारबोधात्मिकायां परस्यां वाचि सर्वभावनिर्भरत्वात्सर्वं शास्त्रं परबोधात्मकतयैव उज्जृम्भमाणं सत्, पश्यन्तीदशायां वाच्यवाचकाविभागस्वभावत्वेन असाधारणतया अहंप्रत्यवमर्शात्मा अन्तरुदेति, अत एव हि तत्र प्रत्यवमर्शकेन प्रमात्रा परामृश्यमानो वाच्योऽर्थोऽहन्ताच्छादित एव स्फुरति, तदनु तदेव मध्यमाभूमिकायामन्तरेव वेद्यवेदकप्रपञ्चोदयाद्भिन्नवाच्यवाचकस्वभावतया उल्लसति । तत्र हि परमेश्वर एव चिदानन्देच्छाज्ञानक्रियात्मकवक्त्रपञ्चकासूत्रणेन सदाशिवेश्वरदशामधिशयानस्तद्वक्त्रपञ्चकमेलनया पञ्चस्रोतोमयम् अभेद-भेददशोट्टङ्केन तत्तद्भेदप्रभेदवैचित्र्यात्मनिखिलं शास्त्रमवतारयति, यद्बहिर्वैखरीदशायां स्फुटतामियात् तथाहि--प्रथममीशानतत्पुरुषसद्योजातैरेकैकस्य उद्बुभूषुभिः सद्भिर्भेदत्रयमुल्लासितम् उद्भूतैश्च—इत्येकैकभेदाः षट्, त्रिभिरप्येभिः संभूय उल्लासित एको भेदः, ईश तत्पुरुषौ ईश-सद्योजातौ सद्योजात-तत्पुरुषौ इति द्वयात्मना संभूयापि एभिः त्रिभिर्भेदत्रयं समुल्लासितम्--इत्येते भेदप्रधाना दश शिवभेदाः । तदुक्तम्

'ईशतत्पुरुषाजातैरुद्भूतैरुद्बुभूषुभिः ।
एककैः षड्भिरेकेन त्रिकेण द्वयात्मकैस्त्रिभिः ॥
तदित्थं शिवभेदानां दशानामभवत्स्थितिः ।'

इति । एषामेव च वामदेवाघोरमेलनया अष्टादश रुद्रभेदा भवन्ति । तथा च तत्रैककेन वामदेवाघोरात्मभेदेन भेदद्वयमेव, पञ्चविधत्वेपि ईशादेर्वक्त्रत्रयस्य शिवभेदेषु उक्तत्वात् उक्तस्य च पुनर्वचनानुपपत्तेः, तथा द्वयात्मकत्वेन भेदत्रयस्य, तेन पञ्चानां त्र्यात्मकत्वे भेदत्रयस्य शिवभेदेषु उक्तत्वात् । तत्पुरुष-सद्योजातयोस्तु एवं स्वभावाभावात्, ताभ्यां सह असङ्गतेर्भेदचतुष्टयाभावादीशवामौ, ईशाघोरौ; अघोर-वामौ—इति द्वयात्मकं भेदत्रयमेव अवशिष्यत—इति त्रयो द्विकभेदाः । तथा पञ्चानामपि ईश-तत्पुरुषाजातवामाघोराणां त्र्यात्मकत्वेन संमीलनायामीशानस्य क्रमेण इतर-वक्त्रसंभेदे षट्, तत्पुरुषस्य त्रयः, तथा सद्योजातस्य तदवशिष्टवक्त्रसंभेदेऽपि एक एव—इति दशविधत्वेऽपि ईशतत्पुरुष-सद्योजातात्मनः प्रथमत्रिकस्य शिवभेदेषु उक्तत्वात् ईश-वामाघोरा-

त्मनः शिष्टस्य त्रिकस्य व्यापारान्तरेण नियोक्ष्यमाणत्वाच्च त्र्यात्मक-भेदाष्टकमेवावशिष्यते—इत्यष्टावेव त्रिकभेदाः। अत एव एककथनं चिन्त्यमिति न वाच्यम्,-तत्पुरुषजात-वामघोराणां हि द्व्यात्मकतया-चतुरात्मकतया वा ज्ञानजनने संयोगनिषेधो विवक्षितः, त्र्यात्मकतायामपि तथाभावे हि बहूनां भेदानां निषेधः प्रसज्यते—इति भेदसप्तककथनमपि न्याय्यं न स्यात्—इत्यलं बहुना। तथा पञ्चानामप्येषां चतुरात्मकत्वेन संमीलनाया पञ्चविधत्वेऽपि नराजातवामाघोराणामुक्तयुक्त्या सगत्यभावा-च्चत्वारश्चतुर्भेदाः, सर्वेषामप्येषां संमीलनायां पञ्चकभेद एक एव—इत्येवम् 'अष्टादश' भेदाभेदप्रधाना रुद्रभेदाः। तदुक्तं

'यदा त्रयाणां वक्त्राणां वामदक्षिणसंगतिः।
तदा सप्त द्विकभेदा अष्टौ चैव त्रिकात्मकाः॥
चतुष्काश्चापि चत्वारः पञ्चकस्त्वेकरूपकः।
इति विंशतिमध्यात्तु नराजातावसगतिम्॥
वामघोरद्वये यातः स्वातन्त्र्यात्पूर्वपश्चिमौ।
ज्ञानं भजेते नैवेति भेदषोडशक स्थितम्॥
तत्रापि वामदेवीयमेकं तदुपरि स्थितम्।
स्वरूपं भैरवीयं च तेनाष्टदशधा स्थितिः॥
रुद्रभेदस्य शास्त्रेषु शिवेनैवं निरूपिता।'

इति। एतच्च श्रीश्रीकण्ठ्यामभिधानपूर्वं विस्तरत उक्तं, तद्यथा

'स्रोतस्यूर्ध्वे भवेज्ज्ञानं शिवरुद्राभिधं द्विधा।
कामजं योगजं चिन्त्यं मौकुटं चांशुमत्पुनः॥
दीप्त..............................न्तरं पुनः।
शिवभेदाः समाख्याता रुद्रभेदांस्त्विमाञ्छृणु॥
विजयं चैव निःश्वासं मद्गीतं पारमेश्वरम्।
मुखबिम्बं च सिद्धं च सन्तानं नारसिंहकम्॥
चन्द्रांशुं वीरभद्रं च आग्नेयं च स्वयम्भुवम्।
विसरं रौरवाः पञ्च विमलं किरणं तथा॥
ललितं सौरभेयं च तन्त्राण्याहुर्महेश्वरि।
अष्टाविंशतिरित्येवमूर्ध्वस्रोतोविनिर्गताः॥'

अत्र चानेनैव

'......................शिवैरुक्तः शिवाभिधः ।
भेदो रुद्रैश्च रुद्राख्य इति भेदो निरूपितः ॥'

'वसुभिः अष्टभिर्गुणिता 'अष्टौ' चतुःषष्टिर्भैरवभेदाः । तथा च अद्वयस्वभावे स्वरूपे शिवशक्तितत्संघट्टाख्ययोगिनीवक्त्रात्मनि दक्षिणवक्त्रे प्रत्येकमुद्बुभूषुद्भूत-तिरोधित्सु-तिरोहितात्मकतया चतूरूपत्वेन भेदषोडशात्मकमितरद्वक्त्रचतुष्टयं यदा युगपदन्तर्लीनतामेति तदेषां परस्परमेलनया चतुःषष्टिरद्वयप्रधाना भैरवभेदाः । तदुक्तं

'यच्चान्ते दक्षिणं हार्दं लिङ्गं हृत्परमं मतम् ।
तदाप्यन्तःकृताशेषस्प [सृ]ष्टभावसुनिर्भरम् ॥
सर्वसहारकत्वाच्च कृष्णं तिमिररूपधृत् ।
भेदभावकमायीयतेजोंऽशग्रसनात्मकम् ॥
तत्रान्तर्लीनतां याति यावद्वक्त्रचतुष्टयम् ।
उद्बुभूषु तथोद्भूतं तिरोधित्सु तिरोहितम् ॥
इत्थं युगपदेवं तद्भेदषोडशकात्मम् ।
दक्षे वैसर्गिके हार्दे स्वतन्त्रेऽथ शिवे विशत् ॥
अष्टाष्टकात्म तच्छास्त्रं युगपद्भैरवाभिधम् ।'

इति । एतच्च श्रीश्रीकण्ठचामभिधाने पूर्वं विस्तरत उक्तम् । तद्यथा

'अन्यत्संक्षेपतो वक्ष्ये गतां यत्परमेष्ठिना ।
तचच भेदैः प्रवक्ष्यामि चतुःषष्टिं विभागशः ॥
भैरवं यामलं चैव मताख्यं मङ्गलं तथा ।
चक्राष्टकं शिखाष्टकं बहुरूपं च सप्तमम् ॥
वागीशं चाष्टमं प्रोक्तमित्यष्टौ वीरवन्दिते ।
एतत्सादाशिवं चक्रं कथयामि समासतः ॥
स्वच्छन्दो भैरवश्चण्डः क्रोध उन्मत्तभैरवः ।
असिताङ्गो महोच्छुष्मः कपालीशस्तथैव च ॥
एते स्वच्छन्दरूपास्तु बहुरूपेण भाषिताः ।
ब्रह्मयामलमित्युक्तं विष्णुयामलकं तथा ॥
स्वच्छन्दश्च रुरुश्चैव षष्ठं चाथर्वणं स्मृतम् ।
सप्तमं रुद्रमित्युक्तं वेतालं चाष्टमं स्मृतम् ॥

अतः परं महादेवि मतभेदाञ्छृणुष्व मे ।
रक्ताख्यं लम्पटाख्यं च मतं लक्ष्म्यास्तथैव च ॥
पञ्चमं चालिका चैव पिङ्गलाद्यं च षष्ठकम् ।
उत्फुल्लकं मतं चान्यद्विश्वाद्यं चाष्टमं स्मृतम् ॥
चण्डभेदाः स्मृता ह्येते भैरवे वीरवन्दिते ।
भैरवी प्रथमा प्रोक्ता पिचुतन्त्रसमुद्भवा ॥
सा द्विधा भेदतः ख्याता तृतीया तत उच्यते ।
ब्राह्मी कला चतुर्थी तु विजयाख्या च पञ्चमी ॥
चन्द्राख्या चैव षष्टी तु मङ्गला सर्वमङ्गला ।
एष मङ्गलभेदोऽयं क्रोधेशेन तु भाषितः ॥
प्रथमं मन्त्रचक्रं तु वर्णचक्रं द्वितीयकम् ।
तृतीयं शक्तिचक्रं तु कलाचक्रं चतुर्थकम् ॥
पञ्चमं बिन्दुचक्रं तु षष्ठं वै नादसंज्ञकम् ।
सप्तमं गुह्यचक्रं च खचक्रं चाष्टमं स्मृतम् ॥
एष वै चक्रभेदोऽयमसिताङ्गेन भाषितः ।
अन्धकं रुरुभेदं च अजाख्यं मूलसंज्ञकम् ॥
वर्णभण्ठं विडङ्गं च ज्वालिनं मातृरोदनम् ।
कीर्त्तिताः परमेशेन रुरुणा परमेश्वरि ॥
भैरवी चित्रिका चैव हंसाख्या च कदम्बिका ।
हल्लेखा चन्द्रलेखा च विद्युलेखा च विद्युमान् ॥
एते वागीशभेदास्तु कपालीशेन भाषिताः ।
भैरवी तु शिखा प्रोक्ता वीणा चैव द्वितीयिका ॥
वीणामणिस्तृतीया तु संमोहं तु चतुर्थकम् ।
पञ्चमं डामरं नाम षष्ठं चैवाप्यथर्वकम् ॥
कबन्धं सप्तमं ख्यातं शिरश्छेदोऽष्टमः स्मृतः ।
एते देवि शिखाभेदा उन्मत्तेन च भाषिताः ॥
एतत्सादाशिवं चक्रमष्टाष्टकविभेदतः ॥'

इति । तैर्भिन्नं भेदोपभेदवैचित्र्यात्मना नानाप्रकारमित्यर्थः । यत्तु श्रीश्रीकण्ठ्यां तत्पुरुषवक्त्रमुद्दिश्य

'अष्टाविंशतिभेदैस्तु गारुडं हृदयं पुरा ।'

इत्यादि । तथा

'पश्चिमे भूततन्त्राणि.................।'

तथा

'दक्षिणे दक्षिणो मार्गश्चतुर्विंशतिभेदतः ।'

इत्यादि । तथा

'वामदेवात्तु यज्जातमन्यत्तत्साम्प्र[म्प्र]तं शृणु ।'

इत्यादि अन्यभेदोपभेदवैचित्र्यमुक्तं, तदेकैकस्य वक्त्रस्य पञ्चवक्त्रात्मकत्वात् एतद्भेदजातोपभेदात्मकमेव-इति तत एव संगृहीतम् इति न पृथगिह आयस्तम् । तदुक्तं

'एकैकं पञ्चवक्त्रं च वक्त्रं यस्मात्प्रगीयते ।
दशाष्टादशभेदस्य ततो भेदेष्वसंख्यता ॥'

इति । अतश्च भेद-भेदाभेदाभेदप्रतिपादकं शिवरुद्रभैरवाख्यं त्रिधैवेदं शास्त्रमुद्भूतम् इति सिद्धान्तः । तदुक्तं

'तन्त्रं जज्ञे रुद्रशिवभैरवाख्यमिदं त्रिधा ।
वस्तुतो हि त्रिधैवेयं ज्ञानसत्ता विजृम्भते ॥
भेदेन भेदाभेदेन तथैवाभेदभागिना ।'

इति । एवं च भेदाद्यात्मकमपीदं शास्त्रं परमेश्वरेशवामाघोरात्मकं षष्ठं त्रिकं परादिदेवीत्रयविश्रान्तिधामतया क्रोडीकृत्य,

'पुष्पे गन्धस्तिले तैलं देहे जीवो जले रसः ।
यथा तथैव शास्त्राणां कुलमन्तःप्रतिष्ठितम् ॥'

इत्याद्युक्त्या परमाद्वयामृतपरिप्लावितं विदध्यात्, अन्यथा ह्यस्य परपदप्राप्तिनिमित्तत्वं न स्यात् । तदुक्तं

'ततोऽपि संहृताशेषभावोपाधिसुनिर्भरः ।
भैरवः परमार्थोद्यद्द्रवबृंहितशक्तिकः ॥
ईशान-वाम-दक्षासु तासु शक्तित्रयं क्रमात् ।
अपरादिपराप्रान्तं क्रोडीकृत्य त्रिकं स्थितः ॥
ऊर्ध्ववामतदन्यानि तन्त्राणि च कुलानि च ।
तद्द्वाराप्रान्तरूढानि प्रापय्याभेदभूमिकाम् ॥'

इति। ननु एवंविधा श्रुतिर्न काचिदुपलभ्यत इति किं प्रमाणम्। ननु अत्र उक्तमेवानेन गुरुपारम्पर्यलक्षणं प्रमाणम्। यदाह

'इत्थं मध्ये विभिन्नं तत्त्रिकमेव तथा तथा।
शास्त्रमस्मद्गुरुगृहे संप्रदायक्रमात्स्थितम्॥'

इति। ननु यदेवात्र पुंबुद्धिप्रभवत्वं चोद्यं तदेवोत्तरीकृतम्—इत्यपूर्वमिदं पाण्डित्यं, तेनागमः कश्चन संवादनीयो येनैतत्समाहितं स्यात्, नैतत् अविगीतैव हि प्रसिद्धिरागमः इत्युच्यते, यदुक्तं

'प्रसिद्धिरागमो लोके युक्तिमानथवेतरः।
विद्यायामप्यविद्यायां प्रमाणमविगानतः॥
प्रसिद्धिरवगीता हि सत्या वागैश्वरी मता।
तथा यत्र यथा सिद्धं तद्ग्राह्यमविशङ्कितैः॥'

इति। सा चात्र विद्यते एवाविगानेन महात्मनां महागुरूणाम् इति किमत्र प्रमाणान्तरान्वेषणेन। यदि चार्वाग्दृशां भवादृशामेवंविधा श्रुतिः कर्णगोचरं न गता—तावतैव एतन्नोपपद्यते इति न वक्तुं शक्यं, नहि प्रमाणाभावात् प्रमेयस्याप्यभावः स्यात्। न चैते विप्रलम्भका येनैवमन्यथोपदिशेयुः, एतदुपदेशमूलतयैव निखिलस्य शैवशास्त्रागमार्थस्य प्रयोगदर्शनात्। तेन यथा मन्वादिस्मृतौ उत्सन्नशाखामूलत्वादष्टकादियागानां मूलभूता श्रुतिः कल्प्यते तथा इहापि ज्ञेयम्। नह्येवंविधां श्रुतिमदृष्ट्वा साक्षात्कृतनिखिलशैवागमसतत्त्वास्त एवमुपदिशेयुः इत्यलं महागुरूणामुपदेशपरोक्षणदुःशिक्षया। ननु शास्त्राणां

'यतः शिवोद्भवाः सर्वे शिवधामफलप्रदाः।'

इत्याद्युक्तेरेकत्वनियामककारणफलयोरैक्यमस्ति, इह किंनिबन्धनमेषामेवं नानात्वमुक्तम्? सत्य—किन्तु अनुग्राह्याशयभेदादेषां नानात्वं कल्पितम्। यदुक्तं

'सर्वमेतत्प्रवृत्त्यर्थं श्रोतॄणां तु विभेदतः।
अर्थभेदात्तु भेदोऽयमुपचारात्प्रकल्प्यते॥
फलभेदो न कल्प्योऽत्र कल्प्यश्चेदयथायथम्।'

इति। ननु यद्येवं तत्

'वेदादिभ्यः परं शैवं शैवाद्वामं च दक्षिणम् ।
दक्षिणाच्च परं कौलं कौलात्परतरं नहि ॥'

इत्यादिना उक्तमेषां यथायथमुत्कृष्टत्वं युक्तं न स्यात् ? नैतत्-द्वारद्वारिभावेन एषामुपायोपेयभावस्य उक्तत्वात्, तेन परमाद्वयोपदेशप्रतिपादकमेव शास्त्रं शिवसद्भावलाभैकफलम्—इत्यवसेयम् । तदेव परमपदप्राप्तौ साक्षादुपायभूतत्वादुत्कृष्टम् । एतच्चानेनैव श्रीमालिनीश्लोकवार्तिकादौ वितत्य उक्तं, तत्तत एव स्वयमवधार्यम्, ग्रन्थगौरवभयात्तु प्रतिपदं न संवादितम् । अत एवाह 'तत्सारं त्रिकशास्त्रम्' इति । तदुक्तं

'वेदाच्छैवं ततो वामं ततो दक्षं ततः कुलम् ।
ततो मतं ततश्चापि त्रिकं सर्वोत्तमं परम् ॥'

इति । अनेनैवाशयेन च

'वाममार्गाभिषिक्तोऽपि दैशिकः परतत्त्ववित् ।
संस्कार्यो भैरवे सोऽपि कुले कौले त्रिकेऽपि सः ॥'

इत्यादि श्रीनिशाचारादावुक्तम् । तच्च सिद्धा-नामकमालिन्याख्यखण्डत्रयात्मकत्वात्त्रिविधम् । तत्र क्रिया प्रधानं सिद्धातन्त्रं, ज्ञानप्रधानं नामकं तन्त्रं, तदुभयमयं मालिनीमतम् इति तदेव मुख्यम्, यदाह 'तत्सारं मालिनीमतम्' इति। एवं च, 'न तदस्तीह यन्न' इत्यादि युक्तमेवोक्तम् ॥१८॥

अतश्च सर्वसहत्वात्तदधिकारेणैव च प्रतिज्ञाया अपि निर्वाहो युक्त इत्यादि

अतोऽत्रान्तर्गतं सर्वं संप्रदायोज्झितैर्बुधैः ।
अदृष्टं प्रकटीकुर्मो गुरुनाथाज्ञया वयम् ॥१९॥

'अत' इति उक्तयुक्त्यास्यैव शास्त्रस्य प्राधान्यात् । 'प्रकटीकुर्म' इति प्रक्रियाकरणेन । अतश्च 'प्रधाने हि कृतो यत्नः फलवान्भवति' इति भावः । गुरुनाथाज्ञया' इति—नहि तदाज्ञां विनात्र अधिकार एव भवेदिति भावः ॥ १९ ॥

अन्यादृष्टप्रकटीकरणे च स्वात्मनि भगवत्प्रसाद एव निमित्तम् इति दर्शयितुमाह

अभिनवगुप्तस्य कृतिः सेयं यस्योदिता गुरुभिराख्या ।
त्रिनयनचरणसरोरुहचिन्तनलब्धप्रसिद्धिरिति ॥२०॥

त्रिनयनप्रसादासादितप्रकृष्टसिद्धेः किं नामासाध्यम् इति भावः ॥ २० ॥

एवं चेयं कृतिः सर्वेषामेव ग्राह्या भवेत्, इति प्रतिपादयितुमाह

श्रीशम्भुनाथभास्करचरणनिपातप्रभापगतसंकोचम् ।
अभिनवगुप्तहृदम्बुजमेतद्विचिनुत महेशपूजनहेतोः ॥२१॥

आदिवाक्यं

हृदयं शास्त्रात्मसतत्त्वं, महेश्वरस्य पूजनं

'पूजा नाम न पुष्पाद्यैर्या मतिः क्रियते दृढा ।
निर्विकल्पे महाव्योम्नि सा पूजा ह्यादराल्लयः ॥'

इत्याद्युक्त्या तत्तद्वक्ष्यमाणज्ञप्तिक्रमेण स्वात्मतया प्रत्यभिज्ञानम् । अतश्च महावाक्यार्थेन एकमेवादिवाक्यात्मकं वाक्यम् इति दर्शयितुमाह 'आदिवाक्यम्' इति ।

इह यद्यपि परमेश्वरशक्तिपातमन्तरेण तच्छास्त्रश्रवणादावन्यत् प्रवृत्तिनिमित्तं नाभ्युपेयते, तथापि शास्त्रकाराणामिय शैली—इत्यभिधेयप्रयोजनादि प्रतिपादयितुं प्रवृत्तिहेतुतया अयमादिवाक्योपनिबन्धः । तत्र प्रथमश्लोकपञ्चकासूत्रितोऽनुत्तरषडर्धार्थक्रम इत्यनेन साक्षादभिहितश्च पर-परापरापरात्मतादिना बहुप्रकारस्त्रिकार्थस्तावादभिधेयः । तस्यैव च कर्तृप्रतिपादनकौशलेन मौलागमस्य च समस्तशास्त्रप्रधान्याभिधानेन सातिशयत्वं प्रतिपादयितुं 'श्रीभट्टनाथ' इत्यादि श्लोकपञ्चकमुपात्तम् । स च गुरुपरम्परागतः ।

'तस्माद्गुरुक्रमायातं दिशन्नेति परं शिवम् ।'

इत्याद्युक्तनीत्या निजप्रयोजनकारी भवति, इत्येतदङ्गतयैव पारम्पर्यसंदर्शनाथगुरुसंकीर्तनपरं श्लोकसप्तकमुट्टङ्कितम् । अतश्चास्यैव वक्ष्यमाणोपायक्रमेण स्वात्मतया प्रत्यभिज्ञानाज्जीवन्मुक्तिप्रदत्वं प्रयोजनं श्लोकान्तरासूत्रितमपि 'श्रीशम्भुनाथ' इत्यादिश्लोकेन साक्षादुक्तम् एतदुद्दिश्य च को

नाम न सचेताः परमेश्वरशक्तिपातपवित्रितः प्रवर्तते इत्यस्य प्रवृत्तिनिमित्तत्वं, प्रवृत्तस्याप्येतदुपलब्धौ

'तमनित्येषु भोगेषु योजयन्ति विनायकाः ।'

इत्याद्युक्तेर्विघ्नाः संभवन्ति इत्येतन्निरासाय गणेशवटुकयोः स्तुतिः । 'अर्थितो रचये' इति प्रतिज्ञाताया प्रक्रियायाश्च ।

'तन्मया तन्त्र्यते तन्त्रालोकनाम्न्यत्र शासने ।'

इत्यादिवक्ष्यमाणोपजीवनेन तन्त्रालोक इत्यभिधानम् । एवमभिधानाभिधेययोरभिधेयप्रयोजनयोश्च वाच्यवाचकसाध्यसाधनभावलक्षणः संबन्धश्चार्थाक्षिप्तः इत्यनेकवाक्यसंमेलनात्मकमेकमेवादिवाक्यं प्रवृत्तिहेतुतया उक्तम् इति पिण्डार्थः ॥२१॥

इह यद्यपि सर्ववादिनां मोक्ष एव उपादेयः, तत्प्रतिपक्षभूतः संसारश्च हेयः, तस्य च मिथ्याज्ञानं निमित्तं, तत्प्रतिकूलं च तत्त्वज्ञानम्––इति तत्साक्षात्कारेणैव अज्ञानापगमान्मोक्षावाप्तिः इत्यत्राविवादः, तथापि तैस्तदेकनियत ज्ञानाज्ञानयोः स्वरूपं न ज्ञातम् इति

'भ्रमयत्येव तान्माया ह्यमोक्षे मोक्षलिप्सया ।'

इत्याद्युक्त्या तदभ्युपगतो मोक्षो मोक्ष एव न भवति––इति दर्शयितुं शास्त्रान्तरवैलक्षण्येन तत्परीक्षणस्य वक्ष्यमाणत्वात्प्राधान्यमपि कटाक्षयितुमुपक्रम एव बन्धमोक्षपरीक्षामुट्टङ्कयति ग्रन्थकारः

इह तावत्समस्तेषु शास्त्रेषु परिगीयते ।
अज्ञानं संसृतेर्हेतुर्ज्ञानं मोक्षैककारणम् ॥२२॥

न चैतदस्माभिः स्वोपज्ञमेवोक्तम्–इत्याह

मलमज्ञानमिच्छन्ति संसाराङ्कुरकारणम् ।
इतिप्रोक्तं तथा च श्रीमालिनीविजयोत्तरे ॥२३॥

'अज्ञानं' तिमिरं पारमेश्वरस्वातन्त्र्यमात्रसमुल्लासितस्वरूपगोपनासतत्त्वमात्मानात्मनोरन्यथाभिमानस्वभावम् अपूर्णं ज्ञानं, तदेव चाणवं 'मलं', न तु नवमाह्निकादौ निषेत्स्यमानं द्रव्यरूपम् । उक्तं च

'स्वातन्त्र्यहानिर्बोधस्य स्वातन्त्र्यस्याप्यबोधता ।
द्विधाणवं मलमिदं स्वस्वरूपापहानितः ॥'

इति । तच्च कीदृक् ? इत्याह--संसार इति । 'संसारस्य'

'भिन्नवेद्यप्रथात्रैव मायाख्यम्.................. ।'

इत्याद्युक्तस्वरूपस्य मायीयस्य मलस्य

'संसारकारणं कर्म संसाराङ्कुर उच्यते ।'

इति वक्ष्यमाणनीत्या 'अङ्कुरः' कारणं कार्ममल तस्य 'कारणं' । तदुक्तं

'मलं कर्मनिमित्तं तु नैमित्तिकमतः परम् ।'

इति श्रीमालिनीविजयोत्तरे प्रोक्तम् इत्येतदधिकारेणैवायं ग्रन्थः प्रवृत्त इत्युपोद्वलितम ॥२३॥

अज्ञानस्य पौरुषबौद्धात्मकत्वेन द्वैविध्येऽपि इह पौरुषमेव विवक्षितं स्यान्नान्यत् इत्याह

विशेषणेन बुद्धिस्थे संसारोत्तरकालिके ।
संभावनां निरस्यैतदभावे मोक्षमब्रवात् ॥२४॥

'विशेषणेन' 'संसाराङ्कुरकारणम् इत्यनेन' नहि दुरध्यवसायरूपं बौद्धमज्ञानं कर्मणः कारणम् अपि तु तत्तस्य--इति कथमेतद्विशेषणं संगच्छतां, तद्धि सति कर्मकारणके शरीरे संभवति तस्य कार्यकरणात्मकत्वात्, बुद्धेश्च करणवर्गान्तःपातित्वात्, अत एवोक्तं 'संसारोत्तरकालिक' इति,

'शरीरभुवनाकारो मायीयः परिकीर्तितः ।'

इत्याद्युक्तेः संसाराच्छरीरादनन्तरभाविनि इत्यर्थः । किं तत्संभावनानिरासेन इत्युक्तं--'एतदभावे मोक्षमब्रवीत्' इति । नहि बौद्धाज्ञानमात्रनिवृत्तौ मोक्षो भवेत् यत्तस्मिन्निवृत्ते बौद्धमेव ज्ञानमुदेति' तस्य च शुद्धविकल्पात्मत्वेऽपि

'सर्वो विकल्पः संसारः.................... ।'

इति नीत्या संसाराविर्भावकत्वमेव इति कथमेतदभावेऽपि एवं स्यात् । यदभिप्रायादितो बाह्यैरपि

'परमार्थविकल्पेऽपि नावलीयेत पण्डितः ।
को हि भेदो विकल्पस्य शुभे वाऽप्यथ वाऽशुभे ॥'

इत्याद्युक्तं, पौरुषे पुनरज्ञाने दीक्षादिना निवृत्ते सति यदि बौद्धं ज्ञानमुदियात् तदा तस्य वक्ष्यमाणनीत्या जीवन्मुक्ति प्रत्यपि कारणत्वं भवेत्, केवलेन

पुनस्तेन न किंचित्सेत्स्यति इत्युक्तप्रायम् । पौरुषं पुनर्ज्ञानमुदितं सत् अन्यनिरपेक्षमेव मोक्षकारणम् । यदुक्तं

'पाशाश्च पौरुषाः शोध्या दीक्षायां न तु धीगताः ।
तेन तस्यां दोषवत्यामपि दीक्षा न निष्फला ॥'

इति । तच्च ज्ञानमात्रस्वभावम्, अख्यात्यभाव एव हि पूर्णा ख्यातिः, सैव च प्रकाशानन्दघनस्यात्मनस्तात्त्विकं स्वरूपं, तत्प्रथनमेव मोक्षः इति युक्तमुक्तम्—'एतदभावे मोक्षमब्रवीत्' इति ॥२४॥

ननु अज्ञानशब्दस्य अपूर्णं ज्ञानमर्थः इत्यत्र किं निबन्धनं, ज्ञानाभावमात्रमेवास्तु इत्याशङ्क्याह

अज्ञानमिति न ज्ञानाभावश्चातिप्रसङ्गतः ।
स हि लोष्टादिकेऽप्यस्ति न च तस्यास्ति संसृतिः ॥२५॥

कोऽसावतिप्रसङ्ग इत्याह—'स हि' इत्यादि । तद्युक्तमुक्तज्ञानशब्दस्य अपूर्णं ज्ञानमर्थं इति ॥२५॥

तदाह

अतो ज्ञेयस्य तत्त्वस्य सामस्त्येनाप्रथात्मकम् ।
ज्ञानमेव तदज्ञानं शिवसूत्रेषु भाषितम् ॥२६॥

'अतो' यथोक्ताद्धेतोः 'ज्ञेयस्य' नीलसुखादेः,

'ज्ञेयस्य च परं तत्त्वं यः प्रकाशात्मकः शिवः ।'

इत्यादिवक्ष्यमाणस्वरूपस्य 'तत्त्वस्य' 'सामस्त्येन' तस्य सर्वत्राविशेषात् तदेकघनाकारत्वेन 'अप्रथात्मकं' यत् इदं नीलम् इदं सुखम् इति द्वैतप्रथात्मकत्वादपूर्णं 'ज्ञानं' तदेव 'अज्ञानं' न पुनर्ज्ञानाभावमात्रम् इत्येतच्छिवसूत्रेषु 'भाषितम्' उक्तमित्यर्थः ॥२६॥

तत्र चैतत्कुत्र दर्शितम इत्याशङ्क्याह

चैतन्यमात्मा ज्ञानं च बन्ध इत्यत्र सूत्रयोः ।
संश्लेषेतरयोगाभ्यामयमर्थः प्रदर्शितः ॥२७॥

'संश्लेषेतरयोगाभ्याम्' इति संहितया, अन्यथा च अकारप्रश्लेषविश्लेषाभ्यां,

तेन 'ज्ञानं बन्धः, अज्ञानं बन्ध' इति चायमर्थः, इत्यज्ञानशब्दस्य अपूर्ण-ज्ञानाभिधानलक्षणः ॥२७॥

एतदेव व्याचष्टे

चैतन्यमिति भावान्तः शब्द स्वातन्त्र्यमात्रकम् ।
अनाक्षिप्तविशेषं सदाह सूत्रे पुरातने ॥२८॥
द्वितीयेन तु सूत्रेण क्रियां वा करणं च वा ।
ब्रुवता तस्य चिन्मात्ररूपस्य द्वैतमुच्यते ॥२९॥
द्वैतप्रथा तदज्ञानं तुच्छत्वाद्बन्ध उच्यते ।
तत एव समुच्छेद्यमित्यावृत्त्यानिरूपितम् ॥३०॥

इह न किञ्चिदप्यचेतितं भवति इति चितिक्रिया सर्वसामान्यरूपा इति । चेतयति इति चेतनः पूर्णज्ञानक्रियावान्, तस्य भावः 'चैतन्यं' पूर्ण-ज्ञानक्रियावत्त्वं, तदेव च परमैश्वर्यस्वभावं स्वातन्त्र्यमेव केवलं स्वातन्त्र्य-मात्रकम्, अत एवाह 'अनाक्षिप्तविशेषम्' इति, 'अनाक्षिप्ताः' स्वसहचारिणोऽपि नित्यत्वव्यापकत्वादयो 'विशेषा' भेदा येन तत् । भावप्रत्ययान्तो हि शब्दः सहचारिधर्मान्तरनिवृत्तिमेव ब्रूते, अत एव द्रव्याभिधायिनः शब्दस्य विशेषः । यदाहुः

'धर्मान्तरप्रतिक्षेपाप्रतिक्षेपौ तयोर्द्वयोः ।
संकेतभेदस्य पदं ज्ञातृवाञ्छानुरोधतः ॥
भेदोऽयमेव सर्वत्र द्रव्यभावाभिधायिनोः ।'

इति । 'द्वितीयेन' इति अर्थाद् द्वितीयसूत्रवर्तिना ज्ञानशब्देन, ज्ञप्तिः ज्ञानं, ज्ञायते येन इति ज्ञानं च इति व्युत्पत्त्या 'क्रियां, करणं' च प्राधान्येनाभि-दधता 'तस्य'—चैतन्यमात्मा—इत्युक्तस्वरूपस्य, अत एव चेतयते इति 'चित्' चितिक्रियायां कर्ता, तन्मात्रमेव केवलं 'रूप' यस्य तस्य 'द्वैतमुच्यते' कर्तृकर्मणोः कर्तृकर्मक्रियाणां च भिन्नानामवच्छेदकानामागूरणाद् द्वैतप्रथा-सूत्रणं क्रियते, पूर्णमस्य रूपं नाख्याति इत्यर्थः । 'तत्' तस्मात्संविदद्वैतात्मनः पूर्णस्य रूपस्य अख्यानात् 'द्वैतप्रथा' एव 'अज्ञानम्' अपूर्णं ज्ञानमपूर्णत्वाच्च तदेव अपूर्णं मन्यता-शुभाशुभवासना-शरीरभुवनाकारस्वभावविविधसंकुचित-

ज्ञानरूपतया मलत्रयात्मा 'बन्ध' इति उच्यते, बन्धरूपत्वादेव च तदज्ञानं 'समुच्छेद्यम्'

'मलं कर्म च मायीयमाणवमखिलं च यत् ।
सर्वं हेयमिति प्रोक्तं......................।।'

इत्युक्त्या हेयमित्यर्थः। नन्वत्र द्वैतप्रथात्मकत्वादपूर्णं ज्ञानमेव अज्ञानम् इत्येतत्कुतोऽवगतम् इत्याशङ्क्योक्तम् 'इत्यावृत्त्या निरूपितम्' इति। 'आवृत्त्या' इति अज्ञानम् इति संहितापाततः पुनरावर्तनेन इत्यर्थः ॥२८॥ ॥२९॥ ॥३०॥

नन्वेवं मोक्षस्य लक्षणमभिधीयताम् इत्याशङ्क्याह

स्वतन्त्रात्मातिरिक्तस्तु तुच्छोऽतुच्छोऽपि कश्चन ।
न मोक्षो नाम तन्नास्य पृथङ्नामापि गृह्यते ॥३१॥

न कश्चिदन्योऽस्ति इति वाक्यशेषः। यदि तुच्छस्तत्पूर्वोक्तनीत्या बन्ध एव स्यात्, अतुच्छश्चेत् पारमार्थिकत्वान्नास्य स्वतन्त्रात्मातिरेकः । यद्वक्ष्यति

'मोक्षो हि नाम नैवान्यः स्वरूपप्रथनं हि सः ।
स्वरूपं चात्मनः संवित्.........................।।'

इत्यादि। किमुक्तं भवति,—इह तावदात्मज्ञानं मोक्ष इत्यविवादः. अतो यदेवात्मनो लक्षण तदेव मोक्षस्य इति तन्नान्तरीयकत्वादेव अस्य लक्षण-सिद्धेः पृथक्लक्षणं न कृतं, अत एव 'नामापि' इति अपिशब्देन लक्षणादेः पुनः का वार्ता इत्यावेदितम् ॥३१॥

एवमप्यस्य तद्वैलक्षण्यं कटाक्षीकर्तुं दर्शनान्तरोक्तस्य मोक्षस्य स्वरूप-मभिधातुमुपक्रमते

यत्तु ज्ञेयसतत्त्वस्य पूर्णपूर्णप्रथात्मकम् ।
यदुत्तरोत्तरं ज्ञानं तत्तत्संसारशान्तिदम् ॥३२॥

'यत्' पुनः 'ज्ञेयस्य' कला-तत्त्व-भुवनाद्यात्मनोऽध्वनः यत् 'सतत्त्वम्' ऊर्ध्वोर्ध्वमन्योन्यं च भेदेनावस्थानं, तस्य 'उत्तरोत्तरम् उपर्युपरिभावेन तत्तद्भुवनाद्युल्लङ्घनक्रमेण तत्तदवच्छेदापगमात् यथायथमतिशयाद् द्वैतप्रथात्मकत्वात् संकुचितत्वेऽपि 'पूर्णपूर्णप्रथात्मकं ज्ञानम्' [उदेति तदधरीकृततत्त्वजालोल्लङ्घनात् ।

'चतुर्दशविधं यच्च प्रोक्तं संसारमण्डलम् ।'

इत्याद्युक्तेः 'तस्य तस्य' चतुर्दशविधयोन्यात्मनः 'संसारस्य' 'शान्तिदं' तत उन्मोचकमित्यर्थः । ज्ञानस्य हि मोचनमेव धर्मः, किंतु संकुचितस्यासंकुचितत्वम् ॥२२॥

एतदेव दर्शयति

रागाद्यकलुषोऽस्म्यन्तःशून्योऽहं कर्तृतोज्झितः ।
इत्थं समासव्यासाभ्यां ज्ञानं मुञ्चति तावतः ॥२३॥

'इत्थं' प्रथमार्धनिरूपितस्वरूपं 'ज्ञानं' 'तावतः' परिमिताद् बन्धात् अर्थात् बौद्धादीन्मुञ्चति इति संबन्धः । तत्र 'रागाद्यकलुषोऽहं भवामि, इति ज्ञानं योगाचाराणाम् । यदाहुः

'रागादिकलुषं चित्तं संसारस्तद्विमुक्तता ।
संक्षेपात्कथितो मोक्षः प्रहीनावरणैर्जिनैः ॥'

इति । तथा

'प्रभास्वरमिदं चित्तं प्रकृत्यागन्तवो मलाः ।
तेषामपाये सर्वार्थं तज्ज्योतिरविनश्वरम् ॥'

इति । अयमत्रार्थः--प्रकृतिप्रभास्वरस्य चित्तस्य अनाद्यविद्यावशाद्रागादिभिरागन्तुकैर्मलैरावृतत्वेन संसाराविर्भावेपि भावनाद्यात्मकमार्गानुष्ठानबलात्तदागन्तुकमलप्रहणेन आश्रयपरावृत्त्या अविनश्वरज्योतीरूपस्वपाभिव्यक्तिर्मोक्ष इति तदयुक्तं,--भावना ह्यात्रभवद्भिः कारणमिष्यते, सा क्षणक्षयिणां चित्तक्षणानां विशेषमाधातुं नोत्सहते, तस्याः स्थिरैकाश्रयगतत्वेन विशेषाधानक्षमत्वात् । तथाहि--स्थायिनस्तिलादयो भावाः स्थायिभिरेव सुमनोभिर्वास्यन्ते, तथेयमपि स्यात्, अतश्च प्रतिक्षणमपूर्वत्वेन उपजायमानस्य निरन्वयविनाशिलङ्घनाभ्यासवत् अनासादितातिशयस्य चित्तक्षणस्य प्रभास्वरचित्तक्षणोपजननाय भावना न प्रभवेत् इत्यनया कोऽर्थः । समलाश्च चित्तक्षणाः स्वारसिक्याः सदृशारम्भणशक्तेः स्वसदृशानेव चित्तक्षणानुत्पादयितुं क्षमन्ते, न विसदृशान् प्रभास्वरान् । एवं च चित्तक्षणभङ्गुरत्वान्मलप्रहाणायैव भावना न प्रगल्भेत इत्याश्रयपरावृत्तेः का वार्ता इति कृत क्षणिकवादिनां मोक्षेण । बन्धमोक्षौ च स्थिरैकादिपक्षे युज्येते, बद्धो हि मोक्षाय प्रवर्तते, प्राप्य च निवृत्तो भवति इति, सन्ता-

नश्चैको न विद्यते तस्य भेदाभेदविकल्पोपहतत्वात्। 'अन्तः'संविद्रूपतायामपि 'शून्योऽहं' भवामि इति ज्ञानं माध्यमिकानाम्। ते खलु सर्वभावनैः स्वाभाव्यवादिनः संविदोऽपिनैः स्वाभाव्यान्मिथ्यात्वमभिदधतस्तच्छून्यतायामेव मोक्षमाचक्षीरन्। यदाहुः

'चित्तमात्रमिदं विश्वमिति यादेशना मुनेः।
तत्त्रासपरिहारार्थं बालानां सा न तत्त्वतः॥
सापि ध्वस्ता महाभागैश्चित्तमात्रव्यवस्थितिः।'

इति, तदप्ययुक्तं,-संविदो हि मिथ्यात्वे स्वतन्त्ररूपापाकरणेऽपि सत्तैव न भवेत्, तस्याः नीलादिवत् परतन्त्ररूपत्वाभावात्, नीलादीनां हि मिथ्यात्वेन स्वतन्त्ररूपापाकरणेऽपि संविदात्मतयाऽस्त्यवस्थानं, संविदि तु स्फुरत्तामात्रसारायां मिथ्यात्वादसत्त्वमेव स्यात्। इति न किंचित्स्फुरेत् इति मूर्छैव स्यात् इति न च संविदः स्फुरत्तामात्रसाररूपाया अपह्नवः शक्यक्रियः इति यत्किंचिदेतत्।
अथ

'सर्वालम्बनधर्मैश्च सर्वसत्त्वैरशेषतः।
सर्वक्लेशाशयैः शून्यं न शून्यं परमार्थतः॥'

इत्याद्युक्तयुक्त्या ग्राह्यग्राहकभावादिना कल्पितेन रूपेण शून्यं, न तु संविदापि इति चेत्, एवं ह्युच्यमाने विज्ञानवादे एवाभ्युपगमः स्यात्, सोऽपि हि कल्पितपरतन्त्रादिरूपशून्यत्वेन

'इत्यन्तःकरणस्यैव विचित्रात्मावभासिनः।
अविभावितत्त्वस्य विस्फूर्जितमिदं जगत्॥'

इत्याद्युक्तेर्विज्ञप्तिमेव परमार्थसतीमभ्युपागमत् इति न नवं किंचिदायुष्मतोत्प्रेक्षितम्। तत्र चोक्तो दोषः 'अकर्ताहं भवामि' इति ज्ञानं सांख्यानाम्। ते हि निष्क्रियमेवात्मानमभ्युपागमन्, अन्यथा हि तस्य चैतन्यं न स्यात्—अचेतनानामेव क्षीरादीनां क्रियावत्त्वोपलब्धेः। अयुक्तं चैतत,—अकर्तृत्वे हि पुरुषस्य अनिर्मोक्षः स्यात्,। अकिंचित्करत्वे हि पुरुषस्योत्पन्नेऽपि विवेकदर्शने स्वरूपेणावस्थानं न स्यात्,—प्रवृत्तिस्वभावायाः प्रकृतेरौदासीन्यायोगात्, तं प्रत्यपि पुनः संभावनायाः संभवात्। न च प्रकृतेः 'दृष्टाहमनेन' इति 'न पुनरेतदर्थमहं प्रवर्ते इत्य-

नुसन्धानमस्त्याचैतन्यादस्याः – प्रेक्षाकारित्वाभावात् । एवं चेयं कृतेऽपि शब्दाद्युपलम्भे यथा पुनस्तदर्थं प्रवर्तते, तथा कृतायामपि विवेकख्यातौ पुनरपि तदर्थं प्रवर्तिष्यते, स्वभावस्यानपेतत्वात् । एवमपि कृतमकृतं न भवति—इति संकुचितमपि ज्ञानं बौद्धादीनां निजोचितामर्थक्रियां विदध्यात । तथाहि बौद्धाः

'एकमेवेदं संविद्रूपं हर्षविषादाद्यनेकाकारविवर्तं पश्यामः ॥'

इत्याद्युक्तयुक्त्या 'बुद्धिवृत्त्यात्मकं ज्ञानमेव तत्त्वं प्रतिपन्नाः इति बुद्धितत्त्वप्राप्तिरेवैषां मोक्षः । तदुक्तं

'ब्रह्मा तत्राधिपत्वेन बुद्धितत्त्वे व्यवस्थितः ।
सर्वज्ञं च तमेवाहुर्बौद्धानां परमं पदम् ॥'

इति । अत एवैषां बुद्धितत्त्वाधोवर्तिनः संसारस्य शान्तिः । एवं च 'ज्ञानं मुञ्चति तावतः' इति युक्तमुक्तम् । सांख्याश्च सुख-दुःखाद्यात्मकप्रकृतिपृथग्भावेन पुंस एव स्वरूपेणावस्थानं तत्त्वं प्रतिपन्नाः इति पुंस्तत्त्वप्राप्तिरेवैषां मोक्षः । तदुक्तं

'पौरुषं चैव सांख्यानां सुखदुःखादिवर्जितम् ।'

इति । नैरात्म्यदृष्टेश्चात्मदृष्टिर्विशिष्यते, इति सांख्यानां बौद्धेभ्यः पूर्णप्रथात्मकं ज्ञानम् इत्येषां बुद्धितत्त्वोर्ध्ववर्तिपुंस्तत्त्वप्राप्तिः । एवं च पूर्णप्रथात्मकमुत्तरोत्तरं ज्ञानम्, इत्यादिः पूर्वसूत्रप्रतिज्ञातोऽर्थो निर्वाहितः । एवं सांख्यपातञ्जलयोः प्रकृतिपृथग्भावेन पुंज्ञानस्य साम्येऽपि सांख्येभ्यः पातञ्जलानामीश्वरप्रणिधानात् तद्विशिष्यते, इति तेषां पुंस्तत्त्वोर्ध्ववर्तिनियतितत्त्वप्राप्तिरुक्ता ।

'षड्विंशकं तु देवेशि योगशास्त्रे परं पदम् ।'

इति । एवं च मौसुलपाशुपतादीनामपि यथायथं ज्ञानातिशयादूर्ध्वोर्ध्वतत्त्वावाप्तिः परं पदम् इति । तदुक्तं

'मौसुले कारुके चैव मायातत्त्वं प्रकीर्तितम् ।'

इति । तथा

'व्रते पाशुपते प्रोक्तमैश्वरं परमं पदम् ।'

इति । तत्रैवं बौद्धादीनां मायीयादेव मलादंशांशिकया, मौसुलानां

कार्मादपि, पाशुपतानम् अनात्मनि आत्माभिमानात् आणवादपि मलान्मोचकं ज्ञानम् इत्युक्तं 'समासव्यासाभ्याम्' इति ॥३३॥

ननु स्वदर्शनौचित्येन एवं बन्धविगलनेऽपि किमिति नासौ मुक्तः इत्याशंक्याह ।

तस्मान्मुक्तोऽप्यवच्छेदादवच्छेदान्तरस्थितेः ।
अमुक्त एव मुक्तस्तु सर्वावच्छेदवर्जित : ॥ ३४ ॥

'.......अध्वा बन्धस्य कारणम् ।'

इत्युक्तेः अध्वा तावद्बन्धकः । तत्र बौद्धादयो बुद्धितत्त्वान्तबन्धविगलनात् तन्मुक्ता अपि तदूर्ध्ववर्त्यध्वान्तरावच्छेदस्थितेरमुक्ता एव, अत एवैषां पुनरपि सर्गारम्भे सृज्यमानत्वात् संसाराविर्भावो,-बन्धकारणस्य निःशेषेणाप्रक्षयात् । यद्वक्ष्यति

'सांख्यवेदादिसंसिद्धान् श्रीकण्ठस्तदहर्मुखे ।
सृजत्येव पुनस्तेन न सम्यङ्मुक्तिरीदृशी ॥'

इति । श्रीस्वच्छन्दशास्त्रेऽपि

'लौकिकानां पुनः सृष्टिः पुनः संहार एव च ।
संसारचक्रमारूढा भवन्ति घटयन्त्रवत् ॥'

इत्यादि सामान्येनाभिधाय

'मुक्तं च प्रतिबन्धात्तं पुनर्बध्नाति चेश्वरः ।
बन्धः संसारतो भूयो यावद्देवं न विन्दति ॥'

इति बौद्धाद्यवान्तरदर्शनमुक्तोपलक्षणपरतया विशेषेणोक्तम् । यः पुनर्निःशेषप्रक्षीणसर्वाध्वबन्धः स एव साक्षान्मुक्तः इत्याह 'मुक्तस्तु सर्वावच्छेदवर्जितः' इति । यदुक्तं

'सर्वाध्वनो विनिष्क्रान्तं शैवानां तु परं पदम् ।'

इति । तथा

'शैवः सिद्धो भाति मूर्ध्नातिरेषां मुक्तः सृष्टौ पुनरभ्येति नाधः ।'

इति ॥३४॥

अत्र चैवं-विधमेव पूर्णं ज्ञानं निमित्तम् इत्याह

यत्तु ज्ञेयसतत्त्वस्य ज्ञानं सर्वात्मनोज्झितम् ।
अवच्छेदैर्न तत्कुत्राप्यज्ञानं सत्यमुक्तिदम् ॥ ३५ ॥

'अवच्छेदैः' संकोचाधायिभिरिदन्तापरामर्शैः 'सर्वात्मना' सर्वप्रकारं वासनामात्रेणापि यत् 'उज्झितं' पराहन्तापरामर्शसारमित्यर्थः । अत एव च पूर्णप्रथात्मकत्वात् 'न तत् कुत्राप्यज्ञानम्' अतश्च 'सत्यां' मुक्त्याभास-विलक्षणां 'मुक्ति' ददाति, अहंपरामर्शसारप्रमात्रैकात्म्येन स्फुरति इत्यर्थः ॥३५॥

इदानीमुद्दिष्टयोर्ज्ञानाज्ञानयोरेव स्वरूपं विभजति

ज्ञानाज्ञानस्वरूपं यदुक्तं प्रत्येकमप्यदः ।
द्विधा पौरुषबौद्धत्वभिदोक्तं शिवशासने ॥ ३६ ॥

'शिवशासने' इति पञ्चस्रोतोरूपे पारमेश्वरदर्शने इत्यर्थः । एतद्धि सर्वत्रैवाविशेषेणोक्तम् ॥३६॥

तदेव लक्षयति

तत्र पुंसो यदज्ञानं मलाख्यं तज्जमप्यथ ।
स्वपूर्णचित्क्रियारूपशिवतावरणात्मकम् ॥ ३७ ॥
संकोचिदृक्क्रियारूपं तत्पशोरविकल्पितम् ।

अथ-शब्द आनन्तर्ये, उद्देशानन्तरं हि लक्षणपरीक्षयोरवसरः इत्याशयः । 'तत्र' द्विविधयोर्ज्ञानाज्ञानयोर्मध्यात्

'..............पुसः प्रादुर्भवत्परम् ।'

इत्यस्यात्मनोऽपि यत्समनन्तरोक्तस्वरूपं मलाख्यमनन्यसाधारणानव-च्छिन्नज्ञानक्रियायोगिपरप्रमातृरूपाच्छिवादेव जातमुद्भूतमित्यर्थः । परमेश्वर एव हि स्वस्वातन्त्र्यात्पूर्णज्ञत्वकर्तृत्वाद्यपहस्तनेन अख्यात्यात्म-काणवमलाविर्भावेन स्वात्मानमावृणुयात् । तदुक्तं

'परमं यत्स्वातन्त्र्यं दुर्घटसंपादनं महेशस्य ।
देवी मायाशक्तिः स्वात्मावरणं शिवस्यैतत् ॥ (प०सा० १५ का०)
मायापरिग्रहवशाद्बोधो मलिनः पुमान्पशुर्भवति ।' (प०सा०१६का०)

इति । वक्ष्यति च

'तेन स्वरूपस्वातन्त्र्यमात्रं मलविजृम्भितम् ।'

इति । तदेव पशोराणवादिमलत्रययोगिनोऽपि तस्य मातुर्देशकालाद्यवच्छिन्नत्वान्नियतदृक्क्रियास्वाभासालोचनात्मकं ज्ञानम् । परमेश्वर एव हि सर्वज्ञताद्यपहस्तनेन अणुतां प्रापितस्य स्वात्मनः पुनरपि कलादियोगं कृतवान्, येनास्य नियतं ज्ञत्व-कर्तृत्वाद्यभियुक्तं । तदुक्तं

'असूत सा कलातत्त्वं यद्योगादभवत्पुमान् ।
जातकर्तृत्वसामर्थ्यो विद्यारागौ ततोऽसृजत् ।।
विद्या विवेचयत्यस्य कर्म तत्कार्यकारणे ।
रागोऽपि रञ्जयत्येनं स्वभोगेष्वशुचिष्वपि ।।
नियतिर्योजयत्येनं स्वके कर्मणि पुद्गलम् ।
कालोऽपि कलयत्येनं तुटयादिभिरवस्थितः ।।'

इति । ज्ञानस्वरूपस्य प्रथममुद्देशेऽपि अवश्योच्छेद्यत्वप्रतिपादनार्थमादावज्ञानस्वरूपं निरूपितम् ।।

ननु पुंसो बुद्धिवृत्त्यात्मकं ज्ञानं निर्विकल्पकम् इत्युच्यते, तत् कथमेतत् बुद्ध्यंशोपनिपाति न स्यात् इत्याशंक्याह ।

तदज्ञानं न बुद्ध्यंशोऽध्यवसायाद्यभावतः ।। ३८ ।।

एवमपि हि बुद्धेः

'अध्यवसायो बुद्धिः'

इत्याद्युक्तेरध्यवसाय एव मुख्यं रूपं, कथमस्य एतदभावे तद्धर्मत्वं स्यात् ।।३८।।

अत एवाह

अहमित्थमिदं वेद्मीत्येवमध्यवसायिनी ।
षट्कञ्चुकाबिलाणूत्थप्रतिबिम्बनतो यदा ।। ३९ ।।
धीर्जायते तदा तादृग्ज्ञानमज्ञानशब्दितम् ।
बौद्धं तस्य च तत्पौंस्नं पोषणीयं च पोष्टृ च ।।४०।।

अस्याश्चैवमध्यवसाययोगित्वे हेतुः 'षट्कञ्चुक' इति । षट्कञ्चुकैः

'कालकलानियतिबलाद्रागाविद्यावशेन संबद्धः ।
अधुनैव किंचिदेवेदमेव सर्वात्मनैव जानामि ।
मायासहितं कञ्चुकषट्कमणोरन्तरङ्गमिदमुक्तम् ॥'
(प० सा० १६ उ० १७)

इत्यादिना निरूपितस्वरूपैः 'आविलः' प्रतिनियतज्ञत्वकर्तृत्वाद्युत्पत्त्या म्लानप्रायो योऽसौ 'अणुः' परिमितात्मा, ततो जातात् 'प्रतिबिम्बनात्' चिच्छायासंक्रमणात् इत्यर्थः। एवं ह्यस्याः पुंबोधव्यक्तिभूमित्वादेवंस्वभावो भवत् इति भावः। 'तादृक्' इति एवमध्यवसायरूपम्। अनयोश्च परस्परं कार्यकारणभावं दर्शयितुमाह 'तस्य' इत्यादि, 'तस्य' इति बौद्धस्य, 'पौस्नं' पुंसि भवं पौरुषम् इत्यर्थः। 'पोषणीयं' कार्यम् इत्यर्थः । कामशोकाद्यावेशभाजो हि तन्मयतानुसंधानादिना तत्तदर्थसाक्षात्कारात्मकमविकल्पकं ज्ञानमुदियात्। यदाहुः

'कामशोकभयोन्मादचौरस्वप्नाद्युपप्लुताः ।
अभूतानपि पश्यन्ति पुरतोऽवस्थितानिव ॥'

इति। 'पोष्टृ' इति कारणम्। स्वप्नादावपि अनुभव एव हि प्राच्यो निमित्तं, नहि नारिकेलद्वीपवासिनो वह्निविकल्पादाविच्छापि भवेत् ॥ ३९ ॥ ४० ॥

एवमज्ञानं निरूप्य, ज्ञानमपि द्विविधं निरूपयितुमाह

क्षीणे तु पशुसंस्कारे पुंसः प्राप्तपरस्थितेः ।
विकस्वरं तद्विज्ञानं पौरुषं निर्विकल्पकम् ॥ ४१ ॥
विकस्वराविकल्पात्मज्ञानौचित्येन यावता ।
तद्बौद्धं यस्य तत्पौंस्नं प्राग्वत्पोष्यं च पोष्टृ च ॥४२॥

पशोराणवस्यापि वासनामात्रक्षयाभिधानात् 'निमित्ताभावे नैमित्तिकस्याप्यभावः' इति न्यायेन कार्ममायीययोरपि प्रक्षयान्निवृत्तनिखिलबन्धस्य 'पुंसः' अत एव प्राप्तपरमचिदैकात्म्यस्य 'विकस्वरं' पराहन्ताविमर्शात्मकं 'निर्विकल्पकं' कृत्रिमाहंकारादिविकल्पविलक्षणं ज्ञानं पौरुषं भवति इति वाक्यार्थः। 'औचित्येन' इति तद्रूपतापर्णनात्मना इत्यर्थः। अतश्च 'सर्वो ममायं विभवः' इत्येवंरूपत्वमस्याः। 'यस्य' इति बौद्धज्ञानस्य। 'प्राग्वत्' इति

यथैवाज्ञानयोः परस्परं पोष्यपोषकभावस्तथैव इत्यर्थः। तथैव पूर्णापूर्णत्वेन पुनः विशेषो ग्राह्यः, अन्यथा हि ज्ञानाज्ञानयोः स्वरूपमेवाभिहितं न स्यात् ॥४१॥४२॥

नन्वेवंविधमज्ञानं तावदनाद्येवावस्थितम् इति नास्ति विवादः, एतदभावात्मकं ज्ञानं पुनः कदा समुदियात्, एतदभावे च किं निमित्तम्? इत्याशङ्क्याह

तत्र दीक्षादिना पौंस्नमज्ञानं ध्वंसि यद्यपि।
तथापि तच्छरीरान्ते तज्ज्ञानं व्यज्यते स्फुटम् ॥ ४३ ॥

यद्यप्युक्तस्वरूपं 'पौंस्नमज्ञानं'

'दीयते ज्ञानसद्भावः क्षीयन्ते पशुवासनाः।
दानक्षपणसंयुक्ता दीक्षा तेनेह कीर्तिता ॥'

इत्याद्युक्तस्वरूपया दीक्षया नश्यत्येव 'तथापि' 'तत' अज्ञानाभावमात्ररूपमात्मज्ञानं व्यक्त्युन्मुखमपि

'......................प्रारब्धैकं न शोधयेत्।'

इत्याद्युक्तेरिदंशरीरारम्भकस्य काममलस्य सद्भावात् 'तस्य' वर्तमानशरीरस्य 'अन्ते स्फुटं व्यज्यते'

'......................देहपाते शिवं व्रजेत्।'

इत्याद्युक्त्या साक्षात्कारात्म स्फुरति इत्यर्थः। आदिशब्दाच्च शेषवृत्त्या ग्रहणं, न तु तीव्रतरशक्तिपातादेः, तद्धि दीक्षायां निमित्तम् इति तद्वचनेनैवास्य ग्रहः सिद्धः, न चास्मिन्दीक्षातोऽन्यत्किंचिन्मुक्तौ निमित्तम्। तदुक्तं

'तस्मात्प्रविततादुबन्धात्परस्थानविरोधकात्।
दीक्षैव मोचयत्यूर्ध्वं शैवं धाम नयत्यपि ॥'

इति। तीव्रतमशक्तिपातादौ पुनरनुपायादिक्रमेण दीक्षा भवेत्, येनास्य तत्कालमेवापवर्गः। तदुक्तं

'तत्संबन्धात्ततः कश्चित्तत्क्षणादपवृज्यते।'

इति दीक्षानिरपेक्षमेव पुनरेतत् मुक्तौ निमित्तम् इति न संभाव्यम्, एवं श्रुतिविरोधः स्यात्।

'तस्य दीक्षां विनैवात्मसंस्कारपरिणामतः ।
सम्यग्ज्ञानं भवेत्सर्वशास्त्रेषु परिनिष्ठितम् ॥'

इत्यादौ पुनर्बाह्यक्रियादीक्षाभिप्रायेण तन्निषेधो विवक्षितः, अन्यथा ह्यत्रात्मसंस्कारशब्दार्थ एव कथं संगच्छताम् इत्यलं बहुना ॥४३॥

ननु यद्येवं दीक्षया देहान्त एव मुक्तिर्भवेत्; तत्कथं 'जीवन्नेव विमुक्तोऽसौ' इत्याद्युक्तम् इत्याशङ्क्याह

बौद्धज्ञानेन तु यदा बौद्धमज्ञानजृम्भितम् ।
विलीयते तदा जीवन्मुक्तिः करतले स्थिता ॥४४॥

'बौद्धज्ञानेन' इति परमेश्वराद्वयशास्त्रश्रवणाद्युद्भूतेन । तदुक्तं

'गुरुणैव यदा काले संप्रदायो निरूपितः ।
तदाप्रभृति मुक्तोऽसौ यन्त्रं तिष्ठति केवलम् ॥'

इति । एतच्च दीक्षिताधिकारेणैव ज्ञेयम्, नहि अकृतदीक्षस्य शास्त्रश्रवणेऽप्यधिकारः इति कुतस्तदवबोधनिमित्तकोऽपि तज्ज्ञानाविर्भावः स्यात् । तदुक्तं

'अदीक्षितानां पुरतो नोच्चरेच्छिवपद्धतिम् ।'

इति । न च अप्रध्वस्तपौरुषाज्ञानस्य अनेन किंचिद्भवति इत्युक्तप्रायम्, अन्यथा हि प्रेक्षावतां दीक्षायां प्रवृत्तिरेव न स्यात्—साध्यस्यार्थस्य अत एव स्रष्टुरभावात्, अत एव दीक्षायां शिथिलास्थत्व न वाच्यं, तस्या एव मुक्तिं प्रति मूलकारणत्वात् । एवं दीक्षादिना पौंस्नं ज्ञानमभिव्यक्त्युन्मुखमपि न तदैव मुक्तिप्रदं—देहान्ते तदभिव्यक्तेरुक्तत्वात्, इदं पुनस्तदैव इति ततोऽस्य प्राधान्यमपि कटाक्षितम् ॥४४॥

न केवलमेतदेवास्य ततः प्राधान्यनिमित्तं यावदन्यदपि इत्याह

दीक्षापि बौद्धविज्ञानपूर्वा सत्यं विमोचिका ।
तेन तत्रापि बौद्धस्य ज्ञानस्यास्ति प्रधानता ॥४५॥

इह

'सर्वलक्षणहीनोऽपि ज्ञानवान्गुरुरुत्तमः ।'

इत्याद्युक्तेरधिगतशास्त्रार्थस्यैव हि गुरोर्दीक्षायाम् अधिकारः, अत एव तस्य

'शिवशास्त्रविधानज्ञं ज्ञानज्ञेयविशारदम् ।'

इति लक्षणं प्राधान्येनोक्तं, अन्यथा पुनः

'शास्त्रहीने न सिद्धिः स्याद्दीक्षायां वीरवन्दिते ।'

इत्याद्युक्त्या दीक्षा विमोचिकैव न स्यात्, तेन इति दीक्षायां बौद्धस्य ज्ञानस्य कारणत्वात्, नहि तेन विना तस्या निष्पत्तिरेव स्यात् ॥४५॥

न चैतदस्मदुपज्ञमेव इत्याह

ज्ञानाज्ञानगतं चैतद्द्वित्वं स्वायम्भुवे रुरौ ।
मतङ्गादौ कृतं श्रीमत्खेटपालादिदैशिकैः ॥४६॥

तदुक्तं श्रीस्वायम्भुवे

'अथात्ममलमायाख्यकर्मबन्धविमुक्तये ।
व्यक्तये च शिवत्वस्य शिवज्ञानं प्रवर्तते ॥'

इति ।

'अथानादिर्मलः पुंसां पशुत्वं परिकीर्तितम् ।
तत्सद्भाववशोऽज्ञादिः पाशौघः पौरुषः स्मृतः ॥
तस्मात्तत्त्वतो ज्ञेयं मोक्षमक्षयमिच्छता ।'

इति च । श्रीरुरावपि

'यजन्ति विविधैर्यज्ञैर्मन्त्रतत्त्वविशारदाः ।
गुरुतन्त्राद्यनुज्ञातदीक्षासिच्छिन्नसंशयाः ॥'

इति ।

'न मीमांस्या विचार्या वा मन्त्राः स्वल्पधिया नरैः ।
प्रमाणमागमं कृत्वा श्रद्धातव्या विचक्षणैः ॥
सर्वे मन्त्रात्मका देवाः सर्वे मन्त्राः शिवात्मकाः ।
शिवात्मकमिदं ज्ञात्वा शिवमेवानुचिन्तयेत् ।.'

इति च । श्रीमतङ्गेऽपि

'ततः स भगवानीशः स्फुरन्माणिक्यशेखरः ।
वाक्यानलसमुत्थेन ज्वालावीर्येण मन्त्रराट् ॥
प्रददाह मुनेः सर्वमज्ञानं तृणराशिवत् ।'

इति ।

'शिववक्त्राम्बुजोद्भूतममलं सर्वतोमुखम् ॥
शिवत्वोन्मीलनं तथ्यं ज्ञानमज्ञाननाशनम् ।
अनेन सिद्धाः पश्यन्ति यत्तत्पदमनामयम् ॥'

इति च । आदिशब्देन चिल्लाचक्रेश्वरीमतादेर्ग्रहणम् । तदुक्तं तत्र

'बौद्धं च पौरुषेयं च द्विविधं तन्मलं स्मृतम् ।
तत्र दीक्षादिना याति पौरुषेयं मलं क्षयम् ॥
बौद्धमक्षयमेवास्ते तावत्तावत्समुद्रितम् ।
यावन्न बौद्धमेवास्य सजातीयविलापकम् ॥
ज्ञानमभ्युदितं सम्यक्सारेतरविभागकृत् ।'

इति । पौंस्नज्ञानाभिव्यञ्जने दीक्षा तावन्न प्रभवेद्यावदस्य बौद्धं ज्ञानं पूर्वभावि न स्यात्, येनास्य ततोऽपि प्राधान्यमुक्तम् ॥४६॥

एवं बौद्धमपि ज्ञानं पारमेश्वरं शास्त्रमन्तरेण कुतः समुदियात् इति तदेव मूलकारणत्वादिह प्रधानम् इत्याह

तथाविधावसायात्मबौद्धविज्ञानसम्पदे ।
शस्त्रमेव प्रधानं यज्ज्ञेयतत्त्वप्रदर्शकम् ॥४७॥

'संपदे' इति तां जनयितुम् इत्यर्थः । यतो 'ज्ञेयस्य' नीलसुखादेः 'तत्त्वं' प्रकाशमानत्वान्यथानुपपत्त्या प्रकाशात्मकशिवस्वभावत्वं, तस्य प्रदर्शकम् पराद्वयोपदेशकारित्वात्तदभिधायकम् इत्यर्थः । अत एव चास्य तदप्रदर्शकतया शास्त्रान्तरेभ्यो वैलक्षण्यमपि कटाक्षितम् ॥४७॥

ननु भवत्वेवम्, अत्र पुनः किं निमित्त यत्पौंस्नाज्ञाननिवृत्तौ देहान्ते मुक्तिः, बौद्धाज्ञाननिवृत्तौ तु तदैव इत्याशङ्क्याह

दीक्षया गलितेऽप्यन्तरज्ञाने पौरुषात्मनि ।
धीगतस्यानिवृत्तत्वाद्विकल्पोऽपि हि संभवेत् ॥४८॥

'धीगतस्य' इति अज्ञानस्य । 'विकल्पो हि' भेदप्रथात्मकः स चैव अख्यातिरूपत्वादज्ञानम् इति बहूक्तम् ॥४८॥

ननु धीगतमज्ञानं यदि न निवृत्तं तदात्मनः किमायातम् इत्याशङ्क्याह

देहसद्भावपर्यन्तमात्मभावो यतो धियि ।
देहान्तेऽपि न मोक्षः स्यात्पौरुषाज्ञानहानितः ॥४९॥

दीक्षितस्यापि हि नियतकालं बुद्धावात्मग्रहो भवेत् इति तयोरभेदाद् बौद्धमप्यज्ञानमात्मन्युपचितं संभवेत् इति भावः। अत एव देहान्ते बुद्धावात्मग्रहव्युपरमात् पौरुषस्याज्ञानस्य दीक्षादिना पूर्वमेव प्रध्वस्तत्वान्मोक्षः इति युक्तमुक्तं 'तच्छरीरान्ते तज्ज्ञानं व्यज्यते स्फुटम्' इति ॥४९॥

एवं विकल्पोऽत्र संभवन्मुक्तौ व्यवधायकः इति न तदैव मुक्तिः, तस्य पुनरसंभवे सत्यपि देहे मुक्तिः इत्याह

बौद्धाज्ञाननिवृत्तौ तु विकल्पोन्मूलनाद्ध्रुवम् ।
तदैव मोक्ष इत्युक्तं धात्रा श्रीमन्निशाटने ॥५०॥

न चैतदप्रमाणकम् इत्याह 'इत्युक्तम्' इत्यादि ॥५०॥

विकल्पयुक्तचित्तस्तु पिण्डपाताच्छिवं व्रजेत् ।
इतरस्तु तदैवेति शास्त्रस्यात्र प्रधानतः ॥५१॥

'इतर' इति निर्विकल्पः। 'तदैव' इति देहसद्भावे इत्यर्थः। यदुक्तं तत्रैव

'विकल्पयुक्तचित्तस्तु पिण्डपाताच्छिवं व्रजेत् ।'
विकल्पहीनचित्तस्तु ह्यात्मानं शिवमव्ययम् ॥
पश्यते भावशुद्ध्या यो जीवन्मुक्तो न संशयः ।'

इति। इदानीं प्राक्प्रतिज्ञातं शास्त्रस्यैव प्राधान्यं निगमयति—इति इत्यादिना, 'इतिशब्दः' काकाक्षिन्यायेन योज्यः, तेन श्रीनिशाटनग्रन्थसमाप्तौ हेतौ च व्याख्येयः। स च 'ज्ञेयतत्त्वप्रदर्शकम्' इत्यादिना प्रागप्युक्तः ॥५१॥

ननु किं नाम ज्ञेयस्य तत्त्वं यत्प्रदर्श्यमानं शास्त्रप्राधान्यावगमकमपि स्यात् इत्याशङ्क्याह

ज्ञेयस्य हि परं तत्त्वं यः प्रकाशात्मकः शिवः ।
नह्यप्रकाशरूपस्य प्राकाश्यं वस्तुतापि वा ॥५२॥

'ज्ञेयस्य' नीलादेर्नीलतेव प्रकाशमानता न तावदात्मभूता, तथात्वे हि

सर्वदैव सर्वान्प्रति च स्यान्न तु कदाचित्कंचित्प्रति इति सर्वेऽपि सर्वज्ञाः स्युः। अतश्च अस्य प्रकाशते, मम प्रकाशते इति प्रकाशात्मप्रमातृसंलग्नैव सा युज्यते इति नासौ स्वातन्त्र्येण पर्यवसितस्वरूपो नीलादिः, शिव एव प्रकाशात्मकः प्रमाता, तदतिरिक्तस्य अन्यस्य भेदाभेदविकल्पोपहतत्वात्, अतश्च नीलादेर्ज्ञेयस्य प्रकाशमानत्वात् स एव परमार्थः इत्युक्तं 'प्रकाशात्मकः शिवः परं तत्त्वम्' इति। नन्वसौ स्वयमतथारूपोऽपि प्रकाशसंबन्धात्तथा भविष्यति इत्याशङ्क्याह 'नहि' इत्यादि। प्रकाशसंबन्धेनापि हि प्रकाशमानो नीलादिः स्वयं प्रकाशरूप एव सन् प्रकाशते, नहि अप्रकाशरूपश्च प्रकाशते च इति स्यात्, नहि अश्वेतः प्रासादः श्वेतते, न चैवं वस्तुत्वमप्यस्य स्यात्, नहि प्रकाशरूपतामपहाय अन्यद्वस्तु संभवेत् इति भावः ॥ ५२ ॥

एवं च न केवलं नीलादेर्ज्ञेयस्य भावस्य प्रकाशमानत्वात्प्रकाशात्मकः शिवस्तत्त्वं यावत्तदभावस्यापि इत्याह

अवस्तुतापि भावानां चमत्कारैकगोचरा।
यत्कुड्यसदृशी नेयं धीरवस्त्वेतदित्यपि ॥५३॥

यतो 'नास्त्यत्र घट' इत्येवंरूपापि बुद्धिर्बोधस्वभावत्वात्कुड्यादिजडपदार्थविलक्षणा अत एव घटाद्यभावोऽपि बुद्ध्यमानत्वात्परमानन्दैकघनबोधात्मकशिवस्वभाव एव इत्यर्थः। तदाहुः

'अबोधोऽपि बुद्ध्यमानो बोधात्मभूत ईश्वर एव।'

इति ॥ ५३ ॥

ननु सिद्धे प्रकाशे भावाभावरूपस्य ज्ञेयस्य तदेकपरमार्थत्वं सिद्ध्येत्, स एव पुनः केन प्रमाणेन सिद्धः इत्याशङ्क्याह

प्रकाशो नाम यश्चायं सर्वत्रैव प्रकाशते।
अनपह्नवनीयत्वात् किं तस्मिन्मानकल्पनैः ॥५४॥

अपूर्वार्थविषयं खलु प्रमाणं। यदाहुः

'अनधिगतविषयं प्रमाणमज्ञातार्थप्रकाशो वा'

इति। प्रकाशस्य अपूर्वत्वेन प्रकाशो नास्ति सर्वदैव तस्य प्रकाशमानत्वेन 'अनपह्नवनीयत्वात्' इति व्यर्थं तत्र प्रमाणपरिकल्पनम्। तथाहि तदा तस्य

अपूर्वत्वेन प्रकाशः स्यात्, यद्यसौ पूर्वमनधिगतत्वेन अप्रकाशमानः स्यात्, तथाभावश्च तद्रहितपूर्वकालस्मृतौ सत्यां भवेत्, स्मृतिरपि एवंरूपमनुभवं विना नोत्पद्यते, अनुभूतविषयासंप्रमोषात्मकत्वात्तस्याः, न च प्रकाशरहितत्वेन पूर्वकालमनुभवोऽस्ति, तस्यैवानुभवस्य प्रकाशात्मकत्वात्, स एव हि प्रकाशः इति कथं पूर्वमपि तदभावः, अतश्च सर्वदास्य अवभासमानत्वेन आदिसिद्धत्वात् न प्रमाणसव्यपेक्षा सिद्धिः। स एव च 'प्रकाश एव प्रकाशकः प्रमाता' इति नीत्या परप्रमातृरूपः परमेश्वरः शिवः इति युक्तमुक्तम् 'ज्ञेयस्य च परं तत्त्वं यः प्रकाशात्मकः शिवः।' इति ॥ ५४ ॥

न केवलमेतत्सिद्धौ प्रमाणानामनुपयोगो यावत्प्रत्युत एषां तदधीना सिद्धिः इत्याह

प्रमाणान्यपि वस्तूनां जीवितं यानि तन्वते।
तेषामपि परो जीवः स एव परमेश्वरः ॥५५॥

इह वस्तूनां नीलपीतादीनां प्रकाशनिरपेक्षेण स्वस्वरूपेण तावत्स्वयमन्योन्यं वा न कश्चिद्विशेषः। नहि स्वात्मनि नीलं नीलं पीतं वा पीतम्। यदि नाम हि स्वात्मनि नीलं पीतं स्यात्पीतं वा नीलं, तत्किमिव न विरुद्धमापतेत्। अथ यथैव यत्प्रकाशते तथैव तत्स्वात्मनि परिनिश्चितं स्यात् इति न नीलं पीतं, पीतं वा नीलम्, इति चेत्–एवं तर्ह्येषां स्वात्मनि विशेषो न कश्चिदुक्तः स्यात्, अपि तु प्रकाशते इति–इति प्रकाश एवैषां रूपं तत्तन्नियतस्वरूपप्रतिष्ठानिबन्धनत्वात् जीवितं वितनुयात् येन नीलमिदं पीतमिदम् इति सिद्ध्येत्। स च नीलाद्युपरागेण नियतरूपतामवलम्बमानः प्रमाणशब्दव्यपदेश्यो भवेत्। न चास्य स्वात्मसिद्धिं प्रति अन्यदपेक्षणीयं–प्रकाशरूपत्वात्, प्रकाशस्य च स्वपरप्रकाशकत्वात्, तथा-भूतोऽप्यसौ प्रकाशो विमर्शरूपतां विना नार्थस्य आत्मनो वा प्रकाशरूपतायां प्रतिष्ठास्पदं स्यात्, नहि प्रकाशः इत्येवासौ स्वपरात्मनोः प्रतिष्ठापको भवेत्, एवं हि नीलमपि नीलम् इत्येव कृत्वा तथा स्यात्। तस्मात्स्वपरप्रकाशतासिद्धौ तस्यापि अहंपरामर्शात्मा जीवितभूतः प्रकाशोऽभ्युपगमनीयो–येन सर्वं सिद्ध्येत्। यदुक्तं

'प्रकाशस्यात्मविश्रान्तिरहंभावो हि कीर्तितः।'

इति। स एव च परप्रकाशात्मा परमेश्वरः शिवः इत्युक्तं 'तेषामपि परो जीवः स एव परमेश्वरः' इति ॥ ५५ ॥

एवमादिसिद्धत्वादस्य न केवलं साधकं प्रमाणमकिंचित्करं, यावद्बाधकमपि इत्याह

सर्वापह्नवहेवाक धर्माप्येवं हि वर्तते ।
ज्ञानमात्मार्थमित्येतन्नेति मां प्रति भासते ।।५६।।

'सर्वेषां' ज्ञातृज्ञानज्ञेयानाम् 'अपह्नवो' निराकरणं तत्र 'हेवाक' एव 'धर्मः' स्वभावो यस्यासौ बौद्धः । तत्र त्रयाभाववादिनो माध्यमिकाः । ज्ञातृज्ञेयाभाववादिनो योगाचाराः । ज्ञात्रभाववादिनो वैभाषिकाः । सोऽपि 'ह्येवं ज्ञानमात्मार्थम्' इत्येतत् मां संवेदनस्वभावत्वाद् विचारयितारं प्रति नेति भासते–नास्ति इति प्रतीतिरूपो वर्तते अवतिष्ठते इत्यर्थः, तेन आत्मादेर्निराकरणे साधने वापि अवश्यमेव साधयिता पूर्वकोटावाक्षिप्तः सिद्धः । नहि साधयितारमन्तरेण अर्थानां साध्यतैव स्यात्, स च स्वतः सिद्धः प्रकाशात्मा परमार्थरूपः परमेश्वरः शिव एव ॥ ५६ ॥

अतश्च तत्र व्यर्थमेव बौद्धस्यापि प्रमाणस्य परिकल्पनम् इत्याह

अपह्नुतौ साधने वा वस्तूनामाद्यमीदृशम् ।
यत्तत्र के प्रमाणानामुपपत्त्युपयोगिते ।।५७।।

'वस्तूनां' ज्ञातृज्ञानज्ञेयात्मनाम् 'आद्यम्' आद्यसिद्धत्वात् 'ईदृशं' परप्रमातृरूपं 'तत्र' इति आदिसिद्धे प्रमातरि । प्रमेयं खलु प्रमिण्वत्प्रमाणमुच्यते, प्रमेयं च विभिन्नप्रकाशाधीनसिद्धिकमिदन्ताविमृश्यं च भवति । न चैवंरूपत्वं प्रमातुर्येन प्रमाणपरिच्छेद्यः स्यात्, स हि अर्थपरिच्छेदादौ प्रवृत्तः स्वप्रकाशरूपत्वान्न प्रकाशाद्भिन्नो, नापीदन्ताविमृश्यः–अहं प्रत्यवमर्शमयत्वात्, स च यदि प्रमाणप्रमेयः स्यात् तत्रापि प्रमितिक्रियायां प्रमात्रा अपरेण भाव्यं, तत्राप्यन्येन इत्यनवस्थानं स्यात्, तस्मान्नात्र प्रमाणस्य प्रवृत्तौ काचिदुपपत्तिः । यस्तु भावनोपदेशादौ 'सकृद्विभातोऽयमात्मा प्रमाता' इत्यादिरिदन्तया व्यवहारः स न वास्तवः–तत्र तस्य साक्षादप्रतीतेः, अहन्ताव्यवधानेन हि तत्रासौ प्रतीयते इत्यास्ताम्, एतद्धि पदे पदे वितनिष्यते । प्रमाणानुपयोगस्त्वादिसिद्धत्वात् समनन्तरमेव दर्शितः, इति न पुनर्वितानितः ॥ ५७ ॥

न केवलमत्र युक्तिरेवास्ति यावदागमोऽपि इत्याह

कामिके तत एवोक्तं हेतुवादविवर्जितम् ।
तस्य देवातिदेवस्य परापेक्षा न विद्यते ॥५९॥
परस्य तदपेक्षत्वात्स्वतन्त्रोऽयमतः स्थितः ।

ततः इति तत्र प्रमाणानामुपपत्त्युपयोगयोरभावात्, हेतोः अनुमानस्य वादेन विवर्जितम् । अत एवाह–तस्य इत्यादि, परस्य प्रमाणादेः, अतः इति परानपेक्षत्वलक्षणाद्धेतोः ॥ ५९ ॥

एवमस्य परानपेक्षत्वाद्यथा न प्रमाणान्यवच्छेदकानि, तथा प्रमेयाण्यपि इत्याह

अनपेक्षस्य वशिनो देशकालाकृतिक्रमाः ॥६०॥
नियता नेति स विभुर्नित्यो विश्वाकृतिः शिवः ।

वशिनः स्वतन्त्रस्य इति विशेषणद्वारेण हेतुः । अत्रापीति परानपेक्षस्य, प्रकाशात्मनः शिवस्य हि देशकालाकारैर्भेदाभेदविकल्पोपहतत्वादवच्छेदाधानमशक्यम् इत्युक्तं-नियता न इति । अत एव च स एवंविधः इत्याह–विभुर्नित्यो विश्वाकृतिः इति । विभुः इति देशावच्छेदशून्यत्वात् । नित्य इति अतीतादिकालावच्छेदविगलनात् । विश्वाकृतिः इति चिदचिदाद्याकारवैचित्र्योल्लासकत्वात् ॥ ६० ॥

एतदेव प्रपञ्चयति

विभुत्वात्सर्वगो नित्यभावादाद्यन्तवर्जितः ॥६१॥
विश्वाकृतित्वाच्चिदचित्तद्वैचित्र्यावभासकः ।

अत एवास्यागमेषु नानारूपत्वमुच्यते इत्याह

ततोऽस्य बहुरूपत्वमुक्तं दीक्षोत्तरादिके ॥६२॥

तदेवाह

भुवनं विग्रहो ज्योतिः खं शब्दो मन्त्र एव च ।
बिन्दुनादादिसंभिन्नः षड्विधः शिव उच्यते ॥६३॥

भुवनं तत्तद्भुवनाधिष्ठेयं भोगाधाररूपम् । विग्रहशब्देन उपचाराद्वि-

ग्रहिणो लक्ष्यन्ते। तेषां च रुद्रक्षेत्रज्ञादिनानारूपत्वेऽपि तत्तत्सिद्धिदान-सामर्थ्यादिह रुद्रादीनि कारणान्येव। ज्योतिः बिन्दुः

'कदम्बगोलकाकारः स्फुरत्तारकसन्निभः।'

इत्यादिनास्य ज्योतीरूपत्वेनाभिधानात्। खं शून्यं—शक्ति-व्यापिनी-समना-लक्षणम्। शब्दो नादात्मा। मन्त्रः अकारोकारमकारात्मा। अस्य विशेषणं—बिन्दुनादादिसंभिन्नः इति। यदुक्तं

'बिन्दुर्नादस्तथा व्योम मन्त्रो भुवनविग्रहौ।
षड्वस्त्वात्मा शिवो ध्येयः फलभेदेन साधकैः॥'

इति। तथा

'उन्मना तु परो भावः स्थूलस्तस्यापरो मतः।
पुनः शून्यं च व्योमात्मा संस्पर्शं च ततः परम्॥
शब्दो ज्योतिस्तथा मन्त्राः कारणा भुवनानि च।'

इति। तथा

'व्योम-विग्रह-बिन्द्वर्ण-भुवनाध्वविभेदतः।
लक्ष्यभेदः स्मृतः षोढा.................. ॥'

इत्यादि॥ ६३॥

अत्र च

'यो यत्राभिलषेद्भोगान्स तत्रैव नियोजितः।
सिद्धिभाक्................................॥'

इतिन्यायेन यस्य यत्र निष्ठा तस्य तत्प्राप्तिर्भवति इत्याह

यो यदात्मकतानिष्ठस्तद्भावं स प्रपद्यते।
व्योमादिशब्दविज्ञानात्परो मोक्षो न संशयः॥६४॥

यः साधको, यस्य भुवनादेः; आत्मकतायां तद्रूपतायां, निष्ठितः, स तद्भावं—तत्तद्भुवनादिरूपत्वेन नियतां सिद्धिमेति इत्यर्थः। तदुक्तं

'भुवनं चिन्तयेद्यस्तु वक्ष्यमाणैकरूपकम्।
भुवनेशत्वमाप्नोति.................. ॥'

इत्युपक्रम्य

'ब्रह्मादिकारणानां तु विग्रहं यः सदा स्मरेत्।
पूर्वोक्तलक्षणं यच्च तन्मयत्वमवाप्नुयात् ॥
मन्त्रैश्च मन्त्रसिद्धिस्तु जपहोमार्चनाद्भवेत्।
पूर्वोक्तरूपकध्यानात्सिध्यत्यत्र न संशयः ॥
ज्योतिर्ध्यानात्तु योगीन्द्रो योगसिद्धिमवाप्नुयात्।
तन्मयत्वं तदाप्नोति योगिनामधिपो भवेत् ॥
शून्यध्यानाच्च शून्यात्मा व्यापी सर्वगतिर्भवेत्।
समनाध्यानयोगेन योगी सर्वज्ञतां व्रजेत् ॥'

इति। एषां च षण्णामपि शिवात्मकत्वात्

'........................शिवं ध्यात्वा तु तन्मयः।'

इत्याद्युक्तेः शिवैकमयतयैकैकानुप्रवेशेऽपि शिवात्मकस्वस्वरूपलाभो भवेत् इत्याह व्योमादिशब्दविज्ञानात् इत्यादि। व्योमादीनाम् एषां षण्णां शब्दानां शब्दनं शब्दः–परो विमर्शः, तदात्मकतया यत् विज्ञानम्–अनुभवः, तस्मात् परो–विमर्शैकसारशिवैकात्म्यापत्तिलक्षणो, मोक्षो निःसंशयं भवेत् इति वाक्यार्थः। व्योमादिषट्क इति पाठे तु व्योमादेः षट्कस्य विशिष्टादनवच्छिन्नाज्ज्ञानात् इति व्याख्येयम्। न च अत्र भुवनादीनां क्रमो विवक्षितः इतीह व्योमादि इति प्रयुक्तम् ॥ ६४ ॥

ननु यद्ययं विश्वाकृतिस्तत्कथमस्य षड्विधत्वमेवोक्तम् इत्याशङ्क्याह

विश्वाकृतित्वे देवस्य तदेतच्चोपलक्षणम्।
अनवच्छिन्नतारूढाववच्छेदलयेऽस्य च ॥६५॥

उपलक्षणम् एव भवति, अनेनैव निखिलविश्वसंग्रहसिद्धेः। न केवलमेतद्विश्वाकारतायामेवास्योपलक्षणं यावदन्यत्रापि इत्याह–अनवच्छिन्नतारूढौ इत्यादि। अवच्छेदलये इति अवच्छेदानां संकोचाधायिनां भुवनादीनां लये विश्वोत्तीर्णतायाम् इत्यर्थः। विश्वमयत्वेऽप्यस्य स्वस्वरूपान्न प्रच्यावः इत्याशयः। नन्वेवमुभयथापि अस्य नियतात्मकत्वावगमादवच्छेद एवोक्तो भवेत् इत्याशङ्क्योक्तम् अनवच्छिन्नतारूढाविति। अस्य हि विश्वमयत्वेऽपि विश्वोत्तीर्णत्वादनवच्छिन्नतायामेव प्ररोहो भवेत्, एक एव हि स्वतन्त्रो बोधस्तथा तथा प्रस्फुरेत् इति ॥ ६५ ॥

ननु कथमेकदैव एकस्य विश्वमयत्वेऽपि विश्वोत्तीर्णत्वं संगच्छते इत्याशङ्काशान्त्यर्थमागमं संवादयति

उक्तं च कामिके देवः सर्वाकृतिर्निराकृतिः ।
जलदर्पणवत्तेन सर्वं व्याप्तं चराचरम् ॥६६॥

दर्पणाद्यन्तः प्रतिबिम्बितं घटादि यथा दर्पणादिव्यतिरेकेण प्रकाशमानमपि दर्पणाद्यनतिरिक्तमेव, अन्यथा दर्पणघटयोरन्योन्यं वैविक्त्येन भानं स्यात्, तथैव प्रकाशात्मना शिवेनापि स्थावरजङ्गमात्मकमिदं विश्वं स्वेच्छया स्वस्वरूपातिरिक्तायमानत्वेन अवभासितं सत्, व्याप्तं प्रकाशमानतान्यथानुपपत्त्या स्वस्वरूपानतिरेकेणैव क्रोडीकृतम्, अत एवायं विश्वमयत्वेऽपि विश्वोत्तीर्णस्तदुत्तीर्णत्वेऽपि तन्मयः इत्युभयथापि न कश्चिद्दोषः। अत एवोक्तं–सर्वाकृतिर्निराकृतिरिति । सर्वाकृतिः विश्वमयः, निराकृतिः विश्वोत्तीर्णः। आवृत्त्या तत्त्वेऽपि तदुत्तीर्णः–इति च। तदेवमयमेक एव प्रकाशात्मा परमेश्वरः सर्वतो जृम्भते इतीश्वराद्वयमेव परमार्थतः॥ ६६ ॥

ननु भावानां तदपेक्षया पृथक्प्रकाशानुपपत्तेर्मा नाम तदतिरेकेण सत्ता भूत् इति भावापेक्षया प्रकाशात्मक एक एवेश्वरः इत्यास्तां तावदेतत्। यत्पुनर्विभुत्वादि धर्मजातं तस्योक्तं, तदपेक्षया धर्मधर्मिणोर्धर्माणां च परस्परं भेदस्य अनपह्नवनीयत्वाद् योऽयं भेद उल्लसितः स कथं वार्यते येन एक एवेश्वरः इत्यद्वयवादनिर्वाहः स्यात् इत्याशङ्क्याह

न चास्य विभुताद्योऽयं धर्मोऽन्योन्यं विभिद्यते ।

न च विभुताद्योऽयं अस्य स्वरूपातिरिक्तस्तदतिशायकः कश्चित् धर्मः अपि तु स्वरूपमेवैतत्। विभुत्वं हि व्यापकत्वमुच्यते, तच्च स्वव्यतिरिक्ते व्याप्ये सति स्यात्, न च परं प्रकाशमपेक्ष्य दिगादि किंचित्संभवेत् इति किं नाम व्याप्नुयात्। नित्यत्वमपि नास्य धर्मः–तस्य कालत्रयानुगामिरूपत्वात्, अस्य चाकालकलितत्वात्। यदभिप्रायेणैव 'सकृद्विभातोऽयमात्मा' इत्याद्युक्तम्। एवं विश्वाकृतित्वमपि। नहि एतदपेक्षया विश्वं नाम किंचिदस्ति, यदाकारत्वमप्यस्य स्यात्। एवं चैषां परप्रकाशापेक्षया कथंचिद्भेदायोगात्पारस्परिकोऽपि भेदो नास्ति इत्युक्त–न चान्योन्यं विभिद्यते इति॥

ननु यद्येवं तत्कथमस्य विभुर्नित्यो विश्वाकृतिः इत्यादिधर्मभेद उक्तः इत्याशङ्क्याह

एक एवास्य धर्मोऽसौ सर्वाक्षेपेण वर्तते ॥६७॥
तेन स्वातन्त्र्यशक्त्यैव युक्त इत्याञ्जसो विधिः ।

अस्य खलु एक एवासौ अहंप्रत्यवमर्शाख्यो हि स्वभावभूतो धर्मोऽस्ति, यः सर्वं विभुत्वादिधर्मजातमाक्षिपेत् । अत्रायमर्थः—अयं हि नाम प्रकाशस्य अहंप्रत्यवमर्श उच्यते यदयं स्वस्य परस्य वा प्रकाशने परं नापेक्षते इति । अत एवास्य स्वातन्त्र्यरूपं तत्तद्देशकालाद्यवभाससहस्रोल्लासनसामर्थ्यं स्यात्, येनास्य स्वसमुल्लासितोऽपि संकुचितः प्रमातृवर्गः स्वापेक्षया व्यापकत्वनित्यत्वादि व्यवहरेत्, वस्तुतः पुनरप्यहंप्रत्यवमर्शाख्या स्वातन्त्र्यशक्तिरेवास्यास्ति येन

'स्वातन्त्र्यमेतन्मुख्यं तदैश्वर्यं परमात्मनः।' (प्र० १ अ० ५ आ० १३ श्लो०)

इत्याद्युक्तम् । अत एवाह तेन इत्यादि ॥ ६७ ॥

ननु सर्वत्रैवास्य इच्छाद्यनन्तशक्तियोगित्वमुक्तमिति तत्कथमिहैकयैव स्वातन्त्र्याख्यया शक्त्या योग उच्यते ? इत्याशङ्क्याह

बहुशक्तित्वमप्यस्य तच्छक्त्यैवावियुक्तता ॥६८॥

स्वातन्त्र्यशक्तिरेव हि तत्तदेषणीयाद्युपाधिवशान्नानात्वेन व्यवह्रियते इति तच्छक्तियोगितैवास्यानन्तशक्तित्वम् । यदुक्तम्

'या सा शक्तिर्जगद्धातुः कथिता समवायिनी ।
इच्छात्वं तस्य सा देवि सिसृक्षोः प्रतिपद्यते ॥
एकापि सत्यनेकत्वं यथा गच्छति तच्छृणु ।'

इत्याद्युपक्रम्य

'एवमेषा द्विरूपापि पुनर्भेदैरनन्तताम् ।
अर्थोपाधिवशाद्याति चिन्तामणिरिवेश्वरी ।'

इति ॥ ६८ ॥

ननु एवमपीश्वराद्वयवादो न निर्व्यूढस्तदतिरिक्तायाः स्वातन्त्र्यशक्तेरप्यभिधानात् इत्याशंक्याह

शक्तिश्च नाम भावस्य स्वं रूपं मातृकल्पितम् ।
तेनाद्वयः स एवापि शक्तिमत्परिकल्पने ॥६९॥

यतो भावस्य यस्य कस्यचन सतः पदार्थस्य स्वमेव रूपं फलभेदात् भेदारोपेण शक्तिः इति प्रमातृभिः परिकल्प्यते, न त्वसौ वस्तुतः पदार्थान्तरं किंचित्, अतः शक्तिशक्तिमत्परिकल्पनेऽपि क्रियमाणे, स एव अद्वयमयो विभुः—न काचिदद्वयखण्डना इति यावत्। तदुक्तं

'फलभेदादारोपितभेदः पदार्थात्मा शक्तिः'

इति ॥ ६९ ॥

नन्वेवमस्तु, यन्न शक्तिशक्तिमतोर्भेद इति, शक्तीनां पुनः परस्परं भेद एव भवति इति पुनः स दोषस्तदवस्थ एव इत्याशङ्क्याह

मातृक्लृप्ते हि देवस्य तत्र तत्र वपुष्यलम्।
को भेदो वस्तुतो वह्नेर्दग्धृपक्तृत्वयोरिव ॥७०॥

यथा वह्नेः दाह-पाकादिफलभेदाद् दाहिका पाचिका च शक्तिर्भेदेन कल्पितापि, वस्तुतः शक्तिमदेकस्वभावत्वान्न परस्परस्य स्वरूपं भेत्तुमलम्। पृथक्सिद्धं हि वस्तु वस्त्वन्तरं भिनत्ति, नहि शक्तेः शक्तिमदतिरेकेण पृथक्सिद्धिरेवास्ति इति किं केन भेद्यं, वह्नेरेव हि दाहादिसमर्थं स्वरूपं तथा परिकल्पितम्। एवं परमेश्वरस्य परिकल्पितेऽपि शक्तीनामानन्त्ये न कश्चिद्भेदः इति न कदाचिदीश्वराद्वयवादक्षतिः ॥ ७० ॥

ननु एवं-परिकल्पितोऽपि शक्तीनां भेदो भासत एव इति कथं तदपह्नवः इत्याशंक्याह

न चासौ परमार्थेन न किंचिद्भासनादृते।
नह्यस्ति किंचित्तच्छक्तितद्वद्भेदोऽपि वास्तवः ॥७१॥

भानमन्तरेण अन्यत्किंचिन्नास्ति इत्यसौ भेदोऽपि भासमानत्वाद्वस्तुतो न न किंचित्, अपि तु परमार्थसन्नेव इति शक्तानां तद्वतश्च भेदोऽपि पारमार्थिक एव इति वाक्यार्थः। एवं भेदस्य भानैकस्वभावत्वान्न ततोऽतिरेकः इति नाद्वयवादक्षतिः, नापि शक्तीनां, तद्वतश्च भेदेन स्थितस्य व्यवहारस्यापह्नवः इति सर्वं सुस्थम् ॥ ७१ ॥

ननु परमेश्वरस्य स्वातन्त्र्याख्या शक्तिरेकैवास्ति इत्युक्तम्, इच्छादयस्तु किं तद्विस्फूर्जितमात्रम्, उत स्वतन्त्राणि शक्त्यन्तराणि ? इत्याशङ्क्याह

स्वशक्त्युद्रेकजनकं तादात्म्याद्वस्तुनो हि यत्।

शक्तिस्तदपि देव्येवं भान्त्यप्यन्यस्वरूपिणी ॥७२॥

यत् नाम हि अवान्तरशक्तिवैचित्र्यं वह्न्यादेः वस्तुनः—स्वस्याः शक्तेः इति व्यपदेशप्रवृत्तिनिमित्तभूताया निर्विशेषक्रियामात्रनिष्ठायाः सामर्थ्य-लक्षणायाः शक्तेः उद्रेको दाहपाकादिविशेषरूपशक्त्यन्तरात्मतयोच्छलनं तस्य जनकम् अवभासकं, तदपि तादात्म्यात् एवं-विधस्वशक्त्येकरूपत्वाद्यथोक्तरूपा स्वैव शक्तिः इति संबन्धः। समर्थो हि वह्निः सर्वं दाहादिकार्य-जातं कुर्यात् इत्यभिप्रायः। एवं परमेश्वरस्यापि इच्छाद्यवान्तरशक्तिरूप-तयावभासमानापि शक्तिर्देवी तत्तद्भेदोल्लासेऽपि परप्रकाशाभिन्नस्वभाव-त्वात् द्योतमानावभासा स्वातन्त्र्याख्यैव इति युक्तमुक्तम्–'एक एवास्य धर्मोऽसौ सर्वाक्षेपेण वर्तते।' इति। एवमेकैवास्य स्वातन्त्र्याख्या शक्ति-स्तथा तथा सृष्टेन भेदेन भायात् इति सिद्धम् ॥ ७२ ॥

न केवलं शक्तिरेवास्यैवंकल्पितेन भेदेनावभासते यावत्स्वयमपीत्याह

शिवश्चालुप्तविभवस्तथा सृष्टोऽवभासते।
स्वसंविन्मातृमकुरे स्वातन्त्र्याद्भावनादिषु ॥७३॥

शिवश्च स्वा संकुचिता संवित् लक्षणं यस्यासौ बुद्ध्यादौ गृहीतात्मग्रहः परिनिष्ठितः प्रमाता स एव स्वच्छत्वात्प्रतिबिम्बसहिष्णुत्वेन मकुरः तस्मिन् भावनोपदेशादौ स्वस्वातन्त्र्यात् तथा भाव्यमानत्वादिना कल्पितेन भेदेन सृष्टः प्रमेयतामापादित इव अवभासते, न चैवमप्यसौ प्रमात्रेकरूप-त्वात् तथा भवति इत्युक्तम्—अलुप्तविभव इति, अपरिहृतप्रमातृभावः इत्यर्थः। तदुक्तं

'स्वातन्त्र्यादद्वयात्मानं स्वातन्त्र्याद्भावनादिषु।
प्रभुरीशादिसंकल्पैर्निर्माय व्यवहारयेत् ॥' (ई०प्र० १-५-१६)

इति ॥ ७३ ॥

एतदेवोपसंहरति

तस्माद्येन मुखेनैष भात्यनंशोऽपि तत्तथा।
शक्तिरित्येष वस्त्वेव शक्तितद्वत्क्रमः स्फुटः ॥७४॥

तस्मात् उभयोरपि शिवशक्त्योस्तथा सृष्टेन भेदेन अवभासनोपपत्ते-र्हेतोरपि शिवः प्रकाशमात्रैकरूपत्वात् अनंशोऽपि येन भुवनाद्यन्यतमांश-लक्षणेन मुखेन भावनादौ भासते तत् मुखं

'......................शैवी मुखमिहोच्यते ।'

इत्याद्युक्त्या तथा शिवप्राप्त्युपायतया शक्तिरेव, नहि एतदवगमादौ उपायान्तरमस्ति उपपद्यते वा । अतश्च शक्तिशक्तिमतोरुपायोपेयभावात्मा क्रमः सम्यगेव स्फुटः न कश्चिदत्रसंशयः इत्यर्थः ।। ७४ ।।

अतश्च अनयोरसावुपायोपेयभावस्तत्र तत्र आगमेषु उद्घोष्यते इत्याह

श्रीमत्किरणशास्त्रे च तत्प्रश्नोत्तरपूर्वकम् ।
अनुभावो विकल्पोऽपि मानसो न मनः शिवे ।।७५।।
अविज्ञाय शिवं दीक्षा कथमित्यत्र चोत्तरम् ।

तत् इति शिवागमे शक्तेरुपायत्वमुक्तम् इति वाक्यशेषः । एतदेव च शब्दार्थरूपत्वेन शास्त्रस्य द्वैविध्येन प्रवृत्तेरर्थद्वारेण दर्शयति अनुभाव इत्यादिना । तत्र गरुडेन

'शिवतत्त्वं कथं शून्यं तच्छून्यं नाक्षगोचरः ।
प्रत्यक्षं चाक्षविज्ञानं तदतीतं न किंचन ।।'

इति प्रत्यक्षागोचरत्वाच्छिवतत्त्वं न किंचित् इति पृष्टे, भगवता

'माया हेया शिवो ग्राह्यो ग्राहकः पुरुषः स्मृतः ।
मायाधर्मैः शिवः शून्यः............................ ।।'

इत्यादिना

'अतीन्द्रियं च यद्वस्तु तत्राप्यनुभवो न किम् ।
अनुभावो मनोऽध्यक्षः प्रसिद्धः क्षुद्यथा च तृट् ।।'

इत्यन्तेन शिवतत्त्वस्य बाह्येन्द्रियाप्रत्यक्षत्वेऽपि मानसप्रत्यक्षविषयत्वात् किंचित्त्वेन प्रतिसमाहितम् । एतच्च पुनरप्यागूर्य गरुडेन

'अनुभावो विकल्पोत्थो विकल्पो मानसः स च ।
समनस्कं च तज्ज्ञेयममनस्कमरूपकम् ।।
अज्ञात्वा दैशिकस्तत्त्वं कथं दीक्षां करोत्यसौ ।
ज्ञेयः सर्वात्मनैवार्थः स ज्ञेयो नैव सर्वथा ।।'

इत्यादिना पृष्टम् । एतत्प्रश्नार्थ एव ग्रन्थकृता संक्षेपचिकीर्षया स्ववचसोपनिबद्धः । अत्रायमर्थः—यन्नाम बुभुक्षादिन्यायेन शिवस्य मानसप्रत्यक्षविषयत्वमुक्तं तत्र मानसोऽनुभवः

'संकल्पकमत्र मनः………………… ।'

इति नीत्या संकल्पात्मकत्वात् विकल्पः तस्य चार्थासंस्पर्शित्वं रूपम् इति मनः तावत् शिवे न प्रमाणं, यत्र च न प्रमाणं प्रवर्तते, तन्न ज्ञातं भवेत् इत्यज्ञाते शिवतत्त्वे कथं दीक्षा स्यात्, दैशिको हि परं तत्त्वं ज्ञात्वा तत्र दीक्षया दीक्ष्यं योजयेत्। अत एव 'गुरौ ज्ञानम्' इत्याद्युक्तम्। इति शब्दः प्रश्नसमाप्तौ। अत्र इति गरुडोक्ते प्रश्ने। उत्तरम् इति भगवदुक्तं प्रतिसमाधानम् ॥ ७५ ॥

तदेवाह

क्षुधाद्यनुभवो नैव विकल्पो नहि मानसः ॥७६॥

न-शब्दो भिन्नक्रमः, तेन प्रश्ननिषेधविषयत्वेन योज्यः, नायं प्रश्न इति। हि-शब्दो हेतौ यतो बुभुक्षादीनां विकल्पात्मक एव मानसोऽनुभवो न भवति इत्यर्थः। आसां हि प्रथममविकल्पकमानसप्रत्यक्षविषयत्वमप्यस्ति, अन्यथा तत्पृष्ठभाविनो बुभुक्षेयम् इति विकल्पस्योदयो न स्यात्। सविकल्पकमानसप्रत्यक्षविषयत्वेऽप्यासां न कश्चिद्दोषः, तस्य वस्त्वाश्रयत्वेन प्रमाणत्वाभ्युपगमात्। एवं शिवोऽपि मानसप्रत्यक्षगोचरो भवत्येव, किं तु शक्तिद्वारेण इति विशेषः। यदुक्तं तत्रैवोत्तरग्रन्थे

'क्षुधाद्यनुभवो यत्र विकल्पस्तत्र नो भवेत्।
वस्त्वाश्रयो विकल्पोऽपि तद्वस्तु घटवन्न च॥
विकल्पो मानसः सूक्ष्मः शून्यशक्तिलयं गतः।
तद्गतस्त्वन्यविच्छिन्नस्तेनासौ चित्तवर्जितः॥
ज्ञानं चात्मेन्द्रियाश्लेषात्कर्ता ह्यात्मा मनः क्रिया।
शिवः साध्योऽत्र मन्तव्यो विभुरप्येकधर्मतः॥'

इति। यत्तु अस्य शून्यत्वमुक्तं तन्मायाक्षयोपचारेण तद्धर्मैः परिणामित्वादिभिः शून्यत्वाच्छून्यम् इत्युक्तम्। अन्यापेक्षया तु तदशून्यमेवेत्यर्थावाप्तम्। अतश्च शिवं शक्तिद्वारेण ज्ञात्वा दैशिकस्तत्र दीक्षया दीक्ष्यं योजयति इति न काचित्क्षतिः॥ ७६ ॥

ननु सर्वात्मनार्थो ज्ञातो ज्ञातो भवति न तु अंशेन, विकल्पश्च सर्वात्मना अर्थं ज्ञातुं न शक्नोति—नियतांशाभिनिवेशित्वात् तस्य, अतः शिवस्तेन शक्तिद्वारेण विषयीकृतोऽपि सर्वात्मना तद्गोचरीभावाभावान्न ज्ञातः इति प्रश्नशेषमाशङ्क्याह

रसाद्यनध्यक्षत्वेऽपि रूपादेव यथा तरुम् ।
विकल्पो वेत्ति तद्वत्तु नादविन्द्वादिना शिवम् ॥७७॥

विकल्पः अत्र निर्विकल्पकपृष्ठभावी ग्राह्यः । तेन स तरुं रूपरसाद्यात्मकमपि रूपाद्यात्मनैव गृह्णाति न रसाद्यात्मनापि नियतत्वात्तद्ग्रहणस्य, नहि सर्वात्मत्वेन अगृहीतत्वाद् अगृहीत एवासौ इति वक्तुं युज्यते अनुभवविरोधात् । तद्वत् नादविन्द्वाद्यात्मकशक्तिद्वारेण शिवोऽपि ज्ञात एव भवति इति सिद्धान्तः । तदुक्तं तत्रैव

'प्रत्यक्षेण यथा वृक्षो रूपमात्राद्विगृह्यते ।
रसादयो गृहीता नो तथेशो ज्ञानशक्तितः ॥
गृह्यते तत्त्वभावेन वस्तुभावविवर्जनात् ।'

इति । तथा

'बिन्दुर्नादस्तथा शक्तिः शून्यत्वे परिकल्पिताः ।
चेतसः स्थितिहेत्वर्थं पुनर्नित्यं स्थिरं भवेत् ॥
अतीन्द्रियः सुसूक्ष्मत्वात्सूक्ष्मा शक्तिः स तद्गतः ।
ज्ञानशक्तिर्मता सापि तज्ज्ञानाज्ज्ञात एव सः ॥'

इति । एवं शक्तिरेव परतत्त्वाधिगमे परमुपायः इति सिद्धम् । सा च भुवनादिरूपतया अनन्तप्रकारा इत्युक्तप्रायम् ॥ ७७ ॥

एवं यत्किंचन जडाजडात्मकविश्ववैचित्र्यं, यच्च तद्विषयं सृष्ट्यादि जाग्रदाद्यवस्थादि वा तत्सर्वं परमेश्वरस्य शक्तिस्फार एव इत्याह

बहुशक्तित्वमस्योक्तं शिवस्य यदतो महान् ।
कलातत्त्वपुरार्णाणुपदादिर्भेदविस्तरः ॥७८॥

सृष्टिस्थितितिरोधानसंहारानुग्रहादि च ।
तुर्यमित्यपि देवस्य बहुशक्तित्वजृम्भितम् ॥७९॥

जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तान्यतदतीतानि यान्यपि ।
तान्यप्यमुष्य नाथस्य स्वातन्त्र्यलहरीभरः ॥८०॥

महामन्त्रेशमन्त्रेशमन्त्राः शिवपुरोगमाः ।
अकलौ सकलश्चेति शिवस्यैव विभूतयः ॥८१॥

पदादि इति आदिशब्देन भूतभावग्रहणम् । सृष्टिस्थिति इत्यनेन कृत्यभेद उक्तः । तुर्यमित्यन्यच्छब्दवाच्यं सृष्ट्यादीनामन्तर्वर्ति पूर्णं रूपम् । अनेन चतुष्टयार्थस्यापि आसूत्रणं कृतं, तेन स्थितौ संहारे तिरोधानानुग्रहयोरन्तर्भावः कार्यो येनैतत्स्यात्, अन्यत्तुर्यं, जाग्रत्स्वप्न इत्यनेन अवस्थाभेद उक्तः । अकलौ इति विज्ञानाकलप्रलयाकलौ । अनेन प्रमातृभेदः ॥७८॥ ॥७९॥८०॥८१॥

तदेवं वैचित्र्यभाजः षट्त्रिंशत्तत्त्वात्मकस्य जगतश्चिदानन्दैकघनः परमार्थः शिव एवानुप्राणकतया वर्तते इत्याह

तत्त्वग्रामस्य सर्वस्य धर्मः स्यादनपायवान् ।
आत्मैव हि स्वभावात्मेत्युक्तं श्रीत्रिशिरोमते ॥८२॥

द्विविधो हि धर्मः पदार्थस्य–प्राणप्रदो विशेषाधानहेतुश्च । आद्यो यथा सामान्यं, नहि गोत्वमन्तरेण गौः गौरेव भवति । द्वितीयो यथा गुणः, शुक्लादिर्हि लब्धसत्ताकं वस्तु विशिनष्टि । एवमिह आत्मैव तत्त्वसमूहस्य प्राणप्रदत्वात् स्वभावभूतो धर्मः अत एव अनपायवान् नित्यावियुक्तः इत्युक्तम् । हि शब्दो हेतौ । नन्वत्र किं प्रमाणम् इत्याशङ्क्योक्तम् 'इत्युक्तं त्रिशिरोमत' इति ॥ ८२ ॥

तत्रत्यमेव ग्रन्थं शास्त्रस्य शब्दार्थरूपतया द्वैविध्येन प्रवृत्तेरुभयथाप्याह

हृदिस्थं सर्वदेहस्थं स्वभावस्थं सुसूक्ष्मकम् ।
सामूह्यं चैव तत्त्वानां ग्रामशब्देन कीर्तितम् ॥८३॥

समूह एव सामूह्यम् । ग्रामशब्दो हि समूहार्थवृत्तिः ।

'कवलीकृतनिःशेषतत्त्वग्रामस्वरूपकम् ।'

इत्यादिप्रयोगदर्शनात् । तच्च सर्वत्र बाह्ये देहे चान्तः साधारणासाधारणतया द्वैविध्येन वर्तमानम् इत्यर्थः । अत एव स्वभावे स्थावरजङ्गमाद्यात्मनि नियते रूपे स्थितम् । एवमपि हृदि बोधे स्थितं, तदैकात्म्येन परिस्फुरत् इति यावत्, अत एव सुसूक्ष्मम् अपरिच्छेद्यम् ॥ ८३ ॥

तत्त्वग्रामस्य चास्य न संकुचित आत्मा धर्मः, अपि तु परः इत्याह

आत्मैव धर्म इत्युक्तः शिवामृतपरिप्लुतः ।

शिवामृतपरिप्लुतः इति परानन्दचमत्कारमयः इत्यर्थः । एवं स एव परमुपेयः इति तत्रैवावधातव्यम् इत्यपि सूचितम् ।

कश्च अत्र उपायो, येनैतत्साक्षात्कारो भवेत् इत्याह

प्रकाशावस्थितं ज्ञानं भावाभावादिमध्यतः ॥८४॥
स्वस्थाने वर्तनं ज्ञेयं द्रष्टृत्वं विगतावृति ।
विविक्तवस्तुकथितशुद्धविज्ञाननिर्मलः ॥८५॥
ग्रामधर्मवृत्तिरुक्तस्तस्य सर्वं प्रसिद्ध्यति ।

आदिशब्दाद्भावोऽपि, तेन भावाभावयोः भावयोर्वा यत् मध्यम् अन्तरालं तदवलम्ब्य प्रकाशे स्वात्मन्येव, न पुनर्भावाभावादिस्वरूपे अवस्थितं यत् ज्ञानं, तस्य स्वस्य आत्मनः स्थाने स्थितौ वर्तनं ज्ञेयं-ग्रामधर्मविषये वृत्तिर्ज्ञातव्या इत्यर्थः । इदमत्र तात्पर्यम्–भावद्वयस्य भावाभावयोर्वा प्रतीतिकाले मध्यं तद्द्वयावच्छेदहेतुं शून्यमनुपलभ्य तद्भावाभावादि युगपत्त्यक्त्वा तत्रैव सावधानस्य परमोपेये शिवामृतपरिप्लुते परमात्मनि वृत्तिर्जायते इति । तदुक्तं

'उभयोर्भावयोर्ज्ञाने ज्ञात्वा मध्यं समाश्रयेत् ।
युगपच्च द्वयं त्यक्त्वा मध्ये तत्त्वं प्रकाशते ॥
भावे त्यक्ते निरुद्धा चिन्नैव भावान्तरं व्रजेत् ।
तदा तन्मध्यभावेन विकसत्यति भावना ॥'

इति । ज्ञेयम् इति काकाक्षिन्यायेन योज्यम् । तेन वर्तनमपि परमार्थसाक्षात्काररूप द्रष्टृत्वं ज्ञेयम्, तच्च विगतावृति विगता निवृत्ता भावाभावाद्यात्मकबाह्यरूपा आवृतिः यस्य तत्, बाह्यदेशाद्यवच्छेदशून्यम् इति यावत् । अथ च विगता परापरात्मना कालेन रहिता कलनात्मिका आवृतिः यस्य तत्, अकालकलितम् इत्यर्थः । तदुक्तं

'अपरः षोडशो यावत्कालः सप्तदशः परः ।
परापरस्तु यः कालः स प्रियेऽष्टादशः प्रभुः ॥
प्राण एकं त्रिधा कालं कृत्वा चैव त्यजेत्पुनः ।'

इति। तथा विगता पदैकादशकात्मिका आवृतिः यस्य तत्, तत्प्रतिनियत-तत्तद्ब्रह्माद्याकारोज्झितम् इति यावत्। यदुक्तं

'पदैकादशिका सा च प्राणे चरति नित्यशः।
अकारश्च उकारश्च मकारो बिन्दुरेव च॥
अर्धचन्द्रो निरोधी च नादो नादान्त एव च।
शक्तिश्च व्यापिनी चैव समनैकादशी स्मृता॥'

इति। अत एव च उन्मनाभिन्नप्रमातृरूपं परमार्थसाक्षात्कारलक्षणमेतद्भ-वति इति पिण्डार्थः। तदुक्तं

'उन्मना तु ततोऽतीता तदतीतं निरामयम्।'

इति। अत एव तत्तद्देशकालाकारैः विविक्तम् अवच्छेदशून्यं यत् वस्तु महासत्तात्म परं तत्वं, तत्र कथितं सर्वागमेषु अविगानेन उक्तं यत् शुद्धं पराहंपरामर्शमयं विज्ञानं तेन निर्मलः तदैकात्म्यापत्त्या खिलीकृतनिखिल-बन्धो ग्रामधर्मवृत्तिः

'भैरवाद्भैरवीं प्राप्तः.................. ।'

इत्याद्युक्तेरस्मद्गुरुभिरप्युक्तः इति श्रीकण्ठस्येयमुक्तिः। तदुक्तं तत्र

'चतुर्थं संप्रवक्ष्यामि ग्रामधर्मविभेदतः।'

इत्याद्युपक्रम्य

'हृदिस्थं सर्वदेहस्थं स्वभावस्थं सुसूक्ष्मकम्।
सामूह्यं चैव तत्त्वानां ग्रामशब्देन कीर्तितम्॥
आत्मा वै धर्म इत्युक्तो ग्रामधर्मः प्रकीर्तितः।
प्रकाशावस्थितं ज्ञानं भावाभावादिमध्यतः॥
स्वस्थाने वर्तनं ज्ञेयं वर्तनं वृत्तिरुच्यते।
वृत्तिस्तु स्वपदं ज्ञात्वा द्रष्टृत्वं परिपठ्यते॥
प्रबुद्धं तद्विजानीयाद्बाह्यावरणवर्जितम्।
परापरविनिर्मुक्तमेकादशपदोज्झितम् ॥
स्वात्मन्यात्मनि यज्ज्ञानं शिवामृतपरिप्लुतम्।
विविक्तवस्तुकथितशुद्धविज्ञाननिर्मलः ॥
ग्रामधर्मवृत्तिरुक्तस्तन्त्रेऽस्मिन्सर्वथोदितः ।'

इति। एतदेव च

'अथ वा शिवमन्विच्छेत्साधकः परतत्त्ववित् ।'

इत्यादि

'स्थितिः कार्या तु तत्त्वस्था मध्यशक्तिप्रभान्विता ।'

इत्यन्ततत्रत्यग्रन्थार्थगर्भीकारेण ग्रन्थान्तरमुपक्षेप्तुकामो ग्रन्थकारः स्वोक्त्या योजयति 'तस्य सर्वं प्रसिद्ध्यति' इति– तस्य ग्रामधर्मवृत्तेः प्राणापानगतित्रोटनेन मध्यधामानुप्रवेशात् प्राप्तपरशक्तिसामरस्यस्य सर्वं बाह्यमाभ्यन्तरम् च प्रकर्षेण शिवाभेदमयत्वेन सिद्ध्यति प्रथते इत्यर्थः । तदुक्तं

'शिवभावनयौषध्या बद्धे मनसि संसृते ।
काष्ठकुड्यादिषु क्षिप्ते रसवच्छिवहेमता ॥'

इति ॥ ८४ ॥ ८५ ॥

अत आह

ऊर्ध्वं त्यक्त्वाधो विशेत्स रामस्थो मध्यदेशगः ॥८६॥

ऊर्ध्वम् इति ऊर्ध्ववाहित्वात्प्राणम्, अध इति अधोवाहित्वादपानं, त्यक्त्वा इति तद्गतिं त्रोटयित्वा, स ग्रामधर्मवृत्तिरर्थात् मध्यनाडीं प्रविशेत् । स च कीदृशः मध्यदेशगः मध्यनाडिकाया अपि यत् मध्यं तत्रस्था या बिससूत्राकारा शक्तिः तस्या देशः अन्तर्व्योमरूप एकदेशस्तम् गच्छति जानाति यः सः– तदेकतानतया तन्निष्ठः इति यावत् । तदुक्तं

'मध्यनाडी मध्यसंस्थबिससूत्राभरूपया ।
ध्यातान्तर्व्योमया देव्या तथा देवः प्रकाशते ॥'

इति । अत एवोक्तं रामस्थः इति

'......................एकाकी न रमाम्यहम् ।'

इत्याद्युक्त्या रमते तत्तज्जडाजडात्मना विश्ववैचित्र्यात्मना क्रीडति इति रामः परमात्मा, तत्र तिष्ठति तद्रूपतया परिस्फुरति इत्यर्थः । तदुक्तं त्रिशिरोभैरवे

'सेव्यमानमधोर्ध्वं तु प्राणापानोत्थरूढधीः ।
ऊर्ध्वं त्यक्त्वा तु प्रविशेद्रामस्थोऽत्रात एव च ॥'

तत्रैवागूरणेन भगवत्या

'रामः किमुच्यते देव योऽत्रस्थः स च कः प्रभो ।
तस्याभ्यासः कथं नाम ब्रूहि सर्वं महेश्वर ॥'

इति पृष्टे, भगवता

'रामस्थं परमेशानि योगं यत्कीर्तितं मया ।
कथयामि यथातथ्यमभ्यासस्तस्य योगतः ॥'

इत्यन्तेन प्रतिज्ञाय, तत्समाधानं बहुना ग्रन्थेन कृतम् ॥ ८६ ॥

इह च तदेव ग्रन्थकारः शब्दार्थद्वारेण पठति

गतिः स्थानं स्वप्नजाग्रदुन्मेषणनिमेषणे ।
धावनं प्लवनं चैव आयासः शक्तिवेदनम् ॥८७॥
बुद्धिभेदास्तथा भावाः संज्ञाः कर्माण्यनेकशः ।
एष रामो व्यापकोऽत्र शिवः परमकारणम् ॥८८॥

स्वप्नः विकल्पः, जाग्रत् ज्ञानं, उन्मेषणम् ईश्वरदशा, निमेषणं सदाशिवदशा, आयासः 'अय गतौ' गत्यर्थो ज्ञानार्थः तेन अयः अयनं ज्ञानं तस्यासः क्षेपो निवृत्तिः—अज्ञानम् इत्यर्थः । धर्माद्या—अष्टौ बुद्धिधर्माः, संज्ञाः-यादृच्छिका डित्थादयः, कर्माणि—व्यापाराः । अनेन च गत्यादिना चतुर्दशकेन सकलविश्वस्वीकारः कृतः । यच्चैतद्गत्यादि एष रामः—सकलविश्वावभासनक्रीडापरः परमात्मा परमेश्वरः, अत एवोक्तं 'व्यापकोऽत्र शिवः परमकारणम्' इति, अत्र इति गत्याद्युपलक्षिते विश्वस्मिन्, शिवस्यैव हि अयमशेषविश्वात्मा स्फारः इति भावः । तदुक्तं

'विषयेषु च सर्वेषु इन्द्रियार्थेषु च स्थितः ।
यत्र यत्र निरूप्येत नाशिवं विद्यते क्वचित् ॥'

इति ॥ ८७ ॥ ८८ ॥

कथं चात्र तदैकात्म्यापत्तिलक्षणा स्थितिर्भवति इत्याह

कल्मषक्षीणमनसा स्मृतिमात्रनिरोधनात् ।
ध्यायते परमं ध्येयं गमागमपदे स्थितम् ॥८९॥
परं शिवं तु व्रजति भैरवाख्यं जपादपि ।

येन क्षीणं कल्मषं तत्तद्भेदावभासकालुष्यं यस्य तादृशं मनो, मनुते इति मनो विमर्शात्मावबोधो यस्य तेन

'सर्वो विकल्पः स्मृतिः................................... ।'

इति नीत्या स्मृतिरेव केवला स्मृतिमात्रं शरीरमुखहस्ताद्यात्मकं विकल्पनं, तस्य निरोधनम्—आकाराद्युल्लेखशून्यत्वेन प्रतिहननं तदवलम्ब्य, तत्तन्नियताकारसंकोचाभावात् परमं ध्येयं शिवलक्षणं परमकारणं ध्यायते स्वात्माभेदेन परामृश्यते। यदुक्तं

'ध्यानं या निश्चला बुद्धिर्निराकारा निराश्रया।
न तु ध्यानं शरीरस्य मुखहस्तादिकल्पना ॥'

इति। एवंविधो ध्याता, गमो गमनं गतिः, अगमश्च अगतिः स्थानं, ताभ्यामुपलक्षिते पदे समनन्तरोक्ते चतुर्दशविधे आश्रये स्थितम्, अत एव परं पूर्णम्, अत एव च भैरवाख्यं शिवं व्रजति-तत्समावेशमाप्नोति इत्यर्थः। न केवलमयं ध्यानादेव शिवं व्रजति यावज्जपादपि इत्युक्त-जपादपि इति ॥ ८९ ॥

कोऽसौ जपो नाम इत्याशङ्क्याह

तत्स्वरूपं जपः प्रोक्तो भावाभावपदच्युतः ॥९०॥

तस्य शिवस्य, स्वरूपं परावाक्स्वभावम् आत्मरूपम् अर्थात् भूयो भूयः परामृश्यमानं जपः, अत एव भावाभावपदच्युतः-पूर्वोक्तनीत्या तन्मध्यस्फुरत्संवित्परामर्शमात्रसारः इत्यर्थः। तदुक्तं

'भूयो भूयः परे भावे भावना भाव्यते हि या।
जपः सोऽत्र स्वयं नादो मन्त्रात्मा जप्य ईदृशः ॥'

इति। एवं ग्रामधर्मवृत्तिरेव रामस्थः इत्युक्तं स्यात्। तदुक्तं श्रीत्रिशिरोभैरवे

'गच्छंस्तिष्ठन्स्वपञ्जाग्रदुन्मिषन्निमिषंस्तथा।
धावनं प्लवनं चैव आयासः शक्तिवेदनम् ॥
बुद्धिभेदास्तथा भावाः संज्ञाः कर्माण्यनेकशः।
एतच्चतुर्दशविधं रामं तु परिकीर्तितम् ॥
व्यापितं देवदेवेन शिवेन परमात्मना।
सर्वभावान्तरस्थेन अनेकाकारलक्षणा ॥
कल्मषक्षीणमनसा स्मृतिमात्रनिरोधनात्।
ध्यायते परमं ध्येयं गमागमपदे स्थितम् ॥

परं शिवं तु व्रजति भैरवाख्यं जपादपि।
तत्स्वरूपं जपः प्रोक्तो भावाभावपदच्युतः ॥'

इति ॥ ९० ॥

ननु प्रायः सर्वत्रैव ध्यानस्य व्यतिरिक्तसाकारध्येयविषयत्वं, जपस्य विकल्पात्मकवाचकवाच्यजप्यनिष्ठत्वं चोक्तम्, इह पुनः स्वात्माभेदेन परामर्शमात्रमेवोभयो रूपम् इति किमेतद् इत्याशंक्याह

तदत्रापि तदीयेन स्वातन्त्र्येणोपकल्पितः।
दूरासन्नादिको भेदश्चित्स्वातन्त्र्यव्यपेक्षया ॥९१॥

इह पराहंपरामर्शमात्रसारत्वात् स्वतन्त्रप्रकाशात्मा परमेश्वर एव परमार्थः इति तत्प्राप्तौ उपदेश्यभेदेन तदुपकल्पितमेव उपायानां नानात्वं, तेन चित्स्वातन्त्र्यप्रधानतया उल्लसित उपाय आसन्नः इत्युच्यते, अन्यथा तु इतरः इत्याह दूर इति। एवमपि उपेयासन्नतया कस्यचिदेव उपायत्वम् इति नाशङ्क्यम्--उपायोपेयभावस्य द्वारद्वारिभावेन वक्ष्यमाणत्वात् ॥९१॥

एतदेवोपसंहरति

एवं स्वातन्त्र्यपूर्णत्वादतिदुर्घटकार्ययम्।
केन नाम न रूपेण भासते परमेश्वरः ॥ ९२ ॥

रूपेण इति तत्तत्स्वशक्त्यात्मना इत्यर्थः ॥ ९२ ॥

अत एवाह

निरावरणमाभाति भात्यावृतनिजात्मकः।
आवृतानावृतो भाति बहुधा भेदसंगमात् ॥ ९३ ॥
इति शक्तित्रयं नाथे स्वातन्त्र्यापरनामकम्।
इच्छादिभिरभिख्याभिर्गुरुभिः प्रकटीकृतम् ॥ ९४ ॥

निरावरणम् इति शुद्धप्रकाशमयत्वात्, आवृत इति भेदकालुष्योदयात् आवृतानावृतः इति शुद्धज्ञानमयत्वेऽपि भेदकालुष्यासूत्रणात्, अत एव परापरपरापरत्वं, बहुधा इति एषणीयादिनानात्वात् अनेकप्रकारम् इत्यर्थः। निरावरणत्वेऽपि हि निषेध्यमानत्वाद् भेदस्य वासनामात्रेणावस्थानम्। इति शब्दः स्वरूपपरामर्शकः, तेन एतदेव अवभासमानं निरावरणत्वादि परादिरूपं शक्तित्रयं गुरुभिः एतच्छास्त्रावतारकैः इच्छादिसंज्ञाभिः

परमेश्वरविषयतया उन्मीलितमपि स्वातन्त्र्यशक्त्यभिधानमेव इति 'बहुशक्तित्वमप्यस्य तच्छक्त्यैवावियुक्तता' इति निर्वाहितम् ॥ ९३ ॥ ९४ ॥

बहुशक्तित्वमेव च एतदभिधायकानां प्रवृत्तिनिमित्तम् इत्याह

देवो ह्यन्वर्थशास्त्रोक्तैः शब्दैः समुपदिश्यते ।
महाभैरवदेवोऽयं पतिर्यः परमः शिवः ॥ ९५ ॥

अन्वर्थैः व्युत्पन्नैः निरुक्तैः, शास्त्रोक्तैः सामयिकैः ॥ ९५ ॥

तदेवाह

विश्वं बिभर्ति पूरणधारणयोगेन तेन च भ्रियते ।
सविमर्शतया रव रूपतश्च संसारभीरुहितकृच्च ॥९६॥
संसारभीतिजनिताद्रवात्परामर्शतोऽपि हृदि जातः ।
प्रकटीभूतं भवभयविमर्शनं शक्तिपाततो येन ॥९७॥
नक्षत्रप्रेरककालतत्त्वसंशोषकारिणो ये च ।
कालग्राससमाधानरसिकमनःसु तेषु च प्रकटः ॥९८॥
संकोचिपशुजनभिये यासां रवणं स्वकरणदेवीनाम् ।
अन्तर्बहिश्चतुर्विधखेचर्यादिकगणस्यापि ॥९९॥
तस्य स्वामी संसारवृत्तिविघटनमहाभीमः ।

बिभर्ति–धारयति पोषयति च स्वात्मभित्तिसंलग्नत्वेन तदुल्लासनात् । तेन इति विश्वेन, भ्रियते इति धार्यते पोष्यते च–तस्य विश्वमयत्वेनैव सर्वत्र स्फुरणात् । रवरूपतः इति शब्दनस्वाभाव्यात्, तेन भरणाद्रवणाच्च भैरवः इत्ययं निरुक्त । भीरूणाम् अयं हितकृत् इति भैरवः, भीरुत्वे च निमित्तं संसारः तेन संसारिणामभयप्रदः इत्यर्थः । भयं भीः संसारत्रासः, तया जनितो योऽसौ रवः भगवद्विषय आक्रन्दः परामर्शो वा ततो जातः इति भैरवः, तेनाक्रन्दवतां परामर्शवतां च हृदि परमार्थभूमौ स्फुरितः इति यावत् । भवाद्भयं भीस्तस्य रवो विवेचनं विमर्शनं तस्य शक्तिपातमुखेन अयं कारणम् इति भैरवः, संसारवैमुख्येऽपि अयमेव निमित्तम् इति भावः । भानि नक्षत्राणि ईरयति प्रेरयति इति भेरः कालः तस्य तत्त्वं क्षणाद्यात्मकं स्वरूपं, तस्य सम्यङ् निःशेषेण शोषम् अभिभवं कुर्वन्ति इति कालं

वायन्ति इति भैरवाः—कालग्राससमाधिरूढावधाना योगिनः, तेषु अयं स्वामी तत्त्वेन प्रकटः स्फुरितः इति भैरवः। संकोचिनो भेदप्रथामयस्य पशुजनस्य भिये तत्तत्सुखदुःखाद्युपजननत्रासाय रवणं शब्दराशिसमुत्थकादिकलाविमर्शमयो रवो यासां ताः स्वकरणदेव्य इन्द्रियशक्तयः, तथा अन्तर्बहिः प्रमातृप्रमेयाद्यात्मा चतुर्विधः चतुष्प्रकारः खेचर्यादिको गणः खेचरी-गोचरी-दिक्चरी-भूचर्यो भीरवास्तासामयं स्वामी भैरवः। महाभीम इति भीषणः, तेनात्र भैरवशब्दः संकेतितः इति भावः ॥९६॥९७॥९८॥९९॥

एतदेवोपसंहरति

भैरव इति गुरुभिरिमैरन्वर्थैः संस्तुतः शास्त्रे ॥१००॥

गुरुभिः तत्तच्छास्त्रावतारकैः इमैः एभिः समनन्तरोक्तैः अन्वर्थैः अर्थानुगतैर्वाचकैः, संस्तुतः परिचितः शास्त्रे विशेषानुपादानात् सर्वत्रैव अर्थादुक्तः। अथ च अन्वर्थैः सम्यक् सकलजगद्भरणादिसामर्थ्यप्रतिपादनद्वारेण स्तुतः इत्यर्थः, यदुक्तं

'भ्रियात्सर्वं रवयति सर्वदो व्यापकोऽखिले।
इति भैरवशब्दस्य सततोच्चारणाच्छिवः ॥'

इति। तथा

'.........................भरणाद्भरितस्थितिः।'

इति। इमैः इति चिन्त्यम्। गुरुगदितैरिति तु श्रेष्ठः पाठः ॥ १०० ॥

हेयेत्यादिना देवशब्दस्य निर्वचनमाह

हेयोपादेयकथाविरहे स्वानन्दघनतयोच्छलनम्।
क्रीडा सर्वोत्कर्षेणवर्तनेच्छा तथा स्वतन्त्रत्वम् ॥१०१॥
व्यवहरणमभिन्नेऽपि स्वात्मनि भेदेन संजल्पः।
निखिलावभासनाच्च द्योतनमस्य स्तुतिर्यतः सकलम् ।१०२।
तत्प्रवणमात्मलाभात्प्रभृति समस्तेऽपि कर्तव्ये।
बोधात्मकः समस्तक्रियामयो दृक्क्रियागुणश्च गतिः ॥१०३॥

स्वस्वातन्त्र्यमाहात्म्यात् शिवादिक्षित्यन्ताशेषविश्वात्मनोल्लासनमेव अस्य क्रीडा सर्वोत्कर्षेण वर्तनेच्छा, तथा स्वतन्त्रत्वं व्यवहरणम् इति अभि-

न्नेऽपि स्वात्मनि भेदेन संजल्पः, क्रीडेति देव्यति क्रीडति इति देवः। न चात्र क्रीडातिरिक्तं निमित्तम् इत्याह हेय इत्यादिना। नहि किंचिदुपादातुं हातुं वा जगत्सर्गादौ ईश्वरः प्रवर्तते, अत एव स्वानन्दघनत्वमेवात्र हेतुरु-पात्तः अत एव चास्य स्वतन्त्रत्वमेव, सर्वोत्कर्षेण वर्तनेच्छा विजिगीषुता, विजिगीषोर्हि कथं नु नाम सर्वानेवाभिभूय अहं वर्ते इतीयमेव इच्छा भवति। तथा-शब्दः पूर्वापेक्षया समुच्चये तेन दीव्यति विजिगीषते इति देवः देवशब्दस्य सर्वस्मात् अभिन्नेऽपि स्वात्मनि भेदेन 'अहमिदं जानामि' इति योऽयमस्य संजल्पः तद्व्यवहरणम् अपारमार्थिकेन रूपेण स्फुरणम् इत्यर्थः, तेन दीव्यति व्यवहरति इति देवः। निखिलस्य प्रमातृप्रमेयात्मनो निखिले चास्य यत् अवभासनं तत् द्योतनं, तेन दीव्यति द्योतते द्योतयति इति वा देवः। यतः सकलमिदं जगत् स्वरूपलाभात्प्रभृति समस्तेतिकर्तव्य-तायां तदायत्तप्रवृत्ति इत्यस्य स्तुतिः। सर्वे हि शिवमन्त्रमहेश्वरादयः तत्प-रतन्त्रवृत्तित्वादुन्मुखतया प्रह्वा एव इति भावः। अस्य इति कर्मणि षष्ठी, तेन दीव्यते स्तूयते इति देवः। समस्ता पूर्णा विमर्शलक्षणा क्रिया प्रकृता यस्यासौ, द्विक्रिये गुणः शक्तिर्यस्यासौ, यतोऽयमेवंविधः ततोऽस्य गतिः— विशेषानुपादानात् सर्वत्र ज्ञानं प्रसरणं च इति सर्वज्ञः सर्वव्यापकश्च इति सिद्धम्, तेन दीव्यति, जानाति, प्रसरति च इति वा देवः॥१०१॥१०२॥१०३॥

एतदेवोपसंहरति

इति निर्वचनैः शिवतनु—शास्त्रे गुरुभिः स्मृतो देवः।

गुरुभिः इति बृहस्पतिपादैः स्मृत इति

'एवं वामो देवः स दीव्यति क्रीडति प्रभुर्यस्मात्।'

इत्यादिना

'अविहतगतिः स यस्माद्देवस्तस्मात्सदाशिवो गीतः।'

इत्यन्तेन ग्रन्थेन व्यावर्णितः इत्यर्थः॥

शासनेत्यादिना पतिशिवशब्दयोर्निवचनमाह

शासनरोधनपालनपाचनयोगात्स सर्वमुपकुरुते।

तेन पतिः श्रेयोमय एव शिवो नाशिवं किमपि तत्र।१०४।

शासनं शास्त्रोपदेशादिना बोध्यानां बोधनं। रोधनं संसारिणां विलय-शक्त्या आघ्रातत्वात् तत्रैवावस्थापनं। पालनं यथास्थितस्य विश्ववैचित्र्यस्य

नियतनियन्त्रणया तथैव स्थापनात्मकं संरक्षणं । पाचनं कर्मणां कर्मिणः प्रति फलदानौन्मुख्यजननम् उक्तं हि

'स्वापेऽप्यास्ते बोधयन्बोधयोग्यान् रोध्यान्रुन्धन्पाचयन्कर्मिकर्म ।
मायाशक्तोर्व्यक्तियोग्याः प्रकुर्वन् सर्वं पश्यन् यद्यथावस्तुजातम् ॥'

इति । तेन इति रक्षणार्थपर्यवसायिनोऽपि पतिशब्दस्य शासनादिकारकत्वेन हेतुना इत्यर्थः । अत एव पाति रक्षति इति पतिः । श्रेयोमयः पराद्वयस्वभावत्वात् । अशिवम् इति द्वैतम् ॥ १०४ ॥

ननु एवमपि किं विशेषणयोगेन, इत्याशङ्क्याह

ईदृग्रूपं कियदपि रुद्रोपेन्द्रादिषु स्फुरेद्येन ।
तेनावच्छेदनुदे परममहत्पदविशेषणमुपात्तम् ॥१०५॥

ईदृक् इति भैरवादिशब्देष्वन्वर्थगत्या दर्शितम् । कियत् इति किंचिदेव, न तु सर्वम्, एतत् हि अंशांशिकया सर्वत्रैव संभवेत् इति भावः । अत एव अन्यव्यवच्छेदेन सर्वातिशयप्रतिपादनार्थं परममहत्पदलक्षणं विशेषणमुक्तम् ॥ १०५ ॥

ननु अज्ञानं संसृतौ निमित्तं, ज्ञानं च मोक्षे, स्वस्वरूपाख्यातिश्चाज्ञानं तत्ख्यातिश्च ज्ञानं, स्वात्मनश्च स्वरूपं परः प्रकाशः, स एव च स्वं रूपं स्वेच्छया प्रच्छाद्य विश्वरूपतामवभासयेत् । एवमपि तदधिगमे तच्छक्तिरेवोपायो, येन स्वरूपख्यातिर्भवेत्, इयदेव च ज्ञातव्यम् यत्सर्वेषामेव शास्त्राणां प्रतिपाद्यं तच्च इह उक्तप्रायम् इत्यत एव विरन्तव्यम् इत्याशङ्क्याह

इति यज्ज्ञेयसतत्त्वं दर्श्यते तच्छिवाज्ञया ।
मया स्वसंवित्सत्तर्कपतिशास्त्रत्रिकक्रमात् ॥१०६॥

'इत्युपोद्घातः' । इति—उक्तेन प्रकारेण यत् ज्ञेयस्य बन्धमोक्षादेः शास्त्रान्तरदृष्टत्वात् सतत्त्वं पारमार्थिकं रूपम् अर्थादिह संक्षेपेण उट्टङ्कितम्, तन्मया शिवाज्ञया स्वसंविदादि अवलम्ब्य च दर्श्यते—विस्तरेण उच्यते इत्यर्थः । शिवोऽत्र गुरुः ।

'यो गुरुः स शिवः प्रोक्तो यः शिवः स गुरुः स्मृतः ।
उभयोरन्तरं नास्ति गुरोरपि शिवस्य च ॥'

इति, नहि अत्र तदादेशमन्तरेण अधिकार एव भवेत् इति भावः । स्वसंवित्

स्वानुभवः। सत्तर्को युक्तिः। पतिशास्त्रं भेदप्रधानं शैवम्। त्रिकं परादिशक्तित्रयाभिधायक शास्त्रम्। क्रमः चतुष्टयार्थः। समाहारेऽयं द्वन्द्वः। इह सर्वमेव स्वानुभवेन युक्त्या सामान्यागमेन विशेषागमेन च सिद्धमुपदिश्यते इत्यागमः। उपोद्घात इति उप—आशु संक्षेपेण ऊर्ध्वमादौ हन्यते टंक्यते दीनार इव राजाभिधानं शास्त्रार्थो यस्मिन् स तथा ॥१०६॥

तदेवं प्रतिज्ञाय शास्त्रार्थगर्भीकारेण संप्रति अवतारयितुमाह

तस्य शक्तय एवैतास्तिस्रो भान्ति परादिकाः।
सृष्टौ स्थितौ लये तुर्ये तेनैता द्वादशोदिताः ॥१०७॥

तस्य परमेश्वरस्य भैरवादिशब्दाभिधेयस्य, एताः निखिलशक्त्यन्तरगर्भीकारेण प्रधानतया प्रतिपादिताः परादिकास्तिस्रः शक्तयः, सृष्टौ; स्थितौ, लये संहारे, तुर्ये, अनाख्ये च भान्ति—सर्वसर्वात्मकेन रूपेण स्फुरन्ति इत्येकैकस्याः चातूरूप्येण श्रीसृष्टिकाल्याद्यात्मकतया द्वादशधोदय इति वाक्यार्थः। तदुक्तं

'धाम्नां त्रयाणामप्येषां सृष्ट्यादिक्रमयोगतः।
भवेच्चतुर्धावस्थानमेवं द्वादशधोदितः॥
स्वसंवित्परमादित्यः प्रकाशवपुरव्ययः।'

इति ॥ १०७ ॥

ननु एक एव परप्रकाशात्मको भैरवादिशब्दव्यपदेश्यः परमेश्वरः समस्ति, तस्य चाभिन्ना एकैव स्वातन्त्र्याख्या शक्तिः इत्युपपादितं, तत्कथमस्य इह द्वादशधोदय इत्युक्तम्?, इत्याशङ्क्याह

तावान्पूर्णस्वभावोऽसौ परमः शिव उच्यते।
तेनात्रोपासकाः साक्षात्तत्रैव परिनिष्ठिताः ॥१०८॥

तावान् इति—द्वादश शक्तयः परिमाणमस्य, स तथा, अत एव पूर्णस्वभावः इत्युक्तं।। पूर्णे सर्वमस्ति, सर्वत्र पूर्णमस्ति, अन्यथास्य पूर्णतैव न स्यात्। अत एव अत्र द्वादशात्मके चक्रे ये उपासकाः ते तत्र परमशिवे एव परिनिष्ठिताः—तदैकात्म्यभाजो भवन्ति इत्यर्थः। एतच्च बहुप्रघट्टकवक्तव्यम्, इति शाक्तोपायाह्निक एव वितत्य विचारयिष्यते, इति नेहायस्तम्॥१०८॥

ननु कथमेतदुक्तं—यतोऽत्र संख्यायाः तत्र तत्र न्यूनत्वमाधिक्यं च संभवति?, इत्याशङ्क्याह

तासामपि च भेदांशन्यूनाधिक्यादियोजनम् ।
तत्स्वातन्त्र्यबलादेव शास्त्रेषु परिभाषितम् ॥१०९॥

तदेवाह

एकवीरो यामलोऽथ त्रिशक्तिश्चतुरात्मकः ।
पञ्चमूर्तिः षडात्मायं सप्तकोऽष्टकभूषितः ॥११०॥
नवात्मा दशदिक्छक्तिरेकादशकलात्मकः ।
द्वादशारमहाचक्रनायको भैरवस्त्विति ॥१११॥

यथा एकवीरो मृत्युजिति प्रथमध्याने । यामलः तत्रैव । कुलप्रक्रियायां तिस्रः शक्तयः पराद्याः । चतुरात्मा जयादिभेदेन । पञ्चमूर्तिः सद्योजातादितया । तदुक्तं

'सिद्धान्ते पञ्चकं सारं चतुष्कं वामदक्षिणे ।
त्रिकं तु भैरवे तन्त्रे .... ॥'

इति । षडात्मा इति, यद्वक्ष्यति

'विश्वा लवीशिका रौद्री वीरका त्र्यम्बिका तथा ।
गुर्वीति षडरे देव्यः .... ॥'

इति । सप्तकः इति, यदुक्तं

'ब्राह्मी माहेश्वरी चैव कौमारी वैष्णवी तथा ।
वाराही च तथेन्द्राणी चामुण्डा चेति मातरः ॥'

इति । अष्टकेन अघोरादिना । स एव एतदष्टकमध्यवर्ती नवात्मा । दशदिक्छक्तिः इति, यदुक्तं

'उमा दुर्गा भद्रकाली स्वस्ति स्वाहा शुभङ्करी ।
श्रीश्च गौरी लोकधात्री वागीशी दशमी स्मृता ॥'

इति । एकादश इति खण्डचक्रोक्ता । इयदन्तं न्यूनसंख्यास्वीकारः भैरवः इति त्रयोदशः । अनेन अधिकसंख्यासूत्रणम् ॥ ११० ॥ १११ ॥

तच्च अधिकसख्याकत्वं निरवधि, इत्याह

एवं यावत्सहस्रारे निःसंख्यारेऽपि वा प्रभुः ।
विश्वचक्रे महेशानो विश्वशक्तिर्विजृम्भते ॥११२॥

सहस्रारे इति त्रिशिरोभैरवप्रथमपटलोक्ते। ग्रन्थविस्तरभयात्तु न प्रातिपद्येन संवादितम्। निःसंख्यारे इति भुवनादीनामानन्त्यात्। एवमपि एतस्मान्न व्यतिरिक्तम्, इत्याह विश्वशक्तिः इति। तदुक्तं

'शक्तिश्च शक्तिमांश्चैव पदार्थद्वयमुच्यते।
शक्तयोऽस्य जगत्कृत्स्नं शक्तिमांस्तु महेश्वरः॥'

इति॥ ११२॥

ननु विश्वेषामपि चक्राणां यदि प्रभुरेव परमार्थः तदेकेनैव कार्तार्थ्यात् प्रतिशास्त्रं बहूनि किमुक्तानि ?, इत्याशङ्क्याह

तेषामपि च चक्राणां स्ववर्गानुगमात्मना।
ऐक्येन चक्रगो भेदस्तत्र तत्र निरूपितः॥११३॥

ऐक्येन तत्तत्सृष्टयाद्यात्मनियतकृत्यकारित्वादिना साजात्येन। तच्च नियतकृत्यकारित्वादेव अस्य स्वर्गानुगमात्मकत्वमुक्तम्, अत एव चक्रगो भेद इति शास्त्रेषु चक्राणामानन्त्यम्॥११३॥

तदेव दर्शयति

चतुष्पड्द्विद्विगणनायोगात्त्रैशिरसे मते।
षट्चक्रेश्वरता नाथस्योक्ता चित्रनिजाकृतेः॥११४॥

चतुर्णां द्विगणनायोगेन अष्टौ, पुनस्तथात्वेन षोडश, षण्णां द्विगणनायोगेन द्वादश, पुनस्तथात्वेन चतुर्विंशतिः इति षण्णां चक्राणामीश्वरता, तत्तत्समुल्लास्यचक्राद्युपाधिवैचित्र्याच्चित्रा—नानाकारा, तदतिरिक्तस्य अन्यस्य अनुपलम्भात् निजाकृतिः यस्य, अत एव नाथस्य स्वातन्त्र्यशालिनः तत्तच्चक्राधिष्ठातुः प्रभोः त्रैशिरसे मते त्रिशिरोभैरवे उक्ता अभिहिता इत्यर्थः। तदुक्तं तत्र

'चतुष्कं षट्काष्टकं द्वादशारं षोडशारकम्।
चतुर्विंशारकं देवि प्रविभक्त्या सुसंस्थितम्॥'

इत्यादि॥ ११४॥

बहुप्रकारत्वं चक्राणां भेदनिमित्तमपि त्रिशिरोभैरव एवोक्तम्, इत्याह

नामानि चक्रदेवीनां तत्र कृत्यविभेदतः।
सौम्यरौद्राकृतिध्यानयोगीन्यन्वर्थकल्पनात्॥११५॥

उक्ता इति पूर्वश्लोकाल्लिङ्गादिविपरिणामाद् योज्यम्। एक एव हि परमेश्वरः तत्तत्साधककामानुसारं नियतां सौम्यरौद्रादिरूपाम् आकृतिमाभास्य तां तां सिद्धिं नियच्छेत्। तदुक्तं

'येन येन हि रूपेण साधकः संस्मरेत्सदा।
तस्य तन्मयतां याति चिन्तामणिरिवेश्वरः॥'

इति। श्रीत्रिशिरोभैरवप्रथमपटलाच्च अयमर्थः स्वयमेवाधिगन्तव्यः। अस्माभिस्तु ग्रन्थविस्तारभयात् न प्रातिपद्येन संवादितम्॥ ११५॥

तदेवाह

एकस्य संविन्नाथस्य ह्यान्तरी प्रतिभा तनुः।
सौम्यं वान्यन्मितं संविदूर्मिचक्रमुपास्यते॥११६॥

आन्तरी प्रतिभा स्वातन्त्र्यशक्तिः। अन्यत् इति रौद्रम्। अत एव तत्तत्सौम्यरौद्रादिनियताकारावच्छिन्नत्वात् मितम्॥ ११६॥

एतदेव विभज्य दर्शयति

अस्य स्यात्पुष्टिरित्येषा संविद्देवो तथोदितात्।
ध्यानात्संजल्पसंमिश्राद् व्यापाराच्चापि बाह्यतः॥११७॥
स्फुटीभूता सती भाति तस्य तादृक्फलप्रदा।
पुष्टिः शुष्कस्य सरसीभावो जलमतः सितम्॥११८॥
अनुगम्य ततो ध्यानं तत्प्रधानं प्रतन्यते।
ये च स्वभावतो वर्णा रसनिःष्यन्दिनो यथा॥११९॥
दन्त्यौष्ठ्यदन्त्यप्रायास्ते कैश्चिद्वर्णैः कृताः सह।
तं बीजभावमागत्य संविदं स्फुटयन्ति ताम्॥१२०॥
पुष्टिं कुरु रसेनैनमाप्यायय तरामिति।
संजल्पोऽपि विकल्पात्मा किं तामेव न पूरयेत्॥१२१॥
अमृतेयमिदं क्षीरमिदं सर्पिर्बलावहम्।
तेनास्य बीजं पुष्णीयामित्येनां पूरयेत्क्रियाम्॥१२२॥

ध्यानाद्येव क्रमेण निरूपयति–पुष्टिरित्यादिना। ततः इति समनन्त-रोक्ताद्धेतोः। अतः इति पुष्टेः शुष्कस्य सरसीभावापादानलक्षणत्वात्। जलं हि आप्यायकं तत्प्रधानं पुष्टिप्रयोजकम् पूर्णमित्यादिरूपम्। संप्रति संजल्पमपि लौकिकालौकिकभेदेनद्विधा व्याचष्टे–ये च इत्यादिना। ते इति दन्त्योष्ठयदन्त्यप्राया वर्णाः। तां संविदं पुष्टिरूपां। बीजभावं मन्त्रभावम्। अत एवास्य संजल्पस्यालौकिकत्वम्। दन्त्योष्ठ्यावकारा-दयः। दन्त्या अमृतबीजादयः। कैश्चिद्वर्णैरिति अदन्त्योष्ट्यप्रायादिभिः। यदुक्तं

'वषडाप्यायने शस्तः.................।'

इति। तथा

'पुष्टावाप्यायने वर्गैः.................।'

इति। एवं मूर्धन्यादीनामपि ग्रहणम्। विकल्पात्मा इत्यनेन अस्य लौकिकत्वं दर्शितम्। तामिति पुष्टिरूपां संविदम्। इदानीं बाह्यमपि होमादिरूपं व्यापारं विभजति अमृता इत्यादिना। क्षीरं दधि। तदुक्तं

'दधिहोमात्परा पुष्टिः.................।'

इति। बलावहशब्देन प्रत्येकं संबन्धः। तेन इति गडूच्यादिना द्रव्यजातेन। बीजम् इति शरीरकारणभूतं शुक्रशोणितादि धातुव्रातम्। एनाम् इति पुष्टिरूपां क्रियाम्॥ ११७॥ ११८॥ ११९॥ १२०॥ १२१॥ १२२॥

एतदेव प्रमेयान्तरमुपक्षिपन् उपसंहरति

तस्माद्विश्वेश्वरो बोधभैरवः समुपास्यते।
अवच्छेदानवच्छिद्भ्यां भोगमोक्षार्थिभिर्जनैः॥१२३॥

अवच्छेदानवच्छिद्भ्याम् इति, अवच्छेदः समनन्तरोक्तनीत्या ध्यानादिनियतविधिनियन्त्रितत्वं, तदन्यथात्वमनवच्छेदः। यद्वक्ष्यति

'साधकानां बुभुक्षूणां विधिर्नियतियन्त्रितः।
मुमुक्षूणां तत्त्वविदां स एव तु निरर्गलः॥'

इति। भगवतश्च एतत्सावच्छेदमपि रूपम् अनवच्छिन्नपरस्वरूपानुप्राणित-मेव, नहि तत्स्वरूपानुप्रवेशं विना किंचिदपि सिद्ध्येत्॥ १२३॥

एतदेव शब्दार्थद्वारकं गीताग्रन्थेन संवादयति

येऽप्यन्यदेवताभक्ता इत्यतो गुरुरादिशत्।

इत्यतः--इत्येवमादिकात् वाक्यकदम्बकादित्यर्थः। गुरुरिति तात्त्विकार्थोपदेष्टा भगवान्वासुदेवः। तत्र हि

'त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते।
ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोकमश्नन्ति दिव्यान्दिवि देवभोगान्॥'

इत्यादिना।

'क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति।'

इत्यादिना च भोगार्थिनाम्,

'अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥'

इत्यादिना च मोक्षार्थिनाम्, अवच्छेदानवच्छेदाभ्यां क्रमेण स्वरूपमभिधाय पुनः सावच्छेदेऽपि रूपेऽनवच्छिन्नं रूपम् अस्त्येव इत्यभिधातुम्

'येऽप्यन्यदेवताभक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः।
तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम्॥'

इत्यादिना तेनोपदिष्टम्॥

एतदेव व्याचष्टे

ये बोधाद्व्यतिरिक्तं हि किंचिद्याज्यतया विदुः॥१२४॥
तेऽपि वेद्यं विविश्वाना बोधाभेदेन मन्वते।

ये याजका बोधाद् वेदित्रेकस्वभावात् स्वात्मरूपाद्व्यतिरिक्तमन्यत् तत्तन्नियताकारमिन्द्रादिदैवतं याज्यतया विदुः जानीयुः, ते विच्छिन्ननियताकारवत्त्वात् वेद्यमपि इन्द्रादिरूपं दैवतं श्रद्धातिशययोगाद् गाढगाढं विमृशन्तः

'वेद्यो वेदकतामाप्तो वेदकः संविदात्मताम्।
संवित्त्वदात्मा चेतसत्यं तदिदं त्वन्मयं जगत्॥'

इत्यादिन्यायेन बोधाभेदेन—परप्रमात्रेकरूपस्वात्ममयत्वेन अवबुध्यन्ते इत्यर्थः॥

ननु देवतोद्देशेन द्रव्यत्यागो याग इत्युक्तेः द्रव्यत्यागार्थमुद्दिष्टैव देवता भवति, न च बोधैकरूपस्य स्वात्मतत्त्वस्य तथात्वेन उद्देशोऽस्ति, कथमस्य याज्यत्वम्? इत्याशङ्क्याह

तेनाविच्छिन्नतामर्शरूपाहन्ताप्रथात्मनः ॥१२५॥
स्वयं-प्रथस्य न विधिः सृष्ट्यात्मास्य च पूर्वगः ।
वेद्या हि देवतासृष्टिः शक्तेर्हेतोः समुत्थिता ॥१२६॥
अहंरूपा तु संवित्तिर्नित्या स्वप्रथनात्मिका ।

तेन बोधात्मत्वेन हेतुना, अस्य—स्वात्मतत्त्वस्य, 'सकृद्विभातोऽयमात्मा' इति न्यायेन अनवच्छिन्नतया प्रवृत्ताविरतेन रूपेण पराहंप्रकाशपरामर्शमयस्य, अत एव स्वयंप्रथस्य—प्रमाणादिनैरपेक्ष्येण स्वतः सिद्धस्य, विधिः-अप्रवृत्तप्रवर्तनात्मा, पूर्वभावी, तथा सृष्ट्यात्मा-तत्तत्सिद्धिसाधनस्वभावो न भवतीत्यर्थः । न खलु बोधस्वभावं स्वात्मतत्त्वं विधिविषयतामापद्यते—तस्यविधिप्राप्त्यभावात्, यावदप्राप्तं हि विधेर्विषयः, न च स्वात्मनः कदाचित् अप्राप्तिरस्ति—आदिसिद्धतया सर्वदैव स्फुरणात् । ननु विधेर्नियोगभावनाद्यात्मतया बहुविधत्वमुक्तम्, स्वात्मा पुनः कस्य विधेर्विषयतां न भजते ? इत्याशङ्क्याह

विधिर्नियोगस्त्र्यंशा च भावना चोदनात्मिका ॥१२७॥

विधिः अप्रवृत्तप्रवर्तको, न पुनरज्ञातज्ञापकः । यदाहुः

'विधेर्लक्षणमेतावदप्रवृत्तप्रवर्तनम् ।
अतिप्रसङ्गदोषेण नाज्ञातज्ञापनं विधिः ॥'

इति । स्वर्गयागयोश्च साध्यसाधनभावमवबोधयतोऽस्यैव विधेः तावत्प्रवर्तकत्वं—यत् सप्रत्ययस्य पुंसः 'प्रवृत्तोऽहम्' इति ज्ञानजननम् । स च 'नियोग' इति प्राभाकरैरुक्तः, 'भावना' इति भाट्टैः । तत्र तिङादिप्रत्ययवाच्यः 'प्रवर्तितोऽहम्' इति प्रेरणात्मकः कार्यात्मा अनुष्ठेयो धर्मो नियोगः । स च

'दार्श-पौर्णमासाभ्यां यजेत स्वर्गकामः ।'

इत्यादावनुबन्धद्वयावच्छिन्नः प्रतीयते । याज्यादिना हि अस्य विषयानुबन्ध उच्यते । 'स्वर्गकामः' इत्यनेन च अधिकारानुबन्धः, अत एव च द्व्यनुबन्धबान्धवो 'नियोगः' इत्युद्घोष्यते । कंचित् क्वचिन्नियुंक्ते इति नियोगस्वरूपम् इति । 'भावना' च भाव्यनिष्ठो भावकव्यापारः, भाव्यं स्वर्गादिफलं, तन्निष्ठस्तदुत्पादकः पुरुषव्यापारो भावना । पुरुषो हि भवन्तं स्वर्गादिकमर्थं स्वव्यापारेण भावयति इति भावना इत्युच्यते । सा च द्विविधा-

शब्दभावना अर्थभावना च इति । तस्याश्च किं, केन, कथं भावयेत् इति अंशत्रयापेक्षत्वात् त्र्यंशत्वम् । तदुक्तम्

> 'सा धातोः प्रत्ययाद्वापि भावनावगता सती ।
> अपेक्षतेंऽशत्रितयं किं केन कथमित्यदः ॥'

इति । त्र्यंशा इति, तत्रार्थभावनायां 'किम्' इत्यपेक्षायां स्वर्गः, 'केन' इत्यपेक्षायां यागः, 'कथम्' इत्यपेक्षायां च व्रीह्यादि संबन्धनीयम् । एवं शब्दभावनायामपि, 'किम' इत्यपेक्षायां भाव्या पुरुषप्रवृत्तिः, 'केन' इत्यपेक्षायां शब्दः, 'कथम्' इत्यपेक्षायाम् अर्थवादवाक्यव्यापारः संबन्धनीयः । चोदना वैदिकं विधायकं वाक्यम् । यदाहुः

> 'चोदनेति क्रियायाः प्रवर्तकं वचनम् ।'

इति । एतच्चोभयत्रापि संबन्धनीयम् । तच्च प्रमाणान्तरप्रतिपन्नमेव अर्थमभिदधत् प्रमाणतां लभते, तं चार्थं साधयति ।

> 'ऐन्द्राग्नमेकादशकपालं निर्वपेत् ।'

इत्यादौ निर्वपणादिवदुद्दिष्टा इन्द्राद्या देवता अपि विधेयाः–द्रव्यदेवतासंबन्धस्यैव साक्षात्प्रतिपाद्यत्वात् ॥ १२४-१२५-१२६-१२७ ॥

तदेवाह

> तदेकसिद्धा इन्द्राद्या विधिपूर्वा हि देवताः ।
> अहंबोधस्तु न तथा ते तु सवेद्यरूपताम् ॥१२८॥
> उन्मग्नामेव पश्यन्तस्तं विदन्तोऽपि नो विदुः ।
> तदुक्तं न विदुर्मां तु तत्त्वेनातश्चलन्ति ते ॥१२९॥

विधिपूर्वाः—विधिरेव पूर्वं पूर्वभावि अनधिगतार्थप्रकाशनात्मकं प्रमाणं यासां ताः तथोक्ताः, स्वात्मव्यतिरिक्ता हि देवताः वेद्यप्रायाः प्रमाणान्तराप्रतिपन्नाः शास्त्रेण साध्यन्ते इति युक्तः पक्षः । अहंबोधैकरूपः पुनः स्वात्मा पूर्वोक्तयुक्त्या सदैव प्रकाशमानत्वात् न स्वसिद्धौ प्रमाणं किंचिदपेक्षते इति युक्तमुक्तम्–अविधिपूर्वकमिति । तदेवाह अहंबोधः इति । तथा इति विधिपूर्वं इत्यर्थः । ननु यदि प्रमाणादिनैरपेक्ष्येणैव स्वात्मा स्वयं प्रकाशते किमिति न सर्वदैव सर्वेषाम् ? इत्याशङ्क्याह—ते तु इत्यादि । त इति स्वात्मव्यतिरिक्तेन्द्रादिदेवतायाजकाः, तं सर्वदैव प्रकाशमानं स्वा-

त्मानं–वेद्यवेदनान्यथानुपपत्त्या तदतिरिक्तस्य च अन्यस्य देवतात्वानुपपत्तेः, वस्तुतो विदन्तोऽपि न विदुः–वेद्यताया एव प्राधान्येन दर्शनात् वेदित्रेकरूपतया न जानीयुः इत्यर्थः। अतश्च नियततत्तद्देवतादिरूपग्रहणेन च्यवन्ते इत्यर्थः। तदुक्तं तत्र

'न तु मामभिजानन्ति तत्त्वेनातश्च्यवन्ति ते।'

इति ॥ १२८–१२९ ॥

तदेव व्याचष्टे

चलनं तु व्यवच्छिन्नरूपतापत्तिरेव या।

एतदपि तत्रत्येन ग्रन्थेनैव संवादयति

देवान्देवयजो यान्तीत्यादि तेन न्यरूप्यत ॥१३०॥

तेन इति व्यवच्छिन्नरूपतापत्तिलक्षणेन हेतुना इत्यर्थः। यदुक्तं

'यान्ति देवव्रता देवान्पितॄन्यान्ति पितृव्रताः।
भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्यजिनोऽपि माम् ॥'

इति ॥ १३० ॥

ननु यद्येवं कथमन्यदेवताभक्ता अपि यजन्ति इत्युक्तम्? इत्याशङ्क्याह

निमज्ज्य वेद्यतां ये तु तत्र संविन्मयीं स्थितिम्।
विदुस्ते ह्यनवच्छिन्नं तद्भक्ता अपि यान्ति माम् ॥१३१॥

तत्र इति स्वात्मव्यतिरिक्तायां देवतायाम्। तद्भक्ताः स्वात्मव्यतिरिक्तदेवतायाजिन इत्यर्थः। माम् इति परबोधैकस्वभावम् आत्मानम्। अस्मिन् परमाद्वयमये संविन्मयतयावस्थानमेव यागः, तत्समापत्तिरेव च फलम् ॥ १३१ ॥

ननु भगवद्वासुदेवेन उक्तस्य 'माम्' इति अस्मच्छब्दस्य तदेकवाचकत्वात् कथं बोधमात्राभिधायकत्वमुच्यते? इत्याशङ्क्याह

सर्वत्रात्र ह्यहंशब्दो बोधमात्रकवाचकः।
स भोक्तृप्रभुशब्दाभ्यां याज्ययष्टृतयोदितः ॥१३२॥

अत्र इति गीताग्रन्थे अनवच्छिन्नस्यैव बोधमात्रस्य प्रतिपिपादयिषितत्वात्, अत एव केवलस्यैव बोधस्य वाचकः परामृष्टा इत्युक्तम्। नहि

प्रकाशाद्द्वितीयस्य अपोह्यस्य प्रतियोगिनः संभवोऽप्यस्ति—तस्य प्रकाशमानत्वाप्रकाशमानत्वविकल्पोपहतत्वात्। यस्तु शरीरादौ 'कृशोऽहम्' इत्यादिः अहंविमर्शः स विकल्प एव—शरीराद्यपेक्षया परस्य अपोह्यस्य प्रतियोगिनः संभवात्। ननु यदि बोध एव अप्रतिपक्ष एकोऽस्ति, तत्कथं 'मां यजन्ति' इत्यादौ याज्ययष्टृतया भेदः पारमार्थिकः स्यात्? इत्याशङ्क्याह—स भोक्तृ इत्यादि। बोध एव उभयात्मना स्फुरितः इति भावः। तदुक्तं तत्र

'अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च।'

इति ॥ १३२ ॥

ननु एकश्च उभयात्मा च इति कथं संगच्छताम्? इत्याशङ्क्याह

याजमानी संविदेव याज्या नान्येति चोदितम्।
न त्वाकृतिः कुतोऽप्यन्या देवता न हि सोचिता ॥१३३॥

संविदेव याज्या इति उदितं—प्रतिज्ञातम्। न पुनः कुतोऽपि हेतोः अन्याकृतिः इन्द्रादिरूपा, सा च संवित् याजमान्येव, न पुनः अन्या—भिन्ना, याजमानी संविदद्वयमयी इत्यर्थः। सा हि एवं विधाकृतिः, आकृतिमती वा संविद्देवता नोचिता—संविदि भेदानुपपत्तेः, संविददतिरिक्तस्य च जाड्यात्। न च जडस्य द्योतमानत्वाद्येकस्वभावं देवतात्वं युज्यते इति स्वप्रकाशा संविदेव एका तत्तदात्मना स्फुरति इति युक्तमुक्तं 'स एव याज्ययष्टृतयोदितः, इति ॥ १३३ ॥

अत एव च आदिसिद्धत्वात् संविदि न किंचिद्विध्यादि सिद्धिनिमित्तमुक्तम् इत्याह

विधिश्च नोक्तः कोऽप्यत्र मन्त्रादि वृत्तिधाम वा।

इह खलु वेदवाक्यानि मन्त्रब्राह्मणरूपत्वेन द्विधा। ब्राह्मणवाक्यान्यपि विध्यर्थवादनामधेयात्मकत्वेन त्रिधा। तत्र विधिवाक्यानां तावत् संविदि व्यापारो नास्ति इत्युक्तप्रायम्। एवं मन्त्रादेरपि तत्र नास्ति व्यापारः। यतो मन्त्रादिः वृत्तेः विधिव्यापारात्मनः क्रियाया धाम आश्रयः—तेन विना क्रियाया असंपत्तेः। न च संविदि वाच्यवाचकयाज्ययाजकभावाद्यात्मकः कश्चिद्भेदः संभवति, एक एव आदिसिद्धो बोधः इति सिद्धम् ॥

ननु यद्येवं तत्कथमयं जडाजडात्मा विश्वप्रसरः? इत्याशङ्क्याह

सोऽयमात्मानमावृत्य स्थितो जडपदं गतः ॥१३४॥
आवृतानावृतात्मा तु देवादिस्थावरान्तगः ।
जडाजडस्याप्येतस्य द्वैरूप्यस्यास्ति चित्रता ॥१३५॥

आवृत्य इति स्वस्वरूपगोपनात्मिकया मायाशक्त्या संकोचवत्तामाभास्य इत्यर्थः। जडपदम् इति परप्रकाश्यभावराशिस्वरूपताम् इत्यर्थः। विश्वनिर्माणेच्छुर्हि परमेश्वरः प्रथमं स्वाव्यतिरिक्तमेव विश्वं प्रकाशयेत्, अयमेव च आदिसर्गः तत्र तत्रागमेषु उच्यते, अनन्तरं च यदास्य मायया सर्गचिकीर्षा भवति तदा स्वस्वातन्त्र्यात् स्वात्मदर्पणे अनन्तग्राह्यग्राहकद्वयाभाससन्ततीराभासयति, स्वाङ्गरूपभावराशिमध्यादेव हि देहप्राणबुद्धिशून्यानि स्वगताहन्तात्मककर्तृतार्पणेन ग्राहकीभावयति, तदपरं शब्दादि च इदन्ताविषयतया चिद्रूपतातिक्रमणेन ग्राह्यतामापादयति, अत एव च देहादिः कर्तृतां ज्ञातृतां च स्वात्मनि धत्ते, तदितरच्च कार्यतां ज्ञेयतां च। अत एव चैषां जडाजडव्यपदेशः, तदाह 'आवृतानावृतात्मा' इति। एवमपि चास्य प्रकारवैचित्र्येण आनन्त्यम् इत्याह 'जड' इत्यादि, चित्रता इति तत्र जडस्य तावच्छब्दादिभेदेन, तस्यापि तारमन्द्रादिभेदेन बहुप्रकारत्वम्, अजडस्यापि सन्तानभेदेन आनन्त्येऽपि बन्धत्रयस्य तारतम्यादिभेदेन नानात्वम्। संकुचिता प्रमातारो हि तत्तत्कर्माशयानुसारेण परिभ्राम्यन्तः तत्तदवस्थासु एकमपि स्वात्मानं धर्माधर्मादिबुद्धिभावरंहतत्वेन तत्तदिच्छापरिष्कृतत्वेन च नानाकारतया-वैचित्र्येण जानते, जडं च विषयं सुखदुःखादिकारितया नानात्वेन परिविन्दन्ति इति ॥ १३४-१३५ ॥

एवं वैचित्र्यस्य किं निमित्तम् इत्याशङ्क्याह

तस्य स्वतन्त्रभावो हि किं किं यन्न विचिन्तयेत् ।
तदुक्तं त्रिशिरःशास्त्रे संबुद्ध इति वेत्ति यः ॥१३६॥

एतदेवार्थद्वारकं संवादयति-तदुक्तम् इत्यादिना। इति वैचित्र्यं यो वेत्ति स संबुद्धः—सम्यग्बुद्ध इत्यर्थः। त्रिशिरः शास्त्रे इति श्रीत्रिशिरोभैरवे। तत्र हि

'अन्यथा स्वल्पबोधस्तु तन्तुभिः कीटवद्यथा।
मलतन्तुसमारूढः क्रीडते देहपञ्जरे ॥'

इत्युपक्रम्य

'सम्यग्बुद्धस्तु विज्ञेयः..............................।'

इत्यादिना च

'नानाकारैर्विभावैश्च भ्राम्यते नटवद्यथा ।
स्वबुद्धिभावरहितमिच्छाक्षेमबहिष्कृतम् ॥'

इत्यन्तं बहूक्तम् ॥ १३५ ॥

ननु देहादिग्राहकतया अभिमतोऽपि जाड्याज्ज्ञेय एव इति तस्य कथमेवंविध ज्ञानम् ? इत्याशङ्क्याह

ज्ञेयभावो हि चिद्धर्मस्तच्छायाच्छादयेन्न ताम् ॥१३६॥

ज्ञेयत्वं हि ज्ञानधर्मः, नहि अर्थं जानामि इत्यर्थस्य कश्चिदतिशयः' अपि तु ज्ञानस्यैव तज्ज्ञानरूपता । तदुक्तमत्रापि च

'.................... ज्ञेयस्य ज्ञेयता ज्ञानमेव ।'

इति । अत एव च तेषां ज्ञेयानां सतां देहादीनां छाया स्वेनैव स्वस्य आवरकत्वायोगात् न चितमाच्छादयेत्—आवृणुयात्, येनैवं-विधं ज्ञानं न स्यात्, तेन देहादावात्मग्रहेऽपि आत्मनो न काचिच्चिद्रूपताहानिः । तदुक्तं तत्रैव

'ज्ञेयस्वभावश्चिद्रूपस्तच्छाया नैव च्छादयेत् ।'

इति ॥ १३६ ॥

अत एवाह

**तेनाजडस्य भागस्य पुद्गलाण्वादिसंज्ञिनः ।
अनावरणभागांशे वैचित्र्यं बहुधा स्थितम् ॥१३७॥**

तेन इति चिदनाच्छादनेन हेतुना । अनावरण इति शुद्धसंविद्रूपे आत्मनि इत्यर्थः । देहादीनां हि संविद्रूपत्वेऽप्यामुखे ज्ञेयत्वेन अवभासाद-शुद्धत्वमपि संभवेत् ॥ १३७ ॥

ननु संविदि भेदानुपपत्तेः कथं वैचित्र्यं संगच्छताम् ? इत्याशङ्क्याह

**संविद्रूपे न भेदोऽस्ति वास्तवो यद्यपि ध्रुवे ।
तथाप्यावृतिनिर्ह्रासतारतम्यात्स लक्ष्यते ॥१३८॥**

आवृतेः—आणवस्य मलस्य, विह्लासः परिक्षयस्तस्य तारतम्यं मृदुमध्याधिमात्रात्मा अतिशयः ततो लक्ष्यते, इति—न तु साक्षात् संभवति इत्यर्थः, अत एव पूर्वं 'वास्तवः' इति विशेषणमुपात्तम् ॥ १३८ ॥

किं च तत्तारतम्यम् ? इत्याशङ्क्याह

तद्विस्तरेण वक्ष्यामः शक्तिपातविनिर्णये ।
समाप्य परतां स्थौल्यप्रसंगे चर्चयिष्यते ॥१३९॥

वक्ष्यामः इति । यद्वक्ष्यति

'तारतम्यप्रकाशो यस्तीव्रमध्यममन्दताः ।
ता एव शक्तिपातस्य प्रत्येकं त्रैधमास्थिताः ॥'

इत्यादि बहुप्रकारम्, चर्चयिष्यते इति--लक्ष्यते परीक्ष्यते च इत्यर्थः । इह हि सर्वस्यैव वक्ष्यमाणस्य प्रमेयजातस्य उद्देश एव भवेत् इति भावः । यद्वक्ष्यति

'विज्ञानभित्प्रकरणे सर्वस्योद्देशनं क्रमात् ।'

इति । तच्च अस्माभिर्ग्रन्थविस्तरभयात् प्रातिपद्येन न दर्शितम् इति स्वयमेव अवधार्यम् ॥ १३९ ॥

एवं मलनिर्ह्लासतारतम्यानुसारमेव आत्मनां भगवत्स्वरूपमपि प्रथते इत्याह

अतः कंचित्प्रमातारं प्रति प्रथयते विभुः ।
पूर्णमेव निजं रूपं कंचिदंशांशिकाक्रमात् ॥१४०॥

कंचित् इति—तीव्रनिर्ह्लासतावृतितारतम्यम्, अंशांशिकाक्रमात् इति—आवृतिनिर्ह्लासतारतम्यमन्दादिप्रायत्वात् ॥ १४० ॥

ननु किं नाम पारमेश्वरस्य रूपस्य पूर्णत्वमपूर्णत्वं च ? इत्याशङ्क्याह

विश्वभावैकभावात्मस्वरूपप्रथनं हि यत् ।
अणूनां तत्परं ज्ञानं तदन्यदपरं बहु ॥१४१॥

विश्वेषां नीलसुखादीनां भावानां य एको भावः-प्रकाशमानत्वान्यथानुपपत्त्या परप्रकाशलक्षणा प्रधाना सत्ता, तदात्म यत् स्वस्य आत्मनो रूपं तस्य यत्प्रथनम्-अविकल्पवृत्त्या साक्षात्करणं, तत् एव अणूनां परम् पूर्णं

पारमेश्वरम् ज्ञानं, तत एवं-विधात् पूर्णात् ज्ञानात् अन्यत् विकल्पात्मकं शाक्तादि ज्ञानम्, अपरं–चित्स्वरुपप्रथाविरहादपूर्णं, बहु–वक्ष्यमाणप्रकारेण अनेकप्रकारम् इत्यर्थः ॥ १४१ ॥

तदेव बहुप्रकारत्वं दर्शयति

तच्च साक्षादुपायेन तदुपायादिनापि च ।
प्रथमानं विचित्राभिर्भङ्गीभिरिह भिद्यते ॥१४२॥

तत् इति परमपरं वा ज्ञानं । साक्षादुपायेन इति शाम्भवेन । तदेव हि अव्यवहितं परज्ञानावाप्तौ निमित्तं, स एव परां काष्ठा प्राप्तश्चानुपाय इत्युच्यते । अत एव अनुपायः इति नोपायनिषेधमात्रम् इति वक्ष्यते । तस्य शाम्भवस्य उपायः शाक्तः, आदिशब्दात् तस्यापि उपाय आणवः । भिद्यते इति औपचारिकं भेदमेति इत्यर्थः ॥ १४२ ॥

न केवलमेवं, यावदन्यदपि एतद्वैचित्र्ये निमित्तमस्ति इत्याह

तत्रापि स्वपरद्वारद्वारित्वात्सर्वशोंऽशशः ।
व्यवधानाव्यवधिना भूयान्भेदः प्रवर्तते ॥१४३॥

स्वेन, यथा–-शाम्भवेन शाम्भवम्, अत एव स्वपरलक्षणेन द्वारेण, द्वारि सोपायम् । सर्वशः इति–पूर्णात्मना । अंशश इति–अपूर्णेन । व्यवधान इति–साक्षादुपायत्वाभावात् । एवं प्रथमं तावदुपायस्त्रेधा–शाम्भवादिभेदात्, तेषां च द्वारद्वारिभावेन प्रत्येकं द्वैधे षट्, तत्रापि प्रत्येकं पूर्णत्वापूर्णत्वेन द्वैधे द्वादश, तेषां च प्रत्येकं व्यवहिताव्यवहितत्वेन द्वैधे चतुर्विंशतिः । व्यवधानं च बहुभिर्विजातीयैः, इति भेदानां भूयस्त्वम् ॥ १४३ ॥

ननु ज्ञानं तावदुपेयतया प्रतिज्ञातम् इति, तत्र उपायेन केनचिद्भाव्यं, स च न ज्ञानमेव–उपेयत्वात्, नापि अज्ञानं—तदनौपयिकत्वात् तस्य, इति किं नाम उपायस्वरूपम् ? इत्याशङ्क्याह

ज्ञानस्य चाभ्युपायो यो न तदज्ञानमुच्यते ।
ज्ञानमेव तु तत्सूक्ष्मं परं त्विच्छात्मकं मतम् ॥१४४॥

किं तु तत्सूक्ष्मं वैकल्पिकस्थूलशाक्तादिज्ञानविलक्षणं मतम् इति सम्बंधः । अत एव परं–शाम्भवम् इत्यर्थः । अत एव 'इच्छात्मकम्' इत्युक्तम् । शाक्ताणवयोर्हि ज्ञानक्रियात्मकत्वं भवेत् इति भावः ॥१४४॥

ननु एवमपि कथमेकस्यैव उपायोपेयभावः संगच्छते ? इत्याशङ्क्याह

उपायोपेयभावस्तु ज्ञानस्य स्थौल्यविभ्रमः ।
एषैव च क्रियाशक्तिर्बन्धमोक्षैककारणम् ॥१४५॥

स्थौल्यं–चिदानन्दैकघनपरसूक्ष्मस्वरूपनिमज्जनादनन्तग्राह्यग्राहकात्मना भेदेन उल्लसनं, तत्कृतोऽयं भ्रमः–यत्'इदमुपेयम्' इति । वस्तुतो हि परप्रकाशात्मा शिव एव उपेयः, स च सर्वत एवावभासते–तस्य क्वचिदपि अनपायात् । अत एव नात्र उपायानां किंचित्प्रयोजनम्–अज्ञातज्ञापकत्वात् तेषाम् । तदुक्तम्

'अपरोक्षे भवत्तत्त्वे सर्वतः प्रकटे स्थिते ।
यैरुपायाः प्रतन्यन्ते नूनं त्वां न विदन्ति ते ॥'

इति । अनेनैव आशयेन च अनुपायनिरूपणं करिष्यते । ननु यद्येवं तत्कथमयं व्यवहारः प्ररोहमुपारोहते ? इत्याशङ्क्याह एषैव इत्यादि । क्रियाशक्तिः इति—तत्ताद्रूप्यवैचित्र्यावस्थितिकारित्वात् । तेन परमेश्वरस्फार एवायम् इत्याशयः । अत एवायं तथात्वेन अज्ञातो बन्धकः, ज्ञातस्तु मोचकः, तदाह 'बन्धमोक्षैककारणम्' इति । यदुक्तं

'सेयं क्रियात्मिका शक्तिः शिवस्य पशुवर्तिनी ।
बन्धयित्री स्वमार्गस्था ज्ञाता सिद्ध्युपपादिका ॥'

इति ॥ १४५ ॥

ननु एवमपि अत्र किं नाम उपायतया संमतम् ? इत्याशङ्क्याह

तत्राद्ये स्वपरामर्शे निर्विकल्पैकधामनि ।
यत्स्फुरेत्प्रकटं साक्षात्तदिच्छाख्यं प्रकीर्त्तितम् ॥१४६॥

तत्र–एवं सति, आद्ये–प्राथमिकालोचनज्ञानात्मनि, अत एव निर्विकल्पोत्थे, अत एव भिन्नस्य परामृश्यस्य अनुल्लासात् स्वपरामर्श-स्फुरत्तामात्ररूपे यत् प्रकटं स्फुरेत्, साक्षात्कारात्मतया यत् स्फुरणं तत् साक्षात् इच्छाख्यं प्रकीर्तितम्–उपायान्तरनिरपेक्षत्वात्, अव्यवधानेच्छाशक्तिस्फाररूपः शाम्भवाख्य उपाय उक्तः इत्यर्थः ॥ १४६ ॥

एतदेव दृष्टान्तोपदेशेन स्फुटीकर्तुमाह

यथा विस्फुरितदृशामनुसन्धिं विनाप्यलम् ।
भाति भावः स्फुटस्तद्वत्केषामपि शिवात्मता ॥१४७॥
भूयो भूयो विकल्पांशनिश्चयक्रमचर्चनात् ।
यत्परामर्शमभ्येति ज्ञानोपायं तु तद्विदुः ॥१४८॥

तथैव 'आत्मैवेदं सर्वम्' इत्येवमात्मनो विकल्पस्य आत्मानात्माख्यांशद्वयाक्षेपित्वेऽपि प्रतियोगिनिषेधपूर्वकोयोऽस्य पौनःपुन्येन अंशरूपो निश्चयः तस्य यत् क्रमेण चर्चनं–यथायथं स्फुटताभावित्वादिना संस्करणं, ततो यत् विकल्प्यमानमात्मस्वरूपपरामर्शम् 'इत्थमेव इदम्' इत्येवं प्रतीतिमभिन्नां–साक्षात्कारात्मतामभ्येति, तज्ज्ञानोपाय विदुः-ज्ञानशक्तिस्फारात्मकं शाक्तमुपायं जानीयुः इत्यर्थः । तु-शब्दः पूर्वस्माद्व्यतिरेचकः । इह हि विकल्प एव क्रमेण निर्विकल्पतामेति इत्युक्तम् । तत्र पुनर्निर्विकल्पतयैव साक्षात्करणं रूपम्, अत एव च अनयोर्द्वारिद्वारभावः ॥ १४७–१४८ ॥

यत्तु तत्कल्पनाक्लृप्तबहिर्भूतार्थसाधनम् ।
क्रियोपायं तदाम्नातं भेदो नात्रापवर्गगः ॥१४९॥

तथा तत् आत्मस्वरूपं क्रियोपायमाम्नातं–क्रियाशक्तिस्फारात्मकाणवोपायसमधिगम्यं सर्वागमेषु उक्तम् । यतस्ताभिः–भेदप्रथामयीभिः कल्पनाभिः, क्लृप्तः–स्वशिल्पेन कल्पितः, बहिर्भूतोऽवच्छिन्नो योऽसौ उच्चारादिः अर्थः तत्साधनम्, तुशब्दो व्यतिरेके । शाक्ते हि विकल्प एव अर्थः, इह तु बाह्योऽपि इति, अत एव न तत्र उच्चारादिः । ननु उपायभेदादुपेयभेदोऽपि स्याद् ? इत्याशङ्क्योक्तं 'भेदो नात्रापवर्गगः' इति । स्वरूपप्रथनं हि अपवर्गः, तच्च सर्वैरेव हि द्वारद्वारिभावेन भवति, इति भावः ॥ १४९ ॥

ननु ज्ञानमेव उपायः इति सामान्येन प्रतिज्ञातं, तत्कथमाणवे क्रियोपायत्वमुक्तम् ? इत्याशङ्क्याह

यतो नान्या क्रिया नाम ज्ञानमेव हि तत्तथा ।
रूढेर्योगान्ततां प्राप्तमिति श्रीगमशासने ॥१५०॥

अन्या इति अर्थाज्ज्ञानात्, यतः तज्ज्ञानमेव रूढेः प्ररोहात् योगस्यान्तः पराकाष्ठा, तत्त्वं प्राप्तं सत् तथा 'क्रिया' इति सर्वत्र अभिधीयते इत्यर्थः ।

ननु अत्र किं प्रमाणम् ? इत्याशङ्क्योक्तम् 'इति श्रीगमशासने' इति, अर्थादुक्तम् इति शेषः ॥ १५० ॥

तत्रत्यमेव ग्रन्थं पठति

योगो नान्यः क्रिया नान्या तत्त्वारूढा हि या मतिः ।
स्वचित्तवासनाशान्तौ सा क्रियेत्यभिधीयते ॥१५१॥

इति ॥ १५१ ॥

एतच्च स्वयमेव व्याचष्टे

स्वचित्ते वासनाः कर्ममलमायाप्रसूतयः ।
तासां शान्तिनिमित्तं या मतिः संवित्स्वभाविका ॥१५२॥
सा देहारम्भिबाह्यस्थतत्त्वव्राताधिशायिनी ।
क्रिया सैव च योगः स्यात्तत्त्वानां चिल्लयीकृतौ ॥१५३॥

निमित्तम् इत्यनेन सप्तमी व्याख्याता । संवित्स्वभाविका इत्यनेन मतेर्ज्ञानार्थत्वमुक्तम् । सा मतिः

'प्रणवेन तु तत्सर्वं शरीरोत्पत्तिकारणम् ।
न्यसेत्क्रमेण देवेशि त्रिंशदेकं च संख्यया ॥'

इत्याद्युक्त्या शुद्धदेहारम्भीणि असाधारणानि, तथा बाह्यस्थानि

'हेयाध्वानमधः कुर्वन्नेचयेत्तं वरानने ।
यावत्सा समना शक्तिः.................. ॥'

इत्याद्युक्त्या तत्त्वदीक्षादिना साधारणानि तत्त्वानि अधिशयाना स्वचित्तवासनाशान्तिकारित्वात् क्रिया स्यात् । तथा सैव

'योगमेकत्वमिच्छन्ति वस्तुनोऽन्येन वस्तुना ।'

इत्याद्युक्त्या तत्त्वानां चिति योजनाद्योगः स्यात् इति नानयोर्ज्ञानातिरेकः इति युक्तमुक्तं 'योगो नान्यः क्रिया नान्या' इति ॥ १५२–१५३ ॥

ननु कथं ज्ञानमेव क्रिया भवेत् ? इति दृष्टान्तोपदर्शनेन उपपादयति

लोकेऽपि किल गच्छामीत्येवमन्तः स्फुरैव या ।
सा देहं देशमक्षांश्चाप्याविशन्ती गतिक्रिया ॥१५४॥

अन्तः आत्मनि 'गच्छामि' इति या स्फुरा-स्फुरणम् उद्यन्तृतात्मिका संवित्, सैव देहाद्याविशन्ती वैवश्याद्विष्करणेन स्वमयतामापादयन्ती गमनक्रिया भवति, इति युक्तमुक्तं 'ज्ञानमेव हि तत्तथा' इति। गन्तुर्हि 'गच्छामि' इति स्फुरणायां सत्यां कर्तृकरणकर्मात्मकशरीरपादग्रामाद्यावेशेन गमनक्रियासंपत्तिः स्यात् ॥ १५४ ॥

तदेवोपसंहरति

तस्मात्क्रियापि या नाम ज्ञानमेव हि सा ततः ।
ज्ञानमेव विमोक्षाय युक्तं चैतदुदाहृतम् ॥१५५॥

ततः इति क्रियाया ज्ञानात्मकत्वात्। तेन

'दीक्षैव मोचयत्यूर्ध्वं शैवं धाम नयत्यपि ।'

इत्यादिना क्रियाया अपि अपवर्गनिमित्तत्वमुक्तम्। एवं च युक्तमुक्तं 'ज्ञानं मोक्षैककारणम्' इति। तदाह 'युक्तं चैतदुदाहृतम्' इति ॥ १५५ ॥

ननु 'स्वतन्त्रात्मातिरिक्तस्तु' इत्यादिना प्रागात्मज्ञानातिरिक्तो मोक्षो नाम न कश्चिदस्ति इत्युक्तम्, इति ज्ञानमेव विमोक्षाय इत्यनेन हेतुफलभावोऽनयोरुच्यमानः कथं संगच्छते ? इत्याशङ्क्याह

मोक्षो हि नाम नैवान्यः स्वरूपप्रथनं हि सः ।
स्वरूपं चात्मनः संविन्नान्यत्तत्र तु याः पुनः ॥१५६॥
क्रियादिकाः शक्तयस्ताः संविद्रूपाधिका नहि ।
असंविद्रूपतायोगाद्धर्मिणश्चानिरूपणात् ॥१५७॥

ननु स्वरूपमेव नाम किं यस्यापि प्रथनं मोक्षः स्यात् ? इत्याह स्वरूपम् इति, तेन स्वस्य आत्मनो रूपं संविच्चैतन्यं, तस्य प्रथनं यथातत्त्वं ज्ञानं, स एव मोक्षः इति यथोक्तमेव युक्तं। यः पुनरयं हेतुफलभाव उक्तः स काल्पनिक एव, न तात्त्विकः, यद्वक्ष्यति

'यतो ज्ञानेन मोक्षस्य या हेतुफलतोदिता ।
न सा मुख्या.................................. ॥'

इति। अन्यत् इति संविदतिरिक्तम् इत्यर्थः। ननु आत्मनः संविदतिरिक्तं

यदि रूपम् नास्ति, तत्कथमस्य शक्त्यन्तरयोगित्वं स्यात् ? इत्याशङ्क्याह तत्र इत्यादि, तु-शब्दः चार्थे ॥ १५६–१५७ ॥

ननु

'पत्युर्धर्माः शक्तयः स्युः.................... ।'

इत्याद्युक्त्या साक्षात्पत्युर्धर्मितया शक्तीनां च धर्मतया निरूपणं कृतम् इति धर्मिणश्च अनिरूपणात् इत्यसिद्धोऽयं हेतुः ? इत्याशङ्क्याह

परमेश्वरशास्त्रे हि न च काणाददृष्टिवत् ।
शक्तीनां धर्मरूपाणामाश्रयः कोऽपि कथ्यते ॥१५८॥

यथा खलु काणादाः

'आत्मत्वाभिसंबन्धादात्मा ।'

इत्यादिना धर्मिरूपमात्मानं निरूप्य,

'तस्य गुणा बुद्धिसुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नधर्माधर्म-
संस्कारसंख्यापरिमाणपृथक्त्वसंयोगविभागाः ।'

इत्यादिना तत्समवेतम् आगमापायि भिन्नं धर्मजातम् अभ्युपागमन्, नैवमिह शक्तितद्वतोर्धर्मधर्मिभावः कश्चिद् अभिधीयते। पर एव हि स्वतन्त्रो बोधस्तत्तदुपाधिवशाद् ततच्छक्तिरूपतया व्यपदिश्यते इति न वस्तुतः कश्चित् शक्तितद्वतोर्भेदः, यदुक्तं प्राक्

'मातृक्लृप्ते हि भावस्य तत्र तत्र वपुष्यलम् ।
को भेदो वस्तुतो वह्नेर्दग्धृपक्तृत्वयोरिव ॥'

इति ॥ १५८ ॥

ननु यदि काणादादिदर्शनवत् इहापि धर्मधर्मिभावस्य निरूपणं क्रियते, तदा को दोषः स्यात् ? इत्याशङ्क्याह

ततश्च दृक्क्रियेच्छाद्या भिन्नाश्चेच्छक्तयस्तथा ।
एकः शिव इतीयं वाग्वस्तुशून्यैव जायते ॥१५९॥

यदि हि शक्तितद्वतोर्धर्मधर्मिभावन्यायेन वास्तव एव भेदः स्यात्, तदा

'इत्थं नानाविधैः रूपैः स्थावरैः जङ्गमैरपि ।
क्रीडया प्रसृतो नित्यमेक एव शिवः प्रभुः ॥'

इत्यादौ 'एक एव शिव' इति इयमीश्वराद्वयप्रतिज्ञात्मिका वाक् अनेकेषां शक्तितद्वदात्मनाम् अर्थानां संभवाद् वस्तुशून्या-अभिधेयरहिता स्यात्, अद्वयवादखण्डना भवति इति यावत् ॥ १५९ ॥

ननु यदि वस्तुतः संवित्स्वभावः शिव एव एकोऽस्ति, तत्कथमयं चिदादिनानाशक्त्यात्मा व्यवहारोऽन्यथा क्रियते ? इत्याशङ्काम् उपसंहार-भङ्ग्या उपशमयितुमाह

तस्मात्संविद्त्वमेवैतत्स्वातन्त्र्यं यत्तदप्यलम् ।
विविच्यमानं बह्वीषु पर्यवस्यति शक्तिषु ॥१६०॥

एतच्च निर्णीतपूर्वम् इति पुनरिह नायस्तम् । यथोक्तं

'बहुशक्तित्वमप्यस्य तच्छक्त्यैवावियुक्तता ।'

इति ॥ १६० ॥

इह 'आत्मज्ञानमेव मोक्षः' इति ज्ञानमोक्षयोः कार्यकारणभाव एव वस्तुतो नास्ति–इति 'नावश्यं कारणानि कार्यवन्ति भवन्ति' इति न्यायेन ज्ञानिनां सत्यपि ज्ञानाख्ये कारणे कार्यात्मा मोक्षो न स्यात्-इत्यानिष्टापादनात्मायं प्रसङ्गो नाशङ्कनीयः ? इत्याह

यतश्चात्मप्रथा मोक्षस्तन्नेहाशङ्क्यमीदृशम् ।
नावश्यं कारणात्कार्यं तज्ज्ञान्यपि न मुच्यते ॥१६१॥

ज्ञानिनो हि अवश्यभाविनी मुक्तिः इति भावः । अत एव च

'तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते ।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः ॥'

इति । तथा

'.................. ज्ञानी त्वात्मैव मे मतः ।'

इत्यादि गीतम् ॥ १६१ ॥

ननु

'ज्ञानमेव विमोक्षाय .... ।'

इत्यादिना ज्ञानमोक्षयोः कार्यकारणभाव उक्त एव, इति कथं नायं प्रसंगः ? इत्याह

यतो ज्ञानेन मोक्षस्य या हेतुफलतोदिता ।
न सा मुख्या, ततो नायं प्रसंग इति निश्चितम् ॥१६२॥

एतच्च निर्णीतचरम् इति नेह पुनरायस्तम् ॥ १६२ ॥

एतदुपसंहरन्नन्यदवतारयति

एवं ज्ञानस्वभावैव क्रिया स्थूलत्वमात्मनि ।
यतो वहति तेनास्यां चित्रता दृश्यतां किल ॥१६३॥

ज्ञानस्वभावा इति क्रियाया ज्ञानाविनाभावित्वात् । यदुक्तं

'.............................न ज्ञानरहिता क्रिया ।'

इति । स्थूलत्वम् इति अन्तर्ग्राह्यग्रहकात्मना भेदेन उल्लासात् । तेन इति स्थूलतावहनेन हेतुना । चित्रता इति तत्तद्ग्राह्यादिभेदवैचित्र्यात् ॥ १६३ ॥

अत एवाह

क्रियोपायेऽभ्युपायानां ग्राह्यबाह्यविभेदिनाम् ।
भेदोपभेदवैविध्यान्निःसंख्यत्वमत्रान्तरात् ॥१६४॥

ग्राह्याः उच्चाराद्याः । बाह्याः कुण्डमण्डलादयः । उच्चारादयो हि ग्राह्यभूमिगताः बाह्यत्वेन अवसिता अपि चक्षुरादिबाह्येन्द्रियागोचरत्वात् प्रमात्रन्तरासाधारणत्वाच्च न बाह्याः । कुण्डमण्डलादयः पुनर्बाह्येन्द्रियगोचरत्वात् साधारण्याच्च बाह्या सन्तो ग्राह्याः इत्युक्तम् 'ग्राह्यबाह्यविभेदिनाम्' इति । एवं नियतभेदवत्त्वेऽपि एषामेव अवान्तरभेदात् भेदोपभेदनानात्वात् निःसंख्यत्वं बहुप्रकारत्वम् इत्यर्थः । तथाहि–उच्चारस्य प्राणादिभेदात् प्रथमे पञ्च भेदाः, तत्रापि बिन्दुनादादयो बहव उपभेदाः, एवमपि उच्चार्यमाणानां मन्त्राणामानन्त्यम् इत्यसंख्यभेदत्वम् ॥ १६४ ॥

एवं च

'यतो नान्या क्रिया नाम...................... ।'

इत्यादिना उपक्रान्तं क्रियाया ज्ञानात्मकत्वं युक्त्यागमाभ्यां निर्वाहितम् इत्येक एव ज्ञानात्मा मोक्षावाप्तावुपाय इति न उपायनानात्वम्, अत एव तत्फलभूते मोक्षेऽपि न कश्चिद्भेदः इत्याह

अनेन चैतत्प्रध्वस्तं यत्केचन शशङ्किरे ।
उपायभेदान्मोक्षेऽपि भेदः स्यादिति सूरयः ॥१६५॥

यत्केचन सूरय इति शशङ्किरे इति संबन्धः । केचन सूरय इति भेदवादिनः । तत्र हि हेतुफलयोर्वास्तव एव भेदः इति हेतुभेदात् फलभेदोऽपि स्यात् । इह पुनः

'प्रदेशो ब्रह्मणः सार्वरूप्यमनतिक्रान्तश्चाविकल्प्यश्च ।'

इत्यादिनीत्या 'संविदेव सर्वम्' इति को नाम हेतुफलभेदः, काल्पनिकेऽपि हेतुफलयोर्भेदे ज्ञानात्मा एक एव उपायोऽभ्युपगतः इति उपायनानात्वस्यैव अभावात् को नाम फलभूतेऽपि मोक्षे भेदः स्यात् ॥ १६५ ॥

ननु

'तच्च साक्षादुपायेन ………………… ।'

इत्यादिना साक्षात् उपायनानात्वमुक्तम् इति कथं न तद्भेदादुपेयेऽपि भेदः ? इत्याशङ्क्याह

मलतच्छक्तिविध्वंसतिरोभूच्युतिमध्यतः ।
हेतुभेदेऽपि नो भिन्ना घटध्वंसादिवृत्तिवत् ॥१६६॥

यत्र वास्तव एव हेतुफलभावोऽस्ति तत्रापि हेतोः दीक्षादेः भेदेऽपि तत्फलभूतस्य मलतच्छक्तिविध्वंसादेः न कश्चिद्भेदः–कलातत्त्वभुवनादिना भेदेऽपि दीक्षायाः तस्य अविशेषात्, तथा च घटस्य मुद्गरकरभित्तिघटाद्युपायभेदेऽपि अविशिष्ट एव ध्वसतिरोभावादिः । अतश्च अवश्यमेव हेतुभेदात् फलभेदः इति नायमेकान्तः । यत्र पुनः काल्पनिक एव उपायोपेयभावः, तत्र का नाम इयं वार्ता इति भावः । तदेवम् इच्छाज्ञानक्रियात्मकत्वाद् उपायस्य त्रैविध्येऽपि तदुपेयभूतेऽपवर्गे न कश्चित् भेदः इति सिद्धम् ॥ १६६ ॥

न केवलं युक्तित एव एतत्सिद्धं यावदागमतोऽपि इत्याह

तदेतत्त्रिविधत्वं हि शास्त्रे श्रीपूर्वनामनि ।
आदेशि परमेशित्रा समावेशविनिर्णये ॥१६७॥
अकिंचिच्चिन्तकस्यैव गुरुणा प्रतिबोधतः ।

उत्पद्यते य आवेशः शाम्भवोऽसावुदीरितः ॥१६८॥
उच्चाररहितं वस्तु चेतसैव विचिन्तयन् ।
यं समावेशमाप्नोति शाक्तः सोऽत्राभिधीयते ॥१६९॥
उच्चारकरणध्यानवर्णस्थानप्रकल्पनैः ।
यो भवेत्स समावेशः सम्यगाणव उच्यते ॥१७०॥

व्यत्यासपाठे च अयमाशयः-यद् उपायोपेयादिना द्वारद्वारिभावेन शाम्भवोपाये एव प्राधान्येन विश्रान्तिः इति ॥ १६८-१६९-१७० ॥

तदेव क्रमेण व्याचष्टे

अकिंचिच्चिन्तकस्यैति विकल्पानुपयोगिता ।
तया च झटिति ज्ञेयसमापत्तिर्निरूप्यते ॥१७१॥

तया इति विकल्पानुपयोगितया । विकल्पोपयोगे हि तदैव

'यस्य ज्ञेयमयो भावः स्थिरः पूर्णः समन्ततः ।'

इत्यादिदृष्ट्या ज्ञेयस्य अवश्यज्ञातव्यस्य पारमार्थिकस्य चिदात्मनो रूपस्य समापत्तिर्न स्यात्, विकल्पो हि अभ्यासबलात् स्वतुल्यविकल्पान्तराविर्भावकतया विगलदस्फुटत्वादिना यथायथं सातिशयविकल्पजननाक्रमेण अविकल्पात्मकसंवित्तादात्म्यम् अभ्येति । यद्वक्ष्यति

'प्रविविक्षुर्विकल्पस्य कुर्यात्संस्कारमञ्जसा ।'

इत्याद्युपक्रम्य

'संविदभ्येति विमलामविकल्पस्वरूपताम् ।'

इति । अत एव शाक्तोपायादस्य भेदः ॥ १७१ ॥

ननु कथं विकल्पानुपयोगितयैव एतत् स्यात् ? इत्याशङ्कां दर्शयितुमाह

सा कथं भवतीत्याह गुरुणातिगरीयसा ।
ज्ञेयाभिमुखबोधेन द्राक्प्ररूढत्वशालिना ॥१७२॥

प्रतिः आभिमुख्ये, आभिमुख्यं च वस्त्वन्तरापेक्षं, तच्च अत्र औचित्यात् चिन्मात्रम् इत्युक्तं 'ज्ञेयाभिमुखेति' । अतिगरीयस्त्वमेव व्याख्यातुं द्राक्प्ररूढत्वेत्याद्युक्तम्, द्राक् इत्यनेन यथोक्तविकल्पक्रमोपारोहाभावः सूचितः ॥ १७२ ॥

ननु कथमनयोर्भिन्नविभक्तिकयोः सामानाधिकरण्यम् ? इत्याशङ्क्याह

तृतीयार्थे तसिः व्याख्या वा वैयधिकरण्यतः ।

तृतीयार्थे तसि, इति तसि इत्यनुबन्धलोपे प्रयोगः । तृतीयार्थे इति सर्वविभक्त्यन्तात् प्रातिपदिकात् तसयेष्टेः । वा शब्दः पक्षान्तरे । वैयधिकरण्यतः इति गुरुणा कृतो यः प्रतिबोधः ततः इत्यर्थः ॥

आवेशश्चास्वतन्त्रस्य स्वतद्रूपनिमज्जनात् ॥१७३॥

परतद्रूपता शम्भोराद्याच्छक्त्यविभागिनः ।

अस्वतन्त्रस्य जडस्य बुद्ध्यादेर्मितस्य प्रमातुः, स्वम् असाधारणं, तत् संकुचितं यत् रूपं तस्य निमज्जनं–गुणीभावः, तदवलम्ब्य परेण स्वतन्त्रेण बोधेन या तद्रूपता–तादात्म्यं, स आवेशः इति संबन्धः । यदुक्तं

'मुख्यत्वं कर्तृतायास्तु बोधस्य च चिदात्मनः ।

शून्यादौ तद्गुणे ज्ञानं तत्समावेशलक्षणम् ॥'

इति । कुतः पुनरयमागतः ? इत्याह शम्भोः इति । न पुनः शक्तेरणोर्वा । आद्यात् इति–तत एव हि शक्तेरणोश्च प्रभवः इति भावः । अत एव शक्तिरत्र इच्छा, न तु ज्ञानं क्रिया वा–तयोः समावेशान्तरगतत्वेन अभिधास्यमानत्वात् ॥ १७३ ॥

इह पदार्थावगमपुरःसरीकारेण वाक्यार्थावगमः इति पदार्थयोजनानन्तरं वाक्यार्थमपि योजयितुमाह

तेनायमत्र वाक्यार्थो विज्ञेयं प्रोन्मिषत्स्वयम् ॥१७४॥

विनापि निश्चयेन द्राक् मातृदर्पणबिम्बितम् ॥

मातारमधरीकुर्वत् स्वां विभूतिं प्रदर्शयत् ॥१७५॥

आस्ते हृदयनैर्मल्यातिशये तारतम्यतः ॥

विज्ञेय–चिन्मात्राख्यं पारमार्थिकं रूपम्, माता–सकलकरणग्रामप्रसवनिमित्तत्वाद् बुद्धिः, सैव चिच्छायासंक्रान्तिसहिष्णुत्वाद् दर्पणः, तत्र प्रतिबिम्बितं गृहीतात्मग्रहं परिमितं प्रमातारम् अधरीकुर्वत्–बुद्ध्यादौ आत्माभिनिवेशनं गुणीभावमापादयत् । एवं तरतमभावेन अनन्यसाधारणां विभूतिं–बोधात्मताप्रधानतां रचयत्, समनन्तरोक्तयुक्त्या विकल्पोपारोहमन्तरेण अनन्यापेक्षित्वात् झटिति

'सैषा सारतया प्रोक्ता हृदयं परमेष्ठिनः ।'

इत्याद्युक्तेः हृदयं–विमर्शः, तस्य नैर्मल्यम्–अनन्योन्मुखत्वादपरिम्लानत्वं, तस्य अतिशयः–पराकाष्ठा, तत्र स्वयं प्रोन्मिषदास्ते–स्वप्रकाशतया प्रकाशते इत्यर्थः ॥ १७४–१७५ ॥

ननु ज्ञयं तावत् जडाजडात्म द्विधा संभवति, तत्र संविदि जडेन नीलादिनापि आवेशोऽस्ति इति कथं 'बोधात्मैव समावेशः' इत्युक्तम् ? इत्याह

ज्ञेयं द्विधा च चिन्मात्रं जडं चाद्यं च कल्पितम् ॥१७६॥
इतरत्तु तथा सत्यं तद्विभागोऽयमीदृशः ॥
जडेन यः समावेशः सप्रतिच्छन्दकाकृतिः ॥१७७॥
चैतन्येन समावेशस्तादात्म्यं नापरं किल ॥

ननु कथं स्वप्रकाशायाः चितोऽपरप्रकाश्यत्वं ज्ञेयत्वं नाम ? इत्याशङ्क्योक्तम् 'आद्यं च कल्पितम्' इति । चः शङ्काद्योतकः, परमेश्वर एव हि स्वातन्त्र्याद् अपरिहृतवेदकभावमपि स्वात्मानं भावनोपदेशादौ शिव एव सर्वक्रियाणां कर्ता विज्ञेयः इत्यादि परामर्शैः अहंप्रतीतिम् अन्तरीकृत्य वेद्यतया प्रतिपादयति । इदमेव हि परं स्वातन्त्र्यं–यत् स्वं स्वरूपम् वेदकमेव सत् वेद्यत्वेन अवभासयति । अत एव कल्पितं वस्तुशून्यम् इत्युक्तम् । इतरत् इति जडं नीलादि । तथा इति ज्ञेयतया । तत्र नीलज्ञानम् इत्यादौ चितो नीलादिना दर्पणमुखन्यायेन प्रतिबिम्बनमात्रमेव समावेशार्थो न तु तादात्म्यं, तथात्वे हि नीलादेर्ज्ञानात्मीभूतत्वात् ज्ञानमेव अवशिष्यते इति प्रतिच्छन्दव्यवस्थैव न स्यात् । संकुचितायाः चितः पुनरसंकुचितया चितैकात्म्यमेव तस्या एव वस्तुतो भावात्, तेन बोधैकात्म्यमेव समावेशार्थः इति युक्तमुक्तम् अस्वतन्त्रस्य परतद्रूपता नामावेशः इति ॥ १७६–१७७ ॥

तदेवोपसंहरति

तेनाविकल्पा संवित्तिर्भावनाद्यनपेक्षिणी ॥१७८॥
शिवतादात्म्यमापन्ना समावेशोऽत्र शांभवः ।

संवित्तिः अर्थात् संकुचितरूपा ॥ १७८ ॥

ननु अत्र उत्पत्तौ विकल्पापेक्षित्वं मा भूत् तथात्वे हि शाक्तोपाया-दस्य भेदो न स्यात्, औत्तरकालिकाः पुनर्विकल्पाः किमत्र अपेक्ष्यन्ते न वा ? इत्याशङ्क्याह

तत्प्रसादात्पुनः पश्चाद्भाविनोऽत्र विनिश्चयाः ॥१७९॥
सन्तु तादात्म्यमापन्ना न तु तेषामुपायता ।

तच्छब्देन निर्विकल्पकपरामर्शः । अविकल्पकयैव संवित्त्या शिवात्मताधिगमः कृतः इति कृतस्य करणायोगात् तत्पृष्ठभाविनां विकल्पानां तत्र अकिंचित्करत्वम् इत्याह न तु 'तेषामुपायता' इति ॥ १७९ ॥

अत एव च अविकल्पस्य विकल्पापेक्षं प्रामाण्यं वदन्तो निरस्ताः इत्याह

विकल्पापेक्षया मानमविकल्पमिति ब्रुवन् ॥१८०॥
प्रत्युक्त एव सिद्धं हि विकल्पेनानुगम्यते ।

अनधिगतार्थविषयं खलु प्रमाणम् । यदाहुः

'अनधिगतविषयं प्रमाणम् अज्ञातार्थप्रकाशो वा ।'

इति । निर्विकल्पकगृहीतमेव वस्तु च तत्पृष्ठभावी विकल्पः परिच्छिनत्ति इति, तस्य गृहीतग्राहकत्वात् स्वात्मन्येव प्रामाण्यं नास्ति—इति कथमन्यस्यापि प्रामाण्ये निमित्ततां यायात् । अत आह 'सिद्धं हि विकल्पेनानुगम्यते' इति । सिद्धम् इति अधिगतम् । अनुगम्यते इति अनु पश्चात् गम्यते अधिगम्यते इत्यर्थः ॥ १८० ॥

ननु प्रवर्ततां नाम गृहीतेऽर्थे विकल्पः, तत्र पुनरध्यवसायात्मकत्वादस्य ग्राहकत्वं न युज्यते इति 'गृहीतं गृह्णामि' इति प्रतिपत्तिरस्य कथं स्यात् ? इत्याशङ्क्याह

गृहीतमिति सुस्पष्टा निश्चयस्य यतः प्रथा ॥१८१॥
गृह्णामीत्यविकल्पैक्यबलात्तु प्रतिपद्यते ।

गृहीतमिति प्रथा हि विकल्पस्य भावादौपपत्तिकी—गृहीत एवार्थे अस्य प्रवृत्तेः, यत्तु गृह्णामि इति प्रतिपद्यते तत् दृश्यविकल्प्यार्थैकीकारादिना निर्विकल्पकैकात्म्यावलम्बनबलात् इति युक्तमुक्तं 'विकल्पेन गृहीतं गृह्यते, इति ॥ १८१ ॥

ननु ज्ञानं खलु ज्ञापकं न तु कारकम् इति, तेन वस्तुनो ज्ञप्तिः स्यात् न तु सिद्धिः इति कथमुक्तं 'सिद्धं विकल्पेनानुगम्यते' ? इत्याशङ्क्याह

अविकल्पात्मसंवित्तौ या स्फुरत्तैव वस्तुनः ॥१८२॥
सा सिद्धिर्न विकल्पात्तु वस्त्वपेक्षाविवर्जितात् ।

आभासवादे हि आभासमानतैव सिद्धिः इत्युक्तं स्फुरत्तैव वस्तुनः सिद्धिः। ननु विकल्पानामपि स्वात्मनि अविकल्पकत्वात् स्फुरद्रूपता अस्ति इति किमिति न ततोऽपि वस्तुनः सिद्धिः स्यात् ? इत्याशङ्क्याह 'न विकल्पात्' इति, 'सर्वो विकल्पः स्मृतिः' इति नीत्या विकल्पानां तावत् स्मृतिरेव रूपं, सा च असंनिहिते पूर्वानुभूत एव अर्थे प्रवर्तते इति विकल्पानां वस्त्वनपेक्षित्वं, यद्यपि च स्वतन्त्रविकल्पादौ क्षेत्रज्ञनिर्मितानां योजनास्ति तथापि पूर्वानुभवसंस्कारजा एव तेऽर्थाः इत्युक्तं 'वस्त्वपेक्षाविवर्जितात्' इति । यस्य च यदपेक्षा नास्ति स कथं तत्सिद्धौ निमित्ततां यायात् इति भावः ॥ १८२ ॥

यद्येवं निर्विकल्पकसिद्ध एव अर्थे विकल्पः प्रवर्तते न अधिकं किंचित्करोति तत्किमिति तेन स क्वचिदपेक्ष्यते इत्याह

केवलं संविदः सोऽयं नैर्मल्येतरविभ्रमः ॥१८३॥
यद्विकल्पानपेक्षत्वसापेक्षत्वे निजात्मनि ॥

एवं संविदः सर्ववादिसिद्धं व्यवहारादौ विकल्पसापेक्षत्वं परिहृत्य विकल्पानपेक्षत्वमेव स्फुटीकर्तुमुदाहरति

निशीथेऽपि मणिज्ञानी विद्युत्कालप्रदर्शितान् ॥१८४॥
तांस्तान्विशेषांश्चिनुते रत्नानां भूयसामपि ॥

वैकटिको हि अचिरस्थायिनि परिमितेऽपि आलोके भूयसामपि रत्नानाम् अतिसूक्ष्मान् परस्परविशेषान् अवसायं विनापि अनुभवातिशयादेव जानीते, येन 'इदमल्पम्, इदं महत्,' इदमितोऽपि महद्रत्नम्' इत्यस्य विवेकः स्यात् ॥ १८४ ॥

किं चात्र अनुभवातिशये निमित्तं, येन विकल्पनैरपेक्ष्येणापि वस्तुनः सिद्धिः स्यात् ? इत्याह

नैर्मल्यं संविदश्चेदं पूर्वाभ्यासवशादथो ॥१८५॥

अनियन्त्रेश्वरेच्छात इत्येतच्चर्चयिष्यते ।

पूर्वाभ्यासो जन्मान्तरीयः इति, अत एव चर्चयिष्यते त्रयोदशाह्निकादौ ॥ १८५ ॥

न केवलमस्य आवेशस्य त्रैविध्यमेव अस्ति, यावदवान्तरप्रकारत्वमपि इत्याह

पञ्चाशद्विधता चास्य समावेशस्य वर्णिता ॥१८६॥
तत्त्वषट्त्रिंशकैतत्स्थस्फुटभेदाभिसन्धितः ।

वर्णिता इति श्रीपूर्वशास्त्रे । यदुक्तं तत्र

'रुद्रशक्तिसमावेशः पञ्चधा ननु चर्च्यते ।
भूततत्त्वात्ममन्त्रेशशक्तिभेदाद्वरानने ॥
पञ्चधा भूतसंज्ञोऽत्र त्रिशद्धा तु तथापरः ।
आत्माख्यस्त्रिविधः प्रोक्तो दशधा मन्त्रसंज्ञकः ॥
द्विविधः शक्तिसंज्ञोऽपि ज्ञातव्यः परमार्थतः ।
पञ्चाशद्भेदभिन्नोऽयं समावेशः प्रकीर्तितः ॥'

इति । अत्र च हेतुः—तत्त्व इति । तत्त्वषट्त्रिंशकं च एतत्स्थानि तत्त्वषट्त्रिंशन्मध्यपतितानि पुमादीनि पृथग्व्याख्यास्यमानानि तत्त्वानि च, तेषां यो वक्ष्यमाणप्रकारः स्फुटा भेदः तस्य अनुसन्धानम् ॥ १८६ ॥

तमेव भेदं निरूपयति

एतत्तत्त्वान्तरे यत्पुंविद्याशक्त्यात्मकं त्रयम् ॥१८७॥
अम्भोधिकाष्ठाज्वलनसंख्यैर्भेदैर्यतः क्रमात् ।

तद्भिन्नम् इत्यध्याहारः, अतस्तत्र पुमान्

'आत्मा चतुर्विधो ह्येषः ।'

इत्याद्युक्त्या अम्भोधिभिः—सकलप्रलयाकलविज्ञानाकलशुद्धलक्षणैः चतुर्भिः भेदैर्भिन्नः, तथा विद्या काष्ठाभिः—वर्णबिन्द्वर्धचन्द्रनिरोधिनीनादनादान्तशक्तिव्यापिनीसमनोन्मनात्मभिर्दशभिः भेदैर्भिन्ना, तथा शक्तिः ज्वलनैः—इच्छाज्ञानक्रियात्मभिः त्रिभिर्भेदैः ॥ १८७ ॥

ननु किमिति इदमेव तत्त्वत्रयं भेदेन निर्दिष्टम् ? इत्याशङ्क्याह

पुंविद्याशक्तिसंज्ञं यत्तत्सर्वव्यापकं यतः ॥१८८॥
अव्यापकेभ्यस्तेनेदं भेदेन गणितं किल ।

अव्यापकेभ्यः इति व्याप्येभ्यस्तत्त्वान्तरेभ्यः इत्यर्थः। मायान्तं हि आत्मतत्त्वस्य, सदाशिवान्तं विद्यातत्त्वस्य, शिवान्तं च शक्तितत्त्वस्य व्याप्तिः। यदुक्तं

'माया-सदाशिव-शिवप्रान्तव्याप्त्री ननु क्रमात्।'

इति ॥ १८८ ॥

न केवलमेतत् तत्त्वान्तरेभ्यो भिद्यते, यावदन्योन्यमपि इत्याह

अशुद्धिशुद्ध्यमानत्वशुद्धितस्तु मिथोऽपि तत् ॥१८९॥

पुमान् अशुद्धो—भेदमयत्वात्, विद्या शुद्ध्यमाना—भेदाभेदमयत्वात्, शुद्धा शक्तिः—अभेदमयत्वात् ॥ १८९ ॥

ननु अस्तु एवं, भूतानां पुनः पृथक् निर्देशे किंनिमित्तम्? इत्याशङ्क्याह

भूतान्यध्यक्षसिद्धानि कार्यहेत्वनुमेयतः ।
तत्त्ववर्गात्पृथग्भूतसमाख्यान्यत एव हि ॥१९०॥

भूतानि तावत् प्रत्यक्षसिद्धानि इति, तदेव एषां तत्त्वान्तरेभ्यो भेदेन उपादाने निमित्तं, तानि हि नित्यानुमेयान्येव, तदाह 'कार्यहेत्वनुमेयतः तत्त्ववर्गात्' इति। तथा चात्र भूतानि कारणपूर्वकाणि आचैतन्ये सति अनेकसंख्यायोगित्वात् घटादिवत् इत्यनुमानम्। यच्चैषां कारणं तानि

'तन्मात्रेभ्यश्च भूतानि .... ।'

इत्याद्युक्तेः तन्मात्राणि इति, स्वकार्येभ्यो भूतेभ्य एषाम् अनुमेयत्वम्। एवम् अनेनैव अनुमानेन मायान्तः सकलतत्त्ववर्गोऽनुमातव्यः। एतच्च तत्त्वाध्वनि भविष्यति इति नेहायस्तम्। अत एव इति प्रत्यक्षसिद्धत्वात् ॥ १९० ॥

ननु भूतानां प्रत्यक्षसिद्धत्वम् अनुमेयात् तत्त्ववर्गात् पृथक्त्वेऽस्तु निमित्तं, कथं पुनर्भूतत्वेऽपि तदेव? इत्याशङ्क्याह

सर्वप्रतीतिसद्भावगोचरं भूतमेव हि ।

विदुश्चतुष्टये चात्र सावकाशे तदास्थितिम् ॥१९१॥

सर्वेषां विदुषामविदुषां वा प्रतीतौ सता पारमार्थिकेन सत्ताया गोचरमेव हि भूतम् उच्यते। भूतं हि सत्यं, तच्च सत्यं, यत्र न कदाचिदपि कस्यचिदपि विप्रतिपत्तिः, अनुमेये पुनरविदुषां तावत् प्रतीतिर्नास्त्येव, विदुषां च प्रतीतावपि बहुप्रकारं परस्परं विप्रतिपत्तिः इति तत्र असत्यत्व-[संभावनापि भवेत् इति भावः। चो हेतौ, अतश्च सर्व एवात्र अवकाशः तद्दातृत्वादाकाशः, तत्सहिते वाय्वन्ते चतुष्टये पृथिव्यादिभूतपञ्चके सर्वंप्रत तिसद्भावगोचरत्वात् तस्य भूतत्वस्य आस्थितिम् अवस्थानं विदुः इति युक्तमुक्तं 'भूतसमाख्यान्यत एव' इति। एवं भौत आवेशः पञ्चधा, आत्मावशश्च त्रिधा। एकोऽपि पुंस्तत्त्वरूप आत्मभेदः तत्त्वमध्येऽवस्थाप्यः, अन्यथा हि तात्त्व आवेशः त्रिंशद्धा न स्यात्। विद्यायाश्च समनन्तरोक्तेन सामान्यात्मना मान्त्रेण रूपेण दशधावेशः। विशिष्टेन तु मन्त्र-मन्त्रेश-मन्त्रमहेशात्मना रूपेण अस्यास्तत्त्वमध्ये परिगणनम्। एवं शक्तेरपि एकं भेदं तत्त्वमध्ये व्यवस्थाप्य तदीय आवेशो द्विधा। शिवस्तु समावेश्य एव इति न तत्रावेशोऽस्ति—तस्य परमाद्वयस्वभावत्वात्, तदपेक्षया समावेश्यसमावेशकलक्षणभेदानुपपत्तेः तद्युक्तमुक्तम् 'अस्य समावेशस्य पञ्चाशद्विधत्वम्' इति ॥१९१॥

ननु श्रीपूर्वशास्त्रे रुद्रशक्तिसमावेशस्य पञ्चधात्वचर्चनं प्रतिज्ञाय भूतादीनां स्वरूपनिरूपणं कृतम्? इत्याह।

रुद्रशक्तिसमावेशः पञ्चधा ननु चर्च्यते।
कोऽवकाशो भवेत्तत्र भौतावेशादिवर्णने ॥१९२॥
प्रसंगादेतदितिचेत्समाधिः संभवन्नयम्।
नास्माकं मानसावर्जी लोको भिन्नरुचिर्यतः ॥१९३॥

कोऽवकाश इति—भौतावेशादीनाम् अप्रस्तुतत्वात्, इदमेव हि तदप्रस्तुताभिधानं यदन्यदुपक्रम्य अन्यदभिधीयते इत्यतश्चोदितं 'कोऽवकाशो भौतावेशादिवर्णने' इति। अथ रुद्रशक्तिसमावेशवर्णने प्रतिज्ञातेऽपि प्रसंगादेतदुक्तम्, इति पुनस्तदप्ययुक्तम् इत्याह 'प्रसंगादेतत्' इति। निर्णीतप्राये प्रक्रान्तेऽर्थे यत्किंचिदनुषक्तत्वेन अप्रकृतम् अभिधीयते तत्रायं समाधिः 'प्रसंगादेतदुक्तम्' इति। इह तु उद्दिष्टेऽपि प्रकृते लक्षणपरीक्षादि अनुक्त्वैव

भूतावेशादीनाम् आकस्मिकमेव अभिधानं कृतम् इति को नामायं प्रसंगः। एवं हि अप्राकरणिकानां प्रमेयाणामानन्त्यात् अनन्तान्तरङ्गप्रमेयप्रतिपादनप्रसंगः स्यात् ? इत्युक्तं 'नास्माकं मानसावर्जी' इति ॥१९२॥१९३॥

यद्येवं तर्हि किं प्रतिपत्तव्यम् ? इत्याह

उच्यते द्वैतशास्त्रेषु परमेशाद्विभेदिता।
भूतादीनां यथा सात्र न तथा द्वयवर्जिते ॥१९४॥

अत्र इति अद्वयशास्त्रे श्रीश्रीपूर्वे। सा इति विभिन्नता। तन्निषेधे तु द्वयवर्जितत्वं हेतुः ॥१९४॥

ततश्च किं स्यात् ? इत्याशङ्क्याह

यावान्षट्त्रिंशकः सोऽयं यदन्यदपि किंचन।
एतावती महादेवी रुद्रशक्तिरनर्गला ॥१९५॥

अन्यत् इति—तद्भेदा एव भुवनाद्याः। अनर्गला इति—व्यापकत्वादप्रतिहता इत्यर्थः। यदुक्तं

'त्वच्छक्तिचक्रात्मकमेव विश्वं ग्राह्यग्रहीतृग्रहणात्मनैतत्।
अन्तादिमध्येषु सदा विभाति नात्यन्तभिन्नं भवतोऽस्ति किंचित् ॥'

इति ॥१९५॥

एतच्च तत्रत्येनैव अर्थेन संवादयति

तत एव द्वितीयेऽस्मिन्नधिकारे न्यरूप्यत।
धरादेर्विश्वरूपत्वं पाञ्चदश्यादिभेदतः ॥१९६॥

तत एव इति—रुद्रशक्तेरेव तावत्स्फाररूपत्वात्। अस्मिन् इति—श्रीपूर्वशास्त्रे। यदुक्तं तत्रैव

'शक्तिमच्छक्तिभेदेन धरातत्त्वं विभिद्यते।
स्वरूपसहितं तच्च विज्ञेयं दशपञ्चधा ॥'

इत्यादि

'.....................शिवः साक्षान्न भिद्यते।'

इत्यन्तम्। एतच्च तत्त्वभेदने भविष्यति, इति ग्रन्थविस्तरभयात् नेह आयस्तम् ॥१९६॥

ननु यद्येवं तर्हि रुद्रशक्तावेवं-समावेशोऽभिधीयतां किं भूताद्यावेशेन इति स एव दोषः ? इत्याशङ्कां गर्भीकृत्य, एतदेव उपसंहारभङ्ग्या दृष्टान्तं दर्शयन् उपपादयति

तस्माद्यथा पुरस्थेऽर्थे गुणाद्यंशांशिकामुखात् ।
निरंशभावसंबोधस्तथैवात्रापि बुध्यताम् ॥१९७॥

तथा संनिहिते घटादौ अर्थे लौहित्याद्यंशाभासद्वारेण अनेकसामान्याभाससंमेलनात्मनो निरंशस्य अखण्डस्य अर्थस्य सम्यक् स्वालक्षण्येन बोधो भवेत् तथैव अत्रापि भूताद्यंशमुखेन निखिलरुद्रशक्त्यवभासः इत्यधिगन्तव्यम् ॥१९७॥

एवमपि किं स्यात् ? इत्याशङ्क्याह

अत एवाविकल्पत्वध्रौव्यप्राभववैभवैः ।
अन्यैर्वा शक्तिरूपत्वाद्धर्मैः स्वसमवायिभिः ॥१९८॥
सर्वशोऽप्यथ वांशेन तं विभुं परमेश्वरम् ।
उपासते विकल्पौघसंस्काराद्ये श्रुतोत्थितात् ॥१९९॥
ते तत्तत्स्वविकल्पान्तःस्फुरद्धर्मपाटवात् ।
धर्मिणं पूर्णधर्मौघमभेदेनाधिशेरते ॥२००॥

अत एव इति—धर्ममात्रावगममुखेन धर्मिण्यवगमात्। ध्रुवस्य भावो ध्रौव्यं—नित्यत्वम्। अन्यैः इति—पूर्णत्वादिभिः, स्वसमवायिभिः इति—शक्तिरूपत्वादभिन्नैरित्यर्थः। ये केचन श्रुतचिन्ताद्युत्थिततत्तन्नियतधर्मविषयस्य विकल्पौघस्य संस्कारम् अवलम्ब्य परमेश्वरं समनन्तरोद्दिष्टाभिः सर्वाभिरेव शक्तिभिः एकयैव वा शक्त्या समाविशन्ति, ते समाविष्टाः सन्तः, ते ते ये विकल्पाः तेषाम् अन्तः स्वाकारतया स्फुरन्तः, ते नियता अनियता वा धर्माः शक्तयः, तेषां पाटवं प्रबोधः, तदाश्रित्य पूर्णधर्मौघम् अनन्तशक्तिखचितत्वेन पूर्णस्वभावं धर्मिणं शक्तिमन्तं परमेश्वरम् अभेदेन अधिशेरते—तद्रूपतया स्फुरन्ति इत्यर्थः ॥१९८॥१९९॥२००॥

ननु एकस्यापि नानाविधधर्मयोगिनोऽर्थस्य आखण्ड्येनैव प्रतीतिगोचरीभावः संभवति न तु इतरथा इति किमेतदुक्तम् ? इत्याशङ्काशान्त्यर्थम् एतदेव संवादयति

ऊचिवानत एव श्रीविद्याधिपतिरादरात् ।

तदेव पठति

त्वत्स्वरूपमविकल्पमक्षजा कल्पने न विषयीकरोति चेत् ।
अन्तरुल्लिखितचित्रसंविदो नो भवेयुरनुभूतयः स्फुटाः ।२०१।

यदि नाम ऐन्द्रियिको निर्विकल्पप्रतीतिः अविकल्पम्—अविभागमपि त्वत्स्वरूपं, कल्पने नियततत्तद्धर्मविषयत्वेन भेदनमवलम्ब्य न विषयीकुर्यात् तत् स्फुटा—नियतैकतरधर्मविभासमुखेन धर्मिस्वरूपावभासमय्यः, अन्तः—अस्फुटाकारत्वेन, उल्लिखिताः चित्राः—अवान्तरनानाधर्मविषयाः संविदो यासां ताः, एवंविधाः अनुभूतयः—अनुभवा, नो भवेयुः न उत्पद्येरन् इत्यर्थः। यदि हि सर्वधर्माक्रान्त्या धर्मिणि सर्वे अनुभवाः स्युः तत् परिव्राडित्यादौ एकैकस्यापि तिस्रः कल्पना भवेयुः, तेन स्वेच्छावशात्, अर्थित्वानुरोधाद्वा, नैपुण्याद्वा प्रतिप्रमातृनियतधर्मावभासमुखेनैव धर्मिण्यवभासो भवेत् न तु इतरथा इति युक्तम्—एकतरशक्त्यवभासमुखेन अनन्तशक्तावपि परमेश्वरेऽवभासः इति ॥२०१॥

एतच्च न केवलं युक्त्या सिद्धं यावदागमेनापि इत्याह

तदुक्तं श्रीमतङ्गादौ स्वशक्तिकिरणात्मकम् ।
अथ पत्युरधिष्ठानमित्याद्युक्तं विशेषणैः ॥२०२॥
तस्यां दिवि सुदीप्तात्मा निष्कम्पोऽचलमूर्तिमान् ।
काष्ठा सैव परा सूक्ष्मा सर्वदिक्कामृतात्मिका ॥२०३॥
प्रध्वस्तावरणा शान्ता वस्तुमात्रातिलालसा ।
आद्यन्तोपरता साध्वी मूर्तित्वेनोपचर्यते ॥२०४॥

स्वशक्तिकिरणात्मकं यद्वस्तु तत् 'पत्युरधिष्ठानम्' इत्यादिभिः विशेषणैः अर्थात् विशिष्टमुक्तम् इति सम्बन्धः। 'अथ पत्युरधिष्ठानं स्वशक्तिकिरणात्मकम्।' इत्येवं-पाठ ऐशः, ग्रन्थकृता पुनरेव विध्यनुवादभावदर्शनार्थम् अन्यथा पाठः कृतः, तान्येव विशेषणानि दर्शयितुं 'तस्याम्' इत्यादि 'उपचर्यते' इत्यन्तमागमः पठितः, स्वा अनन्यसाधारणा याः शक्तयः ता एव अभिन्नत्वप्रकाशत्वानन्त्यादिना किरणा रश्मयः तदात्मकं, पत्युः—

शक्तिमतः, अधिष्ठानम्—अभिव्यक्तिस्थानम् इत्यर्थः। शक्तिरेव तज्ज्ञप्तावुपायः, यदुक्तं

'यथालोकेन दीपस्य किरणैर्भास्करस्य वा।
ज्ञायते दिग्विभागादि तद्वच्छक्त्या शिवः प्रिये ॥'

इति। अत एव तस्यां शक्तौ, दिवि द्योतमानायां, सोऽपि सुष्ठु दीप्तात्मा—महाप्रकाशवपुः, अत एव निष्कम्पः—स्वस्मिन्नेव रूपे अवस्थितः, तस्य हि प्रकाशात्मनः स्वरूपात्प्रच्यावे सर्वमिदम् अन्ध स्यात्, अत एव च अचलया—महाप्रकाशमय्या प्रशस्यया मूर्त्या युक्तः, यतश्च तस्यामेवं-विधायाम् अयमेवंविधः, ततः सैव परा काष्ठा लोकोत्तरा विश्रान्तिभूः, अत एव सूक्ष्मा परिच्छेत्तुमशक्या—परप्रमात्रेकरूपत्वात्, अत एव वस्तुमात्रे पारमार्थिके रूपे अतिशयेन लालसा—तत्स्फुरत्तात्मिका इति यावत्। एवं च प्रकर्षेण निःसंस्कारतया ध्वस्तानि बाह्यावरणानि यया सा प्रशान्तभेदा इत्यर्थः, अत एव शान्ता चिन्मात्ररूपा इत्यर्थः। एवमपि सर्वदिक्षु भवा स्थावरजङ्गमात्मकजगद्रूपत्वात् चित्रस्वभावा इति यावत्, तदपि अमृतात्मिका नित्या, अत एव आद्यन्तोपरता, अनित्ये हि आद्यन्तौ भवतः, अत एव साध्वी—अनित्यत्वादिदोषकालुष्यरहिता इत्यर्थः, एवं-विधा च एषा शक्तिमतः परमेश्वरस्य मूर्तित्वेन उपचर्यते—गौण्या वृत्त्या तद्रूपतया अभिधीयत इत्यर्थः ॥२०२॥२०३॥२०४॥

ननु उपचारे मुख्यार्थबाधादिना त्रितयेन अवश्यभाव्यं, तच्चात्र किमस्ति न वा ? इत्याशङ्क्याह

तथोपचारस्यात्रैतन्निमित्तं सप्रयोजनम्।

निमित्तम् इति कारणम्, तद्वशादेव हि उपचारो भवेत् इति भावः। तत्र शक्तेः शक्तिमद्रूपत्वाभिधाने बाधितस्तावत् मुख्योऽर्थः, संबन्धश्च तयोरुपायोपेयभावः ॥

तदाह

तन्मुखा स्फुटता धर्मिण्याशु तन्मयतास्थितिः ॥२०५॥
त एव धर्माः शक्त्याख्यास्तैस्तैरुचितरूपकैः ॥
आकारैः पर्युपास्यन्ते तन्मयीभावसिद्धये ॥२०६॥

सा शक्तिः मुखम् उपायो यस्याः, स्फुटता नाम किमुच्यते इत्युक्तम् 'आशु तन्मयतास्थितिः' इति, आसादितायां शक्तावासादित एव शिवः इत्याशयः । एतदेव च मुख्यं प्रयोजनम् ॥२०६॥

अत एवाह

तत्र काचित्पुनः शक्तिरनन्ता वा मिताश्च वा ।
आक्षिपेद्धवतासत्त्वन्यायाद्दूरान्तिकत्वतः ॥२०७॥

अनन्ता मिताश्च इत्यर्थाच्छक्तीः । धवतासत्त्वन्यायात् इति—धवता हि अधवव्यावृत्ताः स्वव्यक्तीरेव आक्षिपति इत्यस्याः परिमितवस्त्वाक्षेपित्वम्,, सत्त्वं पुनर्धवाधवात्मनि सर्वत्रैव अस्ति इत्यस्यानन्तवस्त्वाक्षेपित्वम् अत एव च मितवस्त्वाक्षेपिण्यो दूरा—अव्यापकत्वेन सर्वत्र असन्निहितत्वात्, अनन्तवस्त्वाक्षेपिण्यस्तु आसन्ना—व्यापकत्वात् सर्वत्रैव संनिहितत्वात् ॥२०७॥

एतदेव प्रकृते योजयति

तेन पूर्णस्वभावत्वं प्रकाशत्वं चिदात्मता ।
भैरवत्वं विश्वशक्तीराक्षिपेद्व्यापकत्वतः ॥२०८॥
सदाशिवादयस्तूर्ध्वव्याप्त्यभावादधोजुषः ।
शक्तीः समाक्षिपेयुस्तदुपासान्तिकदूरतः ॥२०९॥

अधोजुषः इति—ईश्वरादिकाः शक्तीः, तदिति पूर्णस्वभावत्वसदाशिवत्वादेः व्यापकत्वाव्यापकत्वस्वभावत्वाद्धेतोः । पूर्णस्वभावे हि रूपे उपासन्नाः पूर्णमेव भुक्तिमुक्तिलक्षणं फलम् आसादयन्ति, अपूर्णस्वभावे पुनरपूर्णत्वमेव इत्युक्तम् 'उपासान्तिकदूरत' इति । अत एव च दर्शनभेदः ॥२०८॥२०९॥

ननु विकल्प एव तत्कल्पनाबलान्नियतः सामान्यात्मा धर्मोऽवभासते इति तत्र तन्मुखेन धर्मिणि अवभासो भवेत् इत्ययं क्रमः शाक्तोपाये स्यात् न तु अखण्डवस्त्ववभासात्मनि निर्विकल्पकस्वभावे शाम्भवे इति कथमिहैतदुक्तम् ? इत्याशङ्क्याह

इत्थंभावे च शाक्ताख्यो वैकल्पिकपथक्रमः ।

इह तूक्तो यतस्तस्मात् प्रतियोग्यविकल्पकम् ॥२१०॥

इह इति शाम्भवावसरे, तस्मात् इति विकल्पात्, प्रतिपक्षे हि निरूपिते सुष्ठु पक्षनिरूपणं कृतं स्यात् इति—नैतदप्रस्तुतं किंचिदभिहितमिति भावः। विकल्पे हि क्रमेण अखण्डवस्त्ववभासो भवति अविकल्पे पुनरक्रमेण इति—प्राप्ताविकल्पस्थितिर्यत्र कुत्रचिदवधत्ते तत्रास्य तदैव शिवतापत्तिः स्यात् ॥२१०॥

तदाह

अविकल्पपथारूढो येन येन पथा विशेत् ।
धरासदाशिवान्तेन तेन तेन शिवीभवेत् ॥२११॥

एतदेव उदाहरति

निर्मले हृदये प्राग्र्यस्फुरद्भूम्यंशभासिनि ।
प्रकाशे तन्मुखेनैव संवित्परशिवात्मता ॥२१२॥

इह खलु निर्मले हृदये पूर्णाहंविमर्शात्मनि, अत एव प्राग्र्यम्—आखण्डयेन प्रकृष्टं कृत्वा, स्फुरद्भूमिलक्षणः तत्त्वान्तरापेक्षया अंशः—षट्त्रिंशो भागः, तदाभासात्मनि प्रकाशे तद्भूम्यंशात्मनैव उपायेन संवित्परशिवात्मता—तदावेशः स्यादित्यर्थः ॥२१२॥

एतदेव उपसंहरति

एवं परेच्छाशक्त्यंशसदुपायमिमं विदुः ।
शाम्भवाख्यं समावेशं सुमत्यन्तेनिवासिनः ॥२१३॥

परा भट्टारिकारूपा च असौ इच्छाशक्तिः, तदात्मकश्च असौ अंशः

'………… …………परं त्विच्छात्मकं मतम् ।'

इत्याद्युक्तेः शाक्ताद्यपेक्षया साक्षादुपायत्वात् सश्चासौ उपायः तं, सुमत्यन्तेनिवासिनः इति—श्रीसोमदेवादयः। श्रीसुमतिनाथस्य श्रीसोमदेवः शिष्यः, तस्य श्रीशम्भुनाथः इति हि आयातिक्रमविदः। यद्वक्ष्यति

'श्रीसोमतः सकलवित्किल शम्भुनाथः………… ॥'

इति। यत्तु

'कश्चिद्दक्षिणभूमिपीठवसतिः श्रीमान्विभुर्भैरवः
पञ्चस्रोतसि सातिमार्गविभवे शास्त्रे विधाता च यः ।
लोकेऽभूत्सुमतिस्ततः समुदभूत्तस्यैव शिष्याग्रणीः
श्रीमाञ्छम्भुरिति प्रसिद्धिमगमज्जालन्धरात्पीठतः ॥'

इत्यन्यत्रोक्तं, तत्परमगुर्वभिप्रायेणैव योज्यम् । यद्वा

'यावानस्य हि सन्तानस्तावानेको गुरुर्मतः ।'

इत्यादिवक्ष्यमाणनीत्यवलम्बनेन एतद्व्याख्येयम् । एवं

'इति श्रीसुमतिप्रज्ञाचन्द्रिकापास्ततामसः ।
श्रीशम्भुनाथः सद्भावं जाग्रदादौ न्यरूपयत् ॥'

इत्यादावपि ज्ञेयम् ॥२१३॥

इदानीं शाम्भवमुपायं प्रतिपाद्य, शाक्तमप्याह

शाक्तोऽथ भण्यते चेतोधीमनोहंकृति स्फुटम् ।
सविकल्पतया मायामयमिच्छादि वस्तुतः ॥२१४॥

एतच्चात्र न मनोमात्रम् इत्याह धीमनोऽहंकृति इति । अत एव स्फुटं—साक्षादभिव्यक्तस्वरूपम् इत्यर्थः । ततश्च

'सर्वो विकल्पः संसारः.................. ।'

इत्यादिनीत्या भेदप्रथारूपम् इत्युक्तं—'सविकल्पतया मायामयम्' इति । एवमपि परमार्थतो यथायोगम् एतदिच्छाज्ञानक्रियात्मकम् इत्युक्तम् 'इच्छादिवस्तुतः' इति । यथा खलु पतिरिच्छाद्याभिः शक्तिभिर्विश्वं निर्मिमीते तथैव विकल्पाद्यपि बुद्ध्याद्यन्तःकरणत्रयेण पशुरित्याशयः, विकल्पादौ हि प्रायः क्षेत्रज्ञस्यैव स्वातन्त्र्यम्, तन्निर्माणं च एतत्त्रयाधीनमेव इत्येवमुक्तम् ॥२१४॥

अत आह

अभिमानेन संकल्पाध्यवसायक्रमेण यः ।
शाक्तः स मायोपायोऽपि तदन्ते निर्विकल्पकः ॥२१५॥

इह हि स्वात्मनि अहङ्कारग्रहेण कर्तृत्वमभिमन्य बाह्यमेषणीयादि तदतद्रूपतया संकल्प्य तदेव च अन्यापोहेन निश्चित्य 'अहमेव सर्वत्र स्थितः' 'सर्वं वा मय्येव स्थितम्' इत्येवमात्मा यः शाक्तो वैकल्पिकः प्रत्यय उदेति

स यद्यपि विकल्पानां भेदनिष्ठत्वात् मायात्मक उपायः तथापि तेषां विकल्पानाम् अभ्यासबलेन यथायथं सातिशयविकल्पजननात् अन्ते स्फुटतमार्थसाक्षात्कारात्मा निर्विकल्पकः शाम्भवः समावेशः स्यात् इत्यर्थः। यद्वक्ष्यति

'अनन्तराह्निकोक्तेऽस्मिन् स्वभावे पारमेश्वरे।
प्रविविक्षुर्विकल्पस्य कुर्यात्संस्कारमञ्जसा ॥'

इत्याद्युपक्रम्य

'ततः स्फुटतमोदारताद्रूप्यपरिबृंहिता।
संविदभ्येति विमलामविकल्पस्वरूपताम् ॥'

इति। अत एव हि शाक्तोपायस्य उपायोपायत्वमुक्तम् ॥२१५॥

ननु अस्मदादेः सर्वस्यैव अयत्नोपनतः स्वारसिका निर्विकल्पकः प्रत्ययः स्थितः इति किंनाम तत्र शाम्भवावेशरूपत्वमुक्तं, यदपि उपेयतया उपदिश्यते?

इत्याशङ्क्याह

पशोर्वै याविकल्पाभूर्दशा सा शाम्भवी परम्।
अपूर्णा मातृदौरात्म्यात्तदपाये विकस्वरा ॥२१६॥

सा इति अविकल्पा भूः। यदुक्तं

'तस्यां दशायामैश्वरो भावः पशोरपि।'

इति। यद्येवं तर्हि अत्र किमुपदेशादियत्नेन? इत्याह परमपूर्णा इति। संकुचितस्य हि मातुः संकुचिते एव ज्ञानक्रिये भवतः, इति कथं तत्रास्य दुरात्मनः साक्षात् शाम्भवत्वं भवेत् इति भावः, अत एव तस्य मातृदौरात्म्यस्य अपाये पूर्णतोल्लासे सा शाम्भवी दशा विकस्वरा पूर्णज्ञत्वकर्तृत्वादिशालिनी भवेत् इत्यर्थः, तेन संकुचितज्ञत्वकर्तृत्वाद्यपहस्तनपुरःसरं स्वात्मप्रत्यभिज्ञापनार्थम् अवश्योपादेयोऽयम् उपदेशादियत्नः इति सिद्धम् ॥२१६॥

तदेव प्रकृते योजयति

एवं वैकल्पिकी भूमिः शाक्ते कर्तृत्ववेदने।
यस्यां स्फुटे परं त्वस्यां संकोचः पूर्वनीतितः ॥२१७॥

तथा संकोचसंभारविलायनपरस्य तु ।
सा यथेष्टान्तराभासकारिणी शक्तिरुज्ज्वला ॥२१८॥

इह सविकल्पज्ञानात्मनि शाक्तोपाये यद्यपि निर्विकल्पापेक्षया स्फुटे ज्ञानक्रिये, तथापि मातृदौरात्म्यात् ते संकुचित एव, इति अत्रापि उपदेशादियत्नेन अवश्यं भाव्यं, येन सर्वस्य तथा संकोचविलायनपरतया सा शाक्ती भूः उज्ज्वला विकस्वरा, यदियम् उपेयत्वेन अभीप्सितम् अन्तः प्रमात्रैकात्म्यस्वभावम् आभासं करोति--परप्रमात्रेकरूपतया स्फुरति इत्यर्थः ॥२१७॥२१८॥

ननु शाक्तस्य शाम्भवाद्विकल्पाविकल्परूपत्वेन सिद्धो भेदः, विकल्पंकरूपात् पुनराणवादस्य कथं भेदः स्यात् ? इत्याशङ्कां प्रदर्श्य, तयोरेव भेदमभिधत्ते ।

ननु वैकल्पिकी किं धीराणवे नास्ति तत्र सा ।
अन्योपायात्र तूच्चाररहितत्वं न्यरूपयत् ॥२१९॥

तत्र इत्यादिना समाधिः, अन्य इति उच्चारादयः । आणवे हि उच्चारादि बाह्यमेव अवलम्ब्य वैकल्पिकी बुद्धिरस्ति, अत्र शाक्ते पुनस्तद्रहितत्वेनइति विशेषः, अत एव चेतसैव इति सावधारणं चिन्तनमात्रम् अत्रोक्तम् ॥२१९॥

नन्वत्र किमुच्चारमात्रेणैव रहितत्वम्, उत करणादिभिरपि ? इत्याह

उच्चारशब्देनात्रोक्ता वह्वन्तेन तदादयः ।
शक्त्युपाये न सन्त्येते भेदाभेदौ हि शक्तिता ॥२२०॥

वह्वन्तेन इति बहुवचनादाद्यर्थो हि लभ्यते इति भावः, तेन उच्चारैः रहितम् इति विग्रहो दर्शयितव्यः । एते इति उच्चारकरणादयः न । सन्ति इति भेदैकनिष्ठत्वादेषाम् । अत्र हि बाह्योच्चारादिरहितत्वात् अभेदस्य विकल्पात्मकत्वाच्च भेदस्यापि संभवः इत्युभयमयत्वम्, तदाह 'भदाभेदौ हि शक्तिता' इति, आणवे पुनर्भेदस्यैव प्राधान्यम् ॥२२०॥

तदाह

अणुर्नाम स्फुटो भेदस्तदुपाय इहाणवः ।
विकल्पनिश्चयात्मैव पर्यन्ते निर्विकल्पकः ॥२२१॥

पर्यन्ते निर्विकल्पकः इत्यनेन अस्यापि शाम्भव एव विश्रान्तिरिति दर्शितम् ॥२२१॥

ननु

'सदाशिवादयस्तूर्ध्वव्याप्त्यभावादधो जुषः ।
शक्तीः समाक्षिपेयुः'.............................२०९

इत्याद्युक्तयुक्त्या बुद्ध्यादीनां शिवे व्यापृतिरेव नास्ति इति कथमेषां तदवाप्तावुपायत्वमपि उक्तम् ? इत्याह

ननु धीमानसाहंकृत्पुमांसो व्याप्नुयुः शिवम् ।
नाधोवर्तितया तेन कथितं कथमीदृशम् ॥२२२॥

एतदेव समाधत्ते

उच्यते वस्तुतोऽस्माकं शिव एव यथाविधः ।
स्वरूपगोपनं कृत्वा स्वप्रकाशः पुनस्तथा ॥२२३॥

वस्तुतो हि शिव एव अस्माकम् अद्वैतवादिनां मते

'शिव एव गृहीतपशुभावः ।'

इत्याद्युक्तयुक्त्या स्वस्वातन्त्र्यमाहात्म्यादात्मानं प्रच्छाद्य तथाविधो बुद्ध्यादिरूपः परिमितः प्रमाता स्यात्, स एव पुनः उद्वेष्टनयुक्त्या बुद्ध्याद्यपायासादनक्रमेणैव तथा शिव एव स्वप्रकाशो भवति इति शिवेऽपि बुद्ध्यादयो व्याप्रियेरन् नो वा इति न कश्चिद्दोषः ॥२२३॥

न केवलमेतदद्वैतशास्त्रेषु उक्तं यावत् द्वैतशास्त्रेष्वपि इत्याह

द्वैतशास्त्रे मतङ्गादौ चाप्येतत्सुनिरूपितम् ।
अधोव्याप्तुः शिवस्यैव स प्रकाशो व्यवस्थितः ॥२२४॥
येन बुद्धिमनोभूमावपि भाति परं पदम् ॥२२५॥

यदुक्तं तत्र

'इत्थं गुणवतस्तस्मात्तत्त्वात्तत्त्वमनिन्दितम् ।
स्फुरद्रश्मिसहस्राढ्यमधस्ताद्व्यापकं महत् ॥'

इति । एतदेव निगमयति 'अधोव्याप्तुः' इत्यादिना । स इति बुद्ध्यादिरूपः, येन इति बुद्ध्यादीनां शिवप्रकाशैकरूपत्वेन हेतुना ॥२२४॥२२५॥

ऐवमेतत्प्रसंगादभिधाय प्रकृतमेवाह

द्वावप्येतौ समावेशौ निर्विकल्पार्णवं प्रति ।
प्रयात एव तद्रूढिं विना नैव हि किंचन ॥२२६॥

प्रतिः आभिमुख्ये, तेन ऐतदुभयमपि परप्रकाशात्मनि शाम्भवावेशे एव विश्रान्तम् इत्यर्थः । यद्धि तत्र न विश्रान्तं तदप्रकाशमानत्वात् न किंचित् स्यात् इत्युक्तं 'तद्रूढि विना नैव हि किंचन' इति । एवं च निर्विकल्पात्मा परः प्रकाश एव सर्वेषामेषामुपायः इत्युक्तं स्यात् ॥२२६॥

न चैतदस्मदुपज्ञमेव इत्याह

संवित्तिफलभिच्चात्र न प्रकल्प्येत्यतोऽब्रवीत् ।
कल्पनायाश्च मुख्यत्वमत्रैव किल सूचितम् ॥२२७॥

अतः इति एकस्यामेव निर्विकल्पात्मिकायां संवित्तौ अनुप्रवेशात् । तदुक्तं

'संवित्तिफलभेदोऽत्र न प्रकल्प्यो मनीषिभिः ।'

इति । अत्र च उपायानां नानात्वात् प्राप्तं तावत्फलभेदकल्पनम्, अन्यथा हि निषेधस्य प्राप्तिपूर्वत्वात् स एवात्र न स्यात् इति 'न प्रकल्प्या' इत्युक्त्या एतदाक्षिप्तम् इत्याह—कल्पनाया इति । मुख्यत्वम् इति अभिधेयत्वं । सूचितम् इति--न तु साक्षादभिहितम् इति भावः ॥२२७॥

न केवलमिह निर्विकल्पके विश्रान्तिसतत्त्वं, यावदितो बाह्यानां मतेऽपि इत्याह

विकल्पापेक्षया योऽपि प्रामाण्यं प्राह तन्मते ।
तद्विकल्पक्रमोपात्तनिर्विकल्पप्रमाणता ॥२२८॥

तस्य विकल्पापेक्षनिर्विकल्पप्रामाण्यवादिनो वैभाषिकादेः मतेऽपि, ये च ते विकल्पाः, तेषां यः क्रमः--परम्परा, तया उपात्ता—जनिता, निर्विकल्पस्यैव प्रमाणता--विकल्पोपारोहेण निर्विकल्प एव विश्रान्तिः इत्यर्थः ॥२२८॥

एतदेव उदाहरति

रत्नतत्त्वमविद्वान्प्राङ्निश्चयोपायचर्चनात् ।
अनुपायाविकल्पाप्तौ रत्नज्ञ इति भण्यते ॥२२९॥

य· कश्चन वैकटिकादिः आदौ अविकल्पवृत्या रत्नस्वरूपमजानानोऽपि 'किमेवमस्य तत्वं न वा' इत्यादिकल्पनामुखेन विचारमवलम्ब्य, अनुपायस्य स्वारसिकस्य अविकल्पस्य उत्थाने रत्नज्ञः तद्विषयतत्त्वं निर्विकल्पं जानानः इत्युच्यते इति वाक्यार्थः। एवमाणवाद्यभिज्ञेऽपि वाच्यम् ॥२२९॥

इह खलु भेदभेदाभेदाभेदात्मना त्रिधा ज्ञानं, यदुक्तं

'वस्तुतो हि त्रिधैवेयं ज्ञानसत्ता विजृम्भते ।
भेदेन भेदाभेदेन तथैवाभेदभागिना ॥'

इति। तत्र आणवं भेदप्रधानमुक्तं, शाक्तं च भेदाभेदप्रधानं, शाम्भवं पुनः किं प्रधानम् ? इत्याशङ्क्याह

अभेदोपायमत्रोक्तं शाम्भवं शाक्तमुच्यते ।
भेदाभेदात्मकोपायं भेदोपायं तदाणवम् ॥२३०॥

ननु

'............मुक्तिश्च शिवदीक्षया ।'

इत्याद्युक्तेः दीक्षादेः क्रियाया अपि मुक्त्युपायत्वमुक्तम् इति सा किमुपायान्तरमतिरिक्तम्, उत अत्रैव कुत्रचिदन्तर्भावमेति ? इत्याशङ्क्याह

अन्ते ज्ञानेऽत्र सोपाये समस्तः कर्मविस्तरः ।
प्रस्फुटेनैव रूपेण भावी सोऽन्तर्भविष्यति ॥२३१॥

सोपाये इति उच्चाराद्युपायसहभूते इत्यर्थः। अत एव तत्र 'सोपाये' इति प्रागुक्तम्। समस्तः कर्मविस्तरः इति--दीक्षादिर्विचित्रः क्रियाकलापः, भावी वक्ष्यमाणः। अन्तर्भविष्यति इत्यनेन—नैतदतिरिक्तम् उपायान्तरमस्ति इत्यावेदितम् ॥ २३१ ॥

ननु सजातीये सजातीयस्य अन्तर्भावो न्याय्यो न तु इतरथा, इति कथं दीक्षादेः क्रियाया आणवज्ञानान्तर्भावः स्यात् ? इत्याशङ्क्याह

क्रिया हि नाम विज्ञानान्नान्यद्वस्तु क्रमात्मताम् ।
उपायवशतः प्राप्तं तत्क्रियेति पुरोदितम् ॥२३२॥

तत् इति विज्ञानं, पुरा इति 'यतो नान्या क्रिया नाम' इत्यादौ ॥ २३२ ॥

ननु 'ज्ञानं मोक्षैककारणम्' इत्यादिना 'ज्ञानान्मुक्तिः' इति तावत्प्रतिज्ञातं, तत्किं स्वाधिकरणं मोचकम्, उत पराधिकरणम्. स्वाधिकरणत्वे च तस्य किं दीक्षायां सत्यामसत्यां वा मोचकत्वम्, असत्यां चेत्

'न चाधिकारिता दीक्षां विना योगेऽस्ति शाङ्करे ।'

इत्याद्युक्त्या ज्ञानाधिगमे एव अधिकारो नास्ति इति किं कस्य मोचकं स्यात्, सत्यां चेत् परोपेक्षात्मनैव स्वात्मनि दीक्षाकरणानुपपत्तेः, पराधिकरणत्वे च कारणमन्यत्र कार्यं च अन्यत्र इति महान् दोषः ? इत्याशङ्क्याह

सम्यग्ज्ञानं च मुक्त्येककारणं स्वपरस्थितम् ।
यतो हि कल्पनामात्रं स्वपरादिविभूतयः ॥२३३॥

कल्पनामात्रम् इति, वस्तुतो हि एकैव संवित् तत्तत्स्वपराद्याभासतया प्रस्फुरति इत्यभिप्रायः ॥ २३३ ॥

अत एवाह

तुल्ये काल्पनिकत्वे च यदैक्यस्फुरणात्मकः ।
गुरुः स तावदेकात्मा सिद्धो मुक्तश्च भण्यते ॥२३४॥

गुर्वगुर्वाद्यपेक्षया स्वपरकल्पनायाः साम्येऽपि येन शिष्येण गुरुणा वा यदैक्यम् एकीकारः तेन स्फुरणं स्वपराद्याभासविभागाभावेन एकघनसंविद्रूपतया विमर्शनं तदात्मा यो गुरुः स तावान् ऐक्यस्फुरणावधिः एक आत्मा यस्य तथाभूतः सन् सिद्धो मुक्तश्च पारमैश्वर्यमात्रमुच्यते इत्यर्थः । इदमुक्तं भवति—यावदस्य हि स्वसंविदेकात्मत्वेन परामर्शः तावदयम् एक एव प्राप्तपरप्रकाशैकात्म्यः परिस्फुरति इति । तदुक्तं

'एवं व्याप्तिं तु यो वेत्ति परापरविभागतः ।
स भवेन्मोचकः साक्षाच्छिवः परमकारणम् ॥'

इति ॥ २३४ ॥

अत एवाह

यावानस्य हि संतानो गुरुस्तावत्स कीर्तितः ।
सम्यग्ज्ञानमयश्चेति स्वात्मना मुच्यते ततः ॥२३५॥
तत एव स्वसंतानं ज्ञानी तारयतीत्यदः ।

युक्त्यागमाभ्यां संसिद्धं तावानेको यतो मुनिः ॥२३६॥

संतानः शिष्यप्रशिष्यादिरूप इति, इति तावदात्मत्वेन एकस्यैवास्य स्फुरणात्। तत इति तावतः संतानात्। तावन्तं हि संतानमवलम्ब्य संविदैकात्म्यात् एक एवायं गुरुः इति यत् संतानिनो मुच्यन्ते, तत् स एव स्वात्मना मुच्यते इति स्वपरविभागस्य काल्पनिकत्वात् न कश्चिद्दोषः। अत एवाह 'तत एव' इत्यादि, तारयति इति। तदुक्तं

'आचार्यः स्वजनानां च कुलकोटिसहस्रशः।
ज्ञानज्ञेयपरिज्ञानात्सर्वान्संतारयिष्यति ॥'

इति। अत्र हेतुः 'तावानेको यतो मुनिः' मुनिः इति गुरुः॥ २३५॥२३६॥

एवं च सति अयत्नेन परोक्तदूषणोद्धारः सिद्धः इत्याह

तेनात्र ये चोदयन्ति ननु ज्ञानाद्विमुक्तता।
दीक्षादिका क्रिया चेयं सा कथं मुक्तये भवेत् ॥२३७॥
ज्ञानात्मा सेति चेज्ज्ञानं यत्रस्थं तं विमोचयेत्।
अन्यस्य मोचने वापि भवेत्किं नासमञ्जसम्।
इति ते मूलतः क्षिप्ता यत्त्वत्रान्यैः समर्थितम् ॥२३८॥

ये इति भेदवादप्रकाराः, ते इति एवं चोद्यविधायिनः, क्षिप्ताः प्रतिक्षिप्ताः। यन्मूलत एव ज्ञानक्रिययोरैक्यमभ्युपगतं स्वपरविभागस्य च काल्पनिकत्वम् इति तदेव च अत्र प्रतिसमाधानं नान्यत् इत्याह 'यत्तु' इत्यादि। यदन्यैर्भेदेश्वरवादिभिर्निरूपितं तत् पुरस्तात् निषेत्स्यामः इति संबन्धः॥ २३७॥ २३८॥

ननु यदि भेदवाद्युक्तं मलस्य द्रव्यरूपत्वं नाभ्युपेयते, तत्तस्य किं रूपम्? इत्याशङ्क्याह

मलो नाम किल द्रव्यं चक्षुःस्थपटलादिवत्।
तद्विहन्त्री क्रिया दीक्षा त्वञ्जनादिककर्मवत् ॥२३९॥
तत्पुरस्तान्निषेत्स्यामो युक्त्यागमविगर्हितम्।
मलमायाकर्मणां च दर्शयिष्यामहे स्थितिम् ॥२४०॥

एतदेव अधिकावापेन उपसंहरति

एवं शक्तित्रयोपायं यज्ज्ञानं तत्र पश्चिमम् ।
मूलं तदुत्तरं मध्यमुत्तरोत्तरमादिमम् ॥२४१॥

पश्चिममिति आणवम्, मूलमिति, तस्यैव शाक्तक्रमेण शांभवे विश्रान्तिः तदाह तदुत्तरम् इति, तस्मादाणवात्, उत्तरं विश्रान्तिस्थानत्वादधिकं शाक्तम् उत्तरात् शाक्तादपि उत्तरं शांभवम् । यदुक्तं

'विभुशक्त्यणुसंबन्धात्समावेशस्त्रिधा मतः ।
इच्छा-ज्ञान-क्रियायोगादुत्तरोत्तरसंभृतः ।'

इति ॥ २४१ ॥

न केवलमाणवादेः विश्रान्तिधामतया शांभवमेव ज्ञानमुत्कृष्टं, यावदस्मादनुपायाख्यम् अन्यत् इत्याह

ततोऽपि परमं ज्ञानमुपायादिविवर्जितम् ।
आनन्दशक्तिविश्रान्तमनुत्तरमिहोच्यते ॥२४२॥

परमम् इति उपेयैकरूपत्वात्, अत एवोक्तम् 'उपायादिविवर्जितम्' इति। अत एव च 'आनन्दशक्तिविश्रान्तम्' इत्युक्तम् । इच्छादीनां हि एषणीयादिविषयावच्छेदेन बाह्योन्मुखत्वात् भेदसंभावनापि स्यात्, आनन्दशक्तिः पुनः

'आनन्दो ब्रह्मणो रूपम्.................... ।'

इत्याद्युक्त्या हि चितस्तत्स्वरूपमेव इति, नात्र उपायगन्धोऽस्ति इति तात्पर्यम् ॥ २४२ ॥

एतच्च न स्वोपज्ञम् अपि तु सर्वत्रैव आगमेषु उक्तम् इत्याह

तत्स्वप्रकाशं विज्ञानं विद्याविद्येश्वरादिभिः ।
अपि दुर्लभसद्भावं श्रीसिद्धातन्त्र उच्यते ॥२४३॥
मालिन्यां सूचितं चैतत्पटलेऽष्टादशे स्फुटम् ।
न चैतदप्रसन्नेन शंकरेणेति वाक्यतः ॥२४४॥
इत्यनेनैव पाठेन मालिनीविजयोत्तरे ।

तत्र हि

'अनायासमनारम्भमनुपायं महाफलम् ।
श्रोतुमिच्छामि योगेश योगं योगविदांवर ॥'

इति देव्या पृष्टे

'शृणु देवि प्रवक्ष्यामि योगामृतमनुत्तमम् ।
यत्प्राप्य शिवतां मर्त्या लभन्त्यायासवर्जिताः ॥
न चैतदप्रसन्नेन शंकरेणोपदिश्यते ।
कथंचिदुपलब्धेऽपि वासना न प्रजायते ॥'

इत्याद्युपक्रम्य

'तस्मात्तदभ्यसेन्नित्यमविरक्तेन चेतसा ।
स विसर्गो महादेवि यत्र विश्रान्तिमर्हति ॥
गुरुवक्त्रं तदेवोक्तं शक्तिचक्रं तदुच्यते ।
तदेव सर्वमन्त्राणामुत्पत्तिस्थानमुत्तमम् ॥'

इत्याद्युक्तम् ॥ २४३ ॥ २४४ ॥

अयमेव च शास्त्रार्थः इत्याह

इति ज्ञानचतुष्कं यत्सिद्धिमुक्तिमहोदयम् ।
तन्मया तन्त्यते तन्त्रालोकनाम्न्यत्र शासने ॥२४५॥

इतीति तन्त्रालोके-तन्त्राणां पारमेश्वराणाम् आलोक इव आलोकः, तानि आलोकयति प्रकाशयति इति वा । इति-उक्तस्वरूपं यत् ज्ञानचतुष्कं, किं भूतं ? सिद्धिमुक्त्योर्महान् उदयः अस्मिन् इति कृत्वा महोदयं, तत् अत्र तन्त्रालोके शासने तन्त्यते-विस्तरेण प्रकाश्यते इत्यर्थः ॥ २४५ ॥

अथ

'तत्र नानुपलब्धेऽर्थे न निर्णीते प्रवर्तते ।
किं तु संशयिते न्यायस्तदङ्गं तेन संशयः ॥'

इत्याद्युक्त्या प्रायः संशयिते एव अर्थे निर्णयात्मनः शास्त्रस्य प्रणयनमुक्तम् इति संशयस्य तदङ्गत्वात् प्रथमं तत्स्वरूपमेव निरूपयितुम् उपक्रमते

तत्रेह यद्यदन्तर्वा वहिर्वा परिमृश्यते ।
अनुद्घाटितरूपं तत्पूर्वमेव प्रकाशते ॥२४६॥

अन्तः-मानसविज्ञानादौ, अनुद्घाटितरूपमिति--अनुल्लिखितविशेषं, सामान्यधर्मात्मकम् इत्यर्थः ॥ २४६ ॥

अयमेव च प्रायः 'संशयः' इत्युच्यते इत्याह

तथानुद्घाटिताकारा निर्वाच्येनात्मना प्रथा ।
संशयः कुत्रचिद्रूपे निश्चिते सति नान्यथा ॥२४७॥

तथा प्राथमिकत्वेन अनुद्घाटितः करचरणादिविशेषधर्मानवगमात् अनुन्मुद्रितो योऽसौ ऊर्ध्वतादिः सामान्यधर्मा आकारः तेन अनिर्वाच्येन अन्यतरधर्मिविशेषनिश्चयाभावात् उभयांशावलम्बित्वेन नियतरूपतया वक्तुमशक्येन आत्मना स्वरूपेण विशिष्टा या प्रथा-प्रतीतिः सा संशयः, स हि ऊर्ध्वतादेः सामान्यात्मनो धर्मस्य अधिगमे वक्रकोटरत्वादीनां विशेषधर्माणां च अनधिगमे सति उदियात् । तदाह 'कुत्रचित्' इत्यादि-कस्मिश्चित् सामान्यधर्मावच्छेदिनि धर्मिणि इत्यर्थः । नान्यथा इति-सर्वात्मना निश्चिते धर्मिणि अनिश्चिते वा इति यावत् ॥ २४७ ॥

एतदेव विभज्य दर्शयति

एतत्किमिति मुख्येऽस्मिन्नेतदंशः सुनिश्चितः ।
संशयोऽस्तित्वनास्त्यादिधर्मानुद्घाटितात्मकः ॥२४८॥

एतत्किमिति-परामर्शात्मा संशयः, 'स्थाणुर्वा पुरुषो वा' इत्यादिपरामर्शान्तरापेक्षया सर्वेषामेव विशेषधर्माणाम् अनुद्घाटितत्वात् मुख्यः, तत्र च किम् इत्यंशापेक्षया य एतदंशः स धर्मिमात्रग्रहणात् सुष्ठु निश्चितः । ननु

'नियतोभयांशावलम्बो विमर्शः संशयः ।'

इति संशयस्य लक्षणं, तत्र चेत् एकः कश्चिदंशो निश्चितः तत्कृतं तेन, इत्याह 'संशयः' इत्यादि । अस्तित्वं च नास्तित्वं च तत् अस्तित्वनास्तित्वमादिर्येषां विशेषधर्माणां तैः अनुद्घाटितः अनुन्मुद्रित आत्मा स्वरूपं यस्य स तथा, यत्र हि सत्त्वासत्त्वाख्ययोरपि धर्मयोरनिश्चितत्वात् उद्घाटनं न वृत्तं तत्र का वार्ता अन्येषां धर्माणाम् ? इति सर्वेषामेव धर्माणाम् अनुल्लिखिताकारत्वात् नियतधर्मानवलम्बनात् अयं मुख्यः संशयः, किमित्यंशो हि अनुल्लिखितार्थाकाराभिधायक एव इति भावः ॥ २४८ ॥

तदाह

किमित्येतस्य शब्दस्य नाधिकोऽर्थः प्रकाशते ।

अधिकः इति एतच्छब्दार्थात् ॥

तर्हि किमर्थमुपादीयते ? इत्याशङ्क्याह

किं त्वनुन्मुद्रिताकारं वस्त्वेवाभिदधात्ययम् ॥२४९॥

अयम् इति किं-शब्दः ॥ २४९ ॥

संशयस्य च मुख्यत्वं क्वचिदमुख्यत्वे सति युज्यत इत्यस्यामुख्यत्वमपि दर्शयितुमाह

स्थाणुर्वा पुरुषो वेति न मुख्योऽस्त्येष संशयः ।
भूयःस्थधर्मजातेषु निश्चयोत्पाद एव हि ॥२५०॥

न मुख्यः इति-पूर्ववत् सर्वेषामेव धर्माणाम् अनुद्घाटितरूपत्वाभावात्, यतः स्थाण्वादिनियतपरामर्शान्यथानुपपत्त्या भूयसामस्थाण्वादिवर्तिनां धर्माणाम् एष निश्चयात्मा प्रत्ययः ॥ २५० ॥

ननु यद्येवं तर्हि अत्र वा अर्थसंभेदसंभवात् नियतस्य च अनिश्चयात् उदितानुदितहोमन्यायेन विकल्प एव भवेत् ? इत्याशङ्क्याह

आमर्शनीयद्वैरूप्यानुद्घाटनवशात्पुनः ।
संशयः स किमित्यंशे विकल्पस्त्वन्यथा स्फुटः ॥२५१॥

आमर्शनीयं स्थाणुपुरुषलक्षणं यत् द्वैरूप्यं, तस्य अनुद्घाटनं-वक्रकोटरत्वादि विशेषरूपतयानाविष्करणं ततोऽयं प्रत्ययः किमित्यंशसंभेदात् संशय एव । 'स्थाणुर्वा पुरुषो वा' इत्यत्र हि किं स्थाणुः किं पुरुषः इत्येव तात्त्विकः संशयार्थः, यदि परमेतत् किमिति केवले किमंशे सर्वेषामेव विशेषधर्माणाम् अनुद्घाटितरूपत्वात् मुख्यत्वम्, अत्र च नियतविशेषधर्मानवगमात् अमुख्यत्वम्-इति विशेषः । विकल्पे पुनर्व्रीहियवयोरुभयोरपि निश्चितत्वे सति नानुद्घाटितरूपत्वम्, तदाह 'विकल्पस्त्वन्यथा स्फुटः' इति । अन्यथा इति-आमर्शनीययोर्द्वयोरपि व्रीहियवयोर्विशेषधर्मात्मना निश्चयात्, एवंविधश्चायं संशयः शास्त्रप्रवृत्तौ निमित्ततां भजते इत्युक्तप्रायम् । शास्त्रं हि निर्णयात्म, निर्णयश्च प्रायः संदिग्ध एवार्थे प्रवर्तते,

नहि उपलब्ध एव संशयविषयता प्रतिपद्यते नानुपलब्धः, संशयस्य च प्रमातृधर्मत्वात् यद्यपि केनचित्संशयानेन संदिग्धोऽर्थः प्रतिपद्यते तदा तस्योपलम्भः स्यान, तत्प्रतिपादनमेव च प्रश्नः इति सोऽपि स्वकारणवत् शास्त्रप्रवृत्तौ निमित्ततां यायात्, तन्निर्णयाय च प्रारभ्यमाणस्य शास्त्रस्य त्रिविधा प्रवृत्तिः-उद्देशो, लक्षणं, परीक्षा च इति, नामधेयेन पदार्थाभिधानमात्रं चोद्देशः, तस्य च प्रथममवश्यमुपादानं कार्यम्–अनुद्दिष्टस्य लक्षणपरीक्षानुपपत्तेः, अतश्च उद्देशं विना लक्षणपरीक्षात्मशास्त्रस्य प्रणयनमेव न घटते–इत्यस्यापि तत्र अङ्गत्वम् ॥ २५१ ॥

ननु एकेनैव शास्त्रप्रणयनसिद्धेः किमर्थं त्रितयम् ? इति चेत्, न चैतत्–परस्परानुषक्ततयैव अत्र एषां निमित्तत्वाभिधानात् । संशयित एव हि अर्थः केनचिदभिधीयमानः शास्त्रेण उद्देशादिद्वारेण निर्णीयते इति, अत एव च स्वरूपभेदेऽपि एवं शास्त्रप्रवृत्तौ अनुद्घाटितात्मप्रथात्मकेन समानेन रूपेण कारणत्वमस्ति इति प्रतिपादयितुमाह

तेनानुद्घाटितात्मत्वभावप्रथनमेव यत्
प्रथमं स इहोद्देशः प्रश्नः संशय एव च ॥२५२॥

तेन-पूर्वोक्तेन न्यायेन अनुद्घाटितात्मत्वेन भावस्य वस्तुमात्रस्य प्रथमं यत् प्रथनं स एव इहोद्देशः–प्रश्नः संशयश्च इति, तत्र संशयस्य तावदेवंरूपत्वं समनन्तरमेव उक्तम्, उद्देशे च अनुद्घाटितत्वेनैव वस्तुनः प्रथनं रूपं–नामधेयमात्रेणैव पदार्थानामभिधानात् । प्रश्नेऽपि एवं वाच्यम्, अन्यथा हि निर्णयात्मत्वे प्रतिवचनादस्य विशेषो न स्यात् ॥ २५२ ॥

तत्र संशयितेऽर्थे प्रश्नः प्रवर्तते, इति तन्निर्णयानन्तरम् निर्णेतव्यः प्रश्नः, इति प्राप्तावसर तत्सतत्त्वमेव वक्तुमाह

तथानुद्घाटिताकारभावप्रसरवर्त्मना ।
प्रसरन्ती स्वसंवित्तिः प्रष्ट्री शिष्यात्मतां गता ॥२५३॥

इह अद्वयनये 'परमार्थसती संविदेव सर्वम्' इति प्रष्टृप्रतिवक्तृरूपगुरुशिष्याद्यात्मनो भेदस्य तावदनुपपत्तिः इति । तथा पूर्वोक्तेन प्रकारेण अनुद्घाटिताकारः–सर्वभावनिर्भरत्वात् संविदेकरूपो, योऽसौ भावः–पारमार्थिकं पूर्णस्वभावं वस्तु, तस्य यः प्रसरः–पश्यन्त्यादिदशाक्रमणेन अवरोहः, तदेव वर्त्म, तेन प्रसरन्ती–वैखर्यादिरूपतामासादयन्ती, स्व-

संविदेव, संकुचिता, प्रमात्रात्मशिष्यभूमिकाम् अवभासयन्ती 'प्रष्ट्री' इत्युच्यते इत्यर्थः ॥ २५३ ॥

कुत्र कथं चास्याः प्रष्टृत्वम् ? इत्याह

तथान्तरपरामर्शनिश्चयात्मतिरोहितेः ।
प्रसरानन्तरोद्भूतसंहारोदयभागपि ॥२५४॥
यावत्येव भवेद्ग्राह्यप्रसरे प्रस्फुटात्मनि ।
अनुन्मीलितरूपा सा प्रष्ट्री तावति भण्यते ॥२५५॥

तथा-परमाद्वयमयत्वेन, आन्तरः-प्रमात्रैकात्म्यरूपो, योऽसौ परामर्शः, तस्य निश्चयो-दार्ढ्यं, तदात्मनस्तिरोहितेः-उत्तरोत्तरस्य रूपस्य पूर्वपूर्वत्रानवस्थितेः, प्रसरात्-बाह्योन्मुख्यात्, अनन्तरमुद्भूतौ यौ संहारश्च-पराद्यात्मनो रूपस्य स्वात्मन्येव विश्रान्तिः, उदयश्च-पश्यन्त्याद्यात्मना रूपेण बहिरुद्भवः तौ भजते, तद्रूपा हि सा संवित् यावति प्रस्फुटात्मनि-ग्राह्यग्राहकयुगलकाद्याभासस्वभावे बाह्यप्रसरे, अनुन्मीलितरूपा-संविद्रूपत्वेन अनवभासमाना भवेत्, तावत्येव अनुद्घाटितात्मत्वेन प्रथनात् 'प्रष्ट्री' इत्युच्यते इत्यर्थः ॥ २५४ ॥ २५५ ॥

न केवलं संविदः प्रष्टृत्वमेव अस्ति, यावत् प्रश्नादिरूपत्वमपि इत्याह

स्वयमेवं विबोधश्च तथा प्रश्नोत्तरात्मकः ।
गुरुशिष्यपदेऽप्येष देहभेदो ह्यतात्त्विकः ॥२५६॥

तदुक्तं

'गुरुशिष्यपदे स्थित्वा स्वयं देवः सदाशिवः ।
पूर्वोत्तरपदैर्वाक्यैस्तन्त्रं समवतारयत् ॥'

इति । तथा

'प्रष्ट्री च प्रतिवक्त्री च स्वयं देवी व्यवस्थिता ।'

इति । ननु गुरुशिष्ययोः परस्परं भेदः साक्षादुपलभ्यते इति किं नाम अनयोर्बोधरूपत्वम् ? इत्याह-एष इत्यादि । अतात्त्विकः इति अवास्तवः ।

बोध एव हि स्वस्वातन्त्र्यमाहात्म्यात् स्वात्मनि तत्तद्देहादिभावम् आभासयति इति भावः ॥ २५६ ॥

तदाह

बोधो हि बोधरूपत्वादन्तर्नानाकृतीः स्थिताः ।
बहिराभासयत्येव द्राक्सामान्यविशेषतः ॥२५७॥

बोधात्मा परमेश्वरो हि बोधनक्रियाकर्तृत्वलक्षणात् बोधरूपत्वात् अन्तःस्थिता नानाकृतीः–तत्तद्भावजातं, द्राक्–अनन्यापेक्षितया निर्विलम्बनमेव, सामान्यविशेषरूपत्वेन, बहिः–विच्छेदेन, अवभासयत्येव इति वाक्यार्थः ॥ २५७ ॥

तत्र सामान्यस्य किं नाम बहिरवभासनम् ? इत्याह

स्रक्ष्यमाणविशेषांशाकांक्षायोग्यस्य कस्यचित् ।
धर्मस्य सृष्टिः सामान्यसृष्टिः सा संशयात्मिका ॥२५८॥

स्रक्ष्यमाणाः–स्वालक्षण्येन उल्लासयिष्यमाणा, ये विशेषांशाः, तत्र

'निर्विशेषं हि सामान्यं भवेच्छशविषाणवत् ।'

इत्याद्युक्तयुक्त्या तदविनाभावित्वेन आकांक्षा-औन्मुख्यं, तत्र योग्यस्य–तदौन्मुख्याभावेऽपि सर्वगतत्वात् तत्स्वरूपानपायात् अनुगुणस्य, कस्यचित् नियतस्य गोत्वादेः धर्मस्य, बहिरवभासनात्मा सृष्टिः सामान्या सृष्टिः, सा एव च अनुद्घाटितात्मप्रथारूपत्वात् 'संशयः' इति–विशेषाकांक्षानुगुणसामान्यप्रतीतिरेव संशयप्रतीतिः इत्यर्थः ॥ २५८ ॥

एवं विशेषसृष्टिरपि निश्चयप्रतीतिरूपा इत्याह

स्रक्ष्यमाणो विशेषांशो यदा तूपरमेत्तदा ।
निर्णयो मातृरुचितो नान्यथा कल्पकोटिभिः ॥२५९॥

यदा पुनर्निश्चयोपयोगिना सर्वविशेषाणां सृष्टत्वात् स्रक्ष्यमाणो विशेषांश उपरमेत्–विशेषविषया सृष्टिः समाप्येत, तदा स एव उद्घाटितात्मप्रथारूपत्वात् 'स्थाणुरेवायम्' इति प्रत्ययात्मा निश्चयः स्यात् । एतदुत्पादे च प्रमातुरिच्छैव निबन्धनम् इत्युक्तं 'मातृरुचितः' इति । प्रमाता हि यावदेव 'ज्ञातं मया' इति परितुष्येत्, तावदेव निश्चितं भवति इति

भावः, अन्यथा पुनः स कदाचिदपि न भवेत्–प्रमातृच्छायामेवाविश्रान्तेः। तदाह 'नान्यथा कल्पकोटिभिः' इति ॥ २५९ ॥

न केवलमस्य निश्चयमात्ररूपत्वमेवास्ति, यावल्लक्षणादिरूपत्वमपि इत्याह

तस्याथ वस्तुनः स्वात्मवीर्याक्रमणपाटवात् ।
उन्मुद्रणं तयाकृत्या लक्षणोत्तरनिर्णयाः ॥२६०॥

तस्य–विशेषात्मनो वस्तुनो, यत् स्वात्मनो वीर्यं–तदितरपरावृत्तत्वं, तस्य आक्रमणं–स्वात्मना विषयीकरणं, तत्र पाटवं–नैराकांक्ष्यात्तीव्रत्वं, ततो यत् तेनैव आकारेण उन्मुद्रणं–प्रतिनियतस्वस्वरूपाविष्करणं, तत् उद्घाटितात्मप्रथामयत्वस्य अविशेषात् 'लक्षणम्' इति 'उत्तरम्' इति 'निर्णय' इति चोच्यते। तत्र–असाधारणस्तत्त्वावबोधको धर्मो लक्षणं, तत्त्वावबोधोपकरणं दूषणोद्धरणमुत्तरं, तत्त्वावबोधो निर्णयः ॥ २६० ॥

ननु तत्त्वावबोधसारत्वस्य अविशेषात्, परीक्षापि लक्षणेनैव निर्णयवत् कथं न संगृहीता ? इत्याशङ्क्याह

निर्णीततावद्धर्मांशपृष्ठपातितया पुनः ।
भूयो भूयः समुद्देशलक्षणात्मपरीक्षणम् ॥२६१॥

निर्णीतो–निर्णयविषयीकृतः, तावान्–नियतलक्षणलक्ष्यो, योऽसौ धर्मांशः–तद्विषयतया पौनःपुन्येन यः समुद्देशः, यच्च लक्षणं–साधारणासाधारण-धर्मनिरूपणं, तदात्मकं, पुनः परितः–सर्वतो निःशेषप्रतिपक्षप्रतिक्षेपेण ईक्षणं–परीक्षा इति वाक्यार्थः ॥ २६१ ॥

एतच्च उद्देशादित्रयं सर्वत्रैवास्ति इत्याह

दृष्टानुमानौपम्याप्तवचनादिषु सर्वतः ।
उद्देशलक्षणावेक्षात्रितयं प्राणिनां स्फुरेत् ॥२६२॥

एतदेव क्रमेण दर्शयति

निर्विकल्पितमुद्देशो विकल्पो लक्षणं पुनः ।
परीक्षणं तथाध्यक्षे विकल्पानां परम्परा ॥२६३॥

नगोऽयमिति चोद्देशो धूमित्वादग्निमानिति ।
लक्ष्यं व्याप्त्यादिविज्ञानजालं त्वत्र परीक्षणम् ॥२६४॥
उद्देशोऽयमिति प्राच्यो गोतुल्यो गवयाभिधः ।
इति वा लक्षणं शेषः परीक्षोपमितौ भवेत् ॥२६५॥
स्वःकाम ईदृगुद्देशो यजेतेत्यस्य लक्षणम् ।
अग्निष्टोमादिनेत्येषा परीक्षा शेषवर्तिनी ॥२६६॥

उद्देशः इति–आलोचनमात्रस्य अनुद्घाटितात्मप्रथारूपत्वात् । लक्षणम् इति–नीलमिति विकल्पेन निर्विकल्पस्यैव उद्घाटितात्मप्रथारूपत्वात् । विकल्पानाम् इति–अर्थक्रियाज्ञानपूर्वापरभाविनाम्, तत एव च अर्थतथात्वनिश्चयोत्पादः इत्येषां परीक्षात्वम् । उद्देशः इति–नगोऽयम् इति धर्मिमात्रस्यैव अनुद्घाटितसाध्यधर्मात्मत्वेन प्रथनात् । लक्ष्यमिति–साध्यधर्मविशिष्टतया उद्घाटितात्मप्रथारूपत्वात् । व्याप्तिः–अन्वयव्यतिरेकौ, तद्वशादेव हि साध्यसाधनयोरविनाभावनिश्चयोत्पादः इत्यस्याः परीक्षात्मत्वम्। अयमिति–पुरोवर्त्तिनः पिण्डमात्रस्य अनुद्घाटितात्मत्वेन प्रथनात् । प्राच्यः इति–प्रथमो धर्मिविशेषानवच्छिन्नः इति यावत् । गोतुल्योऽयम् इति–प्रमाणदशायां, गवयशब्दवाच्योऽयम् इति–फलदशायां च विशेषावच्छेदस्य भावित्वात् । वा-शब्दः समुच्चये, तेन प्रमाणदशायाः फलदशायाश्च उद्घाटितात्मप्रथारूपत्वात् लक्षणत्वम् । शेषः इति–सास्नादिमद्ग्राहदोहादिकारी इत्यादिः परामर्शः । ईदृक् इति–स्वःकामः इत्येव । अस्य इति–स्वःकामस्य । लक्षणम् इति–अधिकारानुबन्धस्य विषयानुबन्धमन्तरेणानिर्णयात् । शेषवर्तिनी इति

'शेषः परमार्थत्वात् ।'

इति वचनात् सा अर्थवादव्यापारात्मा इति कर्तव्यता इत्यर्थः । परीक्षात्वं चात्र –उद्दिष्टलक्षितस्वर्गकामाधिकारनिस्तुषीकरणत्वात् ॥ २६३ ॥ २६४ ॥ २६५ ॥ २६६ ॥

ननु लक्ष्यमाणविशेषाकांक्षानुगुणसामान्यसृष्टिः 'उद्देशः' इत्युक्तं, न च विशेषस्य आकांक्षणीयत्वमुचितं–तदानीं तस्य भविष्यत्तया वार्तामात्रस्यापि अभावात् ? इत्याशङ्कां सोपस्कारप्रागुक्तलक्षणानुवादपुरःसरं प्रतिक्षिपति ।

विकल्पस्रक्ष्यमाणान्यरुचितांशसहिष्णुनः ।
वस्तुनो या तथात्वेन सृष्टिः सोद्देशसंज्ञिता ॥२६७॥
तदैव संविच्चिनुते यावतः स्रक्ष्यमाणता ।

विकल्पेन-तत्प्रधानेन प्रमात्रा सामान्यस्य सृष्टत्वात् तदपेक्षया स्रक्ष्यमाणाः-लक्षणात् उल्लासयिष्यमाणा, अत एव अन्ये-ये सामान्यव्यतिरिक्ताः प्रमातुः संतोषादायकत्वाच्च, रुचिता-इष्टाः, ये अंशा-विशेषाः, तान्-अर्थात् व्याप्यत्वेन सहते तच्छीलं यत् तस्यैवंविधस्य सामान्यात्मनो वस्तुनः, तथात्वेन-स्रक्ष्यमाणत्वादिविशेषणविशिष्टविशेषसहिष्णुत्वेन, या सृष्टिः, तस्या उद्देशः-अभिधानं, तत्र यावतः आकांक्षणीयस्य विशेषस्य स्रक्ष्यमाणता तावत्, तदैव-उद्देशावसरे, संविच्चिनुते-अनुसंधत्ते इत्यर्थः ॥ २६७ ॥

तत्र हेतुः

यतो ह्यकालकलिता संधत्ते सार्वकालिकम् ॥२६८॥

हि-शब्दो वाक्यालङ्कारे ॥ २६८ ॥

ननु उद्घाटितात्मप्रथारूपत्वे सति लक्षणस्य सामान्यविशेषयोर्द्वयोरपि प्रथनात् किं लक्ष्यं ? किं वा लक्षणम् ? इत्यत्र विवेकाभावादनियमः स्यात् इत्याशंक्याह

स्रक्ष्यमाणस्य या सृष्टिः प्राक्सृष्टांशस्य संहृतिः ।
अनूद्यमाने धर्मे सा संविल्लक्षणमुच्यते ॥२६९॥

इह विशेषसामान्यविषयसृष्टिसंहृतिमयी संवित् लक्षणं-व्यवहरणबीजमिति। तत्र सृज्यमानस्य विशेषांशस्य विधेयतया लक्षणत्वं वाच्यं, संह्रियमाणस्य च सामान्यांशस्य अनूद्यमानतया लक्ष्यत्वम् इत्यस्त्येव विवेकः ॥ २६९ ॥

ननु

'भूयो भूयः समुद्देशलक्षणात्म परीक्षणम् ।'

इत्युक्तं, तत्र च विरामनिमित्ताभावात् परीक्षाया अविश्रान्तिरेव स्यात् ? इत्याशङ्कामनुवादगर्भां प्रतिक्षिपति

तत्पृष्ठपातिभूयोंशसृष्टिसंहारविभ्रमाः ।
परीक्षा कथ्यते मातृरुचिता कल्पितावधिः ॥२७०॥

ननु तत्र तत्र प्रत्यक्षादौ क्रमेण पश्यन्ती-मध्यमावैखरीरूपतया स्वात्मचमत्कारमयी विमर्शशक्तिरेव विजृम्भते इत्युक्तं, तत्कथमिह उद्देशाद्यात्मना स्वसिद्धान्ताप्रसिद्धं क्रमान्तरमासूत्रितम् ? इत्याशंक्याह

प्राक्पश्यन्त्यथ मध्यान्या वैखरी चेति ता इमाः ।
परा परापरा देवी चरमा त्वपरात्मिका ॥२७१॥

ननु संख्यासाम्यमात्रादेव उद्देशादित्रयस्य पश्यन्त्यादिरूपत्वम्, इति किमिदम् ? इत्याशंक्याह

इच्छादि शक्तित्रितयमिदमेव निगद्यते ।

पूर्वेण संबन्धः ।

एतत्प्राणित एवायं व्यवहारः प्रतायते ॥२७२॥

सकलः खलु अयं शुद्धाशुद्धात्मा व्यवहारः संविद्भित्तावेव अवभासते इति भावः । तदुक्तं

'इत्थमत्यर्थभिन्नार्थविभासखचिते विभौ ।
समलो विमलो वापि व्यवहारोऽनुभूयते ॥'

इति ॥ २७२ ॥

न केवलमेषाम् एवं-रूपत्वं, यावत्

'परो महानन्तरालो दिव्यो मिश्रस्त्वदिव्यकः ।
संबन्धः षड्विधस्तन्त्रे........................... ॥'

इत्यादिना उक्तस्य संबन्धस्यापि, इत्याह

एतत्प्रश्नोत्तरात्मत्वे पारमेश्वरशासने ।
परसंबन्धरूपत्वमभिसंबन्धपञ्चके ॥२७३॥

एते समनन्तरोक्तत्त्वे ये प्रश्नोत्तरे ते आत्मा स्वरूपं यस्य तस्य भावस्तत्त्वं, तस्मिन्सति इत्यर्थः । प्रष्टृतद्वक्त्रोरेव संबन्धो भवति इति

भावः। संबन्धपञ्चके इति महदादिके। षष्ठो हि परः संबन्धः सर्वेषामेव एषाम् अनुप्राणकत्वेन अनुवर्तते, इति पृथगिह नोक्तः॥ २७३॥

एतच्च स्वोपज्ञमस्माभिर्नोक्तम्, इत्याह

यथोक्तं रत्नमालायां सर्वः परकलात्मकः।
महानवान्तरो दिव्यो मिश्रोऽन्योऽन्यस्तु पञ्चमः॥२७४॥

रत्नमालायाम् इति-श्रीकुलरत्नमालायाम्, उक्तम् इति अर्थतो, न तु शब्दतः। तत्र

'अदृष्टं निर्गुणं यच्च हेयोपादेयवर्जितम्।
तत्तत्त्वं सर्वतत्त्वानां प्रधानं परिपठ्यते॥
अदृष्टविग्रहश्चैव स शान्त इति गीयते।
तस्येच्छा निर्गता शक्तिस्तद्धर्मगुणसंयुता॥'

इत्यादिना पारमेश्वरी परा शक्तिरेव तत्तत्संबन्धात्मना प्रसृता इति सर्वस्यैव महदादेः संबन्धस्य परकलात्मकत्वमुक्तम्। अत एव च एतदेव

'सृष्टिमार्गानुसारेण आयातश्चावनीतले।
कथितो देवि षष्ठस्तु यथावेशस्वरूपतः॥'

इत्यनेन उपसंहृतम्। मिश्रो-दिव्यादिव्यः। अन्योऽन्यः इति-दिव्यापेक्षया अन्यो मिश्रः, तस्मादन्योऽपि अदिव्यः इति। दिव्य-दिव्यादिव्य-अदिव्यात्मना त्रिधैव हि संभवति विकल्पः। अत एवायमत्र इतरेतरशब्देन उक्तः। तदुक्तं

'महानवान्तरो दिव्यो दिव्यादिव्यश्चतुर्थकः।
इतरेतरमार्गेण पञ्चधा भिन्नलक्षणः॥'

इति। एतच्च संबन्धपञ्चकं शिवात् सदाशिवस्य, तस्मात् अनन्तनाथस्य, तस्मात् श्रीकण्ठनन्दिकुमारादीनां, तेभ्योऽपि सनत्कुमारादीनामृषीणां, तेभ्योऽपि मनुष्यादीनां क्रमेण अवगन्तव्यम्। यदुक्तं तत्रैव

'शिवस्य परिपूर्णस्य परस्यामिततेजसः।
तच्छक्तिश्चैव सादाख्या स्वेच्छाकर्तृत्वगोचरा॥
सत्त्वं तेन च संप्राप्तं संबन्धं प्रथमं विदुः।
अवान्तरश्च योगेन सादाख्यात्क्रमशः पुनः॥
प्राप्तोऽनन्तेशदेवेन द्वितीयस्तेन कीर्तितः।

तृतीयस्तु पुनर्देवि श्रीकण्ठो नन्दिना सह ॥
द्वाभ्यां देवात्तु मत्वैवं तेन दिव्यः प्रकीर्तितः ।
ऋषीणां च समासेन नन्दिना प्रतिपादितम् ॥
चतुर्थस्तु भगवता दिव्यादिव्यः प्रकीर्तितः ।
व्याख्यानक्रमयोगेन विद्यापीठप्रपूजने ॥
शिष्याचार्यस्वरूपेण पञ्चमस्त्वितरेतरः ।
इति पञ्चप्रकारोऽयं संबन्धः परिकीर्तितः ॥'

इति ॥ २७४ ॥

परकलात्मत्वमेव व्याचष्टे

भिन्नयोः प्रष्टृतद्वक्त्रोश्चैकात्म्यं यत्स उच्यते ।

प्रष्टा यथा सदाशिवो, वक्ता यथा शिवः, तच्छब्देन प्रश्नक्रियापरामर्शः, तयोर्भिन्नत्वेऽपि तावत्यर्थे संविदाढ्यैकात्म्यात् संबन्धः—तस्य भेदाभेदरूपत्वात, ऐकात्म्यभावे यदा भेदगन्धस्यापि विगलनात् सर्वात्मताल-क्षणा पूर्णता स्यात् तदा परः संवन्धः ॥

तदाह

संवन्धः परता चास्य पूर्णैकात्म्यप्रथामयी ॥२७५॥

परता हि पूर्णैकात्म्यप्रथालक्षणा । पूर्णे हि सर्वमस्ति, सर्वत्र च पूर्णमस्ति इत्येतत् पञ्चस्वपि संबन्धेषु अस्ति इति युक्तमुक्तं 'सर्वः परकलात्मकः' इति । तदुक्त

'संबन्धः परमेशानि सर्वः परकलामयः ।
महानवान्तरो दिव्यो मिश्रोऽदिव्यश्च तत्परः ॥'

इति ॥ २७५ ॥

संवन्धान्तरेष्वपि एतदेवातिदिशति

अनेनैव नयेन स्यात्संबन्धान्तरमप्यलम् ।
शास्त्रवाच्यं फलादीनां परिपूर्णत्वयोगतः ॥२७६॥

एतदेव संकलयति

इत्थं संविदियं देवी स्वभावादेव सर्वदा ।

उद्देशादित्रयप्राणा सर्वशास्त्रस्वरूपिणी ॥२७७॥

इत्थम्–उक्तेन प्रकारेण, सर्वदा संविदेव इयं भगवतो स्वस्वातन्त्र्यात् उद्देशादित्रयप्राणेन सर्वात्मना शास्त्रेण स्वरूपिणा–शास्त्रात्मना संविदेव अवभासते इत्यर्थः ॥ २७७ ॥

तत्र उद्देशस्वरूपमेव तावदाह

तत्रोच्यते पुरोद्देशः पूर्वजानुजभेदवान् ।
विज्ञानभिद्गतोपायः परोपायस्तृतीयकः ॥२७८॥
शाक्तोपायो नरोपायः कालोपायोऽथ सप्तमः ।
चक्रोदयोऽथ देशाध्वा तत्त्वाध्वा तत्त्वभेदनम् ॥२७९॥
कलाद्यध्वाध्वोपयोगः शक्तिपाततिरोहिती ।
दीक्षोपक्रमणं दीक्षा सामयी पौत्रिके विधौ ॥२८०॥
प्रमेयप्रक्रिया सूक्ष्मा दीक्षा सद्यःसमुत्क्रमः ।
तुलादीक्षाथ पारोक्षी लिङ्गोद्धारोऽभिषेचनम् ॥२८१॥
अन्त्येष्टिः श्राद्धकॢप्तिश्च शेषवृत्तिनिरूपणम् ।
लिङ्गार्चा बहुभित्पर्वपवित्रादि निमित्तजम् ॥२८२॥
रहस्यचर्या मन्त्रौघो मण्डलं मुद्रिकाविधिः ।
एकीकारः स्वस्वरूपे प्रवेशः शास्त्रमेलनम् ॥२८३॥
आयातिकथनं शास्त्रोपादेयत्वनिरूपणम् ।

सामान्यसंज्ञया कीर्तनं पूर्वज उद्देशः, विशेषसंज्ञया कीर्तनम् अनुज उद्देशः, स एव च विभागः इत्यन्यत्र उक्तः । तत्र पूर्वजमुद्देशमाह–विज्ञानभित् इत्यादिना निरूपणम् इत्यन्तम्, विज्ञानानि शाम्भवादीनि भिद्यन्ते यत्र इति । गतोपायः इत्यनुपायः । पौत्रिके विधौ इति पौत्रिकं विधिमाश्रित्य । दीक्षा इति पूर्वेण संबन्धः । प्रमेयप्रक्रिया इत्यर्थात् पौत्रिके विधौ इति योज्यम् । यद्वक्ष्यति

'तदाह्निकानुजोद्देशे कथितं पौत्रिके विधौ ।'

इति ॥ २७८–२८३ ॥

किमेवमियता ग्रन्थेन उपनिबद्धेन ? इत्याशङ्क्याह

इति सप्ताधिकामेनां त्रिंशतं यः सदा बुधः ॥२८४॥
आह्निकानां समभ्यस्येत् स साक्षाद्भैरवो भवेत् ।
सप्तत्रिंशत्सु संपूर्णबोधो यद्भैरवो भवेत् ॥२८५॥
किं चित्रमणवोऽप्यस्य दृशा भैरवातामियुः ।
इत्येष पूर्वजोद्देशः कथ्यते त्वनुजोऽधुना ॥२८६॥
विज्ञानभित्प्रकरणे सर्वस्योद्देशनं क्रमात् ।
द्वितीयस्मिन्प्रकरणे गतोपायत्वभेदिता ॥२८७॥
विश्वचित्प्रतिबिम्बत्वं परामर्शोदयक्रमः ।
मन्त्राद्यभिन्नरूपत्वं परोपाये विविच्यते ॥२८८॥
विकल्पसंस्क्रिया तर्कतत्त्वं गुरुसतत्त्वकम् ।
योगाङ्गानुपयोगित्वं कल्पितार्चाद्यनादरः ॥२८९॥
संविच्चक्रोदयो मन्त्रवीर्यं जप्यादि वास्तवम् ।
निषेधविधितुल्यत्वं शाक्तोपायेऽत्र चर्च्यते ॥२९०॥
बुद्धिध्यानं प्राणतत्त्वसमुच्चारश्चिदात्मता ।
उच्चारः परतत्त्वान्तःप्रवेशपथलक्षणम् ॥२९१॥
करणं वर्णतत्त्वं चेत्याणवे तु निरूप्यते ।
चारमानमहोरात्रसंक्रान्त्यादिविकल्पनम् ॥२९२॥
संहारचित्रता वर्णोदयः कालाध्वकल्पने ।
चक्रभिन्मन्त्रविद्याभिदेतच्चक्रोदये भवेत् ॥२९३॥
परिमाणं पुराणां च संग्रहस्तत्त्वयोजनम् ।
एतदुद्देशाध्वनिर्देशे द्वयं तत्त्वाध्वनिर्णये ॥२९४॥
कार्यकारणभावश्च तत्त्वक्रमनिरूपणम् ।
वस्तुधर्मस्तत्त्वविधिर्जाग्रदादिनिरूपणम् ॥२९५॥

प्रमातृभेद इत्येतत् तत्त्वभेदे विचार्यते ।
कलास्वरूपमेकत्रिपञ्चाद्यैस्तत्त्वकल्पनम् ॥२९६॥
वर्णभेदक्रमः सर्वाधारशक्तिनिरूपणम् ।
कलाद्यध्वविचारान्तरेतावत्प्रविविच्यते ॥२९७॥
अभेदभावनाकम्पहासौ त्वध्वोपयोजने ।
संख्याधिक्यं मलादीनां तत्त्वं शक्तिविचित्रता ॥२९८॥
अनपेक्षित्वसिद्धिश्च तिरोभावविचित्रता ।
शक्तिपातपरीक्षायामेतावान्वाच्यसंग्रहः ॥२९९॥
तिरोभावव्यपगमो ज्ञानेन परिपूर्णता ।
उत्क्रान्त्यनुपयोगित्वं दीक्षोपक्रमणे स्थितम् ॥३००॥
शिष्यौचित्यपरीक्षादौ स्थानभित्स्थानकल्पनम् ।
सामान्यन्यासभेदोऽर्घपात्रं चैतत्प्रयोजनम् ॥३०१॥
द्रव्ययोग्यत्वमर्चा च बहिर्द्वारार्चनं क्रमात् ।
प्रवेशो दिक्स्वरूपं च देहप्राणादिशोधनम् ॥३०२॥
विशेषन्यासवैचित्र्यं सविशेषार्घभाजनम् ।
देहपूजा प्राणबुद्धिचित्स्वध्वन्यासपूजने ॥३०३॥
अन्यशास्त्रगणोत्कर्षः पूजा चक्रस्य सर्वतः ।
क्षेत्रग्रहः पञ्चगव्यं पूजनं भूगणेशयोः ॥३०४॥
अस्त्रार्चा वह्निकार्यं चाप्यधिवासनमग्निगम् ।
तर्पणं चरुसंसिद्धिर्दन्तकाष्ठान्तसंस्क्रिया ॥३०५॥
शिवहस्तविधिश्चापि शय्याक्लृप्तिविचारणम् ।
स्वप्नस्य सामयं कर्म समयाश्चेति संग्रहः ॥३०६॥
समयित्वविधावस्मिन्स्यात्पञ्चदश आह्निके ।
मण्डलात्मानुसन्धानं निवेद्यपशुविस्तरः ॥३०७॥

अग्नितृप्तिः स्वस्वभावदीपनं शिष्यदेहगः ।
अध्वन्यासविधिः शोध्यशोधकादिविचित्रता ॥३०८॥
दीक्षाभेदः परो न्यासो मन्त्रसत्ताप्रयोजनम् ।
भेदो योजनिकादेश्च षोडशे स्यादिहाह्निके ॥३०९॥
सूत्रक्लृप्तिस्तत्त्वशुद्धिः पाशदाहोऽथ योजनम् ।
अध्वभेदस्तथेत्येवं कथितं पौत्रिके विधौ ॥३१०॥
जननादिविहीनत्वं मन्त्रभेदोऽथ सुस्फुटः ।
इति संक्षिप्तदीक्षाख्ये स्यादष्टादश आह्निके ॥३११॥
कलावेक्षा कृपाण्यादिन्यासश्चारः शरीरगः ।
ब्रह्मविद्याविधिश्चैवमुक्तं सद्यःसमुत्क्रमे ॥३१२॥
अधिकारपरीक्षान्तःसंस्कारोऽथ तुलाविधिः ।
इत्येतद्वाच्यसर्वस्वं स्याद्विंशतितमाह्निके ॥३१३॥
मृतजीवद्विधिर्जालोपदेशः संस्क्रियागणः ।
बलाबलविचारश्चेत्येकविंशाह्निके विधिः ॥३१४॥
श्रवणं चाभ्यनुज्ञानं शोधनं पातकच्युतिः ।
शङ्काच्छेद इति स्पष्टं वाच्यं लिङ्गोद्धृतिक्रमे ॥३१५॥
परीक्षाचार्यकरणं तद्व्रतं हरणं मतेः ।
तद्विभागः साधकत्वमभिषेकविधौ त्वियत् ॥३१६॥
अधिकार्यथ संस्कारस्तत्प्रयोजनमित्यदः ।
चतुर्विंशेऽन्त्ययागाख्ये वक्तव्यं परिचर्च्यते ॥३१७॥
प्रयोजनं भोगमोक्षदानेनात्र विधिः स्फुटः ।
पञ्चविंशाह्निके श्राद्धप्रकाशे वस्तुसंग्रहः ॥३१८॥
प्रयोजनं शेषवृत्तेर्नित्यार्चा स्थण्डिले परा ।
लिङ्गस्वरूपं बहुधा चाक्षसूत्रनिरूपणम् ॥३१९॥

पूजाभेद इति वाच्यं लिङ्गार्चासंप्रकाशने ।
नैमित्तिकविभागस्तत्प्रयोजनविधिस्ततः ॥३२०॥
पर्वभेदास्तद्विशेषश्चक्रचर्चा तदर्चनम् ।
गुर्वाद्यन्तदिनाद्यर्चाप्रयोजननिरूपणम् ॥३२१॥
मृतेः परीक्षा योगीशीमेलकादिविधिस्तथा ।
व्याख्याविधिः श्रुतविधिर्गुरुपूजाविधिस्त्वियत् ॥३२२॥
नैमित्तिकप्रकाशाख्ये ऽप्यष्टाविंशाह्निके स्थितम् ।
अधिकार्यात्मनो भेदः सिद्धपत्नीकुलक्रमः ॥३२३॥
अर्चाविधिर्दौतविधी रहस्योपनिषत्क्रमः ।
दीक्षाभिषेकौ बोधश्चेत्येकोनत्रिंश आह्निके ॥३२४॥
मन्त्रस्वरूपं तद्वीर्यमिति त्रिंशे निरूपितम् ।
शूलाब्जभेदो व्योमेशस्वस्तिकादिनिरूपणम् ॥३२५॥
विस्तरेणाभिधातव्यमित्येकत्रिंश आह्निके ।
गुणप्रधानताभेदाः स्वरूपं वीर्यचर्चनम् ॥३२६॥
कलाभेद इति प्रोक्तं मुद्राणां संप्रकाशने ।

इत्यादि न केवलमेवं, यावत् अन्यदपि अस्य माहात्म्यं स्यात् इत्यहा 'इति सप्ताधिकां, संप्रकाशने' इत्यन्तम् । इह ग्रन्थकृता तत्त्वतः समस्तव्यस्तत्वेन सप्तत्रिंशदाह्निकानि उपनिबद्धानि इति । यथा पृथ्वीतत्त्वे भेदस्य प्राधान्यात् स्थूलेन रूपेण सर्वमस्ति, तथा इहापि वक्ष्यमाणम् इत्युक्तं 'सर्वस्योद्देशनं क्रमात्' इति । परोपाये इति–शाम्भवोपाये, अस्य च अविकल्पकमेव रूपम् इत्युक्तप्रायं, तच्च भेदाभावे सति भवेत्, स च वाच्यवाचकात्मनो विश्वस्य संविदैकरूपत्वे सति स्यात्, तत्र वाच्यात्मनो विश्वस्य चित्प्रतिबिम्बत्वेन सामान्यविशेषात्मतया द्विविधस्य, वाचकात्मनो विश्वस्य च परामर्शोदयक्रममन्त्राद्यभिन्नरूपत्वाभ्यां संविदनतिरेकात् तदेकरूपत्वमुच्यते इत्यत्र एतत्प्रमेयत्रयोपक्षेपः । शाक्तस्य च विकल्पकमेव रूपम् इति प्रथमं विकल्पस्यैव संस्कार उक्तः, स च हेयाद्यालोचनद्वारेण तर्केण अभिधीयते इति तदनन्तरम् तत्तत्त्वम् । अन्यच्च शुद्धविद्यात्मनस्त-

र्कस्यैव विस्फूर्जितं यत् तद्वशादेव सद्गुरुप्राप्तिर्भवेत् इति तत्सतत्त्वमुक्तम्। तर्क एव च साक्षाद्योगस्याङ्गम् इति अन्येषां योगाङ्गानामनुपयोगित्वम्—तर्कस्य च शुद्धविद्यात्मतया भेदभावकमायीयविकल्पप्रतिघातित्वात् कल्पितस्य अर्चादेरनादरः तत एवाविकल्पसंस्कारस्य दाढर्यात् संविच्चक्रोदयः, तदुदय एव च मन्त्राणां परं वीर्यं, तथामर्श एव च वास्तवं जप्यादि, अत एव च संविदि भेदाभावात् निषेधविधितुल्यत्वम् इत्येतन्नवसंख्याकं प्रमेयमुपक्षिप्तम्। एवमाणवादावपि बुद्धिध्यानादेः साक्षात्तदौपयिकत्वम् इत्येतदस्माभिः–स्पष्टत्वात् ग्रन्थविस्तरभयात् अग्रे च निर्णेष्यमाणत्वात् न प्रातिपद्येन व्याख्यातम् इति स्वयमेव अवधार्यम् ॥ २८४–३२६ ॥

ननु एकीकाराह्निकादौ किमिति न अनुजोद्देशः कृतः? इत्याशङ्क्याह

द्वात्रिंशतत्त्वादीशाख्यात्प्रभृति प्रस्फुटो यतः ॥३२७॥
न भेदोऽस्ति ततो नोक्तमुद्देशान्तरमत्र तत्।

द्वात्रिंशं तत्वं स्वरूपं यस्य तन्मुद्र ह्निकं, तस्मात् द्वात्रिंशसंख्यादनन्तरं यत् ईशाख्यं त्रयस्त्रिंशमेकीकाराह्निकं तत आरभ्य भेदस्य प्राधान्याभावात् अनुज उद्देशो न कृतः इत्यर्थः ॥ ३२७ ॥

ननु यद्यतः प्रभृति भेदो नास्ति तत्किमिति आह्निकान्तरपरिगणनमेव कृतम् इत्याशङ्क्याह

मुख्यत्वेन च वेद्यत्वादधिकारान्तरक्रमः ॥३२८॥

एतदुपसंहरन्नन्यदवतारयति

इत्युद्देशविधिः प्रोक्तः सुखसंग्रहहेतवे।
अथास्य लक्षणावेक्षे निरूप्येते यथाक्रमम् ॥३२९॥

अस्य इति—उद्दिष्टस्य प्रमेयजातस्य ॥ ३२९ ॥

इदानीमाह्निकार्थमेव संचिनोति

आत्मा संवित्प्रकाशस्थितिरनवयवा संविदित्यात्तशक्ति-
व्रातं तस्य स्वरूपं स च निज महसश्छादनाद्बद्धरूपः।

आत्मज्योतिःस्वभावप्रकटनविधिना तस्य मोक्षः स चायं
चित्राकारस्य चित्रः प्रकटित इह तत्संग्रहेणार्थ एषः ॥३३०॥

इह आत्मनस्तावत् धामत्रयोबाह्यप्रकाशविलक्षणः संविद्रूप एव प्रकाशः स्वरूपं, संविच्च निरवयवा इति एक एव अखण्डप्रकाशरूपः इति यावत्। अत एव च

'शक्तिश्च नाम भावस्य स्वं रूपं मातृकल्पितम्।'

इत्याद्युक्तयुक्त्या तस्य आत्मनः क्रोडीकृतानन्तशक्तिकं स्वरूपम्, एवमद्वयात्मत्वेऽपि स एव अतिदुर्घटकारित्वलक्षणात् स्वस्वातन्त्र्यात्, निजस्य-अनन्यसाधारणस्य ज्ञत्वकर्तृत्वलक्षणस्य, महसो गोपनात् ग्राह्यग्राहकात्मकं द्वन्द्वमाभासयन्

'..................शिव एव गृहीतपशुभावः।'

इत्याद्युक्तयुक्त्या 'बद्धः' इत्युच्यते, एवमपि तस्य आत्मनः प्रत्यावृत्त्या

'मोक्षो हि नाम नैवान्यः स्वरूपप्रथनं हि सः।
स्वरूपं चात्मनः संवित्..............................॥'

इत्याद्युक्तयुक्त्या ज्ञत्वकर्तृत्वलक्षणस्य स्वमहस एव प्रथनं मोक्षः, यदर्थमेव च तत्तदनन्तशास्त्रात्मक इयान् परिकरः। तदाह 'स चायम्' इत्यादि, स चायं मोक्षः—तत्तद्गृहीताधरदर्शनभूमिकस्य अस्य

'रागाद्यकलुषोऽस्म्यन्तः शून्योऽहं कर्तृतोज्झितः।'

इत्याद्युक्तयुक्त्या चित्रस्वभावस्य, यद्वा

'तेनाजडस्य भागस्य पुद्गलाण्वादिसंज्ञिनः।
अनावरणभागांशे वैचित्र्यं बहुधा स्थितम्॥'

इत्यादिनीत्या चित्राकारस्य

'अतः कंचित्प्रमातारं प्रति प्रथयते प्रभुः।
पूर्णमेव निजं रूपं कंचिदंशांशिकाक्रमात्॥'

इत्याद्युक्त्या चित्रः शाम्भवाद्यावेशात्मा प्रकटितः, इह इति-अस्मिन्नाह्निके। ययोर्बन्धमोक्षयोः संग्रहेण संक्षेपेण एषोऽर्थः प्रकटितः इत्यनेनैव संबन्धः॥ ३३०॥

ननु आत्मनः स्वरूपप्रथनमेव 'मोक्षः' इत्युक्तम्, आत्मा चैक एव अखण्डः इति तत्प्रथात्मनो मोक्षस्यापि वैचित्र्यं कुतस्त्यम् ? इत्याशङ्क्याह

मिथ्याज्ञानं तिमिरमसमान् दृष्टिदोषान्प्रसूते
तत्सद्भावाद्विमलमपि तद्भाति मालिन्यधाम ।
यत्तु प्रेक्ष्यं दृशि परिगतं तैमिरीं दोषमुद्रां
दूरं रुन्ध्येत्प्रभवतु कथं तत्र मालिन्यशङ्का ॥३२१॥

तिमिरम्–आणवमलमेव मिथ्याज्ञानं भेदप्रथात्मकम् अपूर्णं वेदनं, दृष्टेः पूर्णायाः संवित्तेः, असमान्—आत्मनि अनात्माभिमानादिरूपान् दोषान् जनयति इति मिथ्याज्ञानसद्भावात् विमलं पूर्णमपि तत् ज्ञानं मालिन्यधाम भाति-स्वस्वातन्त्र्यादपूर्णेन आत्मना परिस्फुरति इत्येतावानर्थः इति व्यवह्रियते, यत् पुनरुपेयत्वेन प्रेक्षणीयम्—अवश्यज्ञातव्यं परप्रमात्रेकात्म पूर्णं ज्ञानं

'नाहं प्राणो नैव शरीरं न मनोऽहं
नाहं बुद्धिर्नाहमहङ्कारधियौ च ।
योऽत्रज्ञांशः सोऽस्म्यहमेव.................. ।'

इत्यादिनीत्या उद्वेष्टनक्रमेण विमर्शपदवीमारूढं सत्, मिथ्याज्ञानसमुत्थाम् अनात्मनि आत्माभिमानरूपां दोषमुद्रां दूरं रुन्ध्येत्—आत्मन्येव आत्माभिमानेन तिरस्कुर्यात्, तत्र का नाम मालिन्यशङ्का तत्र संभावनापि न भवेत् इति वस्तुवृत्तेन बन्धो मोक्षो वापि न नाम कश्चिदस्ति इति का वा नाम तत्र वैचित्र्यसंभावना स्यात् । अनेन चाभिप्रायेण

'संसारोऽस्ति न तत्त्वतस्तनुभृतां बन्धस्य वार्तैव का
बन्धो यस्य न जातु तस्य वितथा मुक्तस्य मुक्तिक्रिया ।
मिथ्यामोहकृदेष रज्जुभुजगच्छायापिशाचभ्रमो
मा किंचित्त्यज मा गृहाण विरम स्वस्थो यथावस्थितः ॥'

इत्यादि अन्यत्र उक्तम् । अथ च तिमिरेण नेत्ररोगविशेषेण दृष्टौ अन्यथाज्ञानात्मदोषजातमुत्पादितं प्रेक्ष्येण अञ्जनादिस्थानीयेन रोध्यते इति तत्र मालिन्यशङ्कापि न भवति इति औपम्यं ध्वनितम् ॥ ३२१ ॥

इदानीमस्य शास्त्रस्य परं गाम्भीर्यं मन्यमानो ग्रन्थकृत्, एतदर्थंस-

तत्त्वमजानानैरपि अन्यैरन्यथाबोधेन यत्किंचित् उत्तानमेव अन्यथा उच्यते तान्प्रति अप्रस्तुतप्रशंसया उपहसितुमाह

भावव्रात ? हठाज्जनस्य हृदयान्याक्रम्य यन्नर्तयन्
भङ्गीभिर्विविधाभिरात्महृदयं प्रच्छाद्य संक्रीडसे ।
यस्त्वामाह जडं जडः सहृदयंमन्यत्वदुःशिक्षितो
मन्येऽमुष्य जडात्मता स्तुतिपदं त्वत्साम्यसंभावनात् ॥३३२॥

हे भावव्रात—नीलाद्यर्थ ? आत्मनो हृदयं तेन आत्मतथ्यं रूपं गोपयित्वा जनस्य सर्वस्यैव वादिनो हृदयानि आशयान् बलात्कारेण आक्रम्य

'अद्यास्मानसतः करिष्यति सतः किं नु द्विधा वाप्ययं
किं स्थास्नूनुत नश्वरानुत मिथोभिन्नानभिन्नानुत ।
इत्थं सद्वदनावलोकनपरैर्भावैर्जगद्वर्तिभिर्मन्ये
मौनमिरुद्धचमानहृदयैर्दुःखेन तैः स्थीयते ॥'

इत्यादिस्थित्या विविधाभिर्भङ्गीभिः नर्तयन् यत् संक्रीडसे--नटवत् अतात्त्विकेन रूपेण समुल्लससि, अतः स सर्वो वादी असहृदयमपि आत्मानं सहृदयत्वेन मन्यमानोऽत एव दुःशिक्षितो मिथ्याभिमानात् अकिंचिज्ज्ञः, त्वां भावव्रातं, जडम्--अचेतनम् आह, अतोऽस्माभिरुत्प्रेक्ष्यते-- यत् अमुष्य वादिनो वस्तुतश्चैतन्यस्वभावेन भवता यत् साम्यं तस्य संभावनात् भाववत्त्वमेव जडात्मा इति यद्युच्यते सा अस्य निन्दास्थाने स्तुतिः । भावानां हि वस्तुतश्चैतन्यमेव रूपम् अचेत्यमानत्वे हि तेषां न किंचिद्रूपं स्यात्, अतस्तदेव ये न जानते ते जडेभ्योऽपि जडाः इति कथं च तेषां चेतनात्मकैर्भावैः निन्दापर्यवसायि साम्यं स्यात् इति भावः । एवं प्रकृतेऽपि अस्य ग्रन्थस्य यस्तत्त्वं न जानाति मा ज्ञासीत्, प्रत्युत अन्यथापि यत्किंचन वक्ति इत्यसावेव जडो, न पुनरस्य ग्रन्थस्य कश्चिद्दोषः इत्यर्थः ॥ ३३२ ॥

ननु यद्येवं तर्हि एतच्छास्त्राधिगमाय केषांचन परेषां विदुषामभ्यर्थना क्रियतां, यदत्र यथावस्त्वेव बुद्ध्वा द्वेषो मा कार्यः ? इत्याशङ्क्याह

इह गलितमलाः परावरज्ञाः शिवसद्भावमया अधिक्रियन्ते ।
गुरवः प्रविचारणे यतस्तद्विफला द्वेषकलंकहानियाच्ञा ॥३३३॥

इह द्वये पुरुषाः सन्ति--अनायातशक्तिपाता आयातशक्तिपाताश्च,

तत्र पूर्वेषां शतशोऽभ्यर्थितानाम् एतदधिगमाय मनोऽपि न प्रसरति, इत्यत्र अवधातव्यम्, द्वेषो माकार्यः इत्यभ्यर्थनाया असामर्थ्यम्। अपरे च अनभ्यर्थिता अपि स्वयमेव एतदधिगमाय प्रवर्तन्ते इति तत्रापि एवमभ्यर्थनाया वैयर्थ्यम्। तदाह 'द्वेषकलङ्कहानियाञ्चा' इति। आयातशक्तिपाताश्च कीदृशाः? इत्याह गलितमलाः इति, गलित मलम्—अज्ञानं येषां ते तथाविधाः, अत एव च परम् आदिमम् अनुत्तरम् अवरम् अन्त्यं विसर्गं च ये जानते ते पराहंपरामर्शात्मकमन्त्रवीर्यज्ञाः इत्यर्थः, एत एव शिवसद्भावमयाः—परप्रमात्रैकात्मज्ञानशालिनः इति यावत्, अत एव च गुरवः—तात्त्विकार्थोपदेशिनः इति—एतदधिगमाय त एव परमाधिकारिणः इत्युक्तं यतः प्रविचारणेऽधिक्रियन्ते इति, यद्वक्ष्यति

'गुरोर्लक्षणमेतावदादिमान्त्यं च वेदयेत्।
पूज्यः सोऽहमिव ज्ञानी भैरवो देवतात्मकः॥'

इति॥ ३३३॥

इह आह्निकादाह्निकान्तरस्य संचयन्यायेन परस्परमनुस्यूततां दर्शयितुम् एकेनैव श्लोकेन तत्पर्यन्तप्रारम्भयोरुपसंहारोपक्रमौ करोति, इति 'अस्य ग्रन्थकारस्य शैली'—इति श्लोकस्य प्रथमार्धेन, आह्निकार्थमुपसंहरति

तन्त्रालोकेऽभिनवरचितेऽमुत्र विज्ञानसत्ता-
भेदोद्गारप्रकटनपटावाह्निकेऽस्मिन्समाप्तिः॥

पटौ इति पाक्षिकः पुंवद्भावः। इति शिवम्॥

श्रीभृङ्गाररथादवाप्य कृतिनो जन्मानवद्यक्रमं
श्रीमच्छङ्खधरात्परं परिचयं विद्यासु सर्वास्वपि।
श्रीकल्याणतनोः शिवादधिगमं सर्वागमानामपि
व्याख्यातं प्रथमाह्निकं जयरथेनात्रावधेयं बुधैः॥

इति श्रीमन्महामाहेश्वराचार्यवर्यश्रीमदभिनवगुप्तविरचिते तन्त्रालोके श्रीमद्राजानकजयरथकृतप्रकाशाभिख्यव्याख्योपेते विज्ञानभेदप्रकाशनं नाम प्रथममाह्निकं समाप्तिमगमत्॥

अथ

श्रीतन्त्रालोकस्य

श्रीमन्महामाहेश्वराचार्याभिनवगुप्तपादविरचितस्य श्रीमदाचार्यजयरथकृतप्रकाशाख्यव्याख्योपेतस्य

द्वितीयमाह्निकम्

जयतान्नतजनजयकृत्सजयो रुद्रो विनाभ्युपायं यः।
पूरयति कं न कामं कामं कामेश्वरत्वेन ॥ १ ॥

इदानीं

'यो हि यस्माद् गुणोत्कृष्टः स तस्मादूर्ध्वं उच्यते।'

इति-स्थित्या आणवादीनां यथायथमुत्कर्षादिह पूर्व-पूर्वमेवाभिधानमिष्यते इत्युपेयैकरूपत्वेन शांभवादप्यनुपायस्योत्कृष्टत्वम्, इति-प्रथमं तत्स्वरूपमेवाभिधातुमाह्निकान्तरारम्भं द्वितीयार्धेन प्रतिजानीते

यत्तत्राद्यं पदमविरतानुत्तरज्ञप्तिरूपं
तन्निर्णेतुं प्रकरणमिदमारभेऽहं द्वितीयम् ॥१॥

तन्निर्णयमेवाह

अनुपायं हि यद्रूपं कोऽर्थो देशनयात्र वै।
सकृत्स्याद्देशना पश्चादनुपायत्वमुच्यते ॥२॥

वै-शब्दोऽवधारणे, तेन नैव कश्चिदर्थः इत्यर्थः। अत्रैव समाधत्ते 'सकृत्स्यात्' इत्यादिना, देशना इत्युपलक्षणं—तेन सिद्धदर्शनाद्यपि ग्राह्यं, यदुक्तम्

'सिद्धानां योगिनीनां च दर्शनं चरुभोजनम्।
कथनं संक्रमः शास्त्रे साधनं गुरुसेवनम्॥
इत्याद्यो निरुपायस्य संक्षेपोऽयं वरानने।'

इति। सकृदिति–न पुनरुपायानुभवः पौनःपुन्येनेत्यर्थः। अत एवाह 'पश्चादनुपायत्वमुच्यते' इति, आणवादौ असकृद्भाव्यमानो हि देशनादि उपेयप्राप्तिं विदधाति इति तत्र तथात्वमुक्तम्, इह तु न तथा इत्यनुपायत्वं, पर्युदासस्य 'अनुदरा कन्या' इति वदल्पार्थत्वेऽपि भावात् अल्पोपायत्वमित्यर्थः–प्राप्तव्ये हि प्राप्ते किं नाम निरर्थकैरायासकारिभिर्भावनादिभिरिति भावः, यदुक्तम्

'उपायैर्न शिवो भाति भान्ति ते तत्प्रसादतः।
स एवाहं स्वप्रकाशो भासे विश्वस्वरूपकः॥
इत्याकर्ण्य गुरोर्वाक्यं सकृत्केचन निश्चिताः।
विना भूयोऽनुसंधानं भान्ति संविन्मयाः स्थिताः॥'

इति॥ २॥

नन्वत्र प्रसज्यप्रतिषेधपक्षावलम्बनेनाविद्यमानोपायत्वमेव, इति मुख्योऽर्थः कस्मान्न व्याख्यातः? इत्याशंक्याह

अनुपायमिदं तत्त्वमित्युपायं विना कुतः।
स्वयं तु तेषां तत्तादृक् किं ब्रूमः किल तान्प्रति॥३॥

'इदमनुपायं तत्त्वम्' इत्याद्युपदेशादिना केनचिदुपायेनावश्यं भाव्यम्, अन्यथा लक्षणमुपायमन्तरेण कथं सिद्ध्येत्, इत्युक्तम् 'इत्युपायं विना कुतः' तेन सकृदुपदेशादिना केनचिदुपायेनावश्यं भाव्यम्, अन्यथा ह्यनुपायपरतत्त्वज्ञप्तिरेव न स्यात्। ननु स्वविमर्शबलात्स्वयमेव प्राप्तप्राप्तव्या अपि केचिद् दृश्यन्ते, इति—किं सकृदुपदेशाद्यात्मना' स्वल्पेनाप्युत्पन्नेन? इत्याशंक्याह 'स्वयमित्यादिना' तदित्यनुपायं परप्रकाशात्मकं रूपं, किं ब्रूम इति—नहि तदधिकारेण शास्त्रस्यैव प्रवृत्तिर्भवेदिति भावः, तदुक्तम्

'तत्त्वज्ञस्य तृणं शास्त्रं.......... ।'

इति। यदभिप्रायेणैव

'संसाराम्बुनिधिं यः स्यात्तितीर्षुः कश्चिदुत्तमः'
नात्यन्ततज्ज्ञो नो मूर्खः सोऽस्मिञ्छास्त्रेऽधिकारवान्'।

इत्यादावत्यन्ततज्ज्ञस्य शास्त्रे नाधिकार उक्तः, तेन वयमर्वाग्दर्शिनोऽप्यदृष्टेऽर्थे शास्त्रैकदिव्यचक्षुष आरुरुक्षूनायातशक्तिपातान्प्रत्येव किंचन ब्रूमः–

तेषां ह्येवमुपायमन्तरेण न कदाचिदप्युपेयप्राप्तिर्भवेत् इत्येवमुक्तम्, यद्वक्ष्यति

'नानिर्मलचितः पुंसोऽनुग्रहस्त्वनुपायकः।'

इति ॥ ३ ॥

ननु यद्येवं तर्हि अल्प एव कश्चिदुपायांशः समुपदिश्यतां येनोपदेश्य-जनस्य सुखमेव उपेयप्राप्तिः स्यात्, किं बह्वायासदायिभिरन्यैरुपायैः? इत्याशंक्याह

यच्चतुर्धोदितं रूपं विज्ञानस्य विभोरसौ।
स्वभाव एव मन्तव्यः स हि नित्योदितो विभुः ॥४॥

यच्चतुर्धा—अनुपायादिभेदेन विज्ञानस्य रूपमुक्तं तद्विभोः परमेश्वर-स्यैव स्वातन्त्र्यं ज्ञेयम्, स एव हि स्वस्वातन्त्र्यादतिनिर्ह्रासतारतम्या-दियोगाद्विचित्रेणोपदेश्यजनात्मना प्रस्फुरन् तदनुसारमेव तत्तदुपायवैचित्र्य-मप्याभासयेत्। नन्वेक एव विचित्रेण रूपेण च स्फुरति, इति किमेतत्? इत्याशंक्याह 'स हीत्यादि' नित्योदित इति-अप्रच्युतप्राच्यस्वरूपः, अत एव 'विभुः' व्यापकः-तत्तद्वैचित्र्यग्रहणकालेऽप्यनुगत एवेत्यर्थः ॥ ४ ॥

अत एवाह

एतावद्भिरसंख्यातैः स्वभावैर्यत्प्रकाशते।
केऽप्यंशांशिकया तेन विशन्त्यन्ये निरंशतः ॥५॥

एतावद्भिरिति-चतुर्भिः, असंख्यातैरिति-तत्तदवान्तरभेदात्, तेनेति-अनेकेन स्वभावेन प्रकाशनात् ॥ ५ ॥

न केवलमत्रैयदेव वैचित्र्यं यावदन्यदप्यस्तीत्याह

तत्रापि चाभ्युपायादिसापेक्षान्यत्वयोगतः।
उपायस्यापि नो वार्या तदन्यत्वाद्विचित्रता ॥६॥

उपायस्यापीति अपिशब्दो भिन्नक्रमः, तेन नो वार्या तदन्यत्वादपि, इति व्याख्येयम्, एतच्च प्रथमाह्निक एव वितत्य निर्णीतम्, इति-नेह पुनरायस्तम् ॥ ६ ॥

एवमेतत् प्रसंगादभिधाय प्रकृतमेवाह

तत्र ये निर्मलात्मानो भैरवीयां स्वसंविदम् ।
निरुपायामुपासीनास्तद्विधिः प्रणिगद्यते ॥७॥

ये केचन तीव्रतीव्रशक्तिपातानुविद्धा विकल्पकलंकान्मुक्ताः, भैरवीयां पूर्णाम्, अत एवानुपायाम्–अनपेक्षाम्, आत्मसंविदमाविष्टाः, तेषां विधिः–पूर्णसंविदावेशक्रमात्मा प्रकारः, प्रकर्षेण निगद्यते–युक्तियुक्तत्वेन भण्यते इत्यर्थः ॥ ७ ॥

तदेवाह

तत्र तावत्क्रियायोगो नाभ्युपायत्वमर्हति ।

उपायः खलु करणे प्रसृते, अतश्च पूर्णेन भाव्यमेव, इति सर्वेषामविवादः, न चात्रैवं–क्रियादयो हि संवेद्यमानत्वात्संविन्निष्ठा एव, इति संविच्छक्तिं विना अप्रसिद्धत्वात् कथं तत्रोपायतामासादयेयुः, अतः प्रत्युत क्रियादीनां वहिराभासने संविदुपायः, इति युक्तम् ॥ अत एवाह

स हि तस्मात्समुद्भूतः प्रत्युत प्रविभाव्यते ॥८॥

तस्मादित्यनुपायात्संवित्तत्त्वात् ॥ ८ ॥

अथ यद्यस्य क्रियादि न कारकम् अपि तु ज्ञापकम् इति उच्यते, तदपि न युज्यते, इत्याह ।

ज्ञप्तावुपाय एव स्यादिति चेज्ज्ञप्तिरुच्यते ।
प्रकाशत्वं, स्वप्रकाशे तच्च तत्रान्यतः कथम् ॥९॥

इह जडस्तावत् स्वयमप्रकाशात्मा स्वात्मनो न प्रकाशते, अपि तु परस्य, इति—पर एवास्य प्रकाशः, अजडस्तु स्वयं प्रकाशात्मा स्वात्मन एव प्रकाशते, न परस्य, इति—न परोऽस्य प्रकाशोऽपितु स्व एव अस्य प्रकाशः, तस्यापि परप्रकाशत्वे ह्यप्रकाशात्मत्वात् जाड्यं स्यात्, अत एवाह 'स्वप्रकाशे तच्च तत्रान्यतः कथम्' इति प्रकाशत्वम्, एवं चान्योऽपि स्वप्रकाशो वा स्यात् अन्यथा वा, स्वप्रकाशत्वे प्रथमस्यैव तथाभाव उच्यताम्, अनेनापि कोऽर्थः, अन्यथात्वे तस्यापि जाड्यापत्तिः, इति

प्रकाशत्वात्तत्प्रकाशनाय प्रमात्रन्तरापेक्षायामनवस्थापत्तिः, इति सर्वेषामेव अप्रकाशात्मत्वान्न किंचिदपि प्रकाशेत, इति—सर्वमिदमन्धं स्यात् ॥ ९ ॥

तदाह

संवित्तत्त्वं स्वप्रकाशमित्यस्मिन्किं नु युक्तिभिः ।
तदभावे भवेद्विश्वं जडत्वादप्रकाशकम् ॥१०॥

किं नु युक्तिभिरिति—बह्वीभिर्युक्तिभिर्न किंचित्प्रयोजनमित्याह, एकैव हि युक्तिरियं सर्वातिशायिनी—यत्संविदः स्वप्रकाशत्वं यदि न स्यात्, न किंचिदपि प्रकाशेत इति ॥ १० ॥

ननु यदि नाम अत्र न वाह्यः क्रियादिः प्रगल्भते तदा गुरुज्ञानादि उपायतां भजताम् ? इत्याशंक्याह

यावानुपायो बाह्यः स्यादान्तरो वापि कश्चन ।
स सर्वस्तन्मुखप्रेक्षी तत्रोपायत्वभाक्कथम् ॥११॥

यावानिति—नानाशास्त्रोपदिष्टः, सर्व इति—बाह्य आन्तरो वा, तन्मुखप्रेक्षीति–संविदधीनसिद्धिरित्यर्थः, यदपेक्ष्य हि यस्य सिद्धिरेवं भवति स कथं तस्य उपायतां यायादिति भावः ॥ ११ ॥

अत एवाह

त्यजावधानानि ननु क्व नाम
धत्सेऽवधानं विचिनु स्वयं तत् ।
पूर्णेऽवधानं न हि नाम युक्तं
नापूर्णमभ्येति च सत्यभावम् ॥१२॥

इह उपदिश्यमानेन स्वयमेव तावदवधातव्यम इति परामर्शनीयम्, किं पूर्णे रूपे उतापूर्णे ? तत्र तावत्पूर्णे रूपेऽवधानं न युक्तम्, अवधानं खलु–प्रतिनियतावधेयविषयनिष्ठम् ऐकाग्रयम्, अतश्च भेदप्रधानं न किंचित्फलमादातुं समर्थम् ॥ १२ ॥

तस्मादसामर्थ्यवैयर्थ्योपहतत्वादवधानस्यापि यत्र नास्ति उपायभावस्तत्र का वार्ता तदनुप्राणितस्य भावनादेः ? इत्याह

तेनावधानप्राणस्य भावनादेः परे पथि ।
भैरवीये कथंकारं भवेत्साक्षादुपायता ॥१३॥

भैरवीये इति-पूर्णे ॥ १३ ॥

ये पुनरनेनापि उपायेनानुपायं परं तत्त्वमनुसरन्ति तान्प्रति किमुच्यते ? इत्याह

येऽपि साक्षादुपायेन तद्रूपं प्रविविञ्चते ।
नूनं ते सूर्यसंवित्त्यै खद्योताधित्सवो जडाः ॥१४॥

तदुक्तम्

'अपरोक्षे भवत्तत्त्वे सर्वतः प्रकटे स्थिते ।
यैरुपायाः प्रतन्यन्ते नूनं त्वां न विदन्ति ते ॥'

इति ॥ १४॥

अत्रैव निमित्तान्तरमप्याह

किं च यावदिदं बाह्यमान्तरोपायसंमतम् ।
तत्प्रकाशात्मतामात्रं शिवस्यैव निजं वपुः ॥१५॥

इह खलु यत्किंचन उपायत्वेनाभीष्टं तदप्रकाशमानं प्रकाशमानं वा ? अप्रकाशमानं चेत् तस्य न किंचिदपि रूपं स्यात्, इति किं नाम उपायतां भजतां, प्रकाशमान चेत् प्रकाशात्मा शिव एवावस्थितः, नहि तदतिरिक्तमन्यत्किंचिदुपपद्यते, इति-कस्योपायभावः, उपायेन हि उपेयाद्व्यतिरिक्तेन भाव्यं, तच्चात्र न युक्तम्, इति को नाम उपायोपेयभावार्थः ॥१५॥

न केवलं भावनाद्येव उपायत्वेनाभीष्टमेवम्, यावदन्यदपीत्याह

नीलं पीतं सुखमिति प्रकाशः केवलः शिवः ।
अमुष्मिन्परमाद्वैते प्रकाशात्मनि कोऽपरः ॥१६॥
उपायोपेयभावः स्यात्प्रकाशः केवलं हि सः ॥१७॥

भावनादेः सुप्रसिद्धेऽपि उपायत्वे निरस्ते अन्यस्य कस्यचित्संभावनामात्रमपि माभूत्, इत्येवमुक्तं 'कोऽपर' इति, यत्र उपायत्वसंभावनापि स्यात् ॥ १७ ॥

ननु यद्येवं तर्हि सर्वत्र प्रसिद्धोऽयं द्वैतव्यवहारः कथमपह्नूयते ? इत्याशंक्याह

इदं द्वैतमऽयं भेद इदमद्वैतमित्यपि ।
प्रकाशवपुरेवायं भासते परमेश्वरः ॥१८॥

द्वैतव्यवहारोऽपि प्रकाशमानत्वात्प्रकाशात्मैवेत्यभिप्रायः, एतच्च बहूनां वादिनां मतम्—इति द्योतयितुम 'अयं भेद' इति पुनरुपादानम्, यथा चाद्वैतप्रतिभासे प्रकाशात्मा परमेश्वर एक एव प्रतिभासते तथा द्वैतप्रतिभासेऽपि, इत्यर्थमौपम्यं कटाक्षयितुम् 'इदमद्वैतमित्यपि' इत्युपात्तम् ॥१८॥

ननु बाह्योऽर्थः प्रकाशमानत्वात्प्रकाशात्मैव इत्यास्ताम्, अन्योन्यं पुनरस्य भेदे किमायातम्' इत्यापतितमेव द्वैतम् ? इत्याशंक्याह

अस्यां भूमौ सुखं दुःखं बन्धो मोक्षश्चितिर्जडः ।
घटकुम्भवदेकार्थाः शब्दास्तेऽप्येकमेव च ॥१९॥

अस्यां भूमाविति—परमाद्वयदशायामित्यर्थः, 'एकार्थाः' इति—एकः प्रकाश एवार्थोऽभिधेयो येषां ते तथा, सुखदुःखादीनां हि प्रकाशातिरेकेण प्रातिस्विकं नियतं किंचन रूपं यदि स्यात् तदैवं संभावनापि भवेदिति भावः, अत एव

'घटो मदात्मना वेत्ति वेद्म्यहं च घटात्मना ।'

इत्यादिरन्यैरुक्तम् । ननु यद्येवं तर्हि तदभिधायकत्वशब्दाभिप्रायेणापि द्वैतं स्यात् ? इत्याह 'शब्दास्तेऽप्येकमेव च' ज्ञात, एकमिति-संवेद्यमानत्वात्संवेदनमेवेत्यर्थः ॥ १९ ॥

ननु यदि नीलसुखादि प्रकाशमानत्वात्प्रकाश एव तर्हि तत्केन रूपेण प्रकाशते ? इत्याशंक्याह

प्रकाशे ह्यप्रकाशांशः कथं नाम प्रकाशताम् ।
प्रकाशमाने तस्मिन्वा तद्द्वैतास्तस्य लोपिताः ॥२०॥
अप्रकाशेऽथ तस्मिन्वा वस्तुता कथमुच्यते ॥
न प्रकाशविशेषत्वमत एवोपपद्यते ॥२१॥

अप्रकाशांश इति—सुखादिजडोऽर्थः, कथंनामेति-केन रूपेणेत्यर्थः, तत्र यदि प्रकाशात्मनैव प्रकाशते तत्तस्य नीलसुखादेः स्वभावस्य दोषः स्यात्—नियतेन नीलत्वादिना बाह्येन रूपेण न भायात्प्रकाश एव शिष्येत इति यावत्, अथ अप्रकाशात्मना नियतेनैव रूपेण प्रकाशते तत्तस्य सत्तानिश्चय एव न भवेत्, नहि प्रकाशमन्तरेण नीलादीनां कदाचिदपि स्वरूपं दृष्टम्, 'अप्रकाशात्मना रूपेण प्रकाशते' इति वाचोयुक्तिश्च रिक्ता स्यात्, तदाह 'अप्रकाश' इत्यादि प्रकाशः पुनर्नीलादिपरिहारेणानीलादावपि प्रकाशते, नीलादिर्हि उपाधिः, स च स्वस्वातन्त्र्यविजृम्भामात्ररूपत्वान्न वास्तवः, इत्यखण्ड एक एव प्रकाश उज्जृम्भते, यन्महिम्नैव इदं तत्तन्नीलाद्याभासात्म विश्वं स्फुरेत्, अत एवाह 'न प्रकाशविशेषत्वमुपपद्यते' इति, अत इति—एकस्यैव अखण्डस्य प्रकाशस्य तत्तदाभासात्मना स्फुरणात्। ननु 'नीलप्रकाशोऽन्यः, पीतप्रकाशश्चान्य' इत्यादिरस्त्येव एषां भेदः, इति किमुक्तं 'न प्रकाशविशेषत्वमुपपद्यते' इति ? नैतत्-औपाधिको ह्ययं भेदः, स च न वास्तवः—इत्युपपादितं बहुशः, नीलादयो हि प्रकाशत्वात्प्रकाशात्मका एव इति किं केन भेद्यम्, नहि स्वात्मनैव स्वात्मा भिद्यते इत्येतदुक्तम् 'न च प्रकाशैकरूपायां संविदि संविदन्तरमस्ति' एवं हि स्वरूपभेदकृते भेदव्यवहारे क्रियमाणे एकभेदप्रकाशरूपत्वमेवोक्तं भवेत् इति गजस्नानतुल्यत्वं स्यात्, ततश्च पुनरपि 'एकैवाखण्डवित्' इत्येव पर्यवस्येत्, एवं च देशकालावपि प्रकाशदशामेवाधिशयानौ प्रकाश्यत्वात्प्रकाशैकात्म्यमेवावगाहमानौ कथंकारं प्रकाशस्य भेदाधायकौ स्याताम्, प्रकाशातिरेकाभ्युपगमे वा अनयोरत्र नित्यत्वव्यापकत्वाभ्या भेदाधानेऽसामर्थ्यम्, इत्येक एवाखण्डः प्रकाशः, इति—मतान्तरसिद्धिमभिवाञ्छन्तः परे परं निरस्ताः ॥ २१ ॥

तदाह

अत एकप्रकाशोऽयमिति वादेऽत्र सुस्थिते ।
दूरादावारिताः सत्यं विभिन्नज्ञानवादिनः ॥२२॥

ननु यदि ज्ञानानि विभिन्नानि न संभवन्ति, तत् एकशब्दः किमपोहनायात्र प्रयुक्तः ? इत्याशंक्याह

प्रकाशमात्रमुदितमप्रकाशनिषेधनात् ।
एकशब्दस्य न त्वर्थः संख्या चिद्व्यक्तिभेदभाक् ॥२३॥

अप्रकाशः-प्रकाश्यो नीलादिर्बाह्योऽर्थस्तावन्निषिद्धः, अतः 'प्रकाशः केवलोऽस्ति' इत्येकशब्दस्यात्रासहायाद्वृत्तिः, तदुक्तं 'एकशब्दस्यार्थः प्रकाशमात्रमुदितम्' इति, न पुनः प्रकाशभेदभाक् इत्येकद्वित्र्यादिलक्षणः संख्यार्थो, येन-मतान्तराण्यप्यपोह्यतया संभावनीयानि स्युः ॥ २३ ॥

अत एवात्र भेदागूरकं व्यवहारमात्रमपि न ज्ञायते, इत्याह

नैष शक्तिर्महादेवी न परत्राश्रितो यतः ।
न चैष शक्तिमान्देवो न कस्याप्याश्रयो यतः ॥२४॥
नैष ध्येयो ध्यात्रभावान्न ध्याता ध्येयवर्जनात् ।
न पूज्यः पूजकाभावात्पूज्याभावान्न पूजकः ॥२५॥
न मन्त्रो न च मन्त्र्योऽसौ न च मन्त्रयिता प्रभुः ।
न दीक्षा दीक्षको वापि न दीक्षावान्महेश्वरः ॥२६॥

एष इति-व्याख्यातस्वरूपः परः प्रकाशः, शक्ति-शक्तिमदादयो हि शब्दाः संबन्धिशब्दत्वान्नित्यसापेक्षाः इत्यन्यागूरणमन्तरेण स्वार्थ एव विश्रान्तिं लभन्ते, इति तैः क्रियमाणो व्यवहारो भेदनिष्ठ एव स्यात्, न चात्र परप्रमात्रेकात्मनि प्रकाशे भेदः कश्चिदस्ति, इत्येवं-व्यवहारमात्रतां कदाचिदपि स न यायात्, अतश्च नायं शक्तिः, सा हि परं शक्तिमन्तमाश्रित्यैव वर्तते इत्यनुपेक्षत्वाद्भेदाविर्भावे प्रकाश ऐवैकः, इति प्रतिज्ञाया हानिः स्यात्, एवं शक्तिमच्छब्दव्यवहारोऽपि नायं, सोऽपि हि परं शक्तिलक्षणमर्थमुररीकृत्यैव वर्तते, इति भेद एवापतेत्, एवं ध्येयादावपि ज्ञेयं, मन्त्र इति मन्त्रस्य प्रणवादेर्वाच्यः, मन्त्रयिता मन्त्राणां पाठकः, न दीक्षेति कर्तृकर्मापेक्षित्वात्, अत्र च माहेश्वर्ये प्रभुत्वं हेतुः ॥ २४-२५-२६ ॥

अत एव यत्किंचन भेदाधायकं तदत्र नास्ति, इत्याह

स्थानासननिरोधार्घसंधानावाहनादिकम् ।
विसर्जनान्तं नास्त्यत्र कर्तृकर्मक्रियोज्झिते ॥२७॥

स्थानं-स्थापनमुद्रया भगवतोऽवस्थानम्, आसनं-संनिधानमुद्रया पूजां प्रति औन्मुख्यं, निरोधः-तत्रैवाविचलत्त्वेनावस्थानम्, अर्घोऽष्टाङ्गः, संधानं मन्त्रादिविषयम्, आवाहनं-अनभिमुखस्याभिमुखीकरणं,

विसर्जनम्—अभिमुखीभूतस्यानभिमुखीकरणम्, एषामावाहनादिविसर्जनान्तानामसत्त्वे हेतुगर्भं विशेषणं—'कर्तृ इत्यादि' कर्त्रादीनां हि विकल्पैकपरमार्थत्वात्, प्रकाशस्य च परप्रमात्रेकात्मकत्वेनाविकल्प्यत्वात् न केनचिदपि व्यपदेशेन व्यपदेष्टुं शक्यते, इति 'नैष शक्तिः' इत्याद्युक्तम् ॥२७॥

न चैतद्युक्तिमात्रशरणम्, अपि त्वागमेनापि सिद्धम्, इति श्रीभर्गशिखां संवादयति ।

न सन्न चासत्सदसन्न च तन्नोभयोज्झितम् ।
दुर्विज्ञेया हि सावस्था किमप्येतदनुत्तरम् ॥२८॥
अयमित्यवभासो हि यो भावोऽवच्छिदात्मकः ।
स एव घटवल्लोके संस्तथा नैष भैरवः ॥२९॥

लोके हि सजातीयव्यावृत्तौ यः कश्चिदर्थः 'अयमिति' पुरोवर्तित्वेनावभासते भावः, स एव 'सत्' इत्यभिधीयते, यथा—घट इति, समनन्तरव्याख्यातस्वरूपः प्रकाशः पुनरनन्तभावनिर्भरो न तथा—महासत्तात्मत्वेनानवच्छिन्नत्वात् नैवंरूपः—सच्छब्दव्यवहार्यो न भवति, इति यावत् ॥ २८-२९ ॥

एवं तर्ह्यसच्छब्दव्यवहार्यो भवतु ? इत्याशंक्याह

असत्त्वं चाप्रकाशत्वं न कुत्राप्युपयोगिता ।

प्रकाश एव सर्वभावानां परा सत्ता इत्यसत्त्वं नामाप्रकाशत्वमकिंचिद्रूपत्वमुच्यते, यथा—शशविषाणादेः, अत एव च तन्न कुत्रापि कस्यांचिदपि अर्थक्रियायामुपयुक्तम्—न कांचिदप्यर्थक्रियां करोति, इति यावत् ॥

प्रकाशः पुनर्न तथा इत्याह

विश्वस्य जीवितं सत्यं प्रकाशैकात्मकश्च सः ॥३०॥

विश्वस्य—चेतनाचेतनात्मनः सर्वस्य, पारमार्थिकं जीवितं—स्फुरत्तात्मकत्वेन अनुप्राणकं, नहि तेन विना किंचिदपीदं प्रकाशते, इत्युक्तम् 'प्रकाशैकात्मकश्च' इति—एवमनेकरूपत्वादसच्छब्दव्यवहार्योऽपि, न भवेदिति भावः ॥ ३० ॥

अत एव सदसदात्मापि न, इत्याह

आभ्यामेव तु हेतुभ्यां न द्व्यात्मा न द्वयोज्झितः ।
सर्वात्मना हि भात्येष केन रूपेण मन्त्र्यताम् ॥३१॥

आभ्यां – समनन्तरोक्ताभ्यामनवच्छिन्नत्वप्रकाशमानत्वलक्षणाभ्याम्, ननु यद्येवं तर्हि सदसदात्मकरूपद्वयोत्तीर्णः स्यात्? इत्याशंक्याह 'न द्वयेत्यादि' भावाभावावभासकालेऽपि स एव हि परमवभासते, इति कथं सदसद्भ्यामप्युज्झितः स्यात् ? अत आह 'सर्वात्मना हि भात्येष' इति,— एवमेतत्परप्रमात्रैकात्म भवत्येव अन्यथा ह्यनवच्छिन्नरूपत्वात्कदाचिदपि विकल्पतां न यायात् इति तात्पर्यार्थः, यदुक्तम्

'सतोऽवश्यं परमसत्सच्च तस्मात्परं विभो ।
त्वं चासतः सतश्चान्यस्तेनासि सदसन्मयः ॥'

इति । तथा

'न शान्तमुदितं वापि तव रूपं न मध्यमम् ।
रूपं रूपं तव हरे यन्न केनचिदुच्यते ॥'

इति, अतश्च केन तावत्कल्पितेन रूपेण एतदुच्यते इति न जानीमः, इयं हि दशा विकल्पोपहतबुद्धीनां मायाप्रमातॄणां दुर्विज्ञेया—यथोक्तयुक्त्या ज्ञातुमशक्यैवेत्यर्थः, साक्षात्कृतपरमात्मतत्त्वानामविकल्पवृत्तीनां पुनरेतत्स्वानुभूतिमात्ररूपपरानन्दचमत्कारघनत्वेन सर्वातिशायि भासते एव, इत्युक्तं 'किमप्येतदनुत्तरम्' इति ॥ ३१ ॥

न केवलमेतदत्रैवोक्तं यावदन्यत्रापि, इत्याह

श्रीमत्त्रिशिरसि प्रोक्तं परज्ञानस्वरूपकम् ।
शक्त्या गर्भान्तर्वर्तिन्या शक्तिगर्भं परं पदम् ॥३२॥

'परं ज्ञानं कथं देव' इति देवीप्रश्ननिर्णयार्थं ह्येतदत्र परज्ञानरूपं भगवतोक्तमित्याशयः, तदेव पठति 'शक्त्या' इत्यादि, यदेतत्परं पदं तच्छक्तिगर्भं, शक्तिरेव स्वातन्त्र्यविमर्शादिपदाभिधेया गर्भः सारं यस्य तत्, सा च न तदतिरेकिणी, इत्याह 'शक्त्या गर्भान्तर्वर्तिन्या' इति, यतस्तयैव स्वातन्त्र्याख्यया शक्त्या गर्भोऽन्तरं प्रमात्रैकात्म्यं तस्यान्तः परा काष्ठा तेन वर्तते तच्छीला-तया स्वस्वभावरूपयोपलक्षितमित्यर्थः, अन्यथा ह्यस्य परत्वमेव न स्यात्, यदुक्तम्

'स्वभावमवभासस्य विमर्शं विदुरन्यथा ।
प्रकाशोऽर्थोपरक्तोऽपि स्फटिकादिजडोपमः ॥'

इति, अत एव शक्तौ स्वातन्त्र्यात्मनि स्वभाव एव तिष्ठति—सदैव ताद्रूप्येण वर्तत इत्यर्थः, अत एव शक्तिगर्भ-स्वातन्त्र्यशक्तिमन्तरेण नास्यान्याः शक्तयो विद्यन्ते इत्यर्थः, सैव हि तत्तदेषणीयाद्यर्थोपाधिवशान्नानात्वेन व्यवह्रियत इति भावः, यदुक्तम्

'तेन स्वातन्त्र्यशक्त्यैव युक्त इत्याञ्जसो विधिः ।
बहुशक्तित्वमप्यस्य तच्छक्त्यैवावियुक्तता ॥'

इति, तेन 'स्वतन्त्रो बोधः परमार्थः, इत्याद्युक्तनीत्यानवच्छिन्नस्वरूपः स्वातन्त्र्यशाल्यविकल्पकः प्रकाश एव परं तत्त्वम्, इति तात्पर्यम् ॥३२॥

अत एव च नियतव्यवच्छेदासहिष्णुत्वादेतद्विकल्प्यतां नैति, इत्याह

न भावो नाप्यभावो न द्वयं वाचामगोचरात् ।
अकथ्यपदवीरूढं शक्तिस्थं शक्तिवर्जितम् ॥३३॥

अगोचरादिति भावप्रधानो निर्देशः, तेन वाचामगोचरत्वादकथ्यपदवीरूढमित्यर्थः । एतच्च सर्वमसकृत्त्वेनैव व्याख्यातम्, इति न पुनरायस्तम् ॥ ३३ ॥

ये चातोऽवहितास्त एव परं कृतकृत्याः, इत्याह

इति ये रूढसंवित्तिपरमार्थपवित्रिताः ।
अनुत्तरपथे रूढास्तेऽभ्युपायानियन्त्रिताः ॥३४॥

इति—उक्तेन गुरूपदेशादिना, रूढा—तदैकात्म्यलाभादापादितप्ररोहा, या संवित्तिः, तस्या यः परमार्थः—सर्वसर्वात्मत्वेन स्फुरणं, तेन पवित्रिताः—भेदविकारकालुष्यापनयनेन परमाद्वयपात्रतामापादिताः, अत एव ते व्यतिरिक्तेन बाह्येनाभ्यन्तरेण वाभ्युपायेन अनियन्त्रिताः-तन्निरपेक्षाः सन्तः, अनुत्तरपथे—पूर्णानन्दचमत्कारघनतया शर्वातिशायिनि चिद्विकासात्मवृत्तिमार्गे विश्रान्ताः—स्वरसावस्थानेनैव लब्धतत्सामरस्या इत्यर्थः, तदुक्तम्,

'यथा स्थितस्तथैवास्स्व मा गा बाह्यमथान्तरम् ।
केवलं चिद्विकासेन विकारनिकराञ्जहि ॥'

इति । तथा

'आनन्दशक्तिविश्रान्तो योगी समरसो भवेत् ।'

इति । तथा

'उपायो नापरः कश्चित्स्वसत्तावगमादृते ।
तामेवानुसरन्योगी स्वस्थो यः स सुखी भवेत् ॥'

इति ॥ ३४ ॥

ततश्च किम् ? इत्याह

तेषामिदं समाभाति सर्वतो भावमण्डलम् ।
पुरःस्थमेव संवित्तिभैरवाग्निविलापितम् ॥३५॥

तेषाम्–अनुपायसमावेशशालिनां, देहाद्यपेक्षया पुरोऽवभासमानमपि इदं सर्वं भावमण्डलं

'मत्त एवोदितमिदं मय्येव प्रतिबिम्बितम् ।
मदभिन्नमिदं च ······························ ॥'

इत्यादिनीत्या पूर्णसंविन्मयतयैवावभासते इत्यर्थः, यदुक्तम्

'यथा रुमायां पतिताः काष्ठपर्णोपलादयः ।
लवणत्वाय कल्पन्ते तथा भावाश्चिदात्मनि ॥'

इति ॥ ३५ ॥

अत एवाह

एतेषां सुखदुःखांशशंकातंकविकल्पनाः ।
निर्विकल्पपरावेशमात्रशेषत्वमागताः ॥३६॥
एषां न मन्त्रो न ध्यानं न पूजा नापि कल्पना ।
न समय्यादिकाचार्यपर्यन्तः कोऽपि विभ्रमः ॥३७॥

न केवलमेषामविकल्पकावेशमयत्वापत्तेः लौकिक्य एव कल्पनाः न किंचित्, यावदलौकिक्योऽपि, इत्याह 'एषामित्यादि' कल्पना–स्थानादिका ॥ ३६-३७ ॥

ननु यद्येवं तर्ह्यस्य शेषवृत्तिः कथं स्यात् ? इत्याशंक्याह

समस्तयन्त्रणातन्त्रत्रोटनाटंकधर्मिणः ।
नानुग्रहात्परं किंचिच्छेषवृत्तौ प्रयोजनम् ॥३८॥

समस्ताः–निखिलाः शास्त्रोक्ता यन्त्रणा–'इदं कार्यम् इदं न' इत्यादयो नियमाः, ता एव तन्यमान-त्वात्तन्त्रंपटाद्यारम्भकं तन्तुजालं, तस्य त्रोटनायां विच्छेदे, टंकधर्मिणः शस्त्रकल्पस्येत्यर्थः, यथा हि टंकस्तन्त्रं छिनत्ति, तथायमपि अनुपायसमाविष्टः शास्त्रीय यन्त्रणाः—नहि आरूढ-स्यास्य ततः कश्चित्संकोच इति भावः, शास्त्रं हि आरुरुक्षूनुपदेश्यान्प्रत्येव नियामकम्, इति समनन्तरमेवोक्तम्, अत एव चास्य स्वात्मनि कृतकृत्य-त्वात्परानुग्रहार्थमेव वर्तनम् इत्याह 'नानुग्रहादिति' किंचिदिति–समयपरि-पालनादि ॥ ३८ ॥

तदाह

स्वं कर्तव्यं किमपि कलयंल्लोक एव प्रयत्नान्नो
पारार्थ्यं प्रति घटयते कांचन स्वप्रवृत्तिम् ।
यस्तु ध्वस्ताखिलभवमलो भैरवीभावपूर्णः
कृत्यं तस्य स्फुटमिदमियल्लोककर्तव्यमात्रम् ॥३९॥

एष लोकः संकुचितः प्रमातृवर्गः तावत्

'..............अभिलाषो मलोऽत्र तु ।'

इत्यादिनीत्या लौकिकाणवमलयोगादात्मन्यपूर्णंमन्यतया 'किमपि' इति सामान्येन निर्देशात्सर्वमात्मीयं कर्तव्यं, यत्नतः–आकांक्षणीयत्वेन, कलयन्

'तदसिद्धं यदसिद्धेन साध्यते ।'

इत्यादिनीत्या यस्य स्वार्थ एव न सिद्धः स कथं परार्थं प्रत्यपि कांचन स्वल्पामपि स्वप्रवृत्तिं घटयते घटितापि वा तत्प्रवृत्तिर्न किंचित्कुर्यात् इति भावः, यः पुनरनुपायसमाविष्टत्वादेव खिलीकृतनिखिलबन्धः, अत एव भैरवीभावेन भगवदद्वयज्ञानापत्त्य स्वात्मनि कृतकृत्यत्वेन-आकांक्षणी-यस्यैवाभावात् पूर्णः–अनन्योन्मुखतया स्वात्मन्येव विश्रान्तः, तस्येयता निखिलस्य लोकस्य ग्रन्थकर्तव्यमवश्यं कार्यं स्वात्मप्रत्यभिज्ञापनं, तन्मात्रमे-वेदं स्फुटम्–अपरिम्लानं कृत्यं–लोकानुग्रह एवास्य कर्तव्य इत्यर्थः, नहि अस्यात्मनि प्राप्तप्राप्तव्यत्वात्किंचित्करणीयमस्तीति भावः, यद्गीतं भगवता

'यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः ।
आत्मन्येव च संतुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते ॥'

इति ।

'न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किंचन ।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि ॥'

इति च ॥ ३९ ॥

द्विविधाश्च परानुग्रहाः—निर्मलसंविदोऽनिर्मलसंविदश्च, तत्र निर्मलसंविदः प्रति तावन्निरुपकरणमेवास्यानुग्रहकारित्वम्, इत्याह

तं ये पश्यन्ति ताद्रूप्यक्रमेणामलसंविदः ।
तेऽपि तद्रूपिणस्तावत्येत्रास्यानुग्रहात्मता ॥४०॥

ये पूर्वाभ्यासादिना निर्मलसंविदः, तीव्रतीव्रशक्तिपातभाजो वा, तं—समनन्तरोक्तस्वरूपं, ताद्रूप्यक्रमेण पश्यन्ति 'निरुपायसमावेशभागयम्' इति ज्ञानपूर्वं साक्षात्कुर्वन्ति, अतस्ते परदर्शनमात्रेणैव तत्सवित्संक्रमात्

'............दीपाद्दीपमिवोदितम् ।'

इति वक्ष्यमाणनीत्या निरुपायसमावेशभाक्त्वेन तत्सदृक्षा एव भवन्ति इति शेषः, एवंरूपं सिद्धादिदर्शनं च निरुपायसमावेशे निमित्तम्, इति प्रागेव संवादितम्

'सिद्धानां योगिनीनां च दर्शनम्............ ।'

इत्यादि, अत एव तावती दर्शनमात्ररूपैवास्य अनुग्रहात्मता, न तु वक्ष्यमाणोपायादिसव्यपेक्षा, इत्यर्थः ॥ ४० ॥

ननु सर्वत्र दीक्षायाः

'............मुक्तिश्च शिवदीक्षया ।'

इत्याद्युक्त्या मुक्तावुपायत्वमुक्तम्' इति कथमत्र दीक्षां विनापि दर्शनमात्रादेव तदवाप्तिरुक्ता ? इत्याशंक्याह

एतत्तत्त्वपरिज्ञानं मुख्यं यागादि कथ्यते ।
दीक्षान्तं विभुना श्रीमत्सिद्धयोगीश्वरीमते ॥४१॥

एतस्य समनन्तरोक्तस्य निरुपायात्मनस्तत्त्वस्य परिज्ञानमेव मुख्यया

वृत्त्या 'यागहोमादि' श्रीसिद्धयोगीश्वरीमतादौ–सर्वत्रैवागमे 'विभुना' कथ्यते इति संबन्धः, अत एव च बाह्यं यागादि गौणम्–इत्यर्थसिद्धम्, अन्यथा ह्यस्य मुख्यत्वमेव न स्यात्, यदभिप्रायेणैव चर्याक्रमेऽप्येतन्निषिद्धम्, यदुक्तम्

'नास्य मण्डलकुण्डादि किंचिदप्युपयुज्यते ।
न च न्यासादिकं पूर्वं स्नानादि च यथेच्छया ॥'

इति ॥ ४१ ॥

तदेव पठति

स्थण्डिलादुत्तरं तूरं तूरादुत्तरतः पटः ।
पटाद्ध्यानं ततो ध्येयं ततः स्याद्धारणोत्तरा ॥४२॥
ततोऽपि योगजं रूपं ततोऽपि ज्ञानमुत्तरम् ।
ज्ञानेन हि महासिद्धो भवेद्योगीश्वरस्त्विति ॥४३॥

स्थण्डिलं–यागार्थं गृहीतो भूप्रदेशः, तूरं–पात्रादावुत्कीर्ण आकारविशेषः ज्ञानस्य सर्वोत्कृष्टत्वे हेतुमाह 'ज्ञानेन' इति, ज्ञानेन हि योगिनामपीश्वरः स्यादित्यर्थः, अत एव तदुपोद्बलनार्थं महच्छब्देश्वरशब्दयोरपि प्रयोगः ॥ ४२-४३ ॥

अनिर्मलसंविदः प्रति पुनरस्य सोपकरणमेव अनुग्रहकारित्वम्, इत्याह

सोऽपि स्वातन्त्र्यधाम्ना चेदप्यनिर्मलसंविदाम् ।
अनुग्रहं चिकीर्षुस्तद्भाविनं विधिमाश्रयेत् ॥४४॥

स्वातन्त्र्यधाम्ना, न पुनः शास्त्रीययन्त्रणया—तत्त्रोटनायाः समनन्तरमेवोक्तत्वात् ॥ ४४ ॥

भावी च विधिः कीदृक् ? इत्याह

अनुग्राह्यानुसारेण विचित्रः स च कथ्यते ।
परापराद्युपायौघसंकीर्णत्वविभेदतः ॥४५॥

'परापर' इत्येकशेषः, तेन–परः शाम्भवः, अपरः आणवः, परापरः शाक्तः, संकीर्णत्वमुपायान्तरसाहित्यात् ॥ ४५ ॥

न केवलमस्य परानुग्रहार्थं भावित्रिध्याश्रयणमुपयुक्तं, यावत्तदभिधायकं शास्त्राद्यपि, इत्याह

तदर्थमेव चास्यापि परमेश्वररूपिणः ।
तदभ्युपायशास्त्रादिश्रवणाध्ययनादरः ॥४६॥

न केवलमारुरुक्षूणामेव शास्त्रमुपादेयं यावदस्यापि, इति अपिशब्दार्थः, यदुक्तम्

'शंकाशून्योऽपि तत्त्वज्ञो मुमुक्षुप्रक्रियां प्रति ।
न त्यजेच्छास्त्रमर्यादामित्याज्ञा पारमेश्वरी ॥'

इति ॥ ४६ ॥

नन्वेवमुपायमुखप्रेक्षित्वादस्य स्वातन्त्र्यहानिः स्यात् ? इत्याशंक्याह

नहि तस्य स्वतन्त्रस्य कापि कुत्रापि खण्डना ।
नानिर्मलचितः पुंसोऽनुग्रहस्त्वनुपायकः ॥४७॥

नहि अस्य आरुरुक्षुवदात्मन्युपायापेक्षा येन स्वातन्त्र्यखण्डना स्यात्, किं तु स्वात्मनि कृतकृत्यत्वात्परार्थमस्य तत्स्वीकारः, यतः परेषामनिर्मलचित्त्वादुपायमन्तरेण न अनुग्रहः सेत्स्यति, इति—भाविविध्याश्रयणाद्यप्युक्तम्, यद्गीतं

'सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत ।
कुर्याद्विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम् ॥'

इति ॥ ४७ ॥

न चैतत्स्वोपज्ञमेवास्माभिरुक्तम्, अपि तु भगवता, पूर्वाचार्यैश्च सर्वत्रैवोक्तम्, इति—निखिलस्य अह्निकार्थस्याविगीततां दर्शयितुमाह

श्रीमदूर्मिमहाशास्त्रे सिद्धसंतानरूपके ।
इदमुक्तं तथा श्रीमत्सोमानन्दादिदैशिकैः ॥४८॥

ऊर्मिमहाशास्त्र इति—श्रीमदूर्मिकौलसिद्धसंतानरूपके, इत्यनेन पादोवल्यां पारम्पर्येऽप्यम्लानत्वं दर्शितम्, तत्र हि

'शून्य न कंचित्तच्छून्यं त्वशून्यं शून्यता नहि ।
यदकिंचित्कथं तद्धि न किंचिच्छेत्तुमर्हति ॥'

इति भगवत्या पृष्टो भगवान्

'आत्मा शून्य इह ज्ञेयः शिवधर्मविनाकृतः ।
शिवः शून्योऽधिगन्तव्यो विमलोऽभूर्तविग्रहः ॥'

इत्याद्युपक्रम्य

'नास्त्यस्ति नास्ति नास्तीति कोटयो न स्पृशन्ति हि ।
वाचामगोचरं यस्मात्तत्त्वमिह कथ्यते ॥
यदभावि न तद्भावि यद्भावि न तदन्यथा ।
एवं विचिन्त्य मतिमान्विकल्पं न समाश्रयेत् ॥
तच्च सर्वगतं सूक्ष्ममुपाधिपरिवर्जितम् ।'

इत्यादिपर्यन्तं बहूक्तवान् । श्रीमत्सोमानन्दादिदैशिकैः उक्तमिति—श्रीशिवदृष्ट्यादौ, यदुक्तं तत्र

'भावनाकरणाभ्यां किं शिवस्य सततोदितेः ।

इति ।

'सकृज्ज्ञाते सुवर्णे किं भावना करणं व्रजेत् ।
एकवारं प्रमाणेन शास्त्राद्वा गुरुवाक्यतः ॥
ज्ञाते शिवत्वे सर्वस्थे प्रतिपत्त्या दृढात्मना ।
करणेन नास्ति कृत्यं क्वापि भावनयापि वा ॥'

इति च ॥ ४८ ॥

तदेव सर्वत्रावधातव्यमित्याह

गुरोर्वाक्याद्युक्तिप्रचयरचनोन्मार्जनवशात्
समाश्वासाच्छास्त्रं प्रति समुदिताद्वापि कथितात् ।
विलीने शंकाभ्रे हृदयगगनोद्भासिमहसः
प्रभोः सूर्यस्येव स्पृशत चरणान्ध्वान्तजयिनः ॥४९॥

गुरोरित्यादिवाक्यात्सकृदुपदेशाद्यात्मनः 'आत्मैवेश्वरः सर्वज्ञः सर्वकर्ता च' इत्यादिकानां युक्तीनां प्रचयस्य या रचना—परपक्षबाधनस्वपक्षसाधनाधायिका शास्त्रपरिपाटी, तया उन्मार्जनं—बौद्धाज्ञानोत्पुंसनं, तद्वशात्—बौद्धज्ञानोदयेन स्वपरामर्शदार्ढ्यादित्यर्थः । शास्त्रं—प्रभुसंमितमद्वैतागमं प्रति समाश्वासात्प्रत्ययादिति, व्यस्तात्–गुरुतः शास्त्रतः स्वतः तीव्रतीव्रशक्तिभाजां, यद्वा समुदितात्–समस्तात्कथितात् एतस्मात्त्रयादपि

तीव्रमध्यादिशक्तिपातभाजां, शंकाविकल्प एवावारकत्वादभ्रं; तस्मिल्लि-लीने सति, 'हृदयं विमर्श एव अनवच्छिन्नत्वाद्गगनं तत्रोच्चैर्भासनशीलं-ज्ञत्वकर्तृत्वलक्षणं महः तेजो यस्य, अत एव ध्वान्तस्य स्वात्मप्रच्छादनेनो-पाश्रितस्य द्वैतप्रथात्मकस्य अज्ञानस्य, जयिनः प्रभोः—विश्वात्मकत्वेन प्रभवनशीलस्य परमात्मनः, चरणान्—चरेर्गत्यर्थत्वादाणवादीनि ज्ञानानि, यूयं—समनन्तरोद्दिष्टाः तीव्रतीव्रादिशक्तिपातभाजः, स्पृशत—यथोत्तरं स्वात्ममयतयैव भावयध्वमित्यर्थः, अत एव चास्य सूर्येणौपम्यमुक्तं, तस्यापि हि अभ्रे गलिते गगनोद्भासित्वेन अन्धकारम् निराकुर्वतः पाद-स्पर्शः उचितः ॥ ४९ ॥

इदानीमाह्निकार्थं श्लोकस्य प्रथमार्धेनोपसंहरति

इदमनुत्तरधामविवेचकं विगलितौपयिकं कृतमाह्निकम् ॥५०॥

उपाय एवौपयिकमिति शिवम् ॥

तत्तद्ग्रन्थाधिगमोपायशतान्वेषणप्रसक्तेन ।
अनुपायाह्निकमेतद्-व्याख्यातं जयरथेनाशु ॥

इति श्रीमदाचार्याभिनवगुप्तपादविरचिते, श्रीजयरथाचार्यकृत-
प्रकाशाख्यव्याख्योपेते श्रीतन्त्रालोके अनुपायप्रकाशनं
नाम द्वितीयमाह्निकम् ॥ २ ॥

अथ

श्रीतन्त्रालोकस्य

श्रीमदाचार्याभिनवगुप्तपादविरचितस्य

आचार्यजयरथकृतविवेकाभिख्यव्याख्योपेतस्य

तृतीयमाह्निकम्

स्वात्मत्वेऽपि विचित्रं निखिलमिदं वाच्यवाचकात्म जगत् ।
दर्पणनगरवदात्मनि विभासयन्विजयते विजयः ॥ १ ॥

इदानीमनुपायानन्तर्येण क्रमप्राप्तं शाम्भवोपायं द्वितीयार्धेन प्रणिगदितुं प्रतिजानीते

अथ परोपयिकं प्रणिगद्यते पदमनुत्तरमेव महेशितुः ॥

ननु यदि नाम परोपायस्यापि अनुत्तरमेव रूपं तत्पूर्वेणैव गतार्थत्वात् किमर्थमिदमाह्निकान्तरमारभ्यते ? इत्याह

प्रकाशमात्रं यत्प्रोक्तं भैरवीयं परं महः ।
तत्र स्वतन्त्रतामात्रमधिकं प्रविविच्यते ॥१॥

प्रकाशमात्रमिति प्राधान्यात्, नहि निर्विमर्शः प्रकाशः समस्ति उपपद्यते वा प्रोक्तमित्यनुपायाह्निके, अधिकमिति कल्पनामात्रेण, नहि वस्तुतो वस्तुनः स्वभावोऽतिरिच्यते—तथात्वे वा स स्वभाव एव न स्यात्, स्वतन्त्रतेति प्रकाशनक्रियाकर्तृत्वं, तस्य चेयत्तत्वं—यत् स्वाभित्तावेव स्वेच्छया सर्वं प्रकाशयतीति ॥ १ ॥

तदेवाह

यः प्रकाशः स सर्वस्य प्रकाशत्वं प्रयच्छति ।

यः खलु प्रकाशनक्रियायां कर्ता परप्रमात्रात्मानुत्तरशब्दाभिधेयः प्रकाशः स सर्वस्य प्रमातृप्रमेयात्मनो विश्वस्य प्रकाशत्वं प्रकाशमानतां प्रयच्छति—

स्वात्मैकात्म्येन अवभासयतीत्यर्थः। नहि विश्वं नाम प्रकाशमानत्वात्तदतिरिक्तं किंचित्संभवति--तदतिरेकाभ्युपगमे ह्यस्य प्रकाशमानत्वायोगाद्भानमेव न स्यात् इति ॥

तदाह

न च तद्व्यतिरेक्यस्ति विश्वं सद्वावभासते ॥२॥

वा शब्दोऽभ्युपगमे ॥२॥

ननु यद्येवं तर्हि प्रकाश एव प्रकाशते इति विश्वस्य अवभास एव न स्यात्, अथ च भासते विश्वमिति किमेतत् ? इत्याशंक्याह

अतोऽसौ परमेशानः स्वात्मव्योमन्यनर्गलः ।
इयतः सृष्टिसंहाराडम्बरस्य प्रदर्शकः ॥३॥

अत इति--प्रकाशातिरिक्तस्य विश्वस्य भानायोगात्, परमेश्वरो हि अनर्गलत्वलक्षणस्वस्वातन्त्र्यमाहात्म्यात् स्वात्मभित्तावेव अनतिरिक्तमप्यतिरिक्तायमानम् इयद्विश्ववैचित्र्यं प्रदर्शयति इति। इत्येवं विश्ववैचित्र्योल्लासेऽपि प्रकाशमात्रस्वभावे स्वात्मनि अस्य नाधिकं किंचित् जातम्--इति कटाक्षयितुमत्र व्योम्ना निरूपणं कृतम्, अत एव चानेन विश्वस्य चित्प्रतिबिम्बत्वम्--इत्यनुजोद्देशोद्दिष्टस्य प्रतिबिम्बवादस्य अवकाशो दत्तः। यथा हि दर्पणादौ परस्परव्यावृत्तात्मानः प्रतिबिम्बिता आकारविशेषाः ततोऽनतिरिक्तत्वेऽपि अतिरिक्ता इव भासन्ते तद्वदिहापीति ॥३॥

तदाह

निर्मले मकुरे यद्वद्भान्ति भूमिजलादयः ।
अमिश्रास्तद्वदेकस्मिंश्चिन्नाथे विश्ववृत्तयः ॥४॥

सुबोधमञ्जर्याम्

'रूपादिपञ्चवर्गोऽयं विश्वमेतावदेव हि ।
गृह्यते पञ्चभिस्तच्च चक्षुरादिभिरिन्द्रियैः ॥'

इत्याद्युक्तयुक्त्या पञ्चैव रूपादयस्तावत्सर्वमिति ॥४॥

तेषां प्रतिबिम्बेन व्यवस्थया विषयभागं दर्शयति

सदृशं भातिनयनदर्पणाम्बरवारिषु ।

सदृशमिति सजातीयम्, अम्बरेति अम्बरस्थं नातितीव्रं नातिमन्दं—सौरं चान्द्रं वा तेजः, तत्र हि छायापुरुषोपदेशविद्भिः शरीरसंस्थानप्रतिबिम्बं दृश्यते। यदाहुः

'नभस्थे च तेजसि रूपप्रतिबिम्बयोगः।

इति। यद्वा विषयान्तरोपलक्षणपरतया शब्दप्रतिबिम्बविषयत्वेन व्याख्येयम्, तेन--नभसि प्रतिश्रुत्वा तथा परानुभूयमानस्य कटुतिक्तादे रसस्य स्त्र्यादिस्पर्शस्य गन्धस्य च दन्तोदके कन्दादौ स्पर्शक्षेत्रे त्वचि घ्राणे गन्धक्षेत्रे च क्रमेण प्रतिबिम्बनमिति॥

एतदेव दर्शयति

तथा हि निर्मले रूपे रूपमेवावभासते ॥५॥

इह पृथिव्यप्तेजसां त्रयाणामेव रूपवत्त्वमिति--पार्थिवे दर्पणादौ, आप्ये स्तिमिते जलाशयादौ, तैजसे चक्षुरादौ च रूपाख्योऽस्ति स्वच्छो गुणः संनिवेशस्य संस्थानात्मा—इति तत्प्रतिबिम्बनमेव तत्रावभासते न स्पर्शादिः, तत् खलु आनन्दस्थानाद्यात्मकेषु कन्दाद्याधारादिषु स्पर्शादेः संभवात् प्रतिसंक्रामति, तेन य एव यत्र स्वच्छोऽस्ति गुणः स एव तत्र प्रतिसंक्रामतीत्याशयः॥५॥

न चैतदसंबद्धमित्यवधारयितुमत्र दृष्टान्तमाह

प्रच्छन्नरागिणी कान्तप्रतिबिम्बितसुन्दरम्।
दर्पणं कुचकुम्भाभ्यां स्पृशन्त्यपि न तृप्यति ॥६॥

अत्र तावत्प्रच्छन्नरागिण्याः कान्ताया गुरुसंनिधानादेरन्तरायप्रायत्वात् साक्षात् दर्शनाद्यप्राप्तावपि दर्पणप्रतिबिम्बद्वारेणापि अनन्यसंचेत्यं 'दृष्टो मया कान्तः' इति सन्तोषाभिमानात् कान्तदर्शनं वृत्तम्, अत एव सुन्दरमित्यनेन दर्शनवशोन्मिषिताह्लादातिशयकारित्वाद्यपि सूचितम्। एवमन्यासंवेद्य एतत्स्पर्शोऽपि मे भूयादिति तत्र कृतप्रयत्नापि सा दर्पणे स्पर्शाप्रतिसंक्रमात्तमलभमाना न तृप्यति न प्रीयत इत्यर्थः॥६॥

ननु यद्यत्र रूपं प्रतिबिम्बितं तत्तदव्यभिचरितस्वभावः स्पर्शोऽपि किं न प्रतिबिम्बितः? इत्याशंक्याह

न हि स्पर्शोऽस्य विमलो रूपमेव तथा यतः।

नैर्मल्यं चातिनिविडसजातीयैकसंगतिः ॥७॥

अस्येति दर्पणस्य, तथेति विमलं, स्वच्छमेव हि अस्वच्छस्य दर्पण इव मुखस्य प्रतिबिम्बं स्वीकरोतीति भावः। नैर्मल्यं नाम च एतत्किमुच्यते ? इत्याह—नैर्मल्यं चेति, अतिशयेन निविडाः विजातीयभावैरकलुषिता ये सजातीयाः, यथा—दर्पणे रूपपरमाणवः, तेषां एका विजातीयाभावाद-सहाया या संगतिः—नैरन्तर्येणावस्थानात्स्थपुटत्वादिपरिहारेण श्लक्ष्णत्वात्म संहतत्वं नैर्मल्यम्। यदैव हि विजातीयैः सजातीयाभावैश्चाकलुषितं दर्पणादे रूपमुपलभ्यते तदा रूपप्रतिबिम्बयोगः। यदा तु विजातीयैर्बाष्परजोरूपादि-भिस्तत्कालुष्यमुपनीयते तदा न--इत्यन्वयव्यतिरेकाभ्यां निश्चीयते, यद्यस्यैव प्रतिबिम्बार्पकापेक्षया विशिष्टः स्वच्छताख्यो गुणः स एव तत्प्रतिबिम्बं गृह्णाति इति, अत एव च 'रूप एव रूपमवभासते' इत्यादौ प्रतिज्ञाता दर्पणोऽपि मुखे प्रतिबिम्बेत्--इत्यविशेषेण बिम्बप्रतिबिम्बभावो न भवति--इत्यप्यावेदितम् ॥७॥

एतदेव प्रकारान्तरेणापि व्याचष्टे

स्वस्मिन्नभेदाद्भिन्नस्य दर्शनक्षमतैव या।
अत्यक्तस्वप्रकाशस्य नैर्मल्यं तद्गुरूदितम् ॥८॥

अत्यक्तप्रतिबिम्बितेऽपि भावान्तरे तस्याविकल्पस्यैव निर्भासादति-रोहितः स्वप्रकाशो यस्य दर्पणादेः स्वात्मन्यभेदमवलम्ब्य यद्भिन्नस्य भिन्नदेशस्य प्रतिबिम्बार्पकस्य पर्वतादेर्दर्शनं गर्भीकृतण्यर्थत्वात्प्रकटीकरणं--नहि दर्पणदेशादणुमात्रेऽपि बाह्ये देशे प्रतिबिम्बं भवति इति भावः, तत्र या क्षमता--कुड्यादिवैलक्षण्येन प्रतिबिम्बग्रहणसहिष्णुता तदेव नैर्मल्यम्। न चैतत्स्वोपज्ञमेवास्माभिरुक्तमित्याह 'गुरूदितमिति' गुरुणा परमगुरुणा श्रीमदुत्पलदेवेन

'अथार्थस्य यथारूपं.........................'

इत्यादि। तथा

'न च युक्तं जडस्यैवं.........................'

इत्यादि श्रीप्रत्यभिज्ञाकारिकाद्वयटीकायामेतन्निखिलमेव प्रतिबिम्बसतत्त्व-मुदितमुक्तमित्यर्थः ॥८॥

तदेतन्नैर्मल्यं मुख्यामुख्यतया द्विप्रकारमिति दर्शयितुमाह

नैर्मल्यं मुख्यमेकस्य संविन्नाथस्य सर्वतः ।
अंशांशिकातः क्वाप्यन्यद्विमलं तत्तदिच्छया ॥९॥

मुख्यमिति सर्वस्यैव रूपाद्यात्मनो विश्वस्य प्रतिबिम्बग्रहणसहिष्णुत्वात्, अत उक्तं--सर्वत इति। संवित्संलग्नमेव हि विश्वं संवेद्यते, अत एव अस्याः सर्वतः स्वच्छत्वं, तथा क्वापि दर्पणादौ अंशांशिकातो--रूपादिलक्षणमंशमंशमवलम्ब्य अन्यदमुख्यं नैर्मल्यम्, तद्धि क्वचिदेव किंचिन्निर्मलम्, अन्यथा 'सर्वत्र सर्वं भायात्' इति दर्पणेऽपि स्पर्शः प्रतिबिम्बं गृह्णीयात्, एवं च मुख्यादस्य भेदो न स्यात्। तन्नैर्मल्ये च तत्स्वातन्त्र्यमेव निमित्तमित्याह 'विमलं तत्तदिच्छया' इति। तदिति रूपादि, अत एव स्पर्शादि, तत्र अविमलम् इत्यर्थसिद्धं, तेन तच्छक्तिरेव तथा प्रसृतेति भावः ॥९॥

अत आह

भावानां यत्प्रतीघाति वपुर्मायात्मकं हि तत् ।
तेषामेवास्ति सद्विद्यामयं त्वप्रतिघातकम् ॥१०॥

प्रतीघाति इति, प्रतिहन्तृत्वादन्यानुप्रवेशासहमित्यर्थः, तद्धि मायास्वरूपगोपनाकारित्वात् 'येयं पारमेश्वरी क्रियाशक्तिः' तदात्मकम्, अत एव भेदप्राधान्याद्वेद्यतायाः स्थौल्यात् तत्रास्वच्छत्वम् इति प्रतिबिम्बग्रहणासामर्थ्यम्। यत्पुनरप्रतीघाति भावानां वपुः तत्सद्विद्यामयं--ज्ञानशक्तिस्वभावम्, अत एव तदपेक्षया तत्स्वच्छम् इति तत्र प्रतिबिम्बग्रहणसहिष्णुत्वं, तेन पूर्वं प्रतिबिम्बात्मकम् इदं तु तद्ग्राहि--इति विशेषः। एवं परमेश्वर एव स्वस्वातन्त्र्यमाहात्म्यात्तत्तद्बिम्बप्रतिबिम्बाद्याभासवैचित्र्येण अवभासते इति तात्पर्यार्थः ॥१०॥

तदाह

तदेवमुभयाकारमवभासं प्रकाशयन् ।
विभाति वरदो बिम्बप्रतिबिम्बदशाखिले ॥११॥

उभयाकारमिति प्रतीघात्यप्रतीघात्यात्मकम् आभासमात्रसारमेव एतत्, न तु तात्त्विकमित्युक्तम् —'अवभासं प्रकाशयन्' इति। उक्तं च

'तस्मादेको महादेवः स्वातन्त्र्योपहितस्थितिः ।
द्वित्वेन भात्यसौ बिम्बप्रतिबिम्बोदयात्मना ॥'

इति ॥११॥

एवं यथाप्रतीति प्रतिबिम्बसतत्त्वमुपपाद्य केषांचन नैयायिकानां प्रत्यावृत्तैर्नयनरश्मिभिः स्वस्यैव मुखस्य ग्रहणेऽपि दर्पणमुखमिति भ्रान्तिरियम् न पुनः सत्यत्वभ्रान्तत्वव्यतिरेकेण तृतीयस्य राश्यन्तरस्य अभावात्प्रतिबिम्बं नाम किंचिदस्ति--इति मतं निराकर्तुमाह

यस्त्वाह नेत्रतेजांसि स्वच्छात्प्रतिफलन्त्यलम् ।
विपर्यस्य स्वकं वक्त्रं गृह्णन्तीति स पृच्छयते ॥१२॥

य इत्येकवचनेन सूत्रकारासूत्रितत्वात्सर्वेषां नैयायिकानां नैतन्मतम्—इति सूचितम्, कैश्चिदेव हि आग्रहप्रवृत्तैरेतदुक्तमिति भावः । अत एव वृत्तिकारभूषणकारादिभिरेतन्नामापि न स्पृष्टम् । स्वच्छादिति बाह्याद्दर्पणादेः, विपर्यस्य इति परावृत्त्येत्यर्थः । अत्र च प्रतिफलन्तीति विशेषणद्वारेण हेतुः, अन्यथा हि स्वदेहसंमुखीभाव एव एषां न स्यात् इति कथं स्वमपि वक्त्रं गृह्णीयुः, पृच्छयते इति एतदभ्युपगमे कस्तवाशय इति ॥१२॥

तदेवाह

देहादन्यत्र यत्तेजस्तदधिष्ठातुरात्मनः ।
तेनैव तेजसा ज्ञत्वे कोऽर्थः स्याद्दर्पणेन तु ॥१३॥

उद्घाटितचक्षुषः प्रमातुर्देहाद्बहिः प्रसृतं यन्नायनं तेजः तेनैव विपर्यस्तेन तेजसा स्वाधिष्ठायकस्यात्मनो यदि स्वमुखज्ञातृता जायेत तद्दर्पणेन पुनः कोऽर्थः—पुरः प्रतिफलनहेतूनामन्येषामपि कुड्यादीनां तत्र संभवात् । अथ दर्पणादय एव प्रतिफलनहेतवो न कुड्यादय ? इति चेत् स्वच्छन्दाभिधानमेतत्—यतः समानेऽपि प्रतिघातहेतुत्वे दर्पणादय एव तथा न कुड्यादय--इत्यत्र न किंचिन्निमित्तमुत्पश्यामः । अथात्राधिकः स्वच्छत्वाख्यो धर्मोऽस्ति निमित्तम् ? इति चेत्, नैतत्--स्वच्छत्वं हि न प्रतीघाते निमित्तम्, एवं ह्यालोकस्य स्वच्छत्वात् तस्मिन्सति नभसि न कस्यापि अवकाशः स्यात् प्रत्युत तत्प्रतिबिम्बग्रहणे निमित्तम्—इति विरुद्धत्वमेव हेतोरावहति, तेन प्रतीघाते मूर्तत्वाद्येव निमित्तं, तच्चोभयत्रापि समानं, यद्वा दर्पणेन प्रति-

फलनस्य वृत्तत्वादिदानीं दर्पणं विनापि स्वमुखग्रहणं स्यात्--इति तेन किं प्रयोजनम् ॥१३॥

एवं च प्रतिफलनबलात्प्रत्यावृत्ता यदि नायना रश्मयः स्वकमेव वक्त्रं गृह्णन्ति तन्निज एव देशे तन्न्याय्यं नान्यत्र दर्पणादेरन्तरित्याह

विपर्यस्तैस्तु तेजोभिर्ग्राहकात्मत्वमागतैः ।
रूपं दृश्येत वदने निजे न मकुरान्तरे ॥१४॥

रूपमिति, स्ववदनसंबन्धि--वदने निज इति--स्ववदनदेशे एवेत्यर्थः, स्वदेशावस्थितमेव हि ग्राह्यं ग्राहको गृह्णातीति भावः। न हि नीलदेशं परिहृत्य नीलज्ञानं नीलं परिच्छिन्दत् क्वचिद्दृष्टम्, ग्राहकात्मत्वमिति ग्रहीतृ-संबद्धमेव चैतज्ज्ञेयम्--आत्माधिष्ठितानामेव ह्येषां ग्राहकत्वव्यवहारः। किं च वहिःनिःसृतानां नयनतेजसामात्मनाधिष्ठानं किमशरीरेण सशरीरेण वा? आद्ये पक्षे शरीरस्य भोगायतनत्वं न स्यात्--तेन विनापि वहिर्बुद्धि-लक्षणस्य भोगस्य उल्लासात्, एवं च तस्य 'भोगायतनं शरीरम्' इति स्वसिद्धान्तभङ्गो भवेत् ॥१४॥

सशरीरेणाधिष्ठानेन च विम्बवदेवास्य प्रतिपत्तिः स्यान्न त्वन्यथा इत्याह

स्वमुखे स्पर्शवच्चैतद्रूपं भायान्ममेत्यलम् ।
न त्वस्य स्पृश्यभिन्नस्य वेद्यैकान्तस्वरूपिणः ॥१५॥

यदीदं निजमुखाधिकरणत्वेनात्मनो रूपमवभासेत तत् 'ममेदं रूपम्' इत्यहन्तास्पदत्वेन पर्यस्ता प्रतिपत्तिः स्यात्, न पुनर्वेद्यैकात्मनोऽस्येदं रूपम् इति इदन्तास्पदत्वेन, अत्र हि अव्युत्पन्नानां बालादीनामयमित्येवैकरसा प्रतिपत्तिः, व्युत्पन्नस्तु 'मन्मुखमवेदमत्रः प्रतिविम्बितम्' इत्यभिमन्यतां नाम, को दोषः ?, बिम्बात्पुनरस्य प्रतिविम्बत्वे भेदेन प्रतिपत्तिरस्त्येव--तत्र एवंरूपत्वस्य अपह्नोतुमशक्यत्वात्, किं च स्वमुख एव यद्यात्मनो रूपभानं स्यात् तत्स्पर्शोऽपि भायात्, रूपसंनिवेशौ हि कामं गुरुत्वगन्धवत्त्वादिरहितौ स्याताम्, न पुनस्तदव्यभिचरितस्वभावत्वात् स्पर्शहीनौ क्वचिद्दृष्टौ, रूपप्रतिविम्बे तु स्पर्शाद्भिन्नमेव रूपं प्रतीयते, नह्यग्निप्रतिबिम्बभाजो मुकुरस्य क्वचिदुष्णत्वमुपलब्धम्, तद्रूपावभासे यथा तद्धर्मस्य संनिवेशस्य अवश्यं भानं तथा तदव्यभिचारिणः स्पर्शस्यापि स्यात्, यदि स्वमुखमेव गृह्येत तस्मान्न युक्तमुक्तं 'स्वकस्यैव वक्त्रस्य ग्रहणम्'

इति। ननु अत एव उक्त 'भ्रान्तिरियम्' इति यत्स्वमुखमेव गृह्यमाणं भ्रान्त्याभिमन्यते--दर्पणे गृहीतमिति, यद्येवं तर्हि सैवास्तु किमसंवेद्यमानस्य सत्यमुखग्रहणस्याभ्युपगमेन, भ्रान्तौ हि आरोप्यमाणमेव परिस्फुरति न वस्तुतत्त्वमपि, शुक्तिकारजतनिर्भासे हि यदि शुक्तिकापि भायात् तत्कृतं रजतनिर्भासेन इति भ्रान्तिरेव न स्यात्, एवं सत्यमेव चेन्मुखं गृहीतं का नाम भ्रान्तिः, भ्रान्तावपि वा किं दर्पण एव मुखत्वेन भाति उत स्वमुखं परमुखत्वेन ? न तावत् आद्यः पक्षो---दर्पणस्याखण्डस्यैव निर्भासमानत्वात्, नहि रजतनिर्भासावसरे शुक्तिकाया अपि भानं भवेत्, नापिद्वितीयः--एवं हि औदासीन्यमवलम्बमानः सर्वो जनः स्वमुखे भूषणविन्यासप्रसाधनादौ अनादृतः स्यात्. तस्माद्भ्रान्त्यभावाद्विम्बविलक्षणं प्रतिबिम्बाख्यं वस्त्वन्तरमेवैतदभ्युपगन्तव्यम् ॥१५॥

अत आह

रूपसंस्थानमात्रं तत्स्पर्शगन्धरसादिभिः ।
न्यग्भूतैरेव तद्युक्तं वस्तु तत्प्रतिबिम्बितम् ॥१६॥

तत्--उक्तात् भ्रान्त्यभावादेर्हेतोः, स्पर्शादिशून्यत्वात् केवलं तद्रूपसंस्थानं, तत्र दर्पणादौ प्रतिबिम्बितं सत् वस्त्वेव, न पुनरवस्तु, किं तु स्पर्शादिभिर्न्यग्भूतैरेव तद्युक्तम्, अन्यथा ह्यस्य बिम्बादविशेष एव स्यात्, तस्मादस्त्येव प्रतिबिम्बलक्षणस्तृतीयो राशिरित्याशयः ॥१६॥

किं नाम चेदं स्पर्शादीनां न्यग्भूतत्वमित्याह

न्यग्भावो ग्राह्यताभावात्तदभावोऽप्रमाणतः ।
स चार्थसंगमाभावात्सोऽप्यादर्शेऽनवस्थितेः ॥१७॥

स इति--प्रमाणाभावः, अनवस्थितेरित्यर्थात्स्पर्शादीनां, यदि वा नामात्र हि स्पर्शादीनामवस्थानं स्यात् तत्तैः सह इन्द्रियाणि संयुज्येरन्, तत्संनिकर्षादेव चोत्पद्यमानं ज्ञानं तत्र प्रमाणतां यायात्--इति तत्प्रमीयमाणस्य स्पर्शादेर्ग्राह्याभावो भवेदिति भावः ॥१७॥

किं च

अत एव गुरुत्वादिर्धर्मो नैतस्य लक्ष्यते ।
नह्यादर्शे संस्थितोऽसौ तद्दृष्टौ स उपायकः ॥१८॥

अत इति—स्पर्शादीनामनवस्थितेः, यति ह्येतस्य प्रतिबिम्बितस्य रूपसंस्थानमात्रस्य स्पर्शाद्यपि स्यात् तत्तद्धर्मो गुरुत्वादिरपि भायात्, तदभावे चास्य किं प्रमाणमित्याह 'नह्यादर्शे संस्थितोऽसाविति' असाविति गुरुत्वादिर्धर्मः, प्रतिबिम्बितस्य पर्वतादेः, गुरुत्वादिधर्मसंभवे हि तद्योगात् दर्पणोऽप्यचाल्यः स्यात्, न चैवम्—इति प्रतिबिम्बेऽपि तन्नास्तीत्युक्तं 'गुरुत्वादिर्मर्मो नैतस्य लक्ष्यते' इति। ननु रूपं तावत्स्पर्शाव्यभिचारि सर्वत्रैव दृष्टं, बिम्बे चैवमिति दर्पणे रूपमेव केवलं किमिति प्रतिसंक्रान्तम्? इत्याशंक्याह 'तद्दृष्टौ स उपायक' इति, तद्दृष्टाविति तस्य रूपसंस्थानमात्रस्य दृष्टाववभासन इत्यर्थः, दर्पणे हि पूर्वोक्तयुक्त्या रूपमेव स्वच्छमस्तीति तदवभासन एवास्य साधनत्वं, न स्पर्शादेरपीति भावः। उपाय एव उपायकः, इति स्वार्थे कन् ॥१८॥

ननु यथा दर्पणस्तद्दृष्टावुपायस्तथान्येऽप्यालोकादयः, इत्युपायत्वाविशेषेऽप्येष एव कस्मादस्याधार उच्यते? इत्याशंक्याह

तस्मात्तु नैष भेदेन यद्भाति तत उच्यते।
आधारस्तत्र तूपाया दीपदृक्संविदः क्रमात् ॥१९॥

यतः पुनस्तस्मादादर्शादेष प्रतिबिम्बो भेदेन पृथक्तया न भाति ततो हेतोस्तिलेषु तैलमितिवदभिव्यापकतयास्य एष आधार उच्यते, अत्र पुनरुत्पन्नस्य सतः प्रतिबिम्बस्य ज्ञप्तावालोकादय उपाया, इति—तेभ्योऽस्य विशेषः, तदाह—तत्र त्विति, क्रमादिति दर्पणाभेदेन उत्पत्त्यवभासात्, उत्तरकालं संनिहितेऽपि दर्पणे जातेऽपि प्रतिबिम्बे दीपं विना कस्तद्व्यवहारः, को हि वेद अन्धतमसे दर्पणे मुखं संक्रान्तमिति, एवमन्धस्य संक्रान्तेऽपि मुखे सत्यपि आलोके न तद्व्यवहारः, अनन्धस्य तु सत्यामपि एवंसामग्र्यां केनापि वैगुण्येन यदीन्द्रियार्थसंनिकर्षाभावात् तज्ज्ञानं नोत्पन्नं तत्क एवं परिच्छिन्द्यात्—इत्येतज्ज्ञप्तावेषां समुदितानामुपायत्वम्, अवभासनमात्रसारमेव हि प्रतिबिम्बसतत्त्वम्—इत्येतदिह प्राधान्येनोक्तम् ॥१९॥

ननूक्तयुक्त्या दर्पणात् दीपादीनामपि अविशिष्टमेव प्रतिबिम्बग्रहणसहिष्णुत्वम्, इति किमिति न तेऽपि स्वात्माभेदेन तद्भासयेयुः? इत्याशंक्याह

दीपचक्षुर्विबोधानां काठिन्याभावतः परम्।
सर्वतश्चापि नैर्मल्यान्न विभादर्शवत्पृथक् ॥२०॥

सत्यमस्त्येव दीपादीनां स्वात्मनि प्रतिबिम्बग्रहणसहिष्णुत्वं, किं तु प्रतिबिम्बस्य दर्पणे यथानतिरिक्तत्वेऽपि ततोऽतिरिक्तायमानत्वेन प्रकाशः, तथा नात्रेति अत आह 'न विभादर्शवत्पृथक्' इति, यतो दीपादीनां काठिन्यस्याभावः, कठिने हि दर्पणादौ प्रतिसंक्रान्तं मुखादि आधारस्य स्थैर्यात् पृथक्प्रतिभासते, दीपादितेजः पुनः काठिन्याभावात् एकवदिति, तत्रास्थैर्यात्तत्तथा न प्रकाशते यथा निर्मलेऽपि जलाशयादावस्तिमितत्वा-त्प्रतिसंक्रान्तमपि मुखादि न लक्ष्यते तथेहापीति भावः। नन्वेवमप्स्वपि द्रवत्वात्काठिन्याभावात् स्तमितेऽपि प्रतिबिम्बस्य पृथक् प्रतिभासो न स्यात्? न—अस्त्येव हि अपां काठिन्यम्, नहि यथा नभसि भुजं परिभ्रमयतो न प्रतीघातस्तथात्रापीति, अत एवात्र बाहुभ्यां तरतः पुंसो बाह्वोः परं तद्भेदने परिश्रमः किं तु तदापेक्षिकं, नहि यथा पृथिव्यां काठिन्यमस्ति तथाप्सु, यथा चात्र तथा न तेजसि, नहि तेजसि काठिन्यं नास्तीत्युच्यते किं तु तदपेक्षयापि स्वल्पं प्रतिबिम्बस्य पृथक्प्रकाशनायोग्य-मिति, अन्यथा हि अमूर्तत्वादाकाशतुल्या एव दीपादयोऽपि भवेयुः, संविदि पुनरेतन्नास्त्येव—इत्यमूर्तत्वात्तत्र न प्रति बिम्बस्य पृथक्प्रकाशः, किं च दर्पणादि पुरत एव स्वच्छं, न पश्चादिति, तत्र मलिनं पश्चाद्भागं भित्ति-न्यायेनाश्रित्य स्वच्छे पुरोभागे प्रतिबिम्बं भासते, इह तु सर्वतः स्वच्छत्वात् एकेन भागेन प्रतिसंक्रान्तमपि मुखादि न लक्ष्यते भागान्तरेण—अन्ततः आलोकादिनां प्रतिसंक्रान्तेन तस्यावृतत्वात्। यद्वा यथा काचस्फटिकश-कलादयः सर्वतः स्वच्छत्वात् तद्व्यवहितवस्तुदर्शनान्यथानुपपत्त्या नायनानां रश्मीनां न प्रतिघातकास्तथा दीपादयोऽपि, काठिन्याभावे सति सर्वतः स्वच्छत्वाद्भागान्तरेण निर्गच्छतः प्रतिबिम्बस्येति न तत्र तत्प्ररोहमेति—मलिनस्य तत्प्रतीघातकस्य भागान्तरस्याभावात्, संवित्पुनः सर्वतो नैर्मल्या-त्स्वप्रकाशेति न तस्या वेद्यत्वगन्धोऽप्यस्तीति तत्र कथं प्रतिबिम्बस्य पृथक्प्रकाशः, यत्पुनः प्रसरावसरे दीपे छायापुरुषज्ञाने वा नभस्थे तेजसि प्रतिबिम्बं लक्ष्यते तन्मन्त्रादिमाहात्म्याच्चक्षुष्यपि वा यत्प्रतिबिम्बं दृश्यते तन्न तैजसे चक्षुरिन्द्रिये—तस्य नित्यपरोक्षत्वात्, किं तु आप्ये गोलके इति न कश्चिद्दोषः ॥२०॥

न चेतत्प्रतिबिम्बसतत्त्वमस्माभिः स्वोपज्ञमेवोक्तम्, इत्याह

एतच्च देवदेवेन दर्शितं बोधवृद्धये।
मूढानां वस्तु भवति ततोऽप्यन्यत्र नाप्यलम् ॥२१॥

प्रतीघाति स्वतन्त्रं नो न स्थाय्यस्थायि चापि न ।
स्वच्छस्यैवैष कस्यापि महिमेति कृपालुना ॥२२॥

एतत्प्रतिबिम्बसतत्त्वं कृपालुना देवदेवेन 'मूढानाम्' इति वक्ष्यमाणेन प्रकारेण बोधवृद्धये दर्शितमिति संबन्धः । दर्शितमिति सामान्येनोक्तेः सर्वत्रैवेति भावः, तदुक्तम्

'पूजयेद्बिम्बवद्देवीः करणत्वेन दीधितीः ।'

इति । तथा

'जलदर्पणवत्तेन सर्वं व्याप्तं चराचरम् ।'

इति । तथा

'सदसद्वस्तुनिर्भासी दर्पणप्रतिबिम्बवत् ।'

इति । तथा

'यथान्तर्निर्मलादर्शे भान्ति भावा विरोधिनः ।
अनामिश्रास्तथैतस्मिंश्चिन्नाथे विश्ववृत्तयः ॥'

इति । तथा

'प्रतिबिम्बन्ति यस्यार्थास्त्वन्तः स्वच्छमणेरिव ।'

इति । तथा

'न मे बन्धो न मे मोक्षो जीवस्यैता विभीषिकाः ।
प्रतिबिम्बमिदं बुद्धेर्जलेष्विव विवस्वतः ॥'

इति । तत्र तावदेतत्प्रतिबिम्बं वस्तु भवति--प्रतिभासमानत्वात्, न च भातमभातं भवति इति हि सर्वेषामेवात्राविवादः, न चात्र कश्चिद्बाधकः प्रत्ययोऽस्ति--तस्योत्तरकालमनुदयात् । ननु यद्येवं तदे तेन प्रसिद्धतद्वस्तुजातीयेन भवितुं युक्तम्, अन्यथा हि अनियतं वस्तुत्वं भवेत्, तेन 'शशस्यारूपस्पर्शाद्यात्मकं विषाणं वस्तुभूतमस्ति' इत्यपि स्यात्, न चास्य प्रसिद्धवस्त्वन्तरजातीयत्वमस्तीति कथं वस्तुभूतत्वं स्यात्, बाह्यं खलु उत्पन्नं वस्तु देशाद्देशान्तरमपि व्रजेत्, न चैवमेतत् ? तदाह 'ततोऽप्यन्यत्र न' इति, तत इति दर्पणदेशात्, अन्यत्रेति देशान्तरे भवति--इति सर्वत्रैव संबन्धनीयम्, बाह्यं च रूपादि स्पर्शाद्यव्यभिचरितमेव भवति, नैवमेतदित्याह

'नाप्यलमिति' नैतत्पर्याप्तमित्यर्थः, यतोऽत्र स्पर्शादिपरिहारेण रूपसंस्थानमात्रस्यैव प्रतिभासः, न-शब्दोऽत्र काकाक्षिवद्योज्यः, बाह्यं पर्वतादि सर्वस्यैव प्रतिहन्तृ--सर्वं चास्य मूर्तत्वात्, न चैवमेतत् अत आह 'प्रतिघातीति' न-शब्दोऽत्रापि संबन्धनीयः, अन्यथास्य भग्ने दर्पणे कथं तदन्तः प्रवेशः स्यात्, न चैतद्दर्पणस्य पृष्ठतो युज्यते, तथात्वे हि दर्पणस्यादर्शनं भवेत्, बाह्यस्य च सर्वस्यैवोत्पत्तौ कारणापेक्षास्ति, नहि स्वयंभु किंचित् वस्तु संभवति, उत्पन्नं पुनरन्यनिरपेक्षमेवास्ते, यथा चक्रादिपरिहारेण घटः, इदं पुनरुत्पत्तिनिमित्तं दर्पणादि उपेक्ष्य स्वातन्त्र्येण न किंचिदपि सत्तां लभते, न हि दर्पणादिपरिहारेण प्रतिबिम्बं क्वचिद्दृश्यते तदुक्तं 'न स्वतन्त्रमिति' अत एव च नैतत्स्वयं स्थिरमस्थिरं वापीत्याह 'न स्थाय्यस्थायि चापि नेति' बाह्यं हि वस्तु उत्पन्नं सत् बहुकालयोगित्वात्स्थायीत्युच्यते अन्यथा तु अस्थायि, एतत्पुनर्दर्पणादेरतिरेकेण सत्तामेव नोपलभत इति कस्य कालयोगो येन स्थायित्वमस्थायित्वं वापि भवेत् तस्मात्प्रसिद्धतद्वस्तुजातीयत्वाभावात् शशविषाणादिवदेतदवस्त्वेवेति नास्य प्रतिभासो न्याय्यः। अथ चास्ति प्रतिभास इति किमेतदुच्यते ? इत्याह 'स्वच्छस्यैवैष कस्यापि महिमेति' स्वच्छस्य दर्पणादेरेवैष प्रभावो यद्वस्तु अवस्तुविलक्षणमाभासमात्रसारं प्रतिबिम्बं नामेदं प्रतिभासते इति, तेन भगवता यथा दर्पणादौ आभासमात्रसारा एव भावा अवभास्यन्ते तथा संवित्तावपीति न बहीरूपत्वेनैषां सत्त्वमस्तीति बोधं वर्धयितुं बाह्यार्थाभिनिवेशिनामेतदुपदिष्टम्, अतः सर्वमेवैतदाभासमात्रसारमेवेति, न बाह्येऽर्थेऽभिनिवेष्टव्यं येन द्वैतमोहः शाम्येत् ॥२१॥२२॥

अत एवाह

न देशो नो रूपं न च समययोगो न परिमा
न चान्योन्यासंगो न च तदपहानिर्न घनता।
न चावस्तुत्वं स्यान्न च किमपि सारं निजमिति
ध्रुवं मोहः शाम्येदिति निरदिशद्दर्पणविधिः ॥२३॥

प्रतिबिम्बं तावद्दर्पणातिरेकेण स्वतन्त्रतया पृथक् सत्तां नोपलभत इत्युपपादितम्, ततश्च नास्त्यस्य दर्पणात्पृथग्देश इत्युक्तं 'न देश इति' एवं चास्य न घनता--काठिन्यलक्षणा मूर्तिरपि नास्तीत्यर्थः, अन्यथा हि दर्पणादस्य पृथग्देशः स्यात्--एकस्यैव नभोदेशस्य मूर्तेन दर्पणेनाक्रान्तस्य

मूर्तान्तरेणाक्रमितुमशक्यत्वात् मूर्तानां समानदेशत्वविरोधात्, अत एव चास्य नो रूपं--रूपाख्यगुणयोगो नास्ति इत्यर्थः स हि मूर्त एव भवतीति भावः, अत एव चास्य न कालेन संवन्धः, स हि कंचित्पूर्वापरभाविनमपेक्ष्य पृथग्लब्धसत्ताकस्य स्यात्, अस्य पुनर्दर्पणात् पृथक् सत्तैव नास्तीत्युक्तं बहुशः, अत एव चास्य 'न परिमा' परिमाणं नास्ति--सत एव तद्योगोपपत्तेः, अन्यथा हि पारामते दर्पणदेशे महाकारं पर्वतादि कथं प्रतिसंक्रान्तं भवेत्, नापि दर्पणान्तरनेकेषामर्थानां सहप्रतिभासेऽपि परस्परं नैविडयेन संश्लेष इत्याह 'न चान्योन्यासंग इति'। ननु नगरप्रतिभासादौ यद्यनेकेषां भिन्नदेशानामर्थानामेकस्मिन्नेव परिमिते दर्पणदेशे प्रतिभासः तदेतेषामेकदेशत्वान्यथानुपपत्त्या परस्परं संमेलनेनैकपिण्डीभावेनैवासौ न्याय्यः, न चेदेवं तर्हि तत्र नगरप्रतिभास एव न भवेदित्याह 'न च तदपहानिरिति' सर्वेषामेवार्थानां परस्परं वैविक्त्येनैव प्रतिभासात्, न च भातमभातं भवतीत्युक्तं बहुशः, अत एव च नास्य अवस्तुत्वमित्याह 'न चावस्तुत्वं स्यात् इति' सर्वेषामेवार्थानां प्रतिभासात्, एवमप्यस्य वस्तुत्वोपपादकमल्पमपि निजं तथ्यं रूपं नास्तीत्याह 'न च किमपि सारं निजमिति' इत्येवमाभासमात्रसारं प्रतिबिम्बसतत्त्वं बाह्यार्थवादिनो निश्चितमेव द्वैतप्रथात्मकं संकुचितं ज्ञानं शाम्यतामित्येतदर्थं दर्पणविधिः--कुडयादिवैलक्षण्येन प्रतिबिम्बसहिष्णुवस्तुप्रकारो, निरदिशत् निर्दिष्टवान्। एवं च सत्ययमर्थः प्रदर्शितो भवति--यद्विश्वमिदं संविदि दर्पणप्रतिबिम्बन्यायेन अवस्थितं न तु तदतिरिक्ततया बहीरूपत्वेन वस्तुसदिति न तत्राभिनिवेष्टव्यमिति ॥१३॥

तदेवमुपपादिते प्रतिबिम्बमार्गे यच्छब्दस्य प्रतिबिम्बं तत्सामवायिकेन अभिधानान्तरेणाप्यभिधीयते इत्याह

इत्थं प्रदर्शितेऽमुत्र प्रतिबिम्बनवर्त्मनि।
शब्दस्य प्रतिबिम्बं यत् प्रतिश्रुत्केति भण्यते ॥२४॥
न चासौ शब्दजः शब्द आगच्छत्त्वेन संश्रवात्।
तेनैव वक्त्रा दूरस्थैः शब्दस्याश्रवणादपि ॥२५॥
पिठिरादिपिधानांशविशिष्टछिद्रसंगतौ।
चित्रत्वाच्चास्य शब्दस्य प्रतिबिम्बं मुखादिवत् ॥२६॥

प्रतिसंक्रमणेन श्रुत् श्रवणमस्या इति 'प्रतिश्रुत्वा' यद्वा प्रति सदृशं

श्रवणं प्रतिश्रुत् सैवेति । इह खलु नैयायिकानां दर्पणादौ चाक्षुषाणां रश्मीनां प्रतिफलनात् स्वकवक्त्रग्रहणेन रूपस्य प्रतिबिम्बे श्रोत्रादेः प्रतिफलनाद्य-योगात् प्रतिश्रुत्कादौ मुख्यशब्दादिरूपतापरिकल्पनेनापि तदपह्नव इति न क्वचिदपि प्रतिबिम्बमस्तीत्याशयः । तत्र रूपप्रतिबिम्बं तावदस्तीत्युपपादि-तम् । एवं शब्दादीनामपि प्रतिबिम्बास्तित्वोपपादनाय तन्मतमाशंक्य दूषयति—'न चासौ' इत्यादिना, असाविति प्रतिश्रुत्का, शब्दज इति न पुनः संयोगजो विभागजो वा—स्वत एव स्वहेतुसमुत्थत्वादयं मुख्यः शब्द इति भावः, स च वक्त्रदेशात् गच्छन्नेव प्रतीयते अत एव तत्सविधवर्तिभिः प्रमातृभिराद्य एव शब्दस्तीव्रतमप्रायः श्रूयते, न पुनरन्त्यो मन्दतमप्रायः, दूरदेशवर्तिभिः पुनरन्त्य एव न त्वाद्य इति, प्रतिश्रुत्का पुनस्तेनैव वक्त्रा तत्समीपस्थैर्वा प्रमातृभिरागच्छत्त्वेन स्वसंमुखं प्रवर्तमानत्वेन संश्रूयते, अत एव च दूरस्थैः गह्वरगुहाप्रायदेशस्थैः प्रमातृभिर्न श्रूयते—तदाभिमुख्येन तस्याः प्रवर्तमानत्वाभावात्, मुख्यः शब्दश्च बहूनां श्रोतृणां श्रोत्राकाशदेश-मधिशयानो न भिन्नभिन्नस्वरूपतामभ्येति, तथात्वे हि सर्वेषामेव श्रोतृणामे-कविषयत्वेन प्रवृत्तिर्न स्यात्, प्रतिश्रुत्का पुनरधःस्थितक्वथितसशब्दपानीय-भाण्डाच्छादनरूपाः पिठिरादयो ये उपादानविशेषास्तेषां यानि विशिष्टानि स्थूलसूक्ष्मादिरूपाणि छिद्राणि—सुषिरा भागास्तत्र संगतौ तदाकाशमेलनेन एकशब्दात्मवैचित्र्यं यायादिति वस्तुभूतशब्दजशब्दजातीयत्वानुपलब्ध्या नासौ शब्दजः शब्दः, तस्माद्यथा मुखस्य दर्पणादौ प्रतिबिम्बमस्ति तथास्य मुख्यस्य शब्दस्यापि नभसीत्याह—'अस्य शब्दस्य प्रतिबिम्बं मुखादिवत्' इति ॥२४॥२५॥२६॥

न केवलं वस्तुभूतमुख्यशब्दजातीयत्वाभावात् अत्र प्रतिबिम्बत्वं याव-द्रूपप्रतिबिम्बजातीयत्वादपीत्याह

> इदमन्यस्य वेद्यस्य रूपमित्यवभासते ।
> यथादर्शे तथा केनाप्युक्तमाकर्णये त्विति ॥२७॥

यथा दर्पणादावहन्ताप्रत्ययस्यापि स्वमुखसंबन्धिनो रूपस्यान्यसंबन्धि-त्वेन वेद्यतया प्रतीतिः तथा 'मयैतदुक्तम्' इति परामर्शनीयस्यापि स्वयमु-च्चारितस्य शब्दस्य 'केनाप्युक्तम् अहमाकर्णये' इति, अतश्च प्रतिबिम्बान्तर-जातीयत्वादप्यत्र प्रतिबिम्बत्वमित्याशयः । तु-शब्दश्चार्थे स च पूर्वापेक्षया, इतिशब्दो वाक्यसमाप्तौ ॥२७॥

ननु केनचिद्वक्त्रा यदुच्चारितः शब्दो दूरे गुहाद्याकाशे प्रतिसंक्रान्तिमेति तत्तद्देशवर्तिनामेव तच्छ्रवणं भवतु न त्वन्येषाम् ? इत्याह

नियमाद्बिम्बसांमुख्यं प्रतिबिम्बस्य यत्ततः ।
तन्मध्यगाः प्रमातारः शृण्वन्ति प्रतिशब्दकम् ।।२८।।

यस्माद्दर्पणादाविव प्रतिबिम्बस्य नियमेन बिम्बसांमुख्यमेव भवति तस्मात्तयोः बिम्बप्रतिबिम्बयोरन्तर्वर्तिन एव प्रमातारस्तं बिम्बसांमुख्येन प्रवर्त्तमानं प्रतिशब्दं शृण्वन्ति, न पुनर्दूरगास्तदतिरिक्तगह्वरगुहादिदेशस्थाः--तदाभिमुख्येन तस्याप्रवर्तनात् ।।२८।।

ननु यद्येवं तर्हि तन्मध्यगत्वेऽपि केनापि निमित्तेनाश्रुतबिम्बाभिमतशब्दकाराः प्रमातारः कथं बिम्बाभिमुख्येन प्रवर्तमानं प्रतिशब्दं गृह्णीयुः ? इत्याशंक्याह

मुख्यग्रहं त्वपि विना प्रतिबिम्बग्रहो भवेत् ।
स्वपश्चात्स्थं प्रियं पश्येद्झङ्कितं मुकुरे वपुः ।।२९।।

'भवेदिति' प्रतिबिम्बग्रहणयोग्यदेशावस्थानात् 'स्वपश्चात्स्थमिति' अतर्कितोपनतबिम्बभूतप्रियादर्शने विशेषणद्वारेण हेतुः ।।२९।।

ननूक्तयुक्त्या दर्पणादेरतिरेकेण प्रतिबिम्बं पृथक्सत्तामेव नोपलभत इति कथं तस्य बिम्बसांमुख्यं भवति ? इत्याशंक्याह

सांमुख्यं चोच्यते तादृग्दर्पणाभेदसंस्थितेः ।।३०।।

तादृग्बिम्बसंमुखो योऽसौ दर्पणः, तेनाभेदो दर्पणैकात्म्यं, तेन या प्रतिबिम्बस्य संस्थितिरवस्थानं, तेन एतदेवास्य सांमुख्यं--यद्दर्पणो बिम्बसांमुख्येन वर्तते, तदनधिकवृत्तित्वात् तस्य दर्पणादेः पुनरवश्यंभाविबिम्बसांमुख्यम्, अन्यथा हि प्रतिबिम्बस्योत्पत्तिरेव न स्यात्, एवमाकाशादेरपि बिम्बसांमुख्येनैव हि शब्दादिप्रतिबिम्बग्राहित्वमित्यवगन्तव्यम् ।।३०।।

तदाह

अतः कूपादिपिठिराकाशे तत्प्रतिबिम्बितम् ।
वक्त्राकाशं सशब्दं सद्भाति तत्परवक्तृवत् ।।३१।।

अतो--यथोक्ताद्बिम्बसंमुखाधारविशेषैकात्म्याद्धेतोः, कूपाद्याकाशे

तद्बिम्बभूतं सशब्दं वक्तुः संबन्ध्याकाशं प्रतिबिम्बितं जाततदभेदवृत्ति सत् भाति प्रतिभासते इत्यर्थः। शब्दस्य गुणत्वेन गुणिनि समवेतत्वात्तत्परतन्त्रत्वमेवेति गुणिनैव सह अस्य गुणिनि प्रतिबिम्बनं युक्तमित्युक्तम्--'आकाशे आकाशम्' इति। कूपाद्याकाशस्य वक्त्राकाशसांमुख्यं हृदयङ्गमीकर्तुं दृष्टान्तयति 'तत्परवक्तृवत्' इति--ततः प्रकृताद्वक्तुः परो वक्ता प्रतिवक्ता तस्मिन्निवेत्यर्थः, यथा वक्तृसंमुखीन एव प्रतिवक्तृसंबन्धी श्रोत्राकाशो वक्तृसंबन्धिनः सशब्दस्याकाशस्य प्रतिबिम्बं गृह्णाति तथा कूपाद्याकाशोऽपीति। इह खलु तत्तदिन्द्रियजं ज्ञानं गृहीततत्तत्प्रतिबिम्बमेव विषयं परिच्छिन्द्यात् अन्यथा हि निराकारस्य ज्ञानस्य नीलपीताद्यनेकविषयसाधारणत्वात् 'इदं नीलज्ञानम्, इदं पीतज्ञानम्' इति नियमो न स्यात्, अतश्च साकारं ज्ञानम्--आकारवत्तामन्तरेणास्य प्रतिकर्मव्यवस्थानुपपत्तेः, न च यदेवास्य जनकं तदेव विषय इति प्रतिकर्मव्यवस्थापि सिद्धयेत्. इति वक्तुं युक्तं--जनकत्वाविशेषाच्चक्षुरादीनामपि तद्विषयत्वप्रसंगात्। अथैतन्नीलेन कर्मणा सत्ता जन्यते न त्वेवं चक्षुरादिना इत्यस्य तदेकविषयत्वम्? इति चेत् नैतत्--कर्मत्वं हि कारकत्वं तच्च क्रियावेशवशाद्भवति, अन्यथा हि तद्वस्तुमात्रं स्यात्, न कारकं, नीलस्य चेह ज्ञानाख्यक्रियावेश एव विचारयितुं प्रस्तुत इति कथं तत्पूर्वमपि अस्य कर्मत्वं स्यात् इति। न जनकत्वेनापि तदेकविषयत्वं सिद्धयेत् यत्पुनर्जनकत्वाविशेषेऽपि वस्तुस्वभावकृत एवायं विशेष इत्युच्यते तत्पलायनप्रकारासूत्रणम्, इत्यलं बहुना। एतेन इन्द्रियाण्यपि गृहीततत्प्रतिबिम्बान्येव तत्तद्विषयपरिच्छेदमाधातुमुत्सहन्ते इति साधु दृष्टान्तितम्--'तत्परवक्तृवदिति' यद्यप्येतत् श्रोतृमात्रे संभवति तथाप्यभिनिवेशादिना वक्तृप्रतिवक्त्रोः परस्परमवश्यंभावि सांमुख्यमित्येतन्निदर्शनीकृतम्। श्रोतॄणां पुनरसांमुख्यमपि संभाव्यते, तथाहि—एवं वदन्तो लौकिकाः श्रोतारो दृश्यन्ते 'न मया श्रुतमनेनोक्तमिति'। यद्वा सामान्येन कूपाद्याकाशे प्रतिबिम्बितो वक्त्राशः पर इव वक्ता भाति--वक्त्रन्तरेण इव उच्चारितः शब्दः श्रूयते इत्यर्थः। एवं प्रतिबिम्बमपि तदभेदवृत्तित्वाद्बिम्बसंमुखमेवेति युक्तमुक्तम् 'नियमाद्बिम्बसांमुख्यं प्रतिबिम्बस्येति' ॥३१॥

अत एव च बिम्बप्रतिबिम्बयोर्मध्यदेशग एव प्रमाता तत्तद्गृह्णाति नान्य इत्याह

यथा चादर्शपाश्चात्यभागस्थो वेत्ति नो मुखम् ।
तथा तथाविधाकाशपश्चात्स्थो वेत्ति न ध्वनिम् ॥३२॥

मुखमित्यन्यसंबन्धिमुखप्रतिबिम्बं, तथाविधेति बिम्बसंमुखीनः पश्चात्स्थो--गह्वरगुहाप्रायदेशस्थ इत्यर्थः ध्वनिमिति प्रतिश्रुत्कालक्षणं, नो वेत्ति इति वेदनमात्रनिषेधात्प्रतिबिम्बस्य वस्तुतोऽवस्थानमस्तोति सूचितम्, न हि ज्ञानाभावाज्ज्ञेयस्याप्यभाव इति भावः— तेनोत्पन्नमपि प्रतिबिम्बं योग्यदेशावस्थानाभावान्न जानातीत्यर्थः, यद्यपि चैतन्नियमाद्बिम्बसांमुख्यमित्यादिनैव गतार्थं तथापि रूपप्रतिबिम्बसाजात्योपोद्वलनाय पुनरुपात्तम् ॥३२॥

नन्वत्र रूपप्रतिबिम्बजातीयत्वं किमंशांशिकया सर्वंसर्विकया वा? तत्राद्ये पक्षे वस्तुभूतशब्दजशब्दजातीयत्वमपि प्रतिभासमानत्वादिना केनाप्यंशेनास्तीति तद्रूपतापि प्रसक्ता स्यात्, सर्वंसर्विकया चैतन्नास्ति--यदुत्पन्नेऽपि रूपप्रतिबिम्बबे हस्तादेर्बिम्बस्य प्रतीतिः, इह तु न तथा,--इत्याशंकां दर्शयति

शब्दो न चानभिव्यक्तः प्रतिबिम्बति तद्ध्रुवम् ।
अभिव्यक्तिश्रुती तस्य समकालं द्वितीयके ॥३३॥
क्षणे तु प्रतिबिम्बत्वं श्रुतिश्च समकालिका ॥

इह शब्दस्तावत् अनभिव्यक्तोऽनुच्चारितः प्रतिबिम्बात्मतां नाभ्येति इति नूनमसौ प्रथमे क्षणे स्थानकरणाभिघातादभिव्यक्तः सन् श्रोत्रेन्द्रियग्राह्यतामवगाहते, द्वितीये क्षणे पुनः प्रतिबिम्बताम श्नुवानः श्रूयते, इति--नास्योच्चारितप्रध्वंसिनो बिम्बसंमतस्य प्रतिबिम्बात्मतावसरे प्रतीतिः, अतश्च नात्र रूपप्रतिबिम्बजातीयत्वं--तत्र प्रतिबिम्बकालेऽपि बिम्बस्य प्रतीतेः ॥३३॥

तदेतन्नेत्याह

तुल्यकालं हि नो हस्ततच्छायारूपनिश्चयः ॥३४॥

निश्चय इति विमर्शात्मावभासः, तत्रापि न प्रतिबिम्बकाले बिम्बस्य प्रतीतिः, न हि प्रतिबिम्बप्रतीतौ बिम्बस्यापि हस्तादेः प्रतोतिर्युक्ता--युगपत्प्रतोतिद्वयोदयविरोधात्, न चेयं चित्रज्ञानवदेकैव उभयालम्बना--बिम्बप्रतिबिम्बयोर्विदूरदेशवर्तित्वात् अविच्छेदेन प्रतिभासाभावात् । ननु हस्तादेः

प्रतिभासाभावेऽपि वस्तुनोऽवस्थानमस्ति ? इति चेन्नैतत्--आभास एव हि सर्ववस्तुव्यवस्थापकः तमन्तरेण अर्थानां सत्त्वासत्त्वनिश्चयायोगात्, स एव चात्र नास्ति, इति हस्तादेर्बिम्बस्य वस्तुतः सद्भावे किं प्रमाणं, शब्दस्य च द्वितीये क्षणेऽपि नश्यदवस्थस्य वस्तुतः सद्भावोऽस्ति किं तु प्रतिबिम्बात्मतावसरे तस्य प्रतीतिरेव न भवेदित्यत्रापि न बिम्बप्रतिबिम्बयोर्युगपत्प्रतीतिरितिस्थितमेवास्य तज्जातीयत्वम् ॥३४॥

एवं नैयायिकमतापहस्तनेन प्रतिबिम्बपरमार्थमुपपाद्य प्रकृतमेवोपक्रमते

इत्थं प्रदर्शितेऽमुत्र प्रतिबिम्बसतत्त्वके ।
प्रकृतं ब्रूमहे तत्र प्रतिबिम्बनमर्हति ॥३५॥
शब्दो नभसि सानन्दे स्पर्शधामनि सुन्दरः ।
स्पर्शोऽन्योऽपि दृढाघातशूलशीतादिकोद्भवः ॥
परस्थः प्रतिबिम्बत्वात्स्वदेहोद्धूलनाकरः ॥३६॥

तदाह--तत्रेत्यादि, तत्रेति एवंस्थिते सतीत्यर्थः। नभसीति तत्रैव शब्दस्य नैर्मल्यात्, स च परस्थः सन् प्रतिबिम्बनमर्हतीत्यन्वयः, एतच्च सर्वत्रैव योज्यम्, सानन्द इति आनन्दस्थानात्मके कन्दहृत्तालुतलादौ आधारविशेषे, तत्रैव हि स्पर्शस्य नैर्मल्यान्मिथुनोपभोगसमुचितः स्पर्शः प्रतिसंक्रामति येन धातुनिःष्यन्दसुखाद्यपि स्यात्। अत एवानन्दातिशयकारित्वात् 'सुन्दर' इत्युक्तम्। अन्यो दुःखादिकारित्वादसुन्दरोऽपि स्पर्शोऽर्थात् दुःखाद्यात्मके मत्तगन्धजठरकूर्मनाडीकण्ठप्रभृतौ आधारविशेषे प्रतिसंक्रामति येन मूर्च्छाद्यपि स्यात्, परस्थ इति परानुभूयमानः, तत्र हि स मुख्य इति भावः, एतच्चोपलक्षण--तेन स्मर्यमाणात्प्रेक्ष्यमाणादिरूपोऽप्यसौ एवं स्यात्। प्रतिबिम्बत्वं च अस्य कुतो लक्ष्यते ? इत्याह--'प्रतिबिम्बत्वात्स्वदेहोद्धूलनाकर' इति, एतच्च सुखदुःखयोरनुभवे समानमित्यविशेषेणोपात्तम् ॥३५॥३६॥

नन्वेवमर्थक्रियाकारित्वादेष मुख्य एव स्पर्शः किं न भवति ? इत्याशंक्याह

न चैष मुख्यस्तत्कार्यपारम्पर्याप्रकाशनात् ॥३७॥

मुख्य इति बिम्बरूपः, तस्य स्पर्शस्य यत्कार्यमानन्दादि तस्य यत्

पारम्पर्य--प्रबन्धेन प्रवृत्तिः तस्यानवभासनात्, साक्षाद्धि संनिहिते कारणे कार्यमविच्छेदेनैव उद्गच्छद्भवति, न चैवमिह, इत्यस्य न मुख्यत्वम् ॥३७॥

एतदेवान्यत्राप्यतिदिशति

एवं घ्राणान्तरे गन्धो रसो दन्तोदके स्फुटः ॥३८॥

दन्तोदक इति निर्मलरसगुणयुक्ते--रसनेन्द्रियाधिष्ठानभूत इत्यर्थः ॥३८॥

एवं प्रतिश्रुत्कावद्रसादिप्रतिबिम्बानामपि रूपप्रतिबिम्बजातीयत्वं कटाक्षयन् यथासंभवं व्यवस्थां दर्शयति

यथा च रूपं प्रतिबिम्बितं दृशोर्न
चक्षुषान्येन विना हि लक्ष्यते ।
तथा रसस्पर्शनसौरभादिकं
न लक्ष्यतेऽक्षेण विना स्थितं त्वपि ॥३९॥

इह अवभासनमात्रसारमेव प्रतिबिम्बसतत्त्वमित्युक्तं बहुशः, अवभासनं च तत्तद्विषयग्राहकेन्द्रियानुग्राहकान्तःकरणाधिष्ठानायत्तम्, यतः संनिहितेऽपि दर्पणादौ यदि चक्षुरादीन्द्रियजातमन्तःकरणाधिष्ठितं न जातं तत्को नाम मुखादिप्रतिबिम्बावभासः, ततश्च दृशोः दृगिन्द्रियाधिष्ठेययोः गोलकयोः प्रतिसंक्रान्तं रूपमन्येन अन्यसंबन्धिना चक्षुरिन्द्रियेण विना नाभिलक्ष्यते--चक्षुरिन्द्रियान्तरव्यापारमन्तरेण न निर्भासत इत्यर्थः । न केवलं तत्परिच्छेदकौशलशून्ये दर्पणादौ प्रतिसंक्रान्तस्य रूपस्यावभासने अन्यसंबन्धिचक्षुरिन्द्रियोपयोगो यावत्स्वयमेवं कुशलयोर्दृशोरपि इति दर्शयितुमुक्तं 'दृशोरिति'। न खलु चक्षुरञ्जनादिवदतिसंनिकृष्टं परिच्छेत्तुमलमिति भावः, तेन न इन्द्रियव्यापारमन्तरेणैतन्निर्भासत इति तात्पर्यम् । एवं यथैतत्तथा रसादि प्रतिसंक्रान्तं सत् स्थितमपि स्वेन्द्रियव्यापारमन्तरेण पुनर्न लक्ष्यते नावभासत इत्यर्थः । अत्र चक्षुरादीन्द्रियाणामवभासनान्यथानुपपत्त्या अन्तःकरणाधिष्ठानं लक्ष्यते इति न स्वकण्ठेनैतदुपात्तम्, अन्यथा हि व्याप्रियमाणमपि चक्षुरादि न किंचित्परिच्छिन्द्यात् । ननु इह रूपशब्दयोरन्तश्चक्षुःश्रोत्रादौ बहिश्च दर्पणाकाशादौ प्रतिबिम्बयोग इति बाह्यं प्रतिबिम्बमन्यसंबन्धिभ्यां चक्षुःश्रोत्राभ्यां परिच्छिन्द्यते इत्युपपन्नम्। स्पर्शादि पुनरन्तर्देह एव कन्दादौ प्रतिसंक्रामति इति तत्र स्थितं, तत्परसंतानस्य नित्यानु-

मेयत्वाच्च अन्यस्य संबन्धिनो बाह्येन्द्रियज्ञानस्य विषयो न भवेत्, तत्कथमुक्तं--रूपप्रतिबिम्बवदेतदक्षेण विना न लक्ष्यते इति ॥३९॥

तदाह

न चान्तरे स्पर्शनधामनि स्थितं
बहिःस्पृशोन्याक्षधियः स गोचरः ॥४०॥

आन्तरे इति अन्तर्देहवृत्तित्वात्, स्पर्शनधामनीत्युपलक्षणम् तेन गन्धरसक्षेत्रयोरपि ग्रहणम्, अन्याक्षधियश्चान्तरस्पर्शाद्यग्रहणे 'बहिःस्पृश' इति विशेषणद्वारको हेतुः, स इति गोचरशब्दापेक्षो निर्देशः । एवमन्तर्देहवृत्तित्वात्कन्दादेः स्पर्शादिक्षेत्रस्य च चक्षुर्गोलकादिवत् प्रमात्रन्तरे इन्द्रियगोचरता नास्तीति ॥४०॥

तत्र स्थितं स्पर्शादि अन्तःकरणाधिष्ठितस्वेन्द्रियव्यापारादेव निर्भासत इत्याह

अतोऽन्तिकस्थस्वकतादृगिन्द्रिय-
प्रयोजनान्तःकरणैर्यदा कृता ।
तदा तदात्तं प्रतिबिम्बमिन्द्रिये
स्वकां क्रियां सूयत एव तादृशीम् ॥४१॥

अतो—यथोक्तादान्तरत्वादेर्हेतोः, मनःप्रभृतीनामन्तःकरणानां क्रमेण सर्वेन्द्रियसंयोगसंभवादन्तिकस्थं संयुक्तं स्वकं विषयौचित्येन नियतं तादृगिन्द्रियघाताद्यभावाददुष्टं च तदिन्द्रियं त्वगादि तस्य प्रयोजनान्तःकरणकर्तृका स्पर्शादौ विषये प्रेरणा यदा भवेत् तदार्थादिबिम्बभूतबाह्यस्पर्शादिसंनिकर्षात् जाते इन्द्रिये—इन्द्रियज्ञाने, गृहीताकारस्यैव ज्ञानस्य तत्तन्नियतविषयपरिच्छेदोपपत्तेः पूर्वमुक्तत्वात् स्पर्शाद्यात्म प्रतिबिम्बमात्तं गृहीतं सत् तादृशीमानन्दादिलक्षणां स्वकां बिम्बसंमतामर्थक्रियां सूयते करोतीत्यर्थः । अत एव चात्र वास्तवत्वं —सर्वत्रैव ग्राह्यग्राहकभावस्यैवंभावात् ॥४१॥

बाह्यबिम्बाभावे पुनः स्मर्यमाणं स्पर्शादि स्वक्षेत्रे प्रतिसंक्रान्तमपि न सत्यार्थक्रियाकारि इत्याह

न तु स्मृतान्मानसगोचरादृता
भवेत्क्रिया सा किल वर्तमानतः ।

अतः स्थितः स्पर्शवरस्तदिन्द्रिये
समागतः सन्विदितस्तथाक्रियः ॥४२॥

स्मृतादिति वहिरस्यासंभव उक्तः—तस्या अतीतार्थविषयत्वात्, मानसज्ञानस्य हि सुगन्धिवन्धूकादि वहिरसंभवदपि विषयो भवेदिति भावः। ऋता भवेत्, न तु न भवेदेव इत्यभिप्रायः। स्मर्यमाणादपि हि स्पर्शादेः सुखादि स्यात्, किंतु न तत्सत्यं—प्राबन्धिन्यास्तत्प्रवृत्तेरभावात्, अत्र हेतुः—सा किल वर्तमानत इति, किलेति हेतौ, यतः सा अर्थक्रिया वर्तमानतो बहिः संभवत एवार्थाद्भवतीत्यर्थः, तदाह अत इत्यादि, अत उक्ताद्वहिर्बिम्बात्मना संभवन् उत्कृष्टः स्पर्शः तदिन्द्रिये—स्पर्शनेन्द्रियज्ञाने, समागतो—दत्तप्रतिबिम्बः, अत एव विदितः सन्, तथाक्रियः—सत्यनिजार्थक्रियाकारी भवतीत्यर्थः ॥ ४२ ॥

नन्वेवं सत एवार्थस्य प्रतिबिम्बार्पणक्षमत्वात् बहिरसंभवन् स्पर्शादिः प्रतिसंक्रान्तिमेव नैतीति स्मृत्यादौ को नामार्थक्रियामेव कुर्यात् यस्या असत्यत्वमपि परिकल्प्येत ? इत्याशंक्याह

असंभवे बाह्यगतस्य तादृशः
स्व एव तस्मिन्प्रतिबिम्बतस्तथा ।
करोति तां स्पर्शवरः सुखात्मिकां
स चापि कस्यामपि नाडिसंततौ ॥४३॥

बाह्यबिम्बाभावे तत्सदृशः स्मृत्यादिविकल्पैरुल्लिखितः स्व एवाकारीभूतः स्पर्शादिर्न तु बाहयः तस्मिन् स्पर्शक्षेत्रादौ प्रतिबिम्बितः सन् तथा स्वौचित्यादसत्यां सुखलक्षणां तामर्थक्रियां करोतीति वाक्यार्थः। ननु कन्दादीनां बहूनां स्पर्शक्षेत्राणां संभवात् किं सर्वत्रैव स्पर्शः प्रतिसंक्रामति उत कुत्रचिदेव ? इत्याशक्याह 'स चापि कस्यामपि नाडिसंतताविति' कस्मिंश्चिदेव नाडीसंतत्यात्मके कन्दादावाधारविशेष इत्यर्थः, कन्दादिप्राधान्याद्धि केषांचित्केचिदेवाधारविशेषाः संभवन्तीति—यत्रैवैषां नैर्मल्यातिशयः तालुतल इव षण्ठानां तत्रैव तेषां स्पर्शप्रतिसंक्रान्तिरिति भावः ॥४३॥

एवं प्रतिबिम्बसतत्त्वमुपपाद्य प्रकृते योजयति

तेन संवित्तिमकुरे विश्वमात्मानमर्पयत् ।

नाथस्य भासतेऽमुष्यविमलांविश्वरूपताम् ॥४४॥

तेन समनन्तरोक्तेन हेतुना, विश्वं संवित्तिरेव स्वच्छतातिशयान्मकुरः तस्मिन्नात्मानमर्पयत्–प्रतिबिम्बं दददमुष्य संवित्त्यात्मनो नाथस्य विमलां युक्त्यनुभवोपपादितत्वान्निरवद्यां विश्वरूपतांस्वात्माभिन्नतां वदते–भासयति, संवित्तेरतिरेकेण न स्फुरति इति यावत्, न खलु दर्पणादेः स्वाधारान्मुखादेः पृथक् स्वातन्त्र्येण प्रतिभासो भवतीति भावः, तेन निखिलमिदं जगत् संवित्त्यात्मनः परमेश्वरस्यैवैकस्य रूपमिति पिण्डार्थः। यदुक्तं प्रज्ञालंकारे

> 'एवं तर्हि जगत् एकस्यैव कस्यचिदनंशस्य
> यथोक्तविधिना रूपमस्तु किं नः क्षीयते।'

इति। वदत इति 'भासनोपसंभाषा०' (पा० सू० १। ३। ४७) इत्यादिना भासने आत्मनेपदम् ॥ ४४ ॥

ननु संवित्तेरनतिरिक्तमेव चेद्विश्वं तत्संवित्त्यात्मकत्वात्तस्य तद्धर्मधर्मित्वमपि स्यात्? सत्यम्–अस्त्येव तत्, इति बाह्यदृष्टान्तपुरःसरमाह

> **यथा च गन्धरूपस्पृग्रसाद्याः प्रतिबिम्बिताः।**
> **तदाधारोपरागेण भान्ति खड्गे मुखादिवत् ॥४५**
> **तथा विश्वमिदं बोधे प्रतिबिम्बितमाश्रयेत्।**
> **प्रकाशत्वस्वतन्त्रत्वप्रभृतिं धर्मविस्तरम् ॥४६॥**

इह खलु रूपादयः प्रतिबिम्बिताः सन्तः स्वाधारोपाधिवैशिष्ट्येनैव अवभासन्ते, यथा खड्गे तद्धर्मोर्ध्वताद्युपरक्ततया मुखं तथा महति सूक्ष्मे वा दर्पणे तथात्वेनेति, तद्वद्विश्वमपीदं प्रकाशे प्रतिबिम्बितं सत् प्रकाशमानत्वादि तद्धर्मजातमाश्रयेत्—स्वीकुर्यादिवेत्यर्थः। प्रकाशादनतिरिक्तत्व एव हि विश्वस्य प्रकाशमानत्वं स्यात् अन्यथा हि प्रकाशमानत्वायोगात् न किंचिदपि स्फुरेत्, अत एव च स्वयं प्रकाशमानत्वादस्य स्वातन्त्र्यं, प्रकाशादतिरिक्तत्वे हि जडस्य नीलसुखाद्यात्मनो विश्वस्य स्वयमप्रकाशरूपत्वात् स्वात्मना न प्रकाशः अपि तु परेण इति परापेक्षायां पारतन्त्र्यं भवेदिति भावः, अत एव च सर्वमेवेदं वेद्यजातं प्रकाशात्मनः परमेश्वरस्य शरीरीभूतम्—इति प्रकाशात्मत्वाद्विश्वात्मैव, तदुक्तम्

'प्रदेशोऽपि ब्रह्मणः सार्वरूप्यमनतिक्रान्तश्चाविकल्प्यश्च'

इति । तथा

'एकैकस्यापि तत्त्वस्य षट्त्रिंशत्तत्त्वरूपता' ।

इति च ॥ ४५ ॥ ४६ ॥

ननु रूपादीनां मध्यात्क्वचिदेव किंचित्प्रतिबिम्बमेतीति प्रतिपादितं प्राक्, तत्कथं रूपाद्यात्मकं निखिलमेव विश्वमेकस्मिन्बोधे प्रतिसंक्रान्तिमियात् ? इत्याशंक्याह

यथा च सर्वतः स्वच्छे स्फटिके सर्वतो भवेत् ।
प्रतिबिम्बं तथा बोधे सर्वतः स्वच्छताजुषि ॥४७॥

सर्वत इति स्फटिकपक्षे सर्वस्याः पूर्वापरादिकाया दिशः, बोधपक्षे सर्वस्माद्रूपादेः, यद्यपि सर्वतः स्वच्छे स्फटिके सर्वतो रूपमात्रप्रतिबिम्बमेव भवेदिति नास्य दृष्टान्तस्य रूपादिप्रतिबिम्बग्रहणसहिष्णौ बोधे साम्यं तथापि यथायथं स्वच्छतातिशयसंभवात् भावानां प्रतिबिम्बग्रहणोत्कर्षप्रतिपिपादयिषया एतदुपात्तम्, तथाहि दर्पणस्य पुरोभाग एव खड्गस्य पूर्वापरभागयोरेव स्फटिकस्य च सर्वत एव स्वच्छतातिशय इत्येषां यथायथं प्रतिबिम्बग्रहणे तारतम्यं संभवति, एवं बोधस्यापि सर्वतः स्वच्छत्वाद्रूपादिप्रतिबिम्बग्रहणे सामर्थ्यमिति, एवं च स्फटिकादपि अत्यन्तस्वच्छो बोध इति तात्पर्यार्थः ॥ ४७ ॥

ननु का नामास्य ततोऽप्यत्यन्तस्वच्छता ? इत्याह

अत्यन्तस्वच्छता सा यत्स्वाकृत्यनवभासनम् ।
अतः स्वच्छतमो बोधो न रत्नं स्वाकृतिग्रहात् ॥४८॥

इह खलु प्रकाशः स्वप्रकाशत्वात् स्वात्मन एव प्रकाशते न परस्य इत्यन्यानपेक्षणात् वेद्यत्वगन्धमात्रमपि न स्पृशति इति नास्य स्फटिकादिवज्ज्ञानान्तरग्राह्यत्वं येनाकारावभासोऽपि स्यात्, इह स्वच्छमेव हि अस्वच्छस्य प्रतिबिम्बं स्वीकर्तुं शक्नुयात् सितदुकूलमिव स्फटिकमणिः, न च परप्रमात्रेकरूपं प्रकाशमपेक्ष्य अन्यदधिकस्वच्छं किंचिदस्ति यदस्याप्याकारग्रहणनिपुणं स्यात् इति युक्तमुक्तम् 'अत्यन्तस्वच्छता सा यत्स्वाकृत्यनवभासनम्' इति । स्फटिकादि पुनर्ग्राह्यत्वादेतदपेक्षया न स्वच्छं—

यथा यथा हि स्फुटावेद्यता तथा तथा स्वच्छत्वस्याभाव इति भावः, अनेनैव चाभिप्रायेण पूर्वं

'नैर्मल्यं मुख्यमेतस्य संविन्नाथस्य सर्वतः ॥
अंशांशिकातः क्वाप्यन्यत्............. ॥'

इत्यादिना बोधस्य तदितरेषां केषांचन भावानां च स्वच्छत्वस्य मुख्यामुख्यतया द्वैविध्यमुक्तम्। एवं दर्पणादि स्वच्छं स्फटिकं स्वच्छतरं बोधस्तु स्वच्छतम इत्याशयः ॥ ४८ ॥

तदेवं संवित्प्रतिबिम्बेन विश्वस्य सर्वतः संभवत्यपि बाह्यप्रतिबिम्बसाम्ये अस्ति कश्चित्ततो युक्तिबलानीतो विशेष इत्याह

प्रतिबिम्बं च बिम्बेन बाह्यस्थेन समर्प्यते ।
तस्यैव प्रतिबिम्बत्वे किं बिम्बमवशिष्यताम् ॥४९॥

इह खलु मुखादिना बाह्येन बिम्बेन दर्पणादौ प्रतिबिम्बं समर्प्यते इत्यत्र तावन्न कस्यापि विमतिः, यदा पुनस्तस्य बिम्बत्वेन संमतस्य बाह्यस्यैव प्रतिबिम्बत्वमुपगम्यते तदा किं नाम बिम्बप्रतिबिम्बार्पणक्षमं वस्तु कवशिष्यताम्, न किंचिदपि संभवतीत्यर्थः। नहि यथा ज्ञानाद्विच्छिन्नो नीलसुखादिरर्थस्तथा ततोऽपि विच्छिन्नमर्थान्तरमस्तीति कस्याप्यभ्युपगमः ॥ ४९ ॥

ननु यद्यप्येतदेवं तथापि निर्निमित्तमेव कथं प्रतिबिम्बमुदियात् इति, तत्र बिम्बभूतं किंचित्कारणं वक्तव्यम् ? इत्याशंक्याह

यद्वापि कारणं किंचिद्बिम्बत्वेनाभिषिच्यते ।
तदपि प्रतिबिम्बत्वमेति बोधेऽन्यथा त्वसत् ॥५०॥

अत्र खलु बिम्बत्वेन यत्किंचन प्रतिबिम्बार्पणक्षमं कारणमिष्यते तत्किं बोधादनतिरिक्तमतिरिक्तं वा ? अनतिरिक्तत्वे तत् उक्तयुक्त्या प्रतिबिम्बमेव न बिम्बम्, अतिरिक्तत्वे च बुद्ध्यमानत्वाभावात् तन्न किंचिदेव इति युक्तमुक्तं 'तस्यैव प्रतिबिम्बत्वे किं बिम्बमवशिष्यताम्' इति ॥ ५० ॥

एतदेवोपसंहरति

इत्थमेतत्स्वसंवित्तिदृढन्यायास्त्ररक्षितम् ।

साम्राज्यमेव विश्वत्र प्रतिबिम्बस्य जृम्भते ॥५१॥

एवकारो भिन्नक्रमः—तेन प्रतिबिम्बस्यैव, न पुनर्बिम्बस्यापीत्यर्थः, विश्वत्रेति–न पुनर्बाह्ये मुखादौ, तत्र हि बिम्बप्रतिबिम्बयोर्द्वयोरपि सामर्थ्यमिति भावः ॥ ५१ ॥

ननु तयोः परस्परसापेक्षत्वात् कथं बिम्बाभावे प्रतिबिम्बस्यैव सद्भावः ? इत्याह

ननु बिम्बस्य विरहे प्रतिबिम्बं कथं भवेत् ।
किं कुर्मो दृश्यते तद्धि ननु तद्बिम्बमुच्यताम् ॥५२॥

एतदेव समाधत्त- किं कुर्म इत्यादिना, दृश्यते इति–नहि दृष्टेऽनुपपन्नं नामेति भावः। ननु न खलु वय दुष्टमपह्नुमहे यदेवमुच्यते किं तु दृश्यमानमिदं विश्वं प्रतिबिम्बतया न वाच्यमपि तु बिम्बतया इत्यभिदध्म इत्याह 'ननु तद्विम्बमुच्यताम् इति ॥५२॥

एतदेव निराकरोति

नैवं तल्लक्षणाभावाद्बिम्बं किल किमुच्यते
अन्यामिश्रं स्वतन्त्रं सद्भासमानं मुखं यथा ॥५३॥

तल्लक्षणासाभावादिति-–बिम्बलक्षणायोगात्, किं नाम बिम्बलक्षणम् ? इत्याह (बिम्बमित्यादि) अन्यामिश्रमिति-–सजातीयविजातीयव्यावृत्तमित्यर्थः। अत एव 'स्वतन्त्रं' स्वरूपमात्रनिष्ठं—परस्य परनिष्ठतानुपपत्तेः, तथात्वे हि स ततः पृथगेव न भवेदिति भावः। एवरूपत्वे चास्याबाधितत्वमेवास्ति प्रमाणमित्युक्तं 'भासमानमिति' ॥५३॥

एवं बिम्बलक्षणानन्तरं तत्तुल्यकक्ष्यतया लक्षणीयस्य प्रतिबिम्बस्य पीठिकाबन्धं कर्तुं तदाधारस्य तावत् सर्ववादिसिद्धतां द्योतयितुम्

'निजधर्माप्रहाणेन पररूपानुकारिता ।
प्रतिबिम्बात्मता सोक्ता खड्गादर्शतलादिवत् ॥'

इति प्रज्ञालङ्कारकारिकार्थगर्भीकारेण लक्षणमाह

स्वरूपानपहानेन पररूपसदृक्षताम् ।
प्रतिबिम्बात्मतामाहुः खड्गादर्शतलादिवत् ॥५४॥

इह दर्पणादेस्तनुत्वपरिमण्डलत्वाद्यात्मनः स्वस्यासाधारणस्य रूपस्यापरित्यागेऽपि परस्य मुखादेः संबन्धिना रूपेण यत् सादृश्यं तदेव प्रतिबिम्बात्मत्वं न तु तद्रूपतासादनमेव इति सर्व एव वा दिन आहुः, नात्र कस्यापि विप्रतिपत्तिरिति भावः। ताद्रूप्ये हि श्लक्ष्णैकवपुषोऽपि दर्पणस्य निम्नोन्नतमुखप्रतिबिम्बपरिग्रहे श्लक्षणत्वाभावो भवेत्—नगरादिप्रतिबिम्बयोगेऽनेकरूपपरिग्रहात् दर्पणस्य आनैक्यं स्यात्, तेन यथा चित्रज्ञानस्य अनेकवेदनेऽपि चित्रपतङ्गादौ एकत्वानपायात् अनेकसदृशाकारतया एकत्वमेव नानेकत्वम्, एवं दर्पणादेरप्यनेकप्रतिबिम्बयोगे न अनेकरूपत्वमिति नानैक्यप्रसङ्गः अपि तु तत्सादृश्यमात्रमेव, न च सादृश्यमात्रादेव ताद्रूप्यं, न हि गवयसादृश्यादेव गौर्गवयः, तस्माद्बिम्बसदृशाकारत्वमेव प्रबिम्बधारित्वमिति तात्पर्यार्थः ॥५४॥

एतदेवार्थद्वारेण संवादयति

> उक्तं च सति बाह्येऽपि धीरेकानेकवेदनात् ।
> अनेकसदृशाऽकारा न त्वनेकेति सौगतैः ॥५५॥

उक्तमिति प्रज्ञालंकारादौ। तदुक्तम् तत्र

> 'तस्मात्सत्यपि बाह्येऽर्थे धीरेकानेकवेदनात्
> अनेकसदृशाकारा नानेकैव प्रसज्यते ॥'

इति ॥५५॥

नन्वेवमपि प्रतिबिम्बस्य लक्षणं नकिंचिदुक्तं स्यात् ? इत्याशंकां प्रदर्श्य तल्लक्षणमेवाह

> नन्वित्थं प्रतिबिम्बस्य लक्षणां किं तदुच्यते ।
> अन्यव्यामिश्रणायोगात्तद्भेदाशक्यभासनम् ॥
> प्रतिबिम्बमिति प्राहुर्दर्पणे वदनं यथा ॥५६॥

इह खलु सर्व एव वादिनस्तत्प्रतिबिम्बमाहुः यदन्येन स्वाधिकरणभूतेन दर्पणादिना या व्यामिश्रणा तादात्म्यं, तया योगात्तदनतिरिक्तत्वाद्धेतोः, ततोऽन्यस्मात् तदाकारग्रहणसहिष्णोर्दर्पणादेर्भेदेन पृथक्स्वातन्त्र्येणाशक्यं भासनं यस्य तत्, तत्परतन्त्रमित्यर्थः। अनेन चास्य बिम्बवैपरीत्यं दर्शितम्,

यद्धि अन्यामिश्रं स्वतन्त्रं चेत्युक्तम्। एतच्च पूर्वमेव बहूक्तम् इतीह न पुनरायस्तम् ॥५६॥

एतदेव प्रकृते योजयति

बोधमिश्रमिदं बोधाद्भेदेनाशक्यभासनम् ।
परतत्त्वादि बोधे किं प्रतिबिम्बं न भण्यते ॥५७॥

इदं खलु तत्त्वभुवनाद्यात्मकं विश्वं बोधे प्रतिबिम्बं किं न भण्यते—अवश्यमेवाभिधातव्यमित्यर्थः, यस्मादिदमपि दर्पणेनेव मुखं बोधेन प्राप्ततदैकात्म्यम्, अत एव दर्पणादिव मुखस्य बोधाद्भेदेन पृथगशक्यं भासनं यस्य तत्, नहि प्रकाशमन्तरेण किंचिदपीदं भावजातं स्फुरेदिति भावः, यदुक्तम्

'तत्तद्रूपतया ज्ञानं बहिरन्तः प्रकाशते ।
ज्ञानादृते नार्थसत्ता ज्ञानरूपं ततो जगत् ॥
नहि ज्ञानादृते भावाः केनचिद्विषयीकृताः ।
ज्ञानं तदात्मतां प्राप्तमेतस्मादवसीयते ॥'

इति । तथा

'युगपद्वेदनाज्ज्ञानज्ञेययोरेकरूपता ।'

इति ॥ ५७ ॥

तदेवं प्रतिबिम्बलक्षणयोगेऽपि विश्वस्य यदि निर्निमित्तमेव बिम्बत्वमुच्यते तदुच्यतां को दोषः, एष खलु नास्ति विवादः—न चात्र विदुषां भरः, ते हि वस्तुन्येवाभिविष्टाः, तच्च नान्यथा कर्तुं शक्यं-प्रतिबिम्बलक्षणयोगस्यैवात्रोपपादितत्वात्, बिम्बलक्षणस्य च योजयितुमशक्यत्वात् तदाह

लक्षणस्य व्यवस्थैषाऽकस्माच्चेद्बिम्बमुच्यताम् ।
प्राज्ञा वस्तुनि युज्यन्ते न तु सामयिके ध्वनौ ॥५८॥

अकस्मादिति निर्हेतुकमित्यर्थः ॥ ५८ ॥

ननु तल्लक्षणयोगाद्विश्वस्य प्रतिबिम्बत्वं यदुच्यते तदास्तां, नास्माकमत्र अभिनिवेशः, तस्य पुनर्बिम्बाख्यं कारणमन्तरेण सद्भाव एव कथं स्यात् ? इत्याशंक्याह

ननु न प्रतिबिम्बस्य विना बिम्बं भवेत्स्थितिः ।

एतदेव प्रतिविधत्ते

किं ततः प्रतिबिम्बे हि बिम्बं तादात्म्यवृत्ति न ॥५९

किं तत इति—बिम्बं चेन्नास्ति ततः किं, न किंचिदपीत्यर्थः, न हि प्रतिबिम्बे शिंशिपात्व इव वृक्षत्वं बिम्बमैकात्म्येन वर्तते, येन बिम्बाभावे प्रतिबिम्बमपि न स्यात् ॥ ५९ ॥

तदाह

अतश्च लक्षणस्यास्य प्रोक्तस्य तदसंभवे ।
न हानिर्हेतुमात्रे तु प्रश्नोयं पर्यवस्यति ॥६०॥

अत इति — बिम्बप्रतिबिम्बयोस्तादात्म्यवृत्तित्वाभावात्, प्रोक्तस्येति अर्थाद्विश्वविषये, तदसंभव इति बिम्बाभावे । ननु न वयं प्रतिबिम्बलक्षणे विवदामहे, किं तु बिम्बं विना तत्कथं भवेदिति ब्रूमः, नहि निर्निमित्तमेव भावानां संभवो न्याय्य ? इत्याशंक्याह, हेतुमात्र इत्यादिना, हेतुश्च द्विविधः—उपादानं निमित्तं च, उपादानं यथा घटादौ मृदादि, निमित्तं यथा तत्रैव दण्डादि, प्रतिबिम्बस्य च बिम्बं नोपादानकारणं, तद्धि घट इव मृत्स्वरूपविकारमासाद्य कार्यानुगामित्वेन वर्तते, नैवमत्र बिम्बं—प्रतिबिम्बोदयेऽपि तस्याविकृतस्यैव पृथगुपलम्भात्, तेनात्र दण्ड इव घटे निमित्तकारणं बिम्बम् ॥ ६० ॥

ततश्च निमित्तकारणविषय एवायं प्रश्नो नान्यत्र, इत्याह

तत्रापि च निमित्ताख्ये नोपादाने कथंचन ।
निमित्तकारणानां च कदाचित्क्वापि संभवः ॥६१॥

न च निमित्तकारणानां सर्वसर्विकयैव संभवो भवेत्, इत्याह—निमित्त इत्यादि, इह खलु दण्डपरिहारेणापि स्वकराहत्यैव चक्रं भ्रामयन् कुम्भकारः कुम्भं कुर्यात्, मृत्परिहारेण पुनरतिनिपुणोऽपि कुम्भकारः कुम्भं कर्तुं न शक्नुयात्, अतश्चोपादानकारणवत् नावश्यं निमित्तकारणोपयोगः, तेन बिम्बं विनापि प्रतिबिम्बं भवेत्—तदुत्पादनसमर्थस्य तत्प्रतिनिधिभूतस्य कारणान्तरस्यापि भावात् ॥६१॥

तदाह

अत एव पुरोवर्तिन्यालोके स्मरणादिना ।
निमित्तेन घनेनास्तु संक्रान्तदयिताकृतिः ॥६२॥

अत इति--बिम्बाभावेऽपि निमित्तान्तरेण प्रतिबिम्बोत्पादस्य संभवात्, आलोक इति--तस्य रूपप्रतिबिम्बग्रहणसहिष्णुत्वात्, घनेनेति-भावनात्मतामापन्नेत्यर्थः, अन्यथा हि सर्वस्यैव स्मर्तुः सर्वदैव पुरः स्मर्यमाणं भायात् । अत्र तावद्बिम्बं नास्ति दयिताया देशादिविप्रकृष्टत्वेन असंनिहितत्वात्, अथ च तत्कार्यं प्रतिबिम्बं दृश्यते इत्यत्र स्मरणादिना निमित्तान्तरेणावश्यं भाव्यम् नहि निर्निमित्तमेव प्रतिसंक्रान्तायाः कान्ताया विच्छेदेन कादाचित्कः प्रतिभासो भवेत् ॥ ६२ ॥

तदाह

अन्यथा संविदारूढा कान्ता विच्छेदयोगिनी ।
कस्माद्भाति न वै संविद् विच्छेदं पुरतो गता ॥६३॥

अन्यथा इति--स्मरणादिना निमित्तान्तरेण यदि प्रतिसंक्रान्ता कान्ता न स्यादित्यर्थः, संविदारूढेति – नहि संविदमारूढस्य वस्तुनो विच्छेदेन भानं भवेदिति भावः, संविदो विच्छेदे हि जाड्यापत्तेर्न किंचिदपि स्फुरेत्, इति सर्वमिदमन्धं स्यात् । संविदारूढं च वस्तु संवेद्यमानत्वादेव, न ततोऽधिकम्, इति न तदपि विच्छेदेन भायात्, अत आह 'न वै संविद्विच्छेदं पुरतो गता' इति ॥ ६३ ॥

ननु यद्येवं तर्हि ग्राह्यग्राहकभाव एव न भवेत्, इति समग्रव्यवहारविप्रलोपः स्यात् ? सत्यं—नहि परां संविदमपेक्ष्य भेदगन्धमात्रमप्यस्तीति सर्वं संविदेव, इति-किं नाम ग्राह्यं ग्राहकं वापि स्यात्, सैव पुनः स्वस्वातन्त्र्यात्स्वं रूपं गोपयित्वा यदा संकुचितज्ञानात्मतामवभासयति तदायं सकलो ग्राह्यग्राहकात्मा भेदव्यवहारः, तदाह

अत एवान्तरं किंचिद्धीसंज्ञं भवतु स्फुटम् ।
यत्रास्य विच्छिदा भानं संकल्पस्वप्नदर्शने ॥६४॥

अत एव - परसंविदपेक्षया विच्छेदासंभवाद्धेतोः, किंचित्संकुचितप्रमात्रात्म सुस्फुटं निर्विकल्परूपं ज्ञानसंज्ञमान्तरं परसंवित्प्रमेययोर्मध्यवर्ति

भवतु, यत्रास्य प्रतिबिम्बस्य, विच्छिदा भेदेन, संकल्पस्वप्नादौ भानं भवेत्-विरहिणो हि संकल्पादावपि बिम्बाभावात्तीव्रतरस्मरणादिनिमित्तान्तर-संविधापितमेव कान्ताप्रतिबिम्बं भायादिति भावः ॥ ६४ ॥

एवं बहिः स्मृत्यादौ यथा बिम्बाभावेऽपि निमित्तान्तरेण प्रतिबिम्बं भवेत्तथा इहापि, इत्याह

अतो निमित्तं देवस्य शक्तयः सन्तु तादृशे ।

अतः—उक्तात् निमित्तकारणमात्रसव्यपेक्षत्वलक्षणाद्धेतोः, देवस्य द्योतनात्मनश्चित्तत्त्वस्य, तादृशे विश्वप्रतिबिम्बने, ज्ञानक्रियाद्याः शक्तयो निमित्तं भवन्तु, एवं न कश्चिद्दोषः सभाव्यते इत्यर्थः । शक्तयश्च

'बहुशक्तित्वमप्यस्य तच्छक्त्यैवावियुक्तता ।'

इत्याद्युक्तयुक्त्या स्वातन्त्र्यशक्तिमात्रपरमार्था एव, इति निजैश्वर्यमात्रादेव अस्य स्वात्मनि विश्वाकारधारित्वम्—इति पिण्डार्थः, यदुक्तं श्रीप्रत्यभिज्ञाकृता

'तत्र त्वर्पकाद्युपाधेस्तदाकारत्वं,
चित्तत्त्वस्य तु निजैश्वर्यात् ।'

इति । अनुप्रत्यभिज्ञाकृताप्यनेनैवाभिप्रायेण

'नाथ त्वया विना बिम्बं स्वच्छे स्वात्मनि दर्शितम् ।
प्रसेना दर्पणेनैव प्रभावाद्भावमण्डलम् ॥'

इत्याद्युक्तम् ॥

तदेवं विश्वचित्प्रतिबिम्बत्वमेवोपसंहरति

इत्थं विश्वमिदं नाथे भैरवीयचिदम्बरे ।
प्रतिबिम्बमलं स्वच्छे न खल्वन्यप्रसादतः ॥६५॥

अन्येति—अन्यमुखप्रेक्षित्वे ह्यस्य स्वातन्त्र्यं खण्डयेतेति भावः, स्वातन्त्र्यं हि विमर्श इत्युच्यते, स चास्य मुख्यः स्वभावः, नहि निर्विमर्शः प्रकाशः संभवत्युपपद्यते वा, अयमेव ह्यस्य विश्वाकारधारित्वे जडेभ्यो विशेषः—यत्सर्वमामृशतीति, यदुक्तमनेनैव अन्यत्र

'अन्तर्विभाति सकलं जगदात्मनीह
यद्वद्विचित्ररचना मकुरान्तराले ।
बोधः पुनर्निजविमर्शनसारवृत्त्या
विश्वं परामृशति नो मकुरस्तथा तु ॥'

इति ॥ ६५ ॥

स चायमायर्शो न सांकेतिकः, अपि तु 'चित्स्वभावतामात्रनान्तरीयकः स्वरसोदितः परावाग्रूप' इति सर्वैरुद्धोष्यते, इत्याह

अनन्यापेक्षिता यास्य विश्वात्मत्वं प्रति प्रभोः ।
तां परां प्रतिभां देवीं संगिरन्ते ह्यनुत्तराम् ॥६६॥

अनुत्तरामिति—निरतिशयस्वातन्त्र्यैश्वर्यचमत्कारमयीमित्यर्थः, अत एव अनुत्तराद्यनन्तशक्तिव्रातोल्लेखशालिनीं प्रतिभामित्यर्थः अनेन । परामर्शोदयक्रमस्याप्यवकाशो दत्तः ॥ ६६ ॥

इह हि विश्वस्य वाच्यवाचकात्मना द्विधा अवभासः, तत्र 'प्रकाश एव प्राधान्येन वाच्यात्मविश्वरूपत्वेन परिस्फुरति' इति विश्वचित्प्रतिबिम्बत्वोट्टङ्कनेनोक्तम्, 'विमर्शोऽपि तत्तदनुत्तरानन्दाद्यामर्शात्मनोदेति' इति परामर्शोदयक्रममप्याह

अकुलस्यास्य देवस्य कुलप्रथनशालिनी ।
कौलिकी सा परा शक्तिरवियुक्तो यया प्रभुः ॥६७॥

इह खलु पूर्णः शिवशक्त्याद्यादिप्रतिनियतव्यपदेशासहिष्णुः अनाख्यः परपरामर्शात्मा अनुत्तरः, प्रकाश एव परम् तत्त्वं, स एवं च स्वस्वातन्त्र्याद्विश्वमवबिभासयिषुः प्रथमं शिवशक्तिरूपतां स्वात्मन्यवभासयति, यदाहुः—

'नौम्यनुत्तरनाथस्य रश्मिचक्रमहं सदा ।
शिवशक्तीति विख्यातं परापरफलप्रदम् ॥'

इति । अनेनैव चाभिप्रायेण

'रुद्रश्च रुद्रशक्तिश्च अमनस्के लयं गतौ ।'

इत्याद्यन्यत्रोक्तं । ततश्च

'यत्रोदितमिदं चित्रं विश्वं यत्रास्तमेति च ।
तत्कुलं विद्धि सर्वज्ञ शिवशक्तिविवर्जितम् ॥'

इत्यादिलक्षितात्पूर्णपरसंवित्तत्त्वलक्षणात् कुलात् यदन्यदवभासितं शिवलक्षणमकुलं तस्य प्रकाशैकरूपत्वेन द्योतमानस्य सा परा विश्वापूरणस्वभावा, अत एव

'शक्तयोऽस्य जगत्कृत्स्नं..................।'

इत्याद्युक्त्या कुलस्य शाक्तप्रसरात्मनो जगतो यत्प्रथनं तेन शालते तच्छीला, अत एव कुले भवम् अकुलात्म कौलं तद्यस्यामन्तस्तादात्म्येन अस्तीति 'कौलिकी शक्तिः' यया समनन्तरोक्तरूपः प्रभुरवियुक्तः–तदव्यभिचरितस्वभाव इत्यर्थः, एवं चाकारलक्षणं कुलं शरीरमस्य—इत्याद्यवर्णोऽप्यभिहितः, सोऽपि हि देवः

'नास्योच्चारयिता कश्चित्प्रतिहन्ता न विद्यते ।
स्वयमुच्चरते देवि प्राणिनामुरसि स्थितः ॥'

इत्याद्युक्तस्वरूपादनाहतात् स्थानकरणाभिघातोत्थाच्च हतात् शब्दात् उत्तीर्णत्वेन परपरामर्शशालिसिततरप्रकाशात्मतया सर्वदैव द्योतमानः, तदुक्तम्

'अनाहतहतोत्तीर्णो महाविषमचिद्गतिः ।
वीरहृद्घट्टनोद्युक्तो रावो देव्या विजृम्भते ॥'

इति । तस्य च परैव सा शक्तिः कुलस्य शरीरस्य यत् प्रथनं तेन श्लाघमाना, तच्छरीरारम्भिकेत्यर्थः, अत एव 'कौलिकी' इत्युक्तम्, तथाहि—परैव सूक्ष्मा कुण्डलिनी शक्तिः शिवेन सह परस्परसामरस्यरूपमथ्यमन्थकभावात्मकं संघट्टमासाद्य उत्थिता सती इच्छाज्ञानक्रियारूपतामाश्रित्य रौद्रीत्वमुन्मुद्रयन्ती शृङ्गाटकाकारतामम्बिकात्वमवलम्बमाना उकारात्मकशशाङ्कशकलाकारतां ज्येष्ठात्वमधितिष्ठन्ती च शशिबिन्दूदितकालाग्निरूपरेफात्मकबिन्दुविश्रान्तस्पष्टरेखाकारतामाभासयति—इत्याद्यवर्णशरीरिमुल्लासयतीति, तदुक्तं श्रीतन्त्रसद्भावे

'या सा शक्तिः परा सूक्ष्मा निराचारेति कीर्तिता ।'

इत्याद्युपक्रम्य

'उत्थिता तु यदा तेन कला सूक्ष्मा तु कुण्डली ।
चतुष्कलमयो बिन्दुः शक्तेरुदरगः प्रभुः ॥

मथ्यमन्थनयोगेन ऋजुत्वं जायते प्रिये ।
ज्येष्ठा शक्तिः स्मृता सा तु बिन्दुद्वयसुमध्यगा ॥
बिन्दुना क्षोभमायाता रेखेवामृतकुण्डली ।
रेखिनी नाम सा ज्ञेया उभौ बिन्दू यदन्तगौ ॥
त्रिपथा सा समाख्याता रौद्री नाम्ना तु गीयते ।
रोधिनी सा समुद्दिष्टा मोक्षमार्गनिरोधनात् ॥
शशाङ्कशकलाकारा अम्बिका चार्धचन्द्रिका ।
एकैवेत्थं परा शक्तिस्त्रिधा सा तु प्रजायते ॥'

इति । श्रीवामकेश्वरीमतेऽपि

'त्रिपुरा परमा शक्तिराद्या जातेह सा प्रिये ।'

इत्याद्युपक्रम्य

'कवलीकृतनिःशेषबीजाङ्कुरतया स्थिता ।
वामा शिखा ततो ज्येष्ठा शृङ्गाटाकारतां गता ॥
रौद्री तु परमेशानि जगद्ग्रसनरूपिणी ।
एवं सा परमा शक्तिरेकैव परमेश्वरी ॥
त्रिपुरा त्रिविधा देवी ब्रह्मविष्ण्वीशरूपिणी ।
ज्ञानशक्तिः क्रियाशक्तिरिच्छाशक्त्यात्मिका प्रिये ॥
त्रैलोक्यं संसृजत्यस्मात्त्रिपुरा परिकीर्तिता ।'

इति । अनेनैव चाभिप्रायेण अन्यत्रापि अस्य सृष्टिस्थितिसंहारात्मकं धामत्रयमयत्वं चोक्तम्, तदुक्तं

'ऊर्ध्वे तु संस्थिता सृष्टिः परमानन्ददायिनी ।
पीयूषवृष्टि वर्षन्ती बैन्दवी परमा कला ॥
अधः संहारकृज्ज्ञेयो महानग्निः कृतान्तकः ।
घोरो ज्वालावलीयुक्तो दुर्धर्षो ज्योतिषां निधिः ॥
तयोर्मध्ये परं तेज उभयानन्दसुन्दरम् ।
अवतारः स विज्ञेय उभाभ्यां व्यापकः शिवः ॥
परस्परसमाविष्टौ चन्द्रेऽग्निष्टीटिभे शशी ।
चन्द्रं सृष्टिं विजानीयादग्निः संसार उच्यते ॥
अवतारो रविः प्रोक्तो मध्यस्थः परमेश्वरः ।'

इति । तथा

'कालाग्निरुद्रात्प्रसृतं च तेजो
भूरि स्फुटं दीप्ततरं विचिन्त्यम् ।
ऊर्ध्वे स्थिता चन्द्रकला च शान्ता
पूर्णामृतानन्दरसेन देवि ॥
तदोभयोर्वह्निविषानुयोगा-
त्तेजःशशाङ्कौ द्रवितौ च यस्मात् ।
तेजःशशाङ्कस्फुटमिश्रितत्वा-
द्रवेत्तदार्कं त्ववताररूपम् ॥
ततः सकाशात्प्रभवाप्ययौ स्तो
यस्मादयं विश्वसमग्रभेदः ।
एतच्च विद्वान्विदितार्थभावो
ध्यायेत युक्त्यात्मचिदर्करूपम् ॥'

इति । तथा

'ततोऽस्वरोऽर्कसोमाग्निकलाबीजप्रसूतिभाक् ।
उदेत्येकः समालोकः प्रमाणार्थप्रमातृदः ॥'

इति । इह च तिस्र एव परमेश्वरस्य मुख्याः शक्तयः संभवन्ति इत्यस्य प्राधान्येन तद्रूपत्वमेवोक्तम्, अन्यत्र पुनः

'अकारस्य शिरो रौद्री वक्त्रं वामा प्रकीर्तिता ।
अम्बिका बाहुरित्युक्ता ज्येष्ठा चैवायुधं स्मृता ॥'

इत्याद्युक्त्या अभिप्रायान्तरेण अस्य चतूरूपत्वमप्युक्तम्, तदेवमेवंविधा परैव कुण्डलिनी शक्तिरस्य स्वरूपादनतिरिक्ता, इत्युक्तम् 'अवियुक्तो यया प्रभुः' इति, तदुक्तम्

'अकारश्च हकारश्च द्वावेतौ युगपत्स्थितौ ।
विभक्तिर्नानयोरस्ति मारुताम्बरयोरिव ॥'

इति, एवमविभागेऽप्यनयोरेकैकप्राधान्येन स्वरूपमात्रविश्रान्तेरेकवीरत्वं चिच्छक्तिरूपत्वं च ॥६७॥

यदा पुनः

'न शिवः शक्तिरहितो न शक्तिः शिववर्जिता ।
यामलं प्रसरं सर्वं................................ ॥'

इत्यादि—महागुरूदितनीत्या अनयोः परस्परौन्मुख्यात्मकं यामलं रूपं स्यात्, तदा विश्वसर्ग इत्याह

तयोर्यद्यामलं रूपं स संघट्ट इति स्मृतः ।
आनन्दशक्तिः सैवोक्ता यतो विश्वं विसृज्यते ॥६८॥

तयोरिति--अकुलकौलिकीशब्दव्यपदेश्ययोः शिवशक्त्योः, संघट्ट इति—सम्यक् घट्टनं चलनं स्पन्दरूपता स्वात्मोच्छलत्ता इत्यर्थः, अतश्च प्रकाशविमर्शात्मनोरनुत्तरयोरेव संघट्टादानन्दशक्त्यात्मनो द्वितीयवर्णस्य उदयो, यतः--इच्छाद्यात्मनो विश्वस्य सर्गः । चर्याक्रमेऽपि स्त्रीपुंसयोः संघट्ट एवानन्दोदयाद्विसर्गः। इह शिवस्य शक्तेश्च विश्वोत्तीर्णत्वेन विश्वमयत्वेन च विच्छिन्नं रूपम्, इदं पुनः विश्वमयत्वेऽपि विश्वोत्तीर्णम्, इति नियतावच्छेदाभावात् पूर्णं रूपम् ॥ ६८ ॥

अत एव सर्वशास्त्रेषु परमोपेयत्वेनोद्घोष्यते, इत्याह

परापरात्परं तत्त्वं सैषा देवी निगद्यते ।
तत्सारं तच्च हृदयं स विसर्गः परः प्रभुः ॥६९॥
देवीयामलशास्त्रे सा कथिता कालकर्षिणी ।
महाडामरके यागे श्रीपरा मस्तके तथा॥७०॥
श्रीपूर्वशास्त्रे सा मातृ सद्भावत्वेन वर्णिता ।

परात्—विश्वोत्तीर्णात् शैवात् रूपात्, अपरात्--विश्वमयात् शाक्ताद्रूपात्, परं पूर्णं, सारमिति श्रीसारभट्टारकाद्युक्तम्, हृदयमिति श्रीहृदयनयरहस्यं, पर इति परापरस्य अपरस्य च विसर्गस्य वक्ष्यमाणत्वात्, महाडामरके यागे इति देवीयामलशास्त्रसामानाधिकरण्येन योज्यम्, तेन तत्प्रतिपादके प्राथमिके ग्रन्थैकदेश इत्यर्थः । तदुक्तं तत्र

'तन्मध्ये तु परा देवी दक्षिणे च परापरा ।
अपरा वामशृङ्गे तु मध्यशृङ्गोर्ध्वतः शृणु ॥
या सा संकर्षिणी देवी परातीता व्यवस्थिता ।'

इति । मातृसद्भावत्वेनेति यदुक्तं तत्र,

'सद्भावः परमो ह्येष मातृणां परिपठ्यते ।'

इति ॥ ६९ ॥ ७० ॥

एवं चिदानन्दशक्ती अभिधाय इच्छाशक्तिमाह

संघट्टेऽस्मिंश्चिदात्मत्वाद्यत्तत्प्रत्यवमर्शनम् ॥७१॥

इच्छाशक्तिरघोराणां शक्तीनां सा परा प्रभुः ।

अस्मिन् समनन्तरोक्तरूपे संघट्टे

'आनन्दो ब्रह्मणो रूपम्............ ।'

इत्याद्युक्त्या चितः प्राधान्यात् योऽयं परस्य प्रमातुः सिसृक्षात्मा परामर्श उदेति सेयमिच्छाख्या शक्तिः, या खलु

'पूर्ववज्जन्तुजातस्य शिवधामफलप्रदाः ।
पराः प्रकथितास्तज्ज्ञैरघोराः शिवशक्तयः ॥'

इत्याद्युक्तानामघोराणां शुद्धस्वातन्त्र्यमात्ररूपत्वादविद्यमान भेदाद्यात्मकघोररूपाणां शक्तीनां, प्रभुः प्रभवनिमित्तं--गर्भीकृतानन्तशक्तिव्राता, इति यावत्, अत एव परा सर्वोत्कर्षयोगिनी तदाख्या चेत्यर्थः । प्रकृतेऽपि अनेन तृतीयवर्णोदय उक्तः । सा च इच्छाशक्तिः

'यदा तु तस्य चिद्धर्मविभवामोदजृम्भया ।
विचित्ररचनानानाकार्यसृष्टिप्रवर्तने ॥
भवत्युन्मुखिताचिन्ता सेच्छायाः प्रथमातुटिः ।'

इत्याद्युक्ताद्यस्पन्दात्मका बहिरौन्मुख्यमात्ररूपिणी स्रष्टव्यानारूषितेच्छामात्ररूपा वा स्यात् तत्तदीषणीयविषयारूषणया प्रक्षोभात्मप्रयत्नरूपतां श्रयन्ती बहीरूपतया ऐश्वर्यं भजमाना वा इत्यस्या द्वैधम्, तदुक्तं श्रीप्रत्यभिज्ञायाम्

'सा केवलमिच्छामात्ररूपा स्रष्टव्यस्य विप्रकृष्टा,
काचित्पुनः प्रयत्नतामापन्ना संनिकृष्टा ॥'

इति ॥ ७१ ॥

तत्र प्राच्यायाः स्वरूपं निरूपितं द्वितीयस्या निरूपयितुमाह

सैव प्रक्षुब्धरूपा चेदीशित्री संप्रजायते ॥७२॥

तदा घोराः परा देव्यो जाताः शैवाध्वदैशिकाः ।

तदा–प्रक्षुब्धरूपत्वेनेच्छाशक्तेरैश्वर्ये सति परा अघोरा देव्यो जाताः–बहीरूपतया प्रस्फुरिता इत्यर्थः, एतदेव हि अस्या ऐश्वर्यं–यत्तत्तदनन्तशक्तिरूपतया बहिरवभासनमिति, ताश्च तथा भेदस्य स्फुटत्वाभावात् स्वस्वरूपावभासनव्यापारशालिन्य एव, इत्याह 'शैवाध्वदैशिका' इति, अत एव न घोरादिशक्तिवन्मुक्तिमार्गनिरोधिन्य इति भावः । प्रकृतेऽपि अनेन चतुर्थ वर्णोदय उक्तः ॥७२॥

एवमिच्छाशक्तिं द्विप्रकारामभिधाय ज्ञानशक्तिमप्याह

स्वात्मप्रत्यवमर्शो यः प्रागभूदेकवीरकः ॥७३॥
ज्ञातव्यविश्वोन्मेषात्मा ज्ञानशक्तितया स्थितः ।

इह खलु प्राक् प्रक्षुब्धत्वरूपत्वात्पूर्वं व्यतिरिक्तविमृश्याभावात् स्वात्ममात्रनिष्ठः, अत एव, एकवीरको' यः परामर्शः आसीत्, स एव ज्ञानशक्तित्वेन अन्तर्विजिज्ञास्यतया इष्टस्य विश्वस्य योऽसौ उन्मेषः-आद्यःपरिस्पन्दः, तद्रूपः सन् अवस्थितः, इति पंचम बीजनिर्णय इति ॥७३॥

एतदेव स्वदर्शनभङ्ग्या योजयति

इयं परापरा देवी घोरां या मातृमण्डलीम् ॥७४॥
सृजत्यविरतं शुद्धाशुद्धमार्गैकदीपिकाम् ।

घोरामिति । यदुक्तम्

'मिश्रकर्मफलासक्ति पूर्ववज्जनयन्ति याः ।
मुक्तिमार्गनिरोधिन्यस्ताः स्युर्घोराः परापराः ॥'

इति । शुद्धाशुद्धेति—न पुनर्घोरतर्यादिवदधोधःपातिनीम् इति भावः ॥७४॥

इहेच्छाशक्तिवत् ज्ञानशक्तेरपि ज्ञेयाधिक्यानाधिक्याभ्यां द्वैधं,यज्ज्ञेयस्यानाधिक्ये स्वरूपं निर्णीतम्, आधिक्ये पुनः स्वरूपम् निरूपयति

ज्ञेयांशः प्रोन्मिषन्क्षोभं यदैति बलवत्त्वतः ॥७५॥
ऊनताभासनं संविन् मात्रत्वे जायते तदा ।

ज्ञानापेक्षया ज्ञेयरूपोंऽश उद्रिक्तत्वात् प्रस्फुटीभवन्, यदा क्षोभं—तत्तन्नीलसुखाद्यात्मना चित्राकारधारितामेति तदा ज्ञेयस्याधिक्यात् ज्ञानस्य

ज्ञानमात्ररूपतायामूनत्वस्य—अपूर्णत्वस्य आभासनं जायते—संकोचाधिगमो भवेत्, इति षष्ठवर्णोदयः ॥

एतदेव प्रपञ्चयति

रूढं तज्ज्ञेयवर्गस्य स्थितिप्रारम्भ उच्यते ॥७६॥
रूढिरेषा विबोधाब्धेश्चित्राकारपरिग्रहः ।
इदं तद्बीजसंदर्भबीजं चिन्वन्ति योगिनः ॥७७॥

तत्—संविन्मात्रोनताभासनं, रूढं जातप्ररोहं सत्, तत्तन्नीलसुखाद्यात्मनो ज्ञेयवर्गस्य स्थितेः प्रारम्भ उच्यते, न पुनः साक्षात्स्थितिरेव—तस्याः क्रियाशक्तौ भावात्, को नाम अस्याः प्ररोहः ? इत्याह 'रूढिरेषेत्यादि' अनेन ज्ञानादतिरिक्तं न किंचिन्नाम ज्ञेयमस्ति अपि तु तदेव तत्तद्भासात्मना स्फुरति' इति सूचितम् । तत् - तस्माद्बोधस्यैव चित्राकारधारित्वाद्धेतोरिदमेव व्याख्यातं संविन्मात्रोनत्वं षष्ठं च भेदसंदर्भस्य कारणत्वेन, योगिनो—न पुनरयोगिनः, तेषां क्रियाशक्त्यात्मस्थूलभेदचेतयितृत्वात्, चिन्वन्ति जानन्तीत्यर्थः । इह खलु एतदेव परविमर्शात्ममुख्यं परामर्शषट्कं यतः परस्परम् प्रमेयेण वा संघट्टे सति निखिलपरामर्शोदयः, यद्वक्ष्यति

'स्वराणां षट्कमेवेह मूलं स्याद्वर्णसंततौ ।'

इति । तत्र अनुत्तरानन्दयोः शुद्धसंविन्मात्ररूपत्वात् तदपेक्षया भेदाभावात् प्रमेयवार्तापि नास्तीति ॥ ७७ ॥

इच्छाशक्तेरेव इष्यमाणारूषणया चातूरूप्यं दर्शयितुमुपक्रमते

इच्छाशक्तिर्द्विरुपोक्ता क्षुभिताक्षुभिता च या ।
इष्यमाणं हि सा वस्तु द्वैरुप्येणात्मनि श्रयेत् ॥७८॥

इष्यमाणस्य प्रकाशमात्रात्मकत्वात् विश्रान्त्यात्मकत्वाच्च, अत एव अत्र रलयोः श्रुतिः—तयोः प्रकाशस्तम्भस्वभावत्वात् ॥ ७८ ॥

तदाह

अचिरद्युतिभासिन्या शक्त्या ज्वलनरूपया ।
इष्यमाणसमापत्तिः स्थैर्येणाथ धरात्मना ॥७९॥

'शक्तयोऽस्य जगत्सर्वं.......................।'

इत्याद्युक्तेर्ज्वलनरूपा धरात्मा च येयं द्विप्रकारा शक्तिः, तदात्मकं यदिष्यमाणं तेन, अर्थात्—द्विप्रकाराया अपि इच्छाशक्तेर्या समापत्तिः—अपृथग्भावेनावभासनम्, अतोऽस्याश्चातरूप्यमित्यर्थः, यद्यपि प्रागपीच्छाया इष्यमाणसमापत्तिरुक्ता येनास्याः क्षुब्धत्वं प्रतिपादितं तथापि तन्न तथा स्फुटेन रूपेण, यथेदानीम्, इत्युक्तं 'स्थैर्येण' इति, न चात्रैवमपि बाह्यवत् स्थैर्येणेष्यमाणं प्रतीयते, तथात्वे हि तत्कार्थं स्यात्, नेष्यमाणम्, अत एवात्र अस्फुटत्वात् रलयोः श्रुतिमात्रं, न तु साक्षाद्वयञ्जनवत्स्थितिः, तदाह 'अचिरद्युतिभासिन्येति' यथाहि विद्युत् क्षणिकत्वादचिरमेव कालमवभासते तथात्र इष्यमाणमपि छायामात्रेणैवेति, अत एव चात्र—वर्णश्रुतिमात्रं, न साक्षाद्वर्णः, नहि वर्णश्रुतिरेव वर्णः, अत एव नरसिंहवत् जात्यन्तरमिदमिति श्रीमहाभाष्यकारः; अत एव चैतद्वर्णचतुष्टयमुभयच्छायाधारित्वात्

'ऋ ॠ ऌ ॡ चतुष्कं च नपुंसकगणस्तथा।'

इत्याद्युक्त्या सर्वत्रैव नपुंसकत्वेन व्यपदिश्यते, तेन अक्षुब्धा ज्वलनशक्त्याच्छुरिता इच्छा 'ऋ' क्षुब्धा तु 'ॠ' एवं धराशक्त्याच्छुरिता 'ऌ ॡ' इति, ज्वलनाद्यात्मनश्चात्रेष्यमाणस्य स्वरूपमात्रोपादानादेव स्थिरात्मकत्वं लभ्यते–इति न तदर्थं विशेषणान्तरोपादानम् ॥ ७९ ॥

ननु यदीच्छाशक्तेरिष्यमाणसमापत्त्या परामर्शान्तरोदय इष्यते, तज्ज्ञानशक्तेरपि किं न ज्ञेयसमापत्त्या ? इत्याशंक्याह

उन्मेषशक्तावस्त्येतज्ज्ञेयं यद्यपि भूयसा।
तथापि विभवस्थानं सा न तु प्राच्यजन्मभूः ॥८०॥

यद्यपि ज्ञानशक्तावेतज्ज्वलनाद्यात्म ज्ञेयं भूयसा विद्यते तथापि सा ज्ञानशक्तिः ज्ञेयस्य विभवस्थानं, न तु प्राच्येच्छाशक्तिलक्षणा जन्मभूः—इच्छाशक्तिवत् नेयमुत्पत्तिस्थानमित्यर्थः, इच्छाशक्तौ खलु इष्यमाणात्मतया उत्पन्नस्य सतो भावजातस्य ज्ञानशक्तावभिव्यक्तिः, यस्य क्रियाशक्तौ वहीरूपतया परिस्फुरणम्, अतो ज्ञानशक्तौ ज्ञेयस्य नापूर्वतया उत्पाद, इति न तत्र तत्समापत्त्या परामर्शान्तरोदयः, तेनेच्छाशक्ताविष्यमाणस्यापूर्वतयोत्पाददेवमभिधानम्, यद्यपि सर्वभावनिर्भरत्वात्परस्यामपि संविदि सर्वे भावाः संभवन्ति तथापि तत्र तेषां संविन्मात्रतयावस्थानम् ॥८०॥

इह पुन: किंचिदुच्छूनतासमापत्त्या पृथगिवावभास इति इत्येतदुक्तम् अत आह

इच्छाशक्तेरत: प्राहुश्चातुरूप्यं परामृतम् ।
क्षोभान्तरस्यासद्भावान्नेदं बीजं च कस्यचित् ॥८१॥

परामृतमिति—स्वात्ममात्रविश्रान्त्या परचमत्कारात्मकमित्यर्थ:, यद्वक्ष्यति

'आत्मन्येव च विश्रान्त्या तत्प्रोक्तममृतात्मकम् ।'

इति । ननु

'.........................बीजं स्वरा मता: ।'

इत्यादिना स्वरान्त: पातित्वादेषां बीजत्वमुक्तं, तच्च प्रक्षोभकत्वमुच्यते न च स्वात्ममात्रविश्रान्तिरूपत्वादत्र तत् संगच्छते, तर्हि क्षोभान्तरसद्भावे स्यात् ? इत्याशंक्याह 'नेदं बीजमिति' स्वात्ममात्रविश्रान्ते: क्षोभान्तरानुल्लासकतया स्वकार्याकरणात् दग्धप्रायत्वात्, न तु सर्वसर्विकया बीजरूपत्वाभावात्, नहि शिवशक्त्यात्मबीजयोन्यतिरेकिण:

'बीजयोन्यात्मकाद्भेदाद्द्विधा बीजं स्वरा मता: ।
कादिभिश्च स्मृता योनि: .... ॥'

इत्याद्यभिधानात् राश्यन्तरस्य सद्भावोऽस्ति, येनैवं स्यात्, यत्तु

'या तूक्ता ज्ञेयकालुष्यभाक्क्षिप्रस्थिरयोगत: ।
द्विरूपायास्ततो जातं ट-ताद्यं वर्गयुग्मकम् ॥'

इत्यादि पुरस्ताद्वक्ष्यते, तत्तत्रैव समाधास्यत इति युक्तमुक्तं—नेद बीजमिति ॥ ८१ ॥

ननु यद्येवमेषां बीजत्वं नास्ति तर्हि पारिशेष्याद्योनित्वं स्यात् ? इत्याशंक्य—तत्परिहारार्थमेषां बीजयोनिवैलक्षण्यं प्रतिपादयितुं तत्स्वरूपं तावदाह

प्रक्षोभकत्वं बीजत्वं क्षोभाधारश्च योनिता ।

ननु कारणत्वाभिमतं बीजं जडं, तस्य कथं निरपेक्षस्य रूपान्तराविर्भावने सामर्थ्यम् ? इत्याशंक्याह

क्षोभकं संविदो रूपं क्षुभ्यति क्षोभयत्यपि ॥८२॥
क्षोभः स्याज्ज्ञेयधर्मत्वं क्षोभणा तद्बहिष्कृतिः ।

यतः संविद एव मुख्यतया क्षोभकं रूपम्, अतः क्षुभेः ण्यन्ताण्यन्तार्थगर्भीकारात्सा संवित् क्षुभ्यति, मयूराण्डरसन्यायेन अन्तरासूत्रितप्रायं बहिर्भावोन्मुखमिव ज्ञेयजातं धारयति, तच्च तथा क्षुभ्यत् क्षोभयति--बहीरूपतयावभासयतीत्यर्थः, तदाह 'क्षोभ' इत्यादि, क्षोभणा--क्षोभ्यस्य प्रेषणादिरूपा प्रेरणेत्यर्थः ॥ ८२॥

एतदेव रहस्यप्रक्रियागर्भीकारेणापि सूत्रयति

अन्तःस्थविश्वाभिन्नैकबीजांशविसिसृक्षुता ॥८३॥
क्षोभोऽतदिच्छे तत्त्वेच्छा भासनं क्षोभणां विदुः ।

अन्तःस्थं--प्रमात्रैकात्म्येन वर्तमानं यद्विश्वम् ईषणीयादिभवजातं, तत्राभिन्नमीषणादि संविद्रूपत्वेन अनुद्भिन्नविशेषम्, अत एवैकमद्वितीयं यत् संविदो रूपं, तदेव सर्वभावनिर्भरत्वात् विश्वाविर्भावकतया बीजांशः--कारणविशेषः, तस्य या परानपेक्षत्वेन विशिष्टा स्रष्टृत्वेच्छा--ग्राह्यग्राहकात्मनो विश्वस्य भिन्नकल्पतयावभिभासयिषा, तया योऽसौ संबन्धः, स एव क्षोभः, तथा 'शरं गमयति' इत्यादिवत् अतदिच्छेऽपि औदासीन्यात् बहिर्भावानुन्मुखे देहनीलादौ भावजाते यत्तत्त्वेच्छाभासनम्--औदासीन्यच्यावनेन बहिर्भावौन्मुख्येन अवभासनं, तां क्षोभणाम्, एतद्गुरुप्रभृतयो विदुः जानीयुरित्यर्थः। चर्याक्रमे हि बीज सिसृक्षुः पुमान् स्वयं क्षुभ्यति प्रमदां तु क्षोभयति इति। इह चैतदतिरहस्यत्वादप्रस्तुतत्वाच्च न प्रपञ्चितं, यथोपयोगमूह्यत एव केवलम् ॥८३॥

एवं बीजस्वरूपमभिधाय योनिस्वरूपमाह

यदैक्यापत्तिमासाद्य तदिच्छा कृतिनी भवेत् ॥८४॥
क्षोभाधारमिमं प्राहुः श्रीसोमानन्दपुत्रकाः ॥

येन--इदन्ताविमृश्येन देहनीलादिना भावजातेन, कादिना च ऐकात्म्यमासाद्य तस्य परस्य प्रमातुः संबन्धिनी इच्छा,--कृतिनी

'ममैव भैरवस्यैता विश्वभङ्ग्यो विनिर्गताः ।'

इत्यादिन्यायेन स्वात्ममात्रविश्रान्त्या कृतार्था पूर्णा जायते। तमेतं क्षोभस्य संवित्स्वातन्त्र्यस्य आधारम् विषयं श्रीसोमानन्दस्यानुकम्प्याः पुत्राः–श्रीमदुत्पलदेवप्रभृतयः शिष्याः, प्राहुः–आचक्षत इत्यर्थः। चर्याक्रमेऽपि हि यत्सामरस्यमासाद्य पौंस्नोऽभिलाषः कार्तार्थ्यमेति स योनिलक्षणः क्षोभाधारः इति ॥ ८४ ॥

एतच्च बीजयोनिस्वरूपम् 'अन्तःस्थ' इत्यादिना सूत्रितम्, रहस्यप्रक्रियागर्भीकारेण परमोपादेयत्वादनुग्राह्याणां हृदयंगमीकर्तुं स्वयमेव व्याचष्टे

संविदामीषणादीनामनुद्भिन्नविशेषकम् ॥८५॥
यज्ज्ञेयमात्रं तद्बीजं उद्योगाद्बीजता स्वरे ॥

ईषणादीनां संविदामसजातविभागम्, यज्ज्ञेयमवश्यं ज्ञातव्यम् पारमार्थिकं संविद्रूपमेवेच्छादिसंविद्विशेषरूपत्वानुपग्रहात्केवलमनवच्छिन्नं पारमेश्वरम् रूपं, तदेव

'चिदात्मैव हि देवोन्तःस्थितमिच्छावशाद्बहिः।
योगीव निरुपादानमर्थजातं प्रकाशयेत् ॥

इत्याद्युक्त्या सर्वभावनिर्भरत्वात् अन्तःस्थस्य विश्वस्य स्वेच्छयैव बहिराविर्भावनाद्बीजं–मुख्यकारणमित्यर्थः। ननु यद्येवं तत्कथं स्वराणामपि बीजत्वमित्याशंक्योक्त 'यद्योगाद्बीजता स्वरे' इति, यद्योगादिति–यदनुप्राणितत्वादित्यर्थः, अत एव स्वराणां तत्तद्वर्णाविर्भावकत्वादुचितं बीजत्वम्–इत्याशयः, नहि संवित्स्वातन्त्र्यमन्तरेण अन्यस्य कस्यचित् रूपान्तराविर्भावने सामर्थ्यम्, इति भावः ॥ ८५ ॥

एवं बीजशब्दार्थं व्याख्याय विसिसृक्षात्मकं ण्यन्तण्यन्ततया द्विप्रकारं क्षोभमपि व्याचष्टे

तस्य बीजस्य सैवोक्ता विसिसृक्षा य उद्भवः।
यतो ग्राह्यमिदं भास्यद्भिन्नकल्पं चिदात्मनः ॥८६॥
एष क्षोभः क्षोभणा तु तूष्णींभूतान्यमातृगम्।
हठाद्यदौदासीन्यांशच्यावनं संविदो बलात् ॥८७॥

उद्भव इत्युद्यन्तृतेत्यर्थः, यतो हेतोरिदं ग्राह्यं देहनीलादि भावजातं कादि च, चिदात्मनः सकाशाद्भिन्नकल्पम्-अनतिरिक्तमपि अतिरिक्तायमानं

भास्यत्- उत्तरकालं भासिष्यमाणं स्यात् स एष उद्यन्तृतामात्ररूपः क्षोभः। चर्याक्रमेऽपि हि क्षोभानन्तरमेवानन्दादि भवेत्, क्षोभणा तु तूष्णींभूता-औदासीन्यात् बहिर्भावानुन्मुखा, ये अन्ये नीलाद्यपोहेन अवस्थिता देहादयो मातारः अर्थान्नीलादयः प्रमेयाश्च, तद्गतं बलात् स्वातन्त्र्यलक्षणं स्वं वीर्यमवलम्ब्य सवित्कर्तृकं हठात्—अतदिच्छेऽपि तत्त्वेच्छाभासनलक्षणात् बलात्कारात् यदौदासीन्याद्बहिर्भावोन्मुखतायामप्रवर्तनात, च्यावनं बहिर्भावोन्मुख्येनैवावभासनं नामेति ॥ ८६-८७ ॥

एवं बीजसूत्रं व्याख्याय योनिसूत्रमपि व्याचष्टे

जातापि विसिसृक्षासौ यद्विमर्शान्तरैक्यतः।
कृतार्था जायते क्षोभाधारोऽत्रैतत्प्रकीर्तितम् ॥८८॥

यत्परस्य प्रमातुरुत्पन्नापि क्षोभलक्षणा स्रष्टृत्वेच्छा—चिन्मात्रनिष्ठात् प्रक्तनादहन्ताविमर्शादन्य इदन्तात्मा विमर्शो—विमृश्यविमर्शयोरभेदोपचारात्, तत्परामृश्यं देहनीलादि भावजातं कादि च, तेनैकात्म्यमवलम्ब्य, कृतार्था—स्वात्ममात्रविश्रान्त्या पूर्णा जायते, तदेतदत्र 'यदैक्यापत्तिमासाद्य' इत्यादौ योनिसूत्रे क्षोभाधारः, प्रकीर्तितं—सम्यगुक्तमित्यर्थः ॥ ८८ ॥

एवमेतत्पदार्थद्वारेण व्याख्याय तात्पर्यमुखेनाप्यभिधत्ते

ततस्तदान्तरं ज्ञेयं भिन्नकल्पत्वमिच्छति।
विश्वबीजादतः सर्वं बाह्यं बिम्बं विवर्त्स्यति ॥८९॥

ततः—समनन्तरोक्तात् सिसृक्षालक्षणात् क्षोभाद्धेतोः, आन्तरम्—प्रमात्रैकात्म्येन वर्तमानं सत् तत् आसूत्रितप्रायं ज्ञेयं भिन्नकल्पत्वम्—अतिरिक्तायमानत्वमेति, अतो—विश्वबीजादादिवर्णान्महामायातश्चारभ्य सर्वमानन्दादि तत्त्वभुवनादि च भावजातं, बाह्यं—विच्छेदेनावभासमानं, बिम्बं—ज्ञानीयाकारलक्षणप्रतिबिम्बात्मकं, विवर्त्स्यति- तत्तद्देहनीलाद्यात्मना पदवाक्यादितया च यथायथं स्फुटीभविष्यतीत्यर्थः। चर्याक्रमेऽपि हि बीजमेव भेदेन प्रसृतं सत् स्त्रीपुंनपुंसकादिरूपतामेष्यतीति ॥ ८९ ॥

न चैतत्स्वोपज्ञमेवोक्तम्, इत्याह

क्षोभ्यक्षोभकभावस्य सतत्त्वं दर्शितं मया।
श्रीमन्महेश्वरेणोक्तं गुरुणा यत्प्रसादतः ॥९०॥

'तदपरमूर्तिर्भगवान् महेश्वर' इत्यादिना प्राङ्नमस्कृतेन गुरुणा यत्सतत्त्वमुक्तं, तन्मया दर्शितम्, इति संबन्धः ॥ ९० ॥

एवमेतत्प्रसंगादभिधाय प्रकृतमेवावतारयति

प्रकृतं ब्रूमहे नेदं बीजं वर्णचतुष्टयम् ।
नापि योनिर्यतो नैतत्क्षोभाधारत्वमृच्छति ॥९१॥

नहि कादिवदेतदैक्यमासाद्य कस्यचिदपीच्छा कार्तार्थ्यमियादित्यस्य क्षोभाधारत्वागमनम् । नेदं बीजमित्यत्र पुनः 'क्षोभान्तरस्यासंभवात्' इत्यादिना प्रागुपादानाद्धेतोरनिर्देशः, अत एव चास्य वर्णचतुष्टयस्य प्रक्षोभकत्वाभावात् स्वात्ममात्रविश्रान्त्या परचमत्कारमयत्वम् ॥ ९१ ॥

तदाह

आत्मन्येव च विश्रान्त्या तत्प्रोक्तममृतात्मकम् ।

न केवलमेषां यथासंभवं प्रमेयेण संघट्टे परामर्शान्तरोदयो, यावत्परस्परमपि, इत्याह

इत्थं प्रागुदितं यत्तत्पञ्चकं तत्परस्परम् ॥९२॥
उच्छलद्विविधाकारमन्योन्यव्यतिमिश्रणात् ।

पञ्चकमिति—अनुत्तरेच्छेशनोन्मेषोनतारूपं, आनन्दशक्तिर्हि

'आनन्दो ब्रह्मणो रूपम् .... ।'

इत्याद्युक्त्या चिदव्यतिरिक्तैव, इति नास्याः पृथगभिधानम्, तदेतत्, परस्परम्–न पुनरेकैकम्, उच्छलद्विविधाकारं–प्रादुर्भवन्नानावर्णरूपं भवेत्, न चैतत्पारम्पर्येऽपि स्वात्ममात्रावस्थाने किं तु संघट्टे सति, इत्याह–व्यतिमिश्रणादिति, तद्यथा अकारस्याकारस्य वा इकारेणेकारेण वा व्यतिमिश्रणे 'ए' इति रूपं भवेत्, तयोरेव उकारेणोकारेण वा व्यतिमिश्रणे 'ओ' इति रूपं भवेत्, इकारस्यापि अकारेण 'य' इति, उकारस्यापि अकारेण 'व' इति, व्यतिमिश्रणं च न पञ्चकादतिरिक्तेन परामर्शान्तरेण केनचित्, इत्युक्तम्—अन्योन्येति । यत्तु

'सैव शीघ्रस्थिरोपात्तज्ञेयकालुष्यरूषिता ।
विजातीयोन्मुखत्वेन रत्वं लत्वं च गच्छति ॥

इत्यादि वक्ष्यति, तत् परामर्शान्तरोदयविषयमिति नात्र मेलनीयं-संध्य-क्षरोदयस्यैव इह प्रक्रान्तत्वात् ॥ ९२३ ॥

एतदेव दर्शयति

योऽनुत्तरः परः स्पन्दो यश्चानन्दः समुच्छलन् ॥९३॥
ताविच्छोन्मेषसंघट्टाद्गच्छतोऽतिविचित्रताम् ।

तावनुत्तरानन्दशब्दव्यपदेश्यौ 'अकाराकारौ' इच्छोन्मेषाभ्याम् 'इकारोकाराभ्यां' यः संघट्टः – 'आद्गुण' इत्येवंरूपः संधिः, तस्मादतिशयेन संवीयमानवर्णद्वयविलक्षणतया, विचित्रताम् 'एकारौकारलक्षणां' वैचित्रीं गच्छतः—प्राप्नुत इत्यर्थः ॥ ९३ ॥

एवमेकारस्योदयमात्रमुक्त्वा गर्भीकारेण स्वरूपमप्यभिधत्ते

अनुत्तरानन्दचिति इच्छाशक्तौ नियोजिते ॥९४॥
त्रिकोणमिति तत्प्राहुर्विसर्गामोदसुन्दरम् ।

यदनुत्तरानन्दौ अर्थाद्विकल्पेन, इच्छायां निहितसंधी तत्—संधीयमानावयवमेकारलक्षणमक्षरं त्रिकोणं

'त्रिकोणमेकादशमं वह्निगेहं च योनिकम् ।
शृंगाटं चैव एकारं नामभिः परिकीर्तितम् ॥'

इत्याद्युक्तेः, इच्छाज्ञानक्रियाख्यकोणत्रययत्वाच्च, लिपिक्रमेऽपि तथा संनिवेशात् 'त्रिकोणम्' इति—त्रिकोणशब्दव्यपदेश्यमाचक्षते इति वाक्यार्थः, तच्च

'विसर्गस्तस्य नाथस्य कौलिकी शक्तिरुच्यते ।'

इत्यादिवक्ष्यमाणनीत्या, विसर्गः—परा शक्तिः, तस्या आमोदः—आनन्दोदयक्रमेण क्रियाशक्तिपर्यन्तमुल्लासः, तेन सुन्दरं—तत्र नित्योदितत्वाच्छक्तेः परानन्दमयमित्यर्थः । त्रिकोणमित्यनेन योगिनीवक्त्रापरपर्यायजन्माधाररूपत्वमप्यस्य सूचितम् । तत एव हि परा शक्तिरुदेतीति भावः, यदुक्तम्

'यदोल्लसति शृंगाटपीठात्कुटिलरूपिणी ।'

इति । तथा

'त्रिकोणं भगमित्युक्तं वियत्स्थं गुप्तमण्डलम् ।
इच्छाज्ञानक्रियाकोणं तन्मध्ये चिञ्चिनीक्रमम् ॥'

इति । अनेनैवाशयेन च इतो बाह्यैरपि

'एकाराकृति यद्दिव्यं मध्ये षट्कारभूषितम् ।
आलयः सर्वसौख्यानां बोधरत्नकरण्डकम् ॥'

इत्याद्युक्तम् । चर्याक्रमेऽपि हि विसर्गस्यानन्दफलस्य संबन्धिना स्फारेण परानन्दमयं प्रसरस्थानम्, इति ॥ ९४ ॥

न केवलमनुत्तरानन्दयोरिच्छायां योगे संध्यक्षरलक्षणपरामर्शान्तरोदयो, यावदत्रापि, इत्याह

अनुत्तरानन्दशक्ती तत्र रूढिमुपागते ॥९५॥
त्रिकोणद्वित्वयोगेन व्रजतः षडरस्थितिम् ।

तत्र त्रिकोणेऽपि यदा अनुत्तरानन्दौ रूढि--'वृद्धिरेचि' इति संधिक्रमेण प्ररोहं प्राप्तौ, तदा अनुत्तरस्य पूर्वोक्तनीत्या रौद्र्यादिशक्तित्रयमयत्वेन आनन्दस्यापि तत्स्फारमात्रसारत्वेन त्रिकोणरूपत्वात् अकारैकारलक्षणत्रिकोणद्वययोगेन, षडरां--षट्कोणां स्थितिं व्रजतः – ऐकाररूपतामवभासयत इत्यर्थः । लिपौ पुनरेवंरूपत्वमतिरहस्यत्वात् न प्रदर्श्यते – इत्येकारस्यैव द्विगुणीभावोन्मीलनायोपरि रेखाविन्यासः । चर्याक्रमेऽपि हि सिद्धयोगिनीत्रिकोणद्वयसंपुटीभावेन षडरमुद्रामयी स्थितिर्जायते, इति ॥९५॥

एवमनुत्तरानन्दयोरेकारेण संघट्टे यथा परामर्शान्तरोदयः, तद्वदोकारेणापि, इत्याह

ते एवोन्मेषयोगेऽपि पुनस्तन्मयतां गते ॥९६॥
क्रियाशक्तेः स्फुटं रूपमभिव्यङ्क्तः परस्परम् ।

ते एव – अनुत्तरानन्दशक्ती, उन्मेषेण–उकारेण यो योगः—ओकारापत्तिलक्षणः संधिः, तस्मिन्सत्यपि पुनर्यदा तन्मयताम्–ओकारात्मतां संधिक्रमेण तदेकीभावं गच्छतः, तदा परस्परमनुत्तरानन्दौ औकारात्मना संभूय, क्रियाशक्तेरौकारलक्षणं स्फुटं रूपम्, अभितः–समन्तात् व्यङ्क्त--प्रकाशयत इत्यर्थः 'अभितः स्फुटं रूपं व्यङ्क्त' इत्यनेन क्रियाशक्तेः संध्यक्षरेषु यथाक्रमम् अस्फुटं, स्फुटं, स्फुटतरं स्फुटतमं च, रूपमस्ति--इत्यावेदितम् ॥ ९६ ॥

नन्वनुत्तरानन्दयोरिच्छोन्मेषाभ्यां संघट्टे यथा परामर्शान्तरोदय उक्तः, तथा तत्क्षोभरूपाभ्यामीशनोनताभ्यामपि किमिति न? इत्याशङ्क्याह

इच्छोन्मेषगतः क्षोभो यः प्रोक्तस्तद्गतेरपि ॥९७॥
ते एव शक्ती ताद्रूप्यभागिन्यौ नान्यथास्थिते ।

यः—इच्छोन्मेषसत्क ईषणोनतालक्षणः क्षोभः पूर्वमुक्तः, तं गते—तेन सह 'आद्गुणः' इत्यादिना संधिं प्राप्ते अपि, ते—अनुत्तरानन्दाख्ये शक्ती, ताद्रूप्यभागिन्यावेव—तदेव ऐकारौकारलक्षणं रूपमवश्यं भजेते, अत एव 'नान्यथास्थिते' परामर्शान्तरात्मकत्वेन न तिष्ठतः, इति न तत्संघट्टेन अनुत्तरानन्दयोः परामर्शान्तरोदय उक्तः ॥ ९७ ॥

ननु 'अनुत्तरः प्रकाश एवैकः प्रकाशते' इति ततोऽन्यन्न किंचिदपि संभवेत्—तस्यातिरेकानतिरेकविकल्पोपहतत्वात्, तत्कथमिदमुक्तं—यदियता क्रियाशक्तिपर्यन्तेन वैचित्र्येण स एव परिस्फुरेत्, इति तदाह

नन्वनुत्तरतानन्दौ स्वात्मना भेदवर्जितौ ॥९८॥
कथमेतावतीमेनां वैचित्रीं स्वात्मनि श्रितौ ।

तदेव प्रतिविधत्ते

शृणु तावदयं संविन्नाथोऽपरिमितात्मकः ॥९९॥
अनन्तशक्तिवैचित्र्यलयोदयकलेश्वरः ।

अयं खलु अनुत्तरानन्दात्मा संविन्नाथः

'शक्तयोऽस्य जगत्कृत्स्नं शक्तिमांस्तु महेश्वरः ।'

इत्याद्युक्तेरनन्तस्य शक्तिवैचित्र्यस्य, लयोदययोः—निमेषोन्मेषयोर्यत्कलनं—स्वात्मनो भेदेन क्षेपः, तत्र स्वतन्त्रत्वात् अपरिमितात्मको—नियतरूपानुपग्रहात् अनवच्छिन्नस्वभावः, इत्यर्थः ॥ ९९ ॥

नन्वयं संविन्नाथः किमिति नाम न नियतेन रूपेण परिस्फुरेत्? इत्याशंक्याह

अस्थास्यदेकरूपेण वपुषा चेन्महेश्वरः ॥१००॥
महेश्वरत्वं संवित्त्वं तदत्यक्ष्यद्घटादिवत् ।

यदि नाम महेश्वरः प्रतिनियतेन केनचिद्रूपेण अवतिष्ठेत, तदास्य घटादिन्यायेन माहेश्वर्यं संविद्रूपत्वं च न स्यात्, एतदेव हि अस्य माहेश्वर्यं संविद्रूपत्वं च—यत् तत्तदनियतवाच्यवाचकात्मना परिस्फुरेत् इति, तथाहि-'एकमेवेदं संविद्रूपं हर्षविषादाद्यनेकाकारविवर्तं पश्यामः तत्र यथेष्टं संज्ञाः क्रियन्ताम्' इत्याद्युक्तयुक्त्या संवित् तावदनेकाकारतया परिस्फुरति, इति नास्त्यत्र विवादः, न चास्यास्तत्तदाकारतया परिस्फुरणे 'तस्यातिरेकानतिरेकविकल्पोपहतत्वात्' अविद्यादि निमित्तं, किं तु स्व एव स्वभावो यः 'स्वातन्त्र्यम्' इति 'माहेश्वर्यम्' इति च सवत्रोद्घोष्यते, तत्प्रतिनियतेऽस्य स्वरूपे प्रकाशमाने 'माहेश्वर्यं संविद्रूपत्वं च' न स्यात्, इति-जाड्यमेवापतेत्, जड एव हि घटादिः 'इदमिदानीमत्र भाति' इत्येवमात्मनियतावभासो भवेत, न परः प्रकाशः ॥ १०० ॥

एतदेव हि तस्य जडाद्वैलक्षण्यं—यत् स्वप्रकाशत्वात् अन्येन केनचिन्न परिच्छिद्यते, अन्यप्रमीयमाणत्वमेव हि परिच्छिन्नप्रकाशत्वं यन्नाम सर्वत्रैव जडस्य लक्षणमुच्यते तदाह

परिच्छिन्नप्रकाशत्वं जडस्य किल लक्षणम् ॥१०१॥
जडाद्विलक्षणो बोधो यतो न परिमीयते ।

यतश्चैवम्, अतस्तत एव इयान् विश्वप्रसरः, इत्याह

तेन बोधमहासिन्धोरुल्लासिन्यः स्वशक्तयः ॥१०२॥
आश्रयन्त्यूर्मय इव स्वात्मसंघट्टचित्रताम् ।

तेन—उक्तानेकाकारतया परिस्फुरणेन हेतुना, सिन्धोरिवोर्मयो बोधात् उल्लसनशीलाः, स्वाः आत्मभूता इच्छाद्याः शक्तयः, स्वात्मसंघट्टेनपरस्परलोलीभावेन, चित्रतामाश्रयन्ति—तत्तद्ग्राह्यग्राहकात्मना तत्तत्परामर्शरूपतया च परिस्फुरन्ति, इत्यर्थः ॥ १०२ ॥

एतदेव च परं क्रियाशक्ते रूपम्, इत्याह

स्वात्मसंघट्टवैचित्र्यं शक्तीनां यत्परस्परम् ॥१०३॥
एतदेव परं प्राहुः क्रियाशक्तेः स्फुटं वपुः ।

परं स्फुटमिति—स्फुटतममित्यर्थः, अत एव भेदप्राधान्यात् अस्याः

'विषयेष्वेव संलीनानधोधः पातयन्त्यणून् ।
रुद्राणून्याः समालिंग्य घोरतर्योऽपरास्तु ताः ॥'

इत्यादिलक्षितानाम् – अशुद्धाध्वाधिष्ठात्रीणां घोरतरीणामपि शक्तीनां निमित्तत्वम्, इत्यवगन्तव्यम्, अघोरादीनां हि शक्तीनामिच्छाशक्तेर्ज्ञानशक्तेश्च जन्म, इत्युक्तम् ॥ १०३ ॥

शक्तित्रयसंघट्टात्मकत्वादेव चास्य भगवतः त्रिशूलत्वमुक्तम् इत्याह

अस्मिंश्चतुर्दशे धाम्नि स्फुटीभूतत्रिशक्तिके ॥१०४॥
त्रिशूलत्वमतः प्राह शास्ता श्रीपूर्वशासने ।

अत इति--क्रियाशक्तेः परं स्फुटत्वात्, 'स्फुटीभूतत्रिशक्तिके, इत्यत्र चाय हेतुः, स्फुटीभूतत्रिशक्तित्वं च त्रिशूलत्वोक्तौ हेतुः--यदिच्छाज्ञानक्रियात्मकमरात्रयम् अत्रास्तीति भावः, यदुक्तं तत्र

'............त्रिशूलेन चतुर्थकम् ।'

इति ॥ १०४ ॥

न केवलमत्र शक्तित्रयसमावेशात्त्रिशूलत्वं भगवतोक्तं, यावन्निरञ्जनत्वमपि अधिगततत्त्वादागमार्थैर्गुरुभिः, इत्याह

निरञ्जनमिदं चोक्तं गुरुभिस्तत्त्वदर्शिभिः ॥१०५॥
शक्तिमानञ्ज्यते यस्मान्न शक्तिर्जातु केनचित् ।

च भिन्नक्रमः, तेनेदम् 'औंकारलक्षणं चतुर्दशं धाम निरञ्जनं चोक्तम्, इत्यन्वयः, यतः

'यथालोकेन दीपस्य किरणैर्भास्करस्य च ।
ज्ञायते दिग्विभागादि तद्वच्छक्त्या शिवः प्रिये ॥

इत्याद्युक्त्या शक्तिमान्--परः प्रकाशः शक्त्या अञ्ज्यते--परिमितान् प्रमातॄन्प्रति व्यक्तीक्रियते उपाधीयते इत्यर्थः, स्वप्रकाशस्य हि परस्य प्रकाशस्य परकर्तृका व्यक्तिरेवोपाधिः, शक्तिः पुनरभिव्यक्तैव तदञ्जने उपायः –इति न तस्या अपि केनचिदञ्जनं संभवेत्, नहि असंविदितं करणं कारणतामेव यायात्, इति भावः ॥ १०५ ॥

ननु इच्छादिशक्तिरिष्यमाणादिना स्वविषयेणाप्युपाधीयते एव, इति कथमुक्तं 'न शक्तिः केनचिदज्ज्यते' ? इत्याशंक्याह

इच्छा ज्ञानं क्रिया चेति यत्पृथक्पृथगज्ज्यते ।।१०६।।

तदेव शक्तिमत्स्वैः स्वैरिष्यमाणादिकैः स्फुटम् ।

यत् खलु इच्छाज्ञानक्रियालक्षणाः शक्तयः, स्वैः स्वैः--प्रातिस्विकैरिष्यमाणज्ञेयकार्यात्मभिः विषयैः, पृथक् पृथक् भेदेन उपरज्ज्यते, तदेव स्फुटं—पूर्णस्वरूपं, शक्तिमत्—स एव गर्भीकृतानन्तशक्तिः परः प्रकाशः इत्यर्थः, शक्तिर्हि नाम शक्तिमत एव स्वं रूपं, किं तु फलभेदादारोपित भेदं येन इष्यमाणाद्युपरागात् 'इच्छा' इत्यादिव्यवहारः ॥ १०६ ॥

ननु यदि इच्छादीनामेकैकशः इष्यमाणादिना उपरञ्जने शक्तिमद्रूपत्वं, तत्समुदितानामासां किं रूपम् ? इत्याशंक्याह

एतत्त्रितयमैक्येन यदा तु प्रस्फुरेत्तदा ।।१०७।।

न केनचिदुपाधेयं स्वस्वविप्रतिषेधतः ।

एतत्पुनः--इच्छाज्ञानक्रियालक्षणं त्रितयं, यदा क्रियाशक्त्यात्मना सामरस्येन प्रस्फुरेत्, तदा केनचिदपीष्यमाणादिना विषयेण इच्छादीनामीषणीयादीनां च स्वेन स्वेन विप्रतिषेधात् ईषणीयेन ज्ञानक्रिययोः नाञ्जनं 'ज्ञेयेनापि न इच्छाक्रिययोः, कार्येणापि न इच्छाज्ञानयोः' इत्येवंरूपात् परस्परव्याहतत्वात् नोपाधेयं--नाञ्जनीयमित्यर्थः, यद्वक्ष्यति

'........ क्रिया देवी निरञ्जनम् ।' ॥

इति ॥ १०७ ॥

अत एव च एतत्त्रिशूलशब्देनोक्तम्, इत्याह

लोलीभूतमतः शक्तित्रितयं तत्त्रिशूलकम् ।

यस्मिन्नाशु समावेशाद्भवेद्योगी निरञ्जनः ।।१०८।।

अतः--अनुपहितत्वाद्धेतोर्लोलीभूतं--स्पर्धित्वेऽप्यविभागमाप्तम्, एतच्छक्तित्रितयं त्रिशूलशब्दस्य व्यपदेश्यम्, यस्मिन्ननुपाधौ रूपे न केवलं स्वयं निरञ्जनत्वं यावत्तत्सत्तासमावेशात् प्राप्ततदैकात्म्यो योग्यपि निरञ्जनो भवेत् ॥ १०८ ॥

अथैतदेव प्रमेयान्तरावापेन उपसंहरति

इत्थं परामृतपदादारभ्याष्टकमीदृशम् ।
ब्राह्म्यादिरूपसंभेदाद्यात्यष्टाष्टकतां स्फुटम् ॥१०९॥

यदेतत् परामृतपदात्--षण्ठवर्णचतुष्टयादारभ्य शूलबीजपर्यन्तमीदृशं-यथोक्तरूपमष्टकं, तद्ब्राह्म्यादेरष्टकस्य यत्सर्वसर्वात्मकं रूपं, तेन प्रतिवर्णं देव्यष्टकस्य वाच्यत्वेन मिश्रीभावात्, अष्टाष्टकतां स्फुटं याति--चतुःषष्टिरूपतया प्रस्फुरतीत्यर्थः, तेन ब्राह्मी 'ऋकारः' एवं क्रमेण यावत् 'औकारो' योगीश्वरी, पुनर्माहेश्वरी 'ऋकारः' अत्र ब्राह्मी 'औकारः' यद्वा 'ऋकार' एवमन्यत्र ज्ञेयम् ॥ १०९ ॥

तदेवं क्रियाशक्तिपर्यन्तेन वैचित्र्येण परिस्फुरन्त्या अपि परस्याः संविदः स्वरूपविप्रलोपो न जातः, इत्येव द्योतयितुं विन्दुस्वरूपं दर्शयति

अत्रानुत्तरशक्तिः सा स्वं वपुः प्रकटस्थितम् ।
कुर्वन्त्यपि ज्ञेयकलाकालुष्याद्विन्दुरूपिणी ॥११०॥

अत्र--एवं संस्थितेऽपि, सा--समनन्तरोक्तस्वरूपा अनुत्तरशक्तिः, स्वस्वातन्त्र्यात् ज्ञेयस्य--ग्राह्यग्राहकात्मना भावजातस्य यत्कलनम्--इयत्तापरिच्छेदः, तेन यत्कालुष्यं—स्वरूपगोपनात्मा संकोचः, तदवलम्ब्य स्वं स्वप्रकाशं वपुः प्रकटस्थितं सर्वसवेद्यतया अवतिष्ठमानं कुर्वाणापि, विन्दुरूपिणी—वेत्तीति विन्दुः विदिक्रियायां स्वतन्त्रः प्रमाता, तस्य रूपम्—अविभागः परः प्रकाशः, तदेव विद्यते यस्याः--तत्स्वभावैवेत्यर्थः, एवमपि स्वरूपान्न प्रच्युता, इति भावः ॥ ११० ॥

अत आह

उदितायां क्रियाशक्तौ सोमसूर्याग्निधामनि ।
अविभागः प्रकाशो यः स विन्दुः परमो हि नः ॥१११॥

इह ह्लादतैक्ष्ण्याद्यवच्छिन्नत्वेन नियतात्मनां प्रमाणाद्यात्मनां सूर्यादीनामाश्रयभूतायां क्रियाशक्तावुदितायां—तत्तद्वैचित्र्यात्मना परिस्फुरन्त्यामपि, अविभागो—ह्लादतैक्ष्ण्याद्युपाध्यवच्छेदशून्यः पूर्णो यः प्रकाशः स परमः, एवमपि अप्रच्युतस्वरूपत्वादत्युत्कृष्टोऽस्मद्दर्शने 'विन्दुः' विदिक्रियायां स्वतन्त्रः परप्रमात्रेकरूपः परमेश्वरः शिव इत्यर्थः, यद्वक्ष्यति

'अत्र प्रकाशमात्रं यत्स्थितं धामत्रये सति।
उक्तं बिन्दुतया शास्त्रे शिवबिन्दुरसौ मतः ॥

इति ॥१११॥

न चैतत्स्वोपज्ञमेवोक्तम्, इत्याह

तत्त्वरक्षाविधाने च तदुक्तं परमेशिना।
हृत्पद्ममण्डलान्तःस्थो नरशक्तिशिवात्मकः ॥११२॥
बोद्धव्यो लयभेदेन बिन्दुर्विमलतारकः।

तदेवाह—हृत्पद्मेत्यादि, बिन्दुः—वेदयिता परः प्रकाशः, स्वस्वातन्त्र्याद्विश्वमवबिभासयिषुः

'त्रिषु स्थानगतो बिन्दुमेकत्रैव विभावयेत्।'

इत्याद्युक्त्या द्वादशान्तभ्रूमध्यहृदयलक्षणेषु स्थानेषु, लयस्य विश्रान्तेर्भेदात्, नरशक्तिशिवात्मको बोद्धव्यः—इच्छाद्यात्मकशिवविद्यात्मलक्षणतत्त्वत्रयरूपतया प्रस्फुरितः इत्यर्थः। एवमप्यसौ हृत्पद्ममण्डलान्तःस्थः संकुचितात्मतायाः प्राधान्यात् भेदभूमावेव प्राप्तप्ररोहः इत्यर्थः। एवमपि नासौ स्वस्वरूपात्प्रच्युतः इत्याह—विमलतारक इति, विमलः—तत्तद्वैचित्र्योल्लासेऽपि संविन्मात्ररूपत्वात् शुद्धः, अत एव संसाराब्धेस्तारकः ॥११२॥

न केवलं परामर्शनीयविश्ववैचित्र्यात्मना परिस्फुरतोऽस्य न स्वस्वरूपात् प्रच्यावो, यावत्तत्तत्परामर्शात्मनापि, इत्याह

योऽसौ नादात्मकः शब्दः सर्वप्राणिष्ववस्थितः ॥११३॥
अधऊर्ध्वविभागेन निष्क्रियेणात्रतिष्ठते।

इह योऽसौ बिन्दुः, स तत्तत्परामर्शात्मितामुल्लिलासयिषुः 'नादात्मकः शब्दः' तद्रूपतया स्फुरतीत्यर्थः, शब्दयति—स्वाभेदेन विश्वं परामृशतीति शब्दः, परावाग्रूपो विमर्शः, स च नादात्मकः—नदति सर्वेषामेव जीवकलात्वेन परिस्फुरतीति नादो 'हकारार्धार्धरूपिणी अमा कला' यैव मुख्यया वृत्त्या सर्वत्र अस्वरत्वेन व्यपदिश्यते, तस्यात्मा—तद्रूपतया अवभासते इति यावत्, स एव च

'अकारः सर्ववर्णानामन्तर्यामितया स्थितः।'

इत्याद्युक्त्या सर्वेषामेव वर्णानाम्, अधऊर्ध्वविभागेन--अनुत्तरात् शूलबीज-पर्यन्तं, हकारपर्यन्तं वा, प्राणनरूपत्वेनावस्थितः--सर्व एव परामर्शराशिस्त-त्स्फारसार एवेत्यर्थः। अथ च स एव सर्वेषां प्राणिनामधऊर्ध्वविभागेन—सूर्याचन्द्रात्मप्राणापानप्रवाहरूपतयाप्यवस्थितः, सैव हि 'परा जीवकला' इति भावः। एवमप्यसौ निष्क्रियेण रूपेणावतिष्ठते--क्रियाशक्तिपर्यन्तं तत्तद्वैचित्र्यात्मना परिस्फुरणेऽपि नास्य स्वस्वरूपात् प्रच्याव इत्यर्थः ॥११३॥

ननु उदितायां क्रियाशक्तौ, ह्लादतैक्ष्ण्याद्यवच्छिन्नः सोमसूर्यादिः प्रतिनियतः प्रकाशः प्रकाशते, यः स्वमन्यच्च निखिलमेव प्रकाशयति, यः पुनरविभागः परः प्रकाश उक्तः, स किं तदात्मकः उत तत्प्रकाश्योऽन्यो वा ? इत्याशंक्याह

ह्लादतैक्ष्ण्यादि वैचित्र्यं सितरक्तादिकं च यत् ॥११४॥
स्वयं तन्निरपेक्षोऽसौ प्रकाशो गुरुराह च ।

यत्खलु चन्द्रसूर्यादिगतं ह्लादतैक्ष्ण्याद्यात्मसितरक्ताद्यात्म च वैचित्र्यं, तदसौ परः प्रकाशः स्वात्मना नापेक्षते--नियतरूपत्वाभावात्तदेकात्मको न भवेत्, नापि स्वप्रकाशत्वात्तत्प्रकाश्यः, तेन नासौ सूर्यादिरूपः तत्प्रकाश्यो वा, अपि तु सूर्यादिधामत्रयानुप्राणकः परप्रमात्रेकरूपः, आदिशब्दद्वयाच्च दाहकत्वं दाह्यभेदोत्थं नानावर्णत्वं च ग्राह्यम्। एतच्च केवलं नास्माभिरे-वोक्तं यावद्भगवता वासुदेवेनापि, इत्युक्तं 'गुरुराह च' इति, यद्गीतम्

'न तद्भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः ।
यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥'

इति ॥११४॥

एतदेवार्थद्वारेण दर्शयति

यन्न सूर्यो न वा सोमो नाग्निर्भासयतेऽपि च ॥११५॥
न चार्कसोमवह्नीनां तत्प्रकाशाद्विना महः ।
किमप्यस्ति निजं किं तु संविदित्थं प्रकाशते ॥११६॥

यत्परमं धाम न प्रतिनियतसूर्याद्येकरूपमपि भासयते च--स्वाभासत्वात् सूर्याद्यवभास्यो न स्यात्, प्रत्युत सूर्यादीनां प्रकाश्यत्वात् तत्प्रकाशमन्तरेण

प्रकाशमानतैव न स्यात्, इति--पर एव प्रकाशः तत्तत्सूर्याद्यात्मना प्रस्फुरेत्, अत एवोक्तं 'किं तु संविदित्थं प्रकाशते' इति ॥११५--११६॥

ननु यद्येवं तर्हि त्रयाणामपि तेजोरूपत्वाविशेषेऽपि तैक्ष्ण्याद्यात्म वैचित्र्यं कुतस्त्यम् ? इत्याशङ्क्याह

स्वस्वातन्त्र्यप्रभावोद्यद्विचित्रोपाधिसंगतः ।
प्रकाशो याति तैक्ष्ण्यादिमवान्तरविचित्रताम् ॥११७॥

स्वस्वातन्त्र्यमाहात्म्यात् उद्यत्पार्थिवाप्यद्रव्यादिरूपो योऽसौ उपाधिः, तेन वैशिष्ट्यमापादितः--अर्थात्तेजोरूपतामभ्युपगतः प्रकाशः, तैक्ष्ण्याद्यात्म वैचित्र्यान्तर याति--तद्रूपतया प्रस्फुरतीत्यर्थः। पर एव हि प्रकाशः पार्थिवादिद्रव्याभाससंभिन्नो वह्न्यात्मना, आप्यद्रव्यावभासोपहितश्चन्द्रात्मना, शुद्धतेजोमात्रावभासोपरक्तश्च सूर्यात्मना प्रस्फुरन् दाहकत्वह्लादकत्वतीक्ष्णत्वादिरूपां विचित्रतामवभासयेत् ॥११७॥

ननु उपाधियोगमात्रादेव कथमेवं स्वरूपातिशायकमपि वैचित्र्यं भवेत् ? इत्याशंकां दृष्टान्तोपदर्शनेन उपशमयति

दुर्दर्शनोऽपि घर्मांशुः पतितः पाथसां पथि ।
नेत्रानन्दत्वमभ्येति पश्योपाधेः प्रभाविताम् ॥११८॥

दृष्टिघातकृदपि तीक्ष्णांशुः स्तैमित्यभाजि जलाशयादौ प्रतिबिम्बितो दुर्दर्शनत्वपरिहारेण सुखावलोकनीयतामेति, इति दृष्ट एव सर्वत्रायम् उपाधेः प्रभावा, यदुपाधेयस्य स्वरूपमतिशाययतीति ॥११८॥

एवमनुपहितस्वरूपत्वादेव सूर्यादिप्रकाशः स्वप्रकाशने संवित्प्रकाशमपेक्षते, इत्याह

सूर्यादिषु प्रकाशोऽसावुपाधिकलुषीकृतः ।
संवित्प्रकाशं माहेशमत एव ह्यपेक्षते ॥११९॥

संविच्छब्देनात्र जडात् सूर्यादिप्रकाशात् परस्य प्रकाशस्य वैलक्षण्यं दर्शितम् ॥११९॥

एवमप्येषां यथासंभवं स्वरूपं दर्शयति

प्रकाशमात्रं सुव्यक्तं सूर्य इत्युच्यते स्फुटम् ।
प्रकाश्यवस्तुसारांशवर्षि तत्सोम उच्यते ॥१२०॥

सुव्यक्तमिति– आप्यद्रव्याद्यनुपहितमित्यर्थः, सूर्यस्य शुद्ध प्रकाशमात्रमेव रूपमिति भावः। अत एव चास्य प्रमाणत्वं, तस्य हि ज्ञानमात्रमेव विवक्षितं रूपं, स्फुटं--सर्वजनसाक्षिकम् । प्रकाश्यानि मेयानि यानि वस्तूनि तेषां सुखदुःखमोहमयत्वात् अंशद्वयापेक्षया यः सारः--सुखकार्याल्हादादिरूप उत्कृष्टोंऽशः

'..........सोमो वर्षति चामृतम् ।'

इत्याद्युक्त्या, तं वर्षति--तेन सर्वमिदं भावजातं सिञ्चति, आल्हादमयमेव करोति इत्येवंविधं सत् तत्प्रकाशमात्रं 'सोम' उच्यते--सोमशब्देन व्यपदिश्यत इत्यर्थः। अत एव च आल्हादात्ममेयांशप्राधान्यात् अस्य मेयत्वं, यदभिप्रायेण अनयोः

'ज्ञानशक्तिः परस्यैषा तपत्यादित्यविग्रहा ।'

इति । तथा

'चन्दरूपेण तपति क्रियाशक्तिः शिवस्य तु ।'

इत्याद्युक्त्या ज्ञानक्रियाशक्तिरूपत्वमुक्तम् ॥१२०॥

एवं च

सूर्यं प्रमाणमित्याहुः सोमं मेयं प्रचक्षते ॥

एवं सूर्यसोमयोः स्वरूपमभिधाय वह्नेरप्यभिधत्ते

अन्योन्यमवियुक्तौ तौ स्वतन्त्रावप्युभौ स्थितौ ॥१२१॥
भोक्तृभोग्योभयात्मैतदन्योन्योन्मुखतां गतम् ।
ततो ज्वलनचिद्रूपं चित्रभानुः प्रकीर्तितः ॥१२२॥
योऽयं वह्नेः परं तत्त्वं प्रमातुर्ग्दिमेव तत् ।

तौ उभौ सूर्याचन्द्रौ, स्वतन्त्रौ--परस्परनैरपेक्ष्येण प्रमाणप्रमेयात्मना पृथग्व्यवहार्यौ अपि, अन्योन्यमवियुक्तौ--सहोपलम्भनियमादभेदमापन्नावित्यर्थः, न खलु ज्ञानं ज्ञेयानारूषितं क्वचिदपि उपलभ्यते ज्ञानं विना वा ज्ञेयमिति, यदाहुः

'स्फटिकस्येव ह्यपाश्रयशून्यस्य ज्ञानस्य स्वरूपमनिरूप्यम्' ।

इति । तथा

'नावेदनमतो वेद्यम्.......... ।'

इति, अत एव एतत्सूर्यचन्द्रात्म द्वयं ग्राह्यग्राहकरूपत्वात्परस्परौन्मुख्यं प्राप्तं सत्, भोक्ता--बुद्ध्याद्यात्मा संकुचितः प्रमाता तन्मयत्वात् प्रमाणमपि भोक्ता, भोग्यं च नीलसुखादि तयोर्यत् लोलीभावमापन्नं सत् उभयं, तदात्मा यस्य तत्--भोक्तृभोग्यसंघट्टस्वभावमित्यर्थः। यतश्चैवं ततो भोक्तृभोग्यसंघट्टलक्षणाद्धेतोश्चित्राः--नानाकारा मानमेयादिरूपा भानवो यस्यासौ अग्निरुक्तः, यदुक्तम्

'शुचिर्नामाग्निरुद्भूतः संघट्टात्सोमसूर्ययोः ।'

इति, स च प्रमाणप्रमेयविभागात्मनो भेदस्य दाहकत्वात् ज्वलनप्रधाना चिद् रूपं यस्य सः--परिमितप्रमातृरूप इत्यर्थः, तस्य हि प्रमाणप्रमेययोः संमेलनमेव रूपमित्यर्थः, वह्नेरप्येवम् इति तस्य प्रमातृत्वम्, अत आह--योयमित्यादि, परमित्यसाधारणम् ॥१२१--१२२॥

ननु वह्नेः परापेक्षप्रकाशत्वात् समनन्तरमेव जाड्यमुक्तं, तत्कथमसौ चेतनैकवपुषः प्रमातुस्तत्त्वं स्यात् ? इत्याशंक्याह

संविदेव तु विज्ञेयतादात्म्यादनपेक्षिणी ॥१२३॥
स्वतन्त्रत्वात्प्रमातोक्ता विचित्रो ज्ञेयभेदतः ।

संविदेव हि स्वस्वातन्त्र्यात् विज्ञेयेन भोक्तृभोग्यात्मना वह्निना ऐकात्म्यासादनात् 'प्रमाता' इति उच्यते, अत एवोक्तम्--अनपेक्षिणीति, वह्निरूपतामासाद्यापि संविदो न स्वरूपप्रच्याव इति भावः। ननु यदि संविद एव प्रमातृत्वं तत्तस्या आखण्ड्यात् तद्रूपस्यापि प्रमातुः कथं वैचित्र्यं संगच्छते ? इत्याशंक्याह 'विचित्रो ज्ञयभेदत' इति, ज्ञेयस्य--कलाद्यात्मनः तत्त्वव्रातस्य भेदात्--वैचित्र्यादित्यर्थः, कलादीनां हि किंचित्कर्तृत्वाद्यविशेषेऽपि तत्तत्कर्माधिपत्यादस्त्येव सर्वसंवेद्यं तारतम्यं येनायमुपाधिमाहात्म्यापन्नः प्रमातृभेदः इति ॥१२३॥

अत एवाग्निरपि तथा, इत्याह

सोमांशदाह्यवस्तूत्थवैचित्र्याभासबृंहितः ॥१२४॥
तत एवाग्निरुदितश्चित्रभानुर्महेशिना ।

ततः प्रमातुर्विचित्रत्वादेव, प्रभुणाग्निरपि--चित्रा भोक्तृभोग्यादिरूपा भानवो यस्य स तत्तन्मानमेयादिविचित्रस्फार उक्तः, यतो--मेयात्मनः सोमस्य कलादिरूपा अंशा एव दाह्यानि आत्मसात्कार्याणि वस्तूनि तेभ्यः तारतम्यादिना उत्थितेन वचित्र्याभासेन बृंहितो वैशिष्ट्यमापादित इत्यर्थः ॥१२४॥

ननु प्रमातुः प्रमेयोपाधिवैचित्र्यमुक्तं, प्रमेयं च प्रमात्रपेक्षया पृथगेव न प्रकाशते इति--वैचित्र्यचर्चा दूर एवास्तां, प्रमातृत्वमेव पुनरस्याः संविदः कथं घटते ? इत्याशंक्याह

ज्ञेयाद्युपायसंघातनिरपेक्षैव संविदः ॥१२५॥
स्थितिर्माताहमस्मीति ज्ञाता शास्त्रज्ञवद्यतः ।

ज्ञातृतोपायभूततत्तन्नीलसुखाद्यात्मज्ञेयनिरपेक्षैव संविदः 'अहमस्मि' इत्यामर्शमयी या स्थितिः, स 'माता'--पराहंपरामर्शस्वभावो ज्ञातेत्यर्थः। ज्ञेयनैरपेक्ष्येण च अहंपरामर्शस्य विकल्पात् वैलक्षण्यं दर्शितम्, 'कृशोऽहम्' इत्यादौ अहंप्रत्यवमर्शो हि विकल्प एव--प्रतियोगिभूतस्य अकृशत्वादेरपोह्यस्य संभवात्, तस्य हि तदतद्रूपधर्मिप्रतियोगिसापेक्षित्वमेव रूपम्। परप्रमात्रात्मनि प्रकाशे पुनरहंप्रत्यवमर्शः प्रवर्तमानोऽतिरेकानतिरेकविकल्पोपहतत्वात् प्रतियोगिनः कस्यापि असंभवात् न विकल्पः, यदाहुः

'अहंप्रत्यवमर्शो यः प्रकाशात्मापि वाग्वपुः ।
नासौ विकल्पः स ह्युक्तो द्वयापेक्षी विनिश्चयः ।।'

इति। ननु प्रमातुरहंविमर्श एव स्वभावोऽस्तु, तस्यापि वा विकल्पाद्वैलक्षण्यं, किमनेन नः प्रयोजनं, ज्ञेयं विना पुनरस्य ज्ञातृत्वं न स्यात् ? इत्याशंक्य उक्तं 'शास्त्रज्ञवद्यतः' इति, यथा शास्त्रज्ञस्य व्याचिख्यासादिविरहेऽपि शास्त्राणां स्वात्माभेदेन वर्तमानत्वात् तत्र ज्ञातृत्वमुच्यते, तथा परस्यापि प्रमातुः सर्वभावनिर्भरत्वात् आत्मसंस्थ एव ज्ञेयजात इति ॥१२५॥

ननु प्रमासंबन्धात् प्रमाता उच्यते, प्रमा च व्यतिरिक्तज्ञेयविषयात्प्रमाणाद्भवति--इति व्यतिरिक्तं ज्ञेयादि परिहृत्य कथमस्य ज्ञातृत्वं स्यात् ? इत्याशंक्याह

अज्ञ एव यतो ज्ञातानुभवात्मा न रूपतः ॥१२६॥
न तु सा ज्ञातृता यस्यां शुद्धज्ञेयाद्यपेक्षते ।

यो हि प्रतिनियतज्ञानात्म प्रमाणादिकमपेक्ष्य 'ज्ञाता' इत्युच्यते सोऽज्ञ एव—न प्रमातैव भवति इत्यर्थः, प्रमातुः खलु अनन्योन्मुखत्वादन्यनिरपेक्षमेव रूपं यथोक्तं, न पुनरस्य सापेक्षं रूपं भवितुमर्हति—परस्य परनिष्ठत्वानुपपत्तेः, तदाह 'न तु' इत्यादि ॥१२६॥

ननु यद्येवं तर्हि कथमस्य सर्वत्रैव ज्ञातृत्वमुच्यमानमपह्नूयताम् ? इत्याशंक्याह

तस्यां दशायां ज्ञातृत्वमुच्यते योग्यतावशात् ॥१२७॥
मानतैव तु सा प्राच्यप्रमातृपरिकल्पिता ।

तस्यामिति—सकुचितप्रमातृरूपायामित्यर्थः, योग्यतावशादिति—ज्ञेयपरिच्छेदकारित्वलक्षणात्, सा पुनरियं दशा प्राच्येन आदिसिद्धेन परेण प्रमात्रा प्रमाणरूपत्वेन परिकल्पिता— संकुचितज्ञानात्मकत्वात्तथात्वेनावभासितेत्यर्थः। पर एव हि प्रमाता स्वस्वातन्त्र्यात् स्वं स्वरूपं गोपयित्वा संकुचितज्ञानात्मतामवभास्य ज्ञेयमपि पृथगुल्लासयेत् ॥१२७॥

ननु परा सविदेव यदि मानादिरूपेणापि प्रस्फुरेत् तत्तस्या अस्तमय एव किं न स्यात् ? इत्याशंक्याह

उच्छलन्त्यपि संवित्तिः कालक्रमविवर्जनात् ॥१२८॥
उदितैव सती पूर्णा मातृमेयादिरूपिणी ।

मातृमेयादिरूपत्वेन बहिरुल्लसन्त्यपि संवित्तिः 'सकृद्विभातोऽयमात्मा' इति न्यायेन अवभासनक्रियाविच्छेदाभावात्कालानवच्छेदादुदितैव—संविन्मात्ररूपत्वाप्रच्यावात् नियमेन अनस्तमितरूपा इत्यर्थः, अत एव पूर्णा—स्वात्ममात्रविश्रान्तिरूपत्वादनन्यापेक्षिणीत्यर्थः ॥१२८॥

ननु सविन्नाम क्रिया, तस्याश्च क्रियान्तरवत् कालावच्छेदोऽवश्यसंभाव्यः, इति कथमस्याः कालक्रमविवर्जितत्वमुक्तम् ? इत्याशंक्य लौकिक्या एव पाकादेः क्रियायाः कालावच्छेदोऽस्ति, न तु अस्याः, इति दर्शयितुमाह

पाकादिस्तु क्रिया कालपरिच्छेदात्क्रमोचिता ॥१२९॥

मतान्त्यक्षणवन्ध्यापि न पाकत्वं प्रपद्यते ।

इह पाकादिः लौकिकी क्रिया कालावच्छेदात् क्रमव्याप्ताभिमता, यतः सा अन्त्यः क्षणो, यत्समनन्तरमेव द्वितीये क्षणे फलनिष्पत्तिस्तेनापि यदा शून्या भवेत् तदानेकक्षणप्रचयवत्त्वेऽपि स्वस्वरूपापरिपूर्तेस्तथा व्यवहारं न भजते यदि नाम हि साप्यवभासनक्रियावत्कालानवच्छिन्ना स्यात्, तत् प्रथम एव क्षणे पाकादिक्रियात्वेन व्यवहारमियात्, अतश्च पाकादेर्लौकिक्या एव क्रियायाः सक्रमत्वं, न पुनः शाश्वत्याः 'संविल्लक्षणाया' इति, यदाहुः

'सक्रमत्वं च लौकिक्याः क्रियायाः कालशक्तितः ।
घटते न तु शाश्वत्याः प्राभव्याः स्यात्प्रभोरिव ॥'

इति, अतश्च अकालकलितत्वात् प्रमातृप्रमाणप्रमेयरूपत्वेन अवतिष्ठमानमपि संवित्तत्त्वं संविन्मात्रलक्षणात् मुख्याद्रूपात् नापोढं स्यात् ॥१२९॥

तदाह

इत्थं प्रकाशतत्त्वस्य सोमसूर्याग्निता स्थिता ॥१३०॥
अपि मुख्यं तत्प्रकाशमात्रत्वं न व्यपोह्यते ।

ननु वाच्यात्मविश्वासभासदशायामेवमास्तां, वाचकात्मविश्वासभासे पुनः सोमसूर्याग्नीनां रूपमेव किं नामोक्तं—यदवभासनेनास्य प्रकाशतत्त्वस्य न स्वस्वरूपापोहः, इति चिन्तापि स्यात् ? इत्याशंक्याह ॥१३०॥

एषां यत्प्रथमं रूपं ह्रस्वं तत्सूर्य उच्यते ॥१३१॥
क्षोभानन्दवशाद्दीर्घविश्रान्त्या सोम उच्यते ।
यत्तत्परं प्लुतं नाम सोमानन्दात्परं स्थितम् ॥१३२॥
प्रकाशरूपं तत्प्राहुराग्नेयं शास्त्रकोविदाः ।

एषां—समनन्तरोक्तानां बीजानां यत्प्रथममासाद्यमक्षुब्धं रूपं, तत्सूक्ष्मत्वात् एकमात्रात्म 'ह्रस्वं' प्रकाशमात्रप्राधान्याच्च सूर्यः । तथा क्षोभानन्दयोः वशाद्बहीरूपतायां विश्रान्त्या क्षुब्धत्वेन स्थौल्यात् द्विमात्रं 'दीर्घम्' आह्लादकारित्वाच्च सोम उच्यते—सामान्येनोक्तेः सर्वैः शास्त्रकोविदैरेवं व्यपदिश्यत इत्यर्थः । तथा ताभ्यामेकमात्रद्विमात्राभ्यां ह्रस्वदीर्घाभ्यां परमन्यत् यत्त्रिमात्रं प्लुतं नाम तच्छास्त्रकोविदा आग्नेयं प्रामात्रं रूपं प्राहुः,

यतः प्रकाशे मानात्मनि सूर्ये रूढं जातप्ररोहं सत् मेयात्मकं सोमानन्दमवलम्ब्य परमत्यर्थं स्थितं--मातृरूपतया प्रस्फुरितमित्यर्थः, मातुर्हि 'मानमेयसंघट्टात्मकमेव रूपम्' इत्युक्तं प्राक्, तदेषां ह्रस्वत्वं सूर्यत्वं, दीर्घत्वं सोमत्वं, प्लुतत्वमग्नित्वमिति धामत्रयमयत्वम् ॥१३१-१३२॥

एवमप्यत्र परस्य प्रकाशस्य न स्वस्वरूपात् प्रच्यावः, इति विन्दुरूपत्वमुक्तम्, इत्याह

अत्र प्रकाशमात्रं यत्स्थितं धामत्रये सति ॥१३३॥
उक्तं विन्दुतया शास्त्रे शिवविन्दुरसौ मतः ।

न चायं विन्दुः परप्रमात्रेकरूपत्वान्मन्त्रप्रमेयान्तर्वर्ती इत्याह 'शिवविन्दुरसौ मत' इति--अविभागपरप्रकाशात्मकत्वेन विदिक्रियायां स्वतन्त्रः परः प्रमातेत्यर्थः, यदुक्तं प्राक्

'उदितायां क्रियाशक्तौ सोमसूर्याग्निधामनि ।
अविभागः प्रकाशो यः स विन्दुः परमो हि नः ॥'

इति ॥१३३॥

ननु न विन्दुर्नाम परामर्शान्तरं किंचिद्युज्यते--वक्ष्यमाणेन मकाराख्येन परामर्शविशेषेणैवास्य संग्रहात्, नहि अनयोः प्रतीतौ कश्चिद्विशेषः--प्रत्येयभेदाद्धि प्रतीतिभेदः, तत्कथमयं ततो भिन्नः स्यात् ? इत्याशंक्याह

मकारादन्य एवायं तच्छायामात्रधृग्यथा ॥१३४॥
रलहाः षण्ठवैसर्गवर्णरूपत्वसंस्थिताः ।

यथा षण्ठविसर्गार्णतामाश्रिता रेफलकारहकारास्तच्छ्रुतिमात्रधारित्वेऽपि वक्ष्यमाणेभ्यो रेफादिभ्योऽतिरिक्ताः, तथायं विन्दुरपि मकारात्--इति वाक्यार्थः । 'न च वर्णश्रुतिरेव वर्ण' इत्युपपादितं प्राक् ॥१३४॥

ननु इष्यमाणरूपाभ्यां रेफलकाराभ्यामिच्छाशक्तेरारूषितत्वम्, इति तत्र तच्छायामात्रधारित्वात् युक्तं परामर्शान्तरत्वं, मकारहकाराभ्यां पुनरारूषणैव कस्याधीयते, यस्यापि परामर्शान्तरत्वं स्यात् ? इत्याशंक्याह

इकार एव रेफांशच्छाययान्यो यथा स्वरः ॥१३५॥
तथैव महलेशादः सोऽन्यो ह्रस्वार्धस्वरोऽपि सन् ।

इकार एव यथा रेफांशच्छायया षण्ठात्मस्वरान्तररूपो भवेत्, तथैवा-स्वरोऽपि सन् अनुत्तरप्रकाशात्मकोऽपि भवन्नसौ 'अः' चिच्छक्त्यात्मा आदि-वर्णो मकारहकारलेशमुपाधित्वेनावलम्ब्य तच्छ्रुतिमात्रधारित्वेन द्वेधा--बिन्दुविसर्गरूपतयान्यः परामर्शान्तररूपभाक् भवतीत्यर्थः। अनुत्तर एव हि प्रकाशः स्वस्वातन्त्र्यात् स्वं स्वरूपं गोपयित्वा शक्तिदशामाभास्य सङ्कुचित-प्रमातृरूपतामवभासयेत्, अतश्चास्य

'अकारश्च हकारश्च द्वावेतावेकतः स्थितौ।'

इत्याद्युक्त्या

'हकाररूपया शक्त्या मकारो ना हृदि स्थितः।'

इत्याद्युक्त्या सङ्कुचितप्रमात्रात्मना च मकारेणारूषणा--इति न कश्चित् दोषः ॥१२५॥

ननु अनुत्तर एव कस्मादेवमारूषणया विसर्गाद्यात्मकतामियात्? इत्याशङ्क्याह

अस्यान्तर्विसिसृक्षासौ या प्रोक्ता कौलिकी परा ॥१३६॥
सैव क्षोभवशादेति विसर्गात्मकतां ध्रुवम्।

अस्य--अनुत्तरप्रकाशात्मन आदिवर्णस्य प्राक्

'कौलिकी सा परा शक्तिरवियुक्तो यया प्रभुः।'

इत्यादौ 'कौलिकीति, परेति' चोक्ता अन्तः प्रमात्रैकात्म्येन वर्तमाना विमर्शात्मा यासौ विसिसृक्षा, सैव निश्चितं बहिरौन्मुख्यलक्षणात् क्षोभवशात् विसर्गात्मकतामेत्य, आनन्दोदयक्रमेण क्रियाशक्तिपर्यन्तं प्रोच्छलन्तीं स्थितिमवभासयति, इत्यर्थः ॥१३६॥

न चैतदस्मदुपज्ञमेव, इत्याह

उक्तं च त्रिशिरःशास्त्रे कलाव्याप्त्यन्तचर्चने ॥१३७॥
कला सप्तदशी तस्मादमृताकाररूपिणी।
परापरस्वस्वरूपबिन्दुगतया विसर्पिता ॥१३८॥
प्रकाश्यं सर्ववस्तूनां विसर्गरहिता तु सा।

शक्तिकुण्डलिका चैव प्राणकुण्डलिका तथा ॥१३९॥
विसर्गप्रान्तदेशे तु परा कुण्डलिनीति च ।
शिवव्योमेति परमं ब्रह्मात्मस्थानमुच्यते ॥१४०॥
विसर्गमात्रं नाथस्य सृष्टिसंहारविभ्रमाः ।

कलाव्याप्त्यन्तचर्चने, इति--अमाख्यकलास्वरूपस्फारसिद्धान्तविचारावसरे इत्यर्थः, तत्र हि

'कलाव्याप्तिर्महादेव पदसंज्ञा महेश्वर ।
अतिसंक्षेपतो ब्रूहि.................... ॥'

इति भगवत्या पृष्टे, तन्निर्णयार्थं

'कला सप्तदशी यासौ.................. ॥'

इत्यादि भगवतोक्तम्, यदिह क्वचिच्छब्दद्वारेण क्वचिदर्थद्वारेण च संवादितम्, तत्र

'पुरुषे षोडशकले तामाहुरमृतां कलाम् ।'

इत्याद्युक्त्या अन्तःकरणप्रभृतीनां षोडशानामपि कलानामाप्यायकारित्वात् नित्योदितत्वेन च अनस्तमितरूपत्वात् अमृताकाररूपिणी येयं चिन्मात्रस्वभावा 'कौलिकीति, परेति' एवमादिशब्दव्यपदेश्या हकारार्धार्धरूपिणी अमाख्या सप्तदशी कला, परस्य आनन्दात्मनो विसर्गस्य उक्तत्वात् अपरस्य च हकारात्मनो वक्ष्यमाणत्वात् परापरो योऽसौ विसर्गः तस्य स्वरूपस्थौ यावात्मभूतौ विसर्जनीयशब्दवाच्यौ बिन्दू, तयोर्गतिः—तद्रूपावभासनेन प्रसरणं, तया विसर्गिता—तत्तद्रूपावविभासयिषया प्रोच्छलन्तीत्यर्थः, अत एव च सर्वेषां प्रमातृप्रमाणप्रमेयात्मनां वस्तूनां अनतिरेकेऽपि अतिरिक्तत्वेनेव प्रकाश्यं—तत्तन्नियतप्रकाशात्मिकेत्यर्थः,सैव पुनर्विसर्गेण—बहिर्भावौन्मुख्येन विरहिता सती, प्रसुप्तभुजगाकारत्वात् स्वात्ममात्रविश्रान्ता शक्तिकुण्डलिनी--परा संविन्मात्ररूपेति यावत्, अत एव विसर्गस्य बहिर्भावौन्मुख्यात्मकादिकोटिरूपे प्रान्तदेशे प्राणकुण्डलिका

'प्राक् संवित्प्राणे परिणता ।'

इति नीत्या प्रथममेव प्राणरूपतामवभासयन्तीत्यर्थः, तथा प्रत्यावृत्तिक्रमेण

अन्तर्भावोन्मुख्यरूपान्तकोट्यात्मनि प्राप्ते स्वरूपे 'परा कुण्डलिनी' स्वात्मविश्रान्तपरसंविन्मात्ररूपेत्यर्थः, एवं त्वियमेव संविन्मात्ररूपा सप्तदशी कला-शिवव्योमेति, परम ब्रह्मेति, शुद्धात्मस्थानम् इति चोच्यते--तैस्तैः सामयिकैः शब्दैर्व्यपदिश्यते इत्यर्थः, तथा--हि श्रीत्रिशिरोभैरवे एव

'शिवव्योमेति या संज्ञा परं ब्रह्मेति यत्पदम् ।'

इति । तथा

'आत्मस्थानं किमाख्यातं········ ।'

इति भगवत्या पृष्टे

कुण्डल्याख्या तु सा ज्ञेया सर्वाध्वोपरिवर्तिनी ।'

इत्युपक्रम्य

'प्रमाणोत्थानरहितमुपमाभेदवर्जितम् ।
भूतव्योमपदातीतं चिद्व्योमान्तपदं परम् ।।
भावप्रत्ययसंरम्भमभावं परमा गतिः ।
शिवव्योम तु तज्ज्ञेयं सर्वाधारत्वलक्षणम् ।।
बृहत्त्वं बृंहकत्वं च सूक्ष्मं तच्चान्तर्वर्ति च ।
परं ब्रह्मेति तत्प्रोक्तं लक्ष्यभूतमलक्ष्यकम् ।।'

इति । तथा

'पूर्वं पदविभागं तु कीर्तितं तदहेयकम् ।
तथापि भूमिकातीतमात्मस्थानं निगद्यते ।।'

इत्यादिना स्वरूपमेषां भगवतोक्तम् । तदेवं परैव पारमेश्वरी संवित् तत्तत्प्रमातृप्रमेयात्मनो विश्वस्य सृष्टिसंहारविभ्रमाविर्भावनिबन्धनम्, इत्युक्तं स्यात्, अत एव आह--विसर्गमात्रमित्यादि ।।१३७-१३८-१३९-१४०।।

ननु एकैव अखण्डा संवित् अस्ति, इति तदतिरिक्तं किंचिदपि न संभवेत्, तत्कस्य नाम सृष्टिः संहारो वा स्यात्, येनास्यास्तत्कारित्वमपि भवेत् ? इत्याशंक्याह

स्वात्मनः स्वात्मनि स्वात्मक्षेपो वैसर्गिकी स्थितिः ।।१४१।।

इयमेव नाम वैसर्गिकी--सृष्टिसंहारकारित्वलक्षणा स्थितिः, यत् स्वात्मन एव न पुनर्मायाऽकृत्यादेरुपादानात्, स्वात्मन्येव न पुनस्ततो

विच्छिन्ने कुत्रचिद्देशे काले वा, स्वात्मन एव न पुनरन्ययस्य कस्यचित् प्रमातृप्रमेयादे:, क्षेप: --तत्तदाभासवैचित्र्येणान्तर्वहीरूपतया परिस्फुरणमिति, तेनानन्यापेक्षित्वेन पूर्णा परैव संवित् कादिहान्तरूपतया परिस्फुरिता, इति भाव: ॥१४१॥

--अत एवाह

विसर्ग एवमुत्सृष्ट आश्यानत्वमुपागतः ।
हंसः प्राणो व्यञ्जनं च स्पर्शश्च परिभाष्यते ॥१४२॥

इह विसर्ग एव तत्तद्वैचित्र्योपारोहक्रमेण हकारात्म स्थौल्यमुपागतः सन् 'हंस' इत्येवमाद्यैः शब्दैः परिभाष्यते--सर्वेष्वेव शास्त्रेष्वेवमुच्यत इत्यर्थः, तदुक्तं श्रीतन्त्रराजभट्टारके

'हंसं शून्यं तथा प्राणं हकारं नामभिः स्मृतम् ।'

इति, निघण्टावपि

'त्रयस्त्रिंशो व्यञ्जनं च द्विकुब्जः स्पर्श एव च ॥'

इति । एवं च विसर्गस्यैव स्थूलं रूपं 'हकारः' इत्युक्तं स्यात् ॥१४२॥

ननु

'शक्तयोऽस्य जगत्कृत्स्नं शक्तिमांस्तु महेश्वरः ।'

इत्याद्युक्त्या परस्य अनुत्तरस्य प्रकाशस्य 'स्वशक्तिमात्रस्फारो विश्वम्' इत्यविवादः, इह पुनः

'विसर्गमात्रं नाथस्य सृष्टिसंहारविभ्रमाः ।'

इत्याद्यन्यथोक्तम्, इति किमेतत् ? इत्याशंक्याह

अनुत्तरं परं धाम तदेवाकुलमुच्यते ।
विसर्गस्तस्य नाथस्य कौलिकी शक्तिरुच्यते ॥१४३॥

एवम्

'अकलस्यास्य देवस्य................ ।'

इत्याद्युपक्रान्तमेव इह निर्वाहितं, न तु अपूर्वं किंचिदुक्तम्, इति भावः ॥१४३॥

ननु विसर्गशब्दः, शक्तौ केन निमित्तेन प्रवृत्तः ? इत्याशंक्याह

विसर्गता च सैवास्या यदानन्दोदयक्रमात् ।
स्पष्टीभूतक्रियाशक्तिपर्यन्ता प्रोच्छलत्स्थितिः ॥१४४॥

सैव अस्याः--कौलिक्याः शक्तेः, विसर्गता—विसर्जनक्रियायां कर्तृत्वं--यदानन्देच्छाद्युदयक्रमेण भिन्नावभासरूपत्वात् स्पष्टीभूता--स्पष्टतामाप्ता येयं क्रियाशक्तिः, तत्पर्यन्ता प्रोच्छलन्ती स्थितिः--तत्तत्परामर्शान्तरवैचित्र्यरूपतया परिस्फुरणम्, इति ॥१४४॥

ननु इयतो वैचित्र्यस्य विसर्गः कारणमस्तु. स एव पुनस्तत्, इति कथं युज्यते ? इत्याशंकां दृष्टान्तोपदर्शनद्वारेण उपशमयति

विसर्ग एव तावान्यदाक्षिप्तैतावदात्मकः ।
इयद्रूपं सागरस्य यदनन्तोर्मिसंततिः ॥१४५॥

तावान्--तत्परिमाणो, विसर्ग एव न तु तावतः कारणं, भेदनिबन्धनो हि कार्यकारणभावः, भेद एव चात्र नास्ति, इति कथमेतद्भवेत् इति भावः, यस्मादाक्षिप्तो--गर्भीकृतः, एतावान्--क्रियाशक्तिपर्यन्तो येनैवंविध आत्मा यस्यासौ--तत्तद्वाच्यवाचकाद्यात्मना अनन्ताभासमय इत्यर्थः ॥१४५॥

एवमस्य विसर्जनक्रियाकर्तृत्वादेव व्यपदेशान्तरमप्यन्यत्रास्ति, इत्याह

अत एव विसर्गोऽयमव्यक्तहकलात्मकः ।
कामतत्त्वमितिश्रीमत्कुलगुह्वर उच्यते ॥१४६॥

अतः--उक्ताद्धेतोः, अव्यक्ता--नादमात्ररूपत्वादनुद्भिन्नवर्णप्रविभागा, येयं हकला--हकारार्धार्धभागः, तदात्मकोऽयं विसर्गः, श्रीमत्कुलगुह्वराख्ये शास्त्रे 'कामतत्त्वं' कामः--इच्छा, तस्य तत्त्वं--सर्वत्रैव अप्रतिहतस्वभावं पूर्णं रूपम् इत्युच्यते, इति वाक्यार्थः ॥१४६॥

तत्रत्यमेव ग्रन्थं पठति

यत्तदक्षरमव्यक्तं कान्ताकण्ठे व्यवस्थितम् ।
ध्वनिरूपमनिच्छं तु ध्यानधारणवर्जितम् ॥१४७
तत्र चित्तं समाधाय वशयेद्युगपज्जगत् ।

'इदानीं कामतत्त्वं तु विषतत्त्वं परं तथा ।
कथ्यते तव सुश्रोणि भक्तिस्नेहाद्विशेषतः ॥'

इत्युपक्रम्य

'यत्तदक्षरम्.............................।'

इत्यादि चाभिधाय

'तत्र चित्तं नियुञ्जीत साधकेन महात्मना ।
देवकिन्नरगन्धर्वासिद्धविद्यधराङ्गनाः ॥
यक्षकन्यास्तथा नाग्यः पिशाच्यः सुरयोषितः ।
वशमायान्ति सुभगे नरनारीषु का कथा ॥

इत्युक्तम् । यदिह 'तत्र चित्तं समाधाय वशयेद्युगपज्जगत्' इत्यर्थद्वारेण पठितम्, यत्तत्—सर्वदैव स्फुरद्रूपत्वात्स्वानुभूत्येकसिद्धम्, अक्षरं--नित्योदितत्वादप्रच्युतप्राच्यस्वरूपम्, अत एव अनिच्छम्

'नास्योच्चारयिता कश्चित्प्रतिहन्ता न विद्यते ।
स्वयमुच्चरते देवः प्राणिनामुरसि स्थितः ॥'

इत्याद्युक्त्या स्वयमुच्चरद्रूपत्वात् अन्यसंबन्धिनीमुच्चिचारयिषां नापेक्षत इत्यर्थः, तदपेक्षित्वे हि तस्याः कादाचित्कत्वात् अस्य नित्योदितत्वं न स्यादिति भावः, अत एव 'सहजमिति, स्वयंभु' इति च अन्यत्रैतदुक्तम्, अत एवाव्यक्तम्, व्यक्तत्वं हि स्थानकरणाभिघातादिना भवेत्, तच्च इच्छाधीनम्, इति कथमस्यैतत्स्यात्, अत एव ध्वनिरूपम्

'नादाख्यं यत्परं बीजं सर्वभूतेष्ववस्थितम् ।

इति ।

सुसूक्ष्मो व्यापकः शुद्धः प्राणतत्त्वस्य वाचकः ॥'

इत्याद्युक्त्या सततोदितनादमात्रस्वभावमित्यर्थः, अत एव--सुसूक्ष्मत्वव्यापकत्वादेः, तच्च तत्र स्थूलध्येयादिनिष्ठं यत् ध्यानादि तेन वर्जितं--नैयत्यनिबन्धनध्येयादिरूपत्वेन अक्षोभ्यमित्यर्थः, एवंरूपत्वेऽपि उपभोगावसरे रतिसौख्यसमावेशवैवश्येन विगलितवेद्यान्तःकरणत्वात् निरस्तवैकल्यायाः कान्तायाः कण्ठान्तः स्वरसत एव उद्यत्अभिव्यज्यमानम्, अत एव सततोदितत्वेऽपि तत्कालमस्य विशेषेणावस्थानम् । एवं च विसर्गस्य अनाहतरूपत्वात् सौक्ष्म्येऽपि कान्ताकण्ठान्तः किंचिदुच्छूनतापत्त्या 'हा-हा' इति स्फुटम-

वस्थानम्, येनास्य एतदुपलभ्यमानं निदर्शनीकृतं, तेन न योगिमात्रगम्यमेवैतत् अपि तु सर्वैरपि उपलभ्यत इति भावः। अतश्च अनेनैव ह्कारस्यापि प्रसङ्गात्स्वरूपं निर्दिष्टं, किं तु तस्य स्थौल्यात्-स्फुटत्वेनावस्थानम्, अस्य तु सौक्ष्म्यात न तथा, इति इयानेव विशेषः,अत एव समनन्तरमेव

'विसर्ग एव सुस्पष्टमाश्यानत्वमुपागतः।'

इत्याद्युक्तम्। यदभिप्रायेणैव अनयोः परापरत्वमपरत्वं चोक्तम्, अत एव अग्रे ह्कारस्य स्वरूपं न उक्तम्. उक्तं चान्यत्र

'यत्तदक्षरमक्षोभ्यं प्रियाकण्ठोदितं परम्।
सहजं नाद इत्युक्तं तत्त्वं नित्योदितो जपः॥'

इति। तथा

'नित्यानन्दरसास्वादाद्धाहेति गलकोदरे।
स्वयंभूः सुखदोच्चारः कामतत्त्वस्य वेदकः॥'

इति। तत्र अनाहतात्मनि एवंविधे विसर्गे साधकश्चित्तं सम्यक्

'अतिसौख्यसमावेशविवशीकृतचेतसः।
अविच्छिन्नं जपन्त्येनमङ्गनासंगमोत्सवे॥
अत्रासक्तधियो यान्ति योगं योगीश्वराः परम्।
स शिरोरहितः कामः कामिनीहृदयालयः॥
नेत्रारूढेन तेनाथ शक्तिर्दृष्टिं समाहरेत्।
क्षोभयेन्नात्र संदेहो दृप्तामपि वरस्त्रियम्॥'

इत्याद्युक्तनीत्या कामशब्दाभिधेयम् अनच्ककलात्मक विसर्गं स्वनेत्राभ्यां निर्गतं साध्यनेत्रयोरनुप्रविष्टं ध्यायेत्, साध्यनेत्राभ्यां च निर्गतं स्वनेत्रयोरनुप्रविष्टं ध्यायेत्, इत्येवं क्रमेण आ —समन्तात् दोलायन्त्रक्रमेण गमागमयोः पौनःपुन्येन धृत्वा—अनन्यापेक्षेण अवहितं कृत्वा, जगत् —जायमानं जन्तुचक्रं, युगपत् न तु क्रमेण, वशयेत्—स्वात्ममयतयैव सर्वमाभासयेत्, स्वात्मायत्तं वा कुर्यादित्यर्थः॥१४७॥

इदानीं यथोक्तविसर्गस्वरूपमेव दृष्टान्तीकृत्य कादीनामुदयं वक्तुमुपक्रमते

अत एव विसर्गस्य हंसे यद्वत्स्फुटास्थितिः॥१४८॥
तद्वत्सानुत्तरादीनां कादिसान्ततया स्थितिः।

अतः—समनन्तरोक्ताद्धेतोः, विसर्गस्यैव यथा हकारात्मतया स्थूलेन रूपेणावस्थानं, तथैव अनुत्तरादीनामपि कादिसान्तत्वेन अनुत्तरादय एव तथा अवभासन्ते इत्यर्थः ॥१४८॥

तदेवाह

अनुत्तरात्कवर्गस्य सूतिः पञ्चात्मनः स्फुटम् ॥१४९॥

पञ्चशक्त्यात्मतावेश एकैकत्रयथास्फुटः ।

पञ्चात्मत्वे हेतुः—पञ्चशक्त्यात्मतावेश इति, एकैकत्रेति—अनुत्तरेच्छादौ, अनुत्तरस्य हि चिच्छक्तिप्राधान्येऽपि 'सर्वत्र सर्वमस्ति' इतिन्यायेन पञ्चशक्तिमयत्वम्, इति तत्सूतेः कवर्गस्यापि पञ्चात्मत्वम्, एवमन्यत्रापि ज्ञेयम् ॥१४९॥

इच्छाशक्तेः स्वस्वरूपसंस्थाया एकरूपतः ॥१५०॥
चवर्गः पञ्चशक्त्यात्मा क्रमप्रस्फुटतात्मकः ।
या तूक्ता ज्ञेयकालुष्य भाक्क्षिप्रचरयोगतः ॥१५१॥
द्विरूपायास्ततो जातं ट-ताद्यं वर्गयुग्मकम् ।
उन्मेषात्पादिवर्गस्तु यतो विश्वं समाप्यते ॥१५२॥

स्वस्वरूपसंस्थाया इति—इष्यमाणानारूषितायाः, एकरूपत इति—अक्षुब्धाया एव इच्छाशक्तेः, न पुनः क्षुब्धाया अपीत्यर्थः, चिदादीनामपि शक्तीनां यथायथं बाह्योन्मुखतया स्फुटत्वमस्ति, इत्यौचित्यात्तत्स्फाररूपाणां कवर्गादीनामपि तथात्वमित्युक्तं 'क्रमप्रस्फुटतात्मक' इति, येति—इच्छाशक्तिः, ज्ञेयम् अर्थादिष्यमाणं, द्विरूपाया—ऋकारॠकाररूपायाः, एवमनेनानुत्तरादिभ्य एव पञ्चभ्यः कवर्गादीनां पञ्चानां वर्गानामुदय इत्यभिहितम्, अत एवैषां 'अकुहविसर्जनीयानां कण्ठः, इत्यादिना सस्थानत्वमुक्तम्, उक्तं चान्यत्र

'अकुलात्पञ्चशक्त्यात्मा द्वितीयो वर्ग उत्थितः ।
अनारूषितरूपाया इच्छायाश्च ततः परः ॥
वह्निक्ष्माजुषस्तस्याष्ट-ताद्यं च द्वयं ततः ।
पादिरुन्मेषतो जात इति स्पर्शाः प्रकीर्तिताः ॥'

इति ॥१५२॥

ननु

'पृथिव्यादीनि तत्त्वानि पुरुषान्तानि पञ्चसु ।
क्रमात्कादिषु वर्गेषु मकारान्तेषु सुव्रते ॥

इत्याद्युक्त्या कादयो मावसानाः पञ्चविंशतिर्वर्णाः पृथ्वीतत्त्वादारभ्य पुरुषतत्त्वान्तं यावत्स्थिताः, तत् तत्त्वान्तराणामपि संभवाद्विश्वमवशिष्यत इति कथमेतावतैवोक्तं 'यतो विश्वं समाप्यत' इति ? इत्याशङ्क्याह

ज्ञेयरूपमिदं पञ्चविंशत्यन्तं यतः स्फुटम् ।
ज्ञेयत्वात्स्फुटतः प्रोक्तमेतावत्स्पर्शरूपकम् ॥१५३॥

यत इदं--विश्वं पृथ्वीतत्त्वादि, पञ्चविंशत्यन्तं

'पुरुषः पञ्चविंशकः'

इत्याद्युक्त्या पुरुषतत्त्वान्तं विश्वं स्फुटत्वाज्ज्ञेयरूपम्, अत उक्तं 'यतो विश्वं समाप्यते' इति । नियत्यादि हि

'मायासहितं कञ्चुकषट्कमणोरन्तरङ्गमिदमुक्तम् ।'

इत्याद्युक्त्या ज्ञातुरत्यन्तं कण्ठसलग्नत्वेन अभिन्नमेव, इति न व्यतिरिक्तस्थूलज्ञेयात्मविश्वरूपतयोक्तमिति भावः, अत एव चैतावत्तत्त्वपञ्चविंशकान्तं विश्वं स्फुटाज्ज्ञेयत्वादेव हेतोः, इन्द्रियैः स्पृश्यन्त इति 'स्पर्शाः' तद्रूपं, प्रकर्षेण 'कादयो मावसानाः स्पर्शाः, इति वाचकाभिप्रायेण

'मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः ।
आगमापायिनो नित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत ॥'

इति च वाच्याभिप्रायेण उक्तम्, अत्र च पुंसः प्रमातृत्वेऽपि करणानां च करणत्वादेव प्रमाणत्वेऽपि यज्ज्ञेयत्वनुक्तं तच्छून्यादिप्रमात्रन्तराभिप्रायेण, इति न कश्चिद्दोषः ॥१५३॥

एवं स्पर्शानामुदयमभिधाय अन्तःस्थानामप्यभिधत्ते

इच्छाशक्तिश्च या द्वेधा क्षुभिताक्षुभितत्वतः ।
सा विजातीयशक्त्यंशप्रोन्मुखी याति यात्मताम् ॥१५४॥
सैव शीघ्रतरोपात्तज्ञेयकालुष्यरूषिता ।
विजातीयोन्मुखत्वेन रत्वं लत्वं च गच्छति ॥१५५॥

तद्वदुन्मेषशक्तिर्द्विरूपा वैजात्यशक्तिगा ।
वकारत्वं प्रपद्येत सृष्टिसारप्रवर्षकम् ।।१५६।।

क्षुभिताक्षुभितरूपत्वेन द्विविधा येयमिच्छाशक्तिः सा, विजातीयश्चिद्रूपो योऽयं शक्त्यंशोऽनुत्तरस्तत्र प्रोन्मुखी--तेन समं 'इको यणचि' इति प्राप्तसंधिः सती यात्मतां याति--यकारात्मना प्रस्फुरतीत्यर्थः, सैव द्विरूपापीच्छाशक्तिः 'अचिरद्युतिभासिन्या' इत्याद्युक्तगत्या शीघ्रं स्थिरं च कृत्वा, उपात्त यत् ज्ञेयं--अर्थादिष्यमाणं, तत्कालुष्येणारूषिता सती अनुत्तरात्मनि विजातीये यदुन्मुखत्वं--तेन समं 'इको यणचि' इति संधिः, तेन रत्वं लत्व च गच्छति--तदात्मना भासत इत्यर्थः, एवमुन्मेषशक्तिरपि द्विप्रकारा 'वैजात्यशक्तिगा'—अनुत्तरेण सह प्राग्वदेव कृतसन्धिर्वकारत्वमवभासयेत्, तदुक्तम्

'विभिन्नशक्तिसंयोगादिच्छा य-र-लतां गता ।
उन्मेषशक्तिरायाति वत्वमेव वरानने ।।'

इति । 'सृष्टिसारप्रवर्षकम्' इत्यनेन अस्य वरुणबीजत्वादाप्यायकारित्वं दर्शितम्, एवं य-र-लानामपिशोषकारित्वं दाहकत्वं स्तम्भकत्वं च क्रमेणावगन्तव्यम् ।।१५६।।

ननु इष्यमाणारूषणायामपि वक्ष्यमाणनीत्या इच्छाशक्तिरेव परामर्शान्तरजननसमर्था, इत्यनुत्तरसंघट्टभाजः तस्याः परामर्शान्तरलक्षणं कार्यमुत्पद्यतां नाम, तस्य पुनर्यकारादिरूपत्वेन भेदः कथं स्यात् 'कारणभेदाद्धि कायभेदः' कारण चात्रेच्छानुत्तरसंघट्टात्मकमेकमेव, इति किमेतत्? इत्याशंक्याह

इच्छैवानुत्तरानन्दयाता शीघ्रत्वयोगतः ।
वायुरित्युच्यते वह्निर्भासनात्स्थैर्यतो धरा ।।१५७।

इह इच्छैव, न पुनरिष्यमाणमपि, अनुत्तरानन्दाभ्यां, अर्थाद्विकल्पेन, यातामिलिता सती, शीघ्रत्वयोगतः-संस्कारलक्षणं वेगमुपाधित्वेन स्वीकृत्य, वायुरित्युच्यते--वायुबीजयकाररूपतां प्राप्तेत्यर्थः, एवं भासनाद्भास्वत्तालक्षणं धर्मं, तया स्थैर्यतो धृतिहेतु स्थिरत्वाख्यं धर्मम् उपरञ्जकत्वेन अवलम्ब्य, क्रमण वह्निः--वह्निबीजरेफात्मतां, धरा--धराबीजलकाररूपतां चाभासयतीत्यर्थः, आनन्देति चोन्मेषादिविजातीयशक्त्यन्तराभिव्यञ्जनपरतयो-

क्तम्, तेनानुत्तरादिसंघट्टभाज इच्छाया एवमुपाधियोगेन भेदात्कार्यस्यापि भेद इति यथोक्तमेव युक्तम् ॥१५७॥

अत्र चान्तःस्थशब्दस्य प्रवृत्तौ निमित्तं दर्शयति

इदं चतुष्कमन्तःस्थमत एव निगद्यते ।
इच्छाद्यन्तर्गतत्वेन स्वसमाप्तौ च संस्थितेः ॥१५८॥

अत एव--प्रागुक्ताद्धेतोः, 'इच्छादि' इति आदि शब्देन उन्मेषस्य ग्रहणादिच्छोन्मेषयोरन्तर्--अभेदेनावस्थानात्, तथा स्वस्य--प्रमात्रेकरूपस्य आत्मनः, सम्यगाप्तिः—ऐकात्म्येनावभासः, तत्र संस्थितेः--प्रमात्रैकात्म्येन वर्तमानत्वादिदं यादि-वान्तं चतुष्कमन्तःस्थं निगद्यते--सर्वशास्त्रेषु एवमुच्यते इत्यर्थः, यदुक्तम्

'इच्छाद्यन्तःप्रवेशेन तेऽन्तस्था इति कीर्तिताः'

इति ॥१५८॥

नन्विच्छायाः शक्तयो विजातीयशक्तिसभिन्ना यथा परामर्शान्तराणि आविर्भावयन्ति, तथैव सजातीयशक्तिसंबन्धेऽपि किं, न वा ? इत्याशंक्याह

सजातीयकशक्तीनामिच्छाद्यानां च योजनम् ।
क्षोभात्मकमिदं प्राहुः क्षोभाक्षोभात्मनामपि ॥१५९॥

क्षोभात्मनां--दीर्घाणाम्, अक्षोभात्मनां--ह्रस्वानाम्, इच्छादीनां शक्तीनामेवंरूपाणां सजातीयानामपि शक्तीनां यदा योजन--'अकः सवर्णे दीर्घः' इति सन्ध्यात्मा योगो भवेत्, तदा 'क्षोभात्मकम्' इति प्राहुः--सजातीयदीर्घरूपपरामर्शस्वभावत्वं, न पुनर्विजातीयपरामर्शान्तररूपत्वं शास्त्रकोविदाः कथयन्तीत्यर्थः, तेन इ इ-ई, ई इ-ई, ई ई-ई इत्येवप्राये योगे क्षोभात्म--दीर्घरूपमीकारत्वमेव भवेदिति तात्पर्यम् ॥१५९॥

अनुत्तरे पुनरेवंरूपत्वेऽपि विशेषोऽस्तीत्याह

अनुत्तरस्य साजात्ये भवेत्तु द्वितयी गतिः ।
अनुत्तरं यत्तत्रैकं तच्चेदानन्दसूतये ॥१६०॥
प्रभविष्यति तद्योगे योगः क्षोभात्मकः स्फुटः ।

अत्राप्यनुत्तरं धाम द्वितीयमपि सूतये ॥१६१॥
न पर्याप्तं तदा क्षोभं विनैवानुत्तरात्मता ।

अनुत्तरस्य पुनः सजातीययोगे द्विप्रकारा गतिर्भवेत्, यत्—यस्मात्तत्र तदेकमनुत्तरं चेत्, आनन्दसूतये प्रभविष्णुतामेष्यति, तदा तेनापरेणानुत्तरेणैव योगे--संवन्धे, क्षोभात्मक आनन्दरूप एव स्फुट योगः--प्राग्वदेव निर्बाधः सन्धिः, यथा 'दण्डाग्रम्'इत्यादावेकः प्रकारः, अथापि—अर्थादेकस्यानुत्तरस्य' द्वितीयमप्यनुत्तरं संघट्टमानम् आनन्दजन्मने न पर्याप्तं स्यात्, तदा क्षोभात्मकानन्दप्रादुर्भाव मन्तरेण 'अतो गुणे' इति पररूपे कृते सति, अनुत्तरात्मतैव भवेत्, यथा 'सीमन्तम्' इत्यादाविति द्वितीयः ॥१६१॥

एवमेतत् प्रसंगादभिधाय प्रकृतमेव ऊष्मणामुदयमभिधत्ते ।

इच्छा या कर्मणा हीना या चैष्टव्येन रूषिता ॥१६२॥
शीघ्रस्थैर्यप्रभिन्नेन त्रिधा भावमुपागता ।
अनुन्मिषितमुन्मीलत्प्रोन्मीलितमिति स्थितम् ॥१६३॥
इष्यमाणं त्रिधैतस्यां ताद्रूप्यस्यापरिच्युतेः ।
तदेव स्वोष्मणा स्वात्मस्वातन्त्र्यप्रेरणात्मना ॥१६४॥
बहिर्भाव्य स्फुटं क्षिप्तंश-ष-सत्रितयं स्थितम् ।

एवमत्रेष्टव्यस्यापि विभज्यावस्थानं दर्शयति--अनुन्मिषितमित्यादिना, एतस्यां त्रिधाभावमुपागतायामिच्छायामिष्यमाणमपि त्रिधैवावस्थितं, यतः

'तत्सा केवलमिच्छामात्ररूपा स्रष्टव्यस्य विप्रकृष्टा'

इत्यादिनीत्या शुद्धायामिकाररूपायाम् 'अनुन्मिषितम्' अनुल्लसितं शीघ्ररूपेण एष्टव्येनारूषितायामृकाररूपायाम् 'उन्मीलत्' उल्लसद्रूपं, स्थैर्यात्मना चैष्टव्येनारूषितायां लृकाररूपायां 'प्रोन्मीलितम्' उल्लसितमिति । ननु इष्यमाणस्य शीघ्रत्वादिभेदेन वैशिष्ट्यात्मस्वरूपप्रच्यावः प्राप्तः, इति त्रयोऽत्र विषया इति वाच्यं, न पुनरेक एव त्रिधा ? इत्याशङ्क्योक्तं 'ताद्रूप्यस्यापरिच्युतेरिति' नहि शीघ्रत्वादिभेदेऽपीष्यमाणतालक्षणाद्रूपादस्य प्रच्याव इति भावः, तदेवं त्रिविधमपीष्यमाणं स्वातन्त्र्यलक्षणेन स्वोष्मणा बहीरूपतया समुल्लासितं सत् ऊष्मसंज्ञश-ष-सत्रितयात्मना प्रस्फुरेत्, अत आह

'तदेवेत्यादि' एवमेषणीयस्य तदतिरेकासंभवात्त्रिप्रकारापीच्छैव स्वोष्म-वशात् एवं परामर्शत्रयात्मना प्रस्फुरिता इति तात्पर्यार्थः, यदुक्तं

'इच्छैव स्वोष्मणाक्रान्ता कलात्रयसमाश्रिता ।'

इति, अत एवैषामिच्छायाश्च 'इचुयशानां तालु' ऋटुरषाणां मूर्धा' 'लृतुलसानां दन्ताः' इत्यादिना सस्थानत्वमुक्तम्, इयदन्तमेव विस्फार इत्यप्यनेन प्रकाशितम् ॥१६४॥

अत आह

तत एव सकारेऽस्मिन्स्फुटं विश्वं प्रकाशते ॥१६५॥

अमृतं च परं धाम योगिनस्तत्प्रचक्षते ।

तत् इति-प्रोन्मीलितस्यापीष्यमाणस्य बहीरूपतया समुल्लासितत्वात्, अनेनैव चाभिप्रायेण

'सार्णेनाण्डत्रयं व्याप्तं'

इत्याद्युक्तम् अत एव चेयद्विश्वाप्यायकारित्वात्

'सोमं चामृतनाथं च सुधासारं सुधानिधिम् ।
सकारं षड्साधारं नामभिः परिकीर्तितम् ॥'

इत्यादिदृशा अमृतबीजतयोक्तेश्च गुरवस्तत्परामृतं धाम प्रचक्षते-सर्वशास्त्रेषु कथयन्तीत्यर्थः ॥१६५॥

ननु चास्य किमेवंरूपत्वं क्वचिद्विभाव्यते, न वा ? इत्याशंक्याह

क्षोभाद्यन्तविरामेषु तदेव च परामृतम् ॥१६६॥

सीत्कारसुखसद्भावसमावेशसमाधिषु ।

क्षोभस्य-आदियागरूपस्य ये आद्यन्तविरामाः, तेषु ये सीत्कारादयः, तेषु तदेवामृतं परं धाम अर्थादभिव्यज्यत इति संबन्धः, एवमस्य परानन्दमयतोद्रेचनेन

'करणमरीचिचक्रमुदयं कुरुते रभसात्-
स्थितिमुपयाति तत्र परसौख्यरसान्ततया ।
विलयमुपैति चात्र परबोधभरक्षपणात्-
परमकलात्र केवलतया विलसत्यमला ॥'

इत्याद्युक्तयुक्त्या प्रथमं करणचक्रस्य क्षोभौन्मुख्यात् उदितसीत्कारादौ, अनन्तरं तत्रैव विश्रान्त्या परसामरस्यात्मसौख्यसमावेशे, तदनु च तत्रैव दार्ढ्येन निरूढ्या

'सदिति ब्रह्म परमम्'

इत्याद्युक्त्या सतः परस्य ब्रह्मणो भावः सत्ता, तत्र यः समावेशो-देहादिप्रमातृतानिमज्जनेन चित्प्रमातृताया उन्मज्जनं, स एव समाधिः-परसंवित्कलारूपत्वेन परिस्फुरणं, तत्रेति एवमादिष्वानन्दस्थानेष्वभिव्यक्तिरित्यर्थः ॥१६६॥

एवं चास्य परब्रह्मरूपत्वमेवेत्युक्तं स्यादत आह

तदेव ब्रह्म परममविभक्तं प्रचक्षते ॥१६७॥

ब्रह्मेति

'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'

इत्याद्युक्त्या व्यापकं रूपमित्यर्थः, अत एव 'अविभक्तमित्युक्तं'—नियतरूपस्य हि विभागो भवेदिति भावः, प्रचक्षत इति—श्रीपरात्रिंशकादौ, तथाहि तत्र, पराबीजोद्धारे

'तृतीयं ब्रह्म सुश्रोणि'

इत्युक्तं, तृतीयं ब्रह्म सकारः, यद्गीतं

'ओं तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः ।'

इति ॥१६७॥

यत एव चास्य व्यापकमामृतं च रूपम्, अत एव अन्यत्र 'विषतत्त्वमिति' व्यपदेशान्तरमप्यस्ति, इत्याह

उवाच भगवानेव तच्छ्रीमत्कुलगुह्वरे ।
शक्तिशक्तिमदैकात्म्यलब्धान्वर्थाभिधानके ॥१६८॥
काकचञ्चुपुटाकारं ध्यानधारणवर्जितम् ।
विषतत्त्वमनच्काख्यं तव स्नेहात्प्रकाशितम् ॥१६९॥

अन्वर्थाभिधानके इति, यदुक्तं तत्रैव

'कुलं शक्तिः समाख्याता गह्वरं शक्तिमानपि ।
उभयोर्वेदनैकत्वं कथ्यते कुलगुह्वरम् ॥

१५

इति । अत्रत्यमेव ग्रन्थ पठत 'काकचञ्चु' इत्यादि । संबोधनसारत्वाद्युष्मदर्थस्य—'हे देवि तव स्नेहात्'—शासनीयत्वेनानुकम्प्यत्वात्, विषस्य—व्यापकस्य रूपस्य, यत्तत्त्वं—सर्वत्राप्रतिहतत्वं, तत्प्रकाशितम्—अन्योन्यसंघट्टात्मसामरस्यावसरेऽनुभवगोचरतामापादितमित्यर्थः, तच्चानाहतरूपत्वादनच्कशब्दाभिधेयम्, अत एव सततोदितत्वेन ध्यानादिनिरपेक्षं, तद्धि नियतध्येयादिनिष्ठमिति भावः, एवमपि काकचञ्चुपुटवदाकारो यस्य तत्तथाविधम्—अनच्कस्य द्विकुब्जतया तथासंनिवेशात् ॥१६८।१६९॥

नन्विह अमृतबीजमुपक्रान्तं वर्तते, न च तस्यैवंरूपं संभवति—तस्य कामाक्षरविषयत्वेनोक्तत्वात्, तत्किमर्थमत्रैतत्संवादितं, भगवतोऽपि

'यदेतत्कामतत्त्वं तु विषतत्त्वं तदेव हि ।
तदिदानीं समासेन शृणु त्वं मृगलोचने ॥'

इत्यादिना कामतत्त्वस्यैव पुनर्विषतत्त्वत्वेनाभिधाने क आशयः? इत्याशङ्क्याह

कामस्य पूर्णता तत्त्वं संघट्टे प्रविभाव्यते ।
विषस्य चामृतं तत्त्वं छाद्यत्वेऽणोऽच्युते सति ॥१७०॥

ननु भगवता श्रीकुलगुह्वरे कामतत्त्वविषतत्त्वयोः प्राणनामात्ररूपां प्राणादिवायुपञ्चकसामान्यभूतां षष्ठीं प्राणकलामधिकृत्य स्वरूपं निरूपितं, न पुनः प्राणमात्र—तस्यैवंरूपासंभवात्, तस्य हि रेचकादिदशासु परेच्छाधीनवृत्तित्वादुच्चार्यमाणत्वप्रतिहन्यमानत्वाद्यपि संभवेत्, विशिष्टत्वं पुनः कामतत्त्वस्य प्राणरूपत्वं, विषतत्त्वस्य च अपानरूपत्वम्, अत एवानयोर्हकारसकारात्मत्वम्, तदुक्तम्

'स-हौ क्षपादिनाभानावधरोत्तरचारिणौ ।
परस्परद्वेषरतौ मतौ नगहुडूपमौ ॥
कस्तौ रोधयितुं शक्तो वीर्यं मुक्त्वा स्वयं महत् ।'

इति । तथा

'ऊर्ध्वे बिन्दू रविः प्राणो दिनं भागार्धमेव च ।
सिद्धैरधिष्ठितो भागः खेचर्याराधनात्मकः ॥
अधो नादस्तथापानो मत्तगन्धः क्षपा शशी ।
खेचर्यधिष्ठितो भागः सिद्धसेव्यो लयात्मकः ॥'

इति। एवं वैशिष्ट्येऽपि अनयोः सामान्यस्य विशेषनिष्ठत्वात् प्राणनमात्ररूपत्वम् उभयत्रापि संभवतीति ऐकरूप्येण निर्देशः, यदभिप्रायेण कामतत्त्वस्यैव विषतत्त्वत्वेन भगवतोऽभिधानम्, इह चैतत्संवादनम्, अत एव कामस्य कामतत्त्वस्यापि पूर्णता—स्वात्ममात्रविश्रान्तेरनन्याकाङ्क्षता नाम, तत्त्वं—पारमार्थिकं रूपं, संघट्टे प्रविभाव्यते—परस्परसामरस्यात्मसंक्षोभावसरे सर्वैरेव साक्षात्क्रियते इत्यर्थः, विषतत्त्वस्याप्यणोः परिमितस्य देहादिमातुः स्वाभाविकपूर्णदृक्क्रियावारके पारिमित्यात्मनि छाद्यत्वे, च्युते—वेद्यवेदकविभागविगलनात्पूर्णे रूपे समुदिते सति, आमृतं--विकासदशामयं तत्त्वं संघट्टे प्रविभाव्यते इति पूर्वेणैव संबन्धः ॥१७०॥

ननु चास्य स्वाभाविकपूर्णदृक्क्रियावरणेऽपि किं निमित्तम्? इत्याशङ्क्याह

व्याप्त्रीशक्तिर्विषं यस्माद्व्याप्तुश्छादयेन्महः ।

शक्तिरिति--पारमेश्वरी स्वरूपगोपनारूपा मायाख्या, मह इति--स्वाभाविकपूर्णदृक्क्रियारूपं, विषमपि हि बहिर्व्यापकत्वादव्याप्तुरण्वात्मनो दृक्क्रियावरणमेव कुर्यादित्यत्र तदारोपः ॥

एवं न केवलमस्य कामतत्त्वत्वमस्ति, विषतत्त्वत्वं वा, यावन्निरञ्जनत्वमपि, इत्याह

निरञ्जनं परं धाम तत्त्वं तस्य तु साञ्जनम् ॥१७१॥
क्रियाशक्त्यात्मकं विश्वमयं तस्मात्स्फुरेद्यतः ।

प्रोन्मीलितस्यापि इष्यमाणस्य वहीरूपतया समुल्लासितत्वात्क्रियाशक्त्यात्मकम्, अत एव विश्वमयं यत्परम्--आपूरकं, धाम--सकारात्म चान्द्रं तेजः, तन्निरञ्जनं

'एतत्त्रितयमैक्येन यदा तु प्रस्फुरेत्तदा ।
न केनचिदुपाधेयं स्वस्वविप्रतिषेधतः ॥

इत्यादिपूर्वोक्त्युक्त्या न केनचिदप्युपाधेयमित्यर्थः, तस्य पुनः क्रियाशक्त्यात्मनः चान्द्रस्य धाम्नो यत्तत्त्वं--परमप्रकाशात्म शक्तिमल्लक्षणं विश्रान्तिस्थानं, तत्साञ्जनं

'शक्तिमानञ्ज्यते यस्मान्न शक्तिर्जातु केनचित् ।'

इत्यादिप्रागुपपादितयुक्त्या शक्तिकर्तृकेन व्यक्तीकरणेन युक्तमित्यर्थः, अत आह 'तस्मात्स्फुरेद्यतः' इति, तस्माद्धतोः, यतः--शक्तेः सकाशात्, स्फुरेत्-

'..............शैवी मुखमिहोच्यते ।'

इत्याद्युक्त्या स्वशक्त्यैवाभिव्यज्यत इत्यर्थः ॥१७१॥

ननु कामादेस्तत्त्वत्रयस्य इच्छादिशक्तित्रयरूपत्वमस्ति, तत्कथमेकस्यैव अमृतबीजस्य एतद्रूपत्वमुक्तम् ? इत्याशङ्क्य विभागावेदनपूर्वमेषामविभागमेव द्रढयति

इच्छा कामो विषं ज्ञानं क्रिया देवी निरञ्जनम् ॥१७२॥
एतत्त्रयसमावेशः शिवो भैरव उच्यते ।

भैरव इति--विश्वमयत्वेन पूर्णत्वात्, अत एव 'तदेव ब्रह्म परमं' इत्याद्युक्तम् ॥१७२॥

एवमेतत्प्रसंगादभिधाय प्रकृतमेवाह

अत्र रूढिं सदा कुर्यादिति नो गुरवो जगुः ॥१७३॥
विषतत्त्वे संप्रविश्य न भूतं न विषं न च ।
ग्रहः केवल एवाहमिति भावनया स्फुरेत् ॥१७४॥

अत्रेति--विषतत्त्वात्मनि व्यापके रूपे, रूढिमिति--अनुप्रवेशं, किं चात्र रूढ्या भवेत् ? इत्याशंक्याह 'विषतत्त्वे' इत्यादि, भूतमिति--यक्षादि, ग्रह इति--अनात्मनि आत्माभिमानः, तद्धि परिमितस्य प्रमातुर्भवेदित्याभिप्रायः, परप्रमात्रात्मनि व्यापके रूपे समावेशभाजः पुनर्भावनाभ्यासात् 'अहम्' इत्येव परमाद्वयमयतोल्लसेत्, येनास्य तदतिरिक्तमुपद्रवनिमित्तं न किंचिदपि भायादिति भावः । यदुक्तं श्रीकुलगुह्वरे

'सदा शून्यं निरालम्बं ध्यानधारणवर्जितम् ।
सर्ववर्णधरं शान्तं सर्ववर्णविवर्जितम् ॥
चिन्मात्रं केवलं शुद्धं विषनिर्वाहकारकम् ।
न विषं न ग्रहः पापं न यक्षो न च राक्षसः ॥
न पिशाचादिकं किंचिद्भाय नाहं विभावयेत् ।
केवलं भावमात्रेण.............................. ॥'

इत्यादि ॥१७३-१७४॥

ननु इष्यमाणरूषिताया इच्छाया: पूर्वं क्षोभान्तरस्यासंभवात्

'.................नेदं बीजं च कस्यचित्'

इत्याद्युक्त्या षण्ठत्वं प्रतिज्ञातम्, अनन्तरं चात्र

'या तूक्ता ज्ञेयकालुष्य............'

इत्यादि, तथा

'सैव शीघ्रतरोपात्त.........'

इत्यादि, तथा

'...................सा चैष्टव्येन रूषिता'

इत्यादिवाक्यैः षण्ठवर्णेभ्य: क्षोभान्तरस्यापि सद्भाव उक्तः, इत्येषां पूर्वप्रतिज्ञातं षण्ठत्वं कथं निर्वहेत् ? इत्याशङ्क्य प्रतिविधत्ते

नन्वत्र षण्ठवर्णेभ्यो जन्मोक्तं तेन षण्ठता ।
कथं स्यादिति चेद्ब्रूमो नात्र षण्ठस्य सोतृता ॥१७५॥
तथाहि तत्रगा यासाविच्छाशक्तिरुदीरिता ।
सैव सूते स्वकर्तव्यमन्तःस्थं स्वेष्टरूपकम् ॥१७६॥
यत्त्वत्र रूषणाहेतुरेषितव्यं स्थितं ततः ।
भागात्प्रसवस्तज्जं कालुष्यं तद्वपुश्च तत् ॥१७७॥

जन्मोक्तमिति—टवर्गादीनां, ब्रूम इति 'नात्र षण्ठस्य सोतृता' इत्युत्तरम्, एतदेवोपपादयति 'तथाहीत्यादिना' यतः षण्ठगता येयमिच्छाशक्तिरुक्ता सैव अन्तःस्थं स्वाभेदेन वर्तमानमपि यथास्वं नियतं रूपमात्मीयं कार्यं 'टवर्गादि' बहिरुल्लासयेत्, न पुनस्तद्गतं रूषणानिमित्तं चिरक्षिप्रस्वभावमेषितव्यं, तद्धि कालुष्यमेव जनयेत्, एतावतैव च एतच्चरितार्थम, इति न कार्यान्तराविर्भावनायापि प्रभवतीति भावः, तच्च कालुष्यं तन्निमित्तमेषितव्यं वा अस्या इच्छायाः एव वपुः—तदेकात्मकमित्यर्थः, नहि प्रकाशैकस्वभावाया इच्छाया अन्यदतिरिक्तं नाम किंचित्संभवेदिति भावः, तेन वस्तुत इच्छाया एव प्राधान्यात् तत्तत्स्वकार्याविर्भावकत्वम् इति युक्तमुक्तं 'सैव सूत' इति ॥१७७॥

नन्वेवमपि षण्ठानां सर्वसर्विकया न बीजत्वमपास्तं भवेत्? इत्याशङ्क्याह

ज्ञेयारूषणया युक्तं समुदायात्मकं विदुः ।
षण्ठं क्षोभकताक्षोभधामत्वाभावयोगतः ॥१७८॥

इष्यमाणस्य इच्छायाश्च मेलनारूपं हि षण्ठं विदुः, यतोऽत्र न क्षोभकत्वं क्षोभाधारत्वं चेति, तेन केवलाया इच्छाया एव क्षोभान्तराविर्भावकत्वेऽपि नैषां बीजत्वमपास्तं भवेत्—समुदायात्मकत्वात्षण्ठत्वस्य, इति युक्तमुक्तं 'नात्र षण्ठस्य सोतृतेति' ॥१७८॥

एवमेतत्प्रसंगादभिधाय प्रकृतमेवाह

एतद्वर्णचतुष्कस्य स्वोष्मणाभसनावशात् ।
ऊष्मेति कथितं नाम भैरवेणामलात्मना ॥१७९॥

चतुष्कस्येति हकारेण सह, तस्य ह्यनुत्तराज्जन्म, इति भङ्ग्या प्रागेवोक्तम्, अनुत्तरस्य हि शक्तिर्विसर्गः, तस्यैव चाश्यानं रूपम् अयम् इति, अत एवानुत्तरेणास्य सस्थानत्वम्,स्वोष्मणेति-स्वातन्त्र्यलक्षणेन स्वात्मतेज सेत्यर्थः, नहि इच्छा या अनुत्तरस्य वा परामर्शान्तरवदन्यापेक्षया एतदाभासमानम्, अपि तु स्वमाहात्म्यादेवेति भावः । यद्यपि कवर्गादीनामनुत्तरादेरेकैकस्मादेव जन्मोक्तं तथापि तच्छक्त्यन्तरप्रयोजकीकारेण, इति युक्तमुक्तं 'स्वोष्मणाभासनावशादिति' ॥१७९॥

न केवलं कादि-हान्तस्य वर्णजातस्य स्पर्शादितया पृथक् पृथगभिधानं, यावद्पृथक्त्वेनापि, इत्याह

कादि-हान्तमिदं प्राहुः क्षोभाधारतया बुधाः ।

क्षोभाधारतया इति—योनितयेत्यर्थः, यदुक्तं

'कादिभिश्च स्मृता योनिः ....'

इति ॥

न केवल उक्तनीत्या बीजानामेव बीजान्तरयोगे क्षोभान्तराविर्भावो भवेत्, यावद्योनेरपि योन्यन्तरयोगेन, इत्याह

योनिरूपेण तस्यापि योगे क्षोभान्तरं व्रजेत् ॥१८०॥

तन्निदर्शनयोगेन पञ्चाशत्तमवर्णता ।

तस्येति-योनिरूपस्य कादेः, तथा च तस्य क्षोभान्तरस्य निदर्शनयुक्त्या तदेव क्षोभान्तरमुदाहर्तुं मातृकायां पञ्चाशता पूरणेन वर्णेन 'क्षकाराख्येन कूटबीजेन' संबन्धः, स हि आद्यन्तभूतयोरनुत्तारविसर्गानुप्राणितयोः ककारसकारयोः प्रत्याहारतयोपात्तो, येन निखिलमेव यौगपद्येन मातृकायाः सतत्त्वं प्रदर्शितं भवतीति, तदुक्तं श्रीक्षेमराजपादैः

'तदियत्पर्यन्तं यन्मातृकायास्तत्त्वं, तदेव
ककारसकारप्रत्याहारेणानुत्तरविसर्गसंघ-
ट्टसारेण कूटबीजेन प्रदर्शितमन्ते'

इति ॥१८०॥

ननु

'ज्ञेयरूपमिदं पंचविंशत्यन्तं यतः स्फुटम् ।'

इत्याद्युक्त्या कादयो मावसानाः पञ्चविंशतिर्वर्णा ज्ञेयरूपतया भेदैकस्वभावा निर्दिष्टाः, तदनन्तरभावि पुनश्चतुष्कद्वयं कीदृग्रूपम् ? इत्याशंक्याह

पञ्चविंशकसंज्ञेयप्राग्वद्भूमिसुसंस्थितम् ॥१८१॥
चतुष्कं च चतुष्कं च भेदाभेदगतं क्रमात् ।

एतदेव प्रपञ्चयति

आद्यं चतुष्कं संवित्तेर्भेदसंधानकोविदम् ॥१८२॥
भेदस्याभेदरूढ्येकहेतुरन्यच्चतुष्टयम् ।

भेदेति-संविदः सकाशाद्विच्छिन्नमित्यर्थः, अत एवास्य स्थूलवाय्वादिभूतरूपत्वमुक्तम्, अभेदेति-इच्छाशक्तिसमुत्थत्वेन शाक्ततेजोमात्ररूपत्वात् ॥१८२॥

इदानीमेवमुपपादितं कादिहान्तं वर्णजातं स्वरानुप्राणितमेव भवति, इति दर्शयितुमाह

इत्थं यद्वर्णजातं तत्सर्वं स्वरमयं पुरा ॥१८३॥
व्यक्तियोगाद्व्यञ्जनं तत्स्वरप्राणं यतः किल ।

इत्थं--समनन्तरोक्तनीत्या, वर्णजातं यदुक्तं तत्सर्वमुदयात्पूर्वं 'स्वरमयं' स्वराणामेवान्तः शक्त्यात्मना रूपेणावस्थितमित्यर्थः, अन्यथा ह्येषां तत्तत्संयोजनवियोजनेनैवंरूपतयाभिव्यक्तिरेव न भवेदिति भावः, अत एव तद्वर्णजातं बहिरभिव्यक्तं सत् व्यज्यत इति 'व्यञ्जनं' न पुनरपूर्वतयैव उत्पाद्यं—पूर्वमपि स्वरात्मनास्यावस्थानात्, व्यङ्ग्यस्य च व्यञ्जकसंनिधावेव तत्त्वं भवेत् नान्यथा ? इत्याशङ्क्याह 'स्वरप्राणं यत' इति, अभिव्यक्तमेव एतद्वर्णजातं स्वरानुप्राणितमेव भवेत्, अन्यथा हि अनच्कतया अस्य उच्चार एव न भवेत् ॥१८३॥

एवं च 'स्वरा एव सर्ववर्णानां मूलकारणम्' इयुक्तं भवेत, तदाह

स्वराणां षट्कमेवेह मूलं स्याद्वर्णसंततौ ॥१८४॥
षड्देवतास्तु ता एव ये मुख्याः सूर्यरश्मयः ।

षट्कमित्यकारादूकारान्तम्, एवकारेण स्वरान्तराणां व्यवच्छेदः, तेषामप्येतत्स्फारमात्रमेव हि रूपमित्याशयः। एवमेषां षण्णामेव वर्णान्तराभिव्यञ्जने प्रकाशरूपत्वमित्युक्तं स्यात्, अतश्च प्रकाशरूपत्वादेव एषामन्यत्र 'षड्देवतात्मकं सूर्यरश्मित्वम्' अप्युक्तमित्याह 'षड्देवता' इत्यादि, यदुक्तं

'दहनी पचनी धूम्रा कर्षिणी वर्षिणी रसा ।'

इति, मुख्या इति--दाहकत्वादीनां शक्तीनां प्रकाशैकनिष्ठत्वात्, यदुक्तं

'षडेवेह स्वरा मुख्याः कथिता मूलकारणम् ।
ते च प्रकाशरूपत्वाद्विज्ञेयाः सूर्यरश्मयः ॥'

इति ॥१८४॥

न केवलमेषां सौरमेव रूपं संभवेद्यावच्चान्द्रमपि, इत्याह

सौराणामेव रश्मीनामन्तश्चान्द्रकला यतः ॥१८५॥
अतोऽत्र दीर्घत्रितयं स्फुटं चान्द्रमसं वपुः ।

एतच्च पूर्वमेवोपपादितम्, इति नेह पुनरायस्तम् ॥१८५॥

ननु परस्परव्यावृत्तत्वात्सर्वभावानां कथं सौराणां रश्मीनामन्तश्चान्द्र्यः कलाः संभवन्ति ? इत्याशङ्क्याह

चन्द्रश्च नाम नैवान्यो भोग्यं भोक्तुश्च नापरम् ॥१८६॥

भोक्तैव भोग्यभावेन द्वैविध्यात्संव्यवस्थितः ।
घटस्य न हि भोग्यत्वं स्वं वपुर्मातृगं हि तत् ॥१८७॥
अतो मातरि या रूढिः सास्य भोग्यत्वमुच्यते ।

चन्द्रो हि नाम न सूर्यादन्यो यतस्तद्भोग्यं, भोग्यं हि नाम प्रमेयमुच्यते, न च प्रमेयं तदुपसर्जनवृत्तित्वात्प्रमाणादतिरिच्यते इत्याशयः, तच्चैवंविधं भोग्यं भोक्तुरप्यतिरिक्तं न भवेत्--वस्तुतः सर्ववस्तूनां प्रमातर्येव विश्रान्तेः, अतश्च भोक्तैव तदुभयात्मना रूपेण प्रस्फुरतीति भावः, अत आह 'भोक्तैव भोग्यभावेन' इत्यादि, ननु विप्रतिषेधात्कथं भोग्यभोक्त्रोरेकत्वमित्याशङ्क्याह 'घटस्येति' नहि ज्ञेयत्वं नाम घटादेर्ज्ञेयता तस्यात्मीयो धर्मः, तथात्वे हि— तस्य सर्वान्प्रत्यविशेषात्सर्वे सर्वज्ञाः स्युः, तेन ज्ञातुरेव स धर्मः—तस्यैव तत्त्वज्ञानोदयेनातिशयदर्शनात्, अतोऽस्य घटादेर्या ज्ञातरि विश्रान्तिस्तदेव ज्ञेयत्वं नाम उच्यते इति, यदुक्तम् 'भोक्तुर्भोग्यं नापरमिति' ॥१८६-१८७॥

एतदेव प्रकृते योजयति

अनुत्तरं परामृश्यपरामर्शकभावतः ॥१८८॥
संघट्टरूपतां प्राप्तं भोग्यमिच्छादिकं तथा ।

अनुत्तरम्--आदिवर्णलक्षणं परं रूप स्वात्मनि भोक्तृभोग्यभावमाभास्य परस्परोन्मुख्येन सघट्टरूपतां प्राप्तं सत्, 'भोग्यम्' इत्युच्यते, अन्यथा न भोक्तृत्वं भोग्यत्वं च भवेत्-अन्योन्यापेक्षत्वात्तयोः, तेनाकारद्वयस्य संघट्टादाकारलक्षणं भोग्यं जातमिति तात्पर्यम्, भोग्यं चात्र वक्तुमुपक्रान्तमिति प्राधान्येन तदेवोपात्तम्, एवमिच्छान्मेषावपि स्वात्मनि भोक्तृभोग्यभावेन संघट्टमासाद्यैवणोनतात्मभोग्यरूपतामाप्नाविति युक्तमुक्तम् 'अतोऽत्र दीर्घत्रितयं स्फुटं चान्द्रमस वपुः' इति ॥१८८॥

नन्वेवं भोग्यं तावदास्तां न कश्चिद्दोषो, भोक्तुः पुनरनेकरूपतायामद्वयहानिः--इति स्वसिद्धान्तभङ्गो भवेत् ? इत्याशङ्क्य इच्छादेर्भोग्यत्वमेवास्ति, न पुनर्भोक्तृत्वम्, इति दर्शयति

अनुत्तरानन्दयुग्मामिच्छाद्ये भोग्यतां गते ॥१८९॥
संध्यक्षराणामुदयो भोक्तृरूपं च कथ्यते ।

यद्यपीच्छादीनां स्वापेक्षया भोक्तृत्वमस्ति, तथापि अनुत्तरापेक्षया एषां भोग्यता विश्रान्तिमेति, तदा संध्यक्षराणामुदयः—सृष्टिर्भवेत्, 'अनुत्तरानन्दभुवाम्' इति बहुवचननिर्देशो व्यक्त्यपेक्षो ज्ञेयः, स चोदयो भोक्तृप्राधान्ये भवेदित्युक्तं 'भोक्तृरूपं च कथ्यत' इति, अत एवात्र इच्छाद्यं गुणभूतम्, अत एवानुत्तरेच्छादिसंघट्टमयत्वाविशेषेऽपि अन्तः स्थानां संध्यक्षरेभ्योऽयमेव विशेषः--यत्संध्यक्षराणि गुणीभूतेच्छाकानि अनुत्तरप्रधानानि, अन्तःस्थास्तु गुणीभूतानुत्तरा इच्छादिप्रधाना इति, एवमनुत्तर एव एकः पारमार्थिको भोक्तेति सिद्धम्, स हि स्वप्रकाशत्वात्स्वात्मनि प्रमेयत्ववार्तामपि न सहते--इति तस्य कथं भोग्यत्वं भवेत्, इच्छादिकं पुनर्भोग्यमेवेत्यस्य भोग्यत्वम् ॥१८९॥

अत आह

अनुत्तरानन्दमयो देवो भोक्तैव कथ्यते ॥१९०॥
इच्छादिकं भोग्यमेव तत एवास्य शक्तिता ।

आनन्दस्य भोग्यत्वेऽपि अनुत्तराव्यतिरेकाद्भोक्तृत्वमप्यस्ति, इत्यवद्योतयितुमिहानन्दग्रहणं, 'भोग्यमेव' इत्येवकारेण भोक्तृत्वव्यवच्छेदः, यत्पुनरेषणाद्यपेक्षया भोक्तृत्वमुक्तं तन्न पारमार्थिकं--भोग्यस्यैव सतः तथात्वेन कल्पनात्, 'तत' इति--भोग्यत्वात्, भोग्यत्वमेव हि शक्तित्वं, यदभिप्रायेणैव

'शक्तयोऽस्य जगत्कृत्स्नं शक्तिमांस्तु महेश्वरः ।

इत्युक्तम् ॥१९०॥

नन्वेवं पुनरपि भोक्ता भोग्यं चेति द्वयमेवापतितम् ? इत्याशङ्क्याह

भोग्यं भोक्तरि लीनं चेद् भोक्ता तद्वस्तुतः स्फुटः ॥१९१॥
अतः षण्णां त्रिकं सारं चिदिष्युन्मेषणात्मकम् ।

इह भोग्यं तावद्भोक्तारमन्तरेण स्वात्मनि सत्तामेव लब्धुं नोत्सहते, इति भोग्यत्वमपि तस्य कथं स्यात्, भोक्तरि चेद्विश्रान्तं तद्भोक्तैवावशिष्यते, न तदतिरिक्तं भोग्यं नाम किंचित्, इति भोक्तैव साक्षाद्विजृम्भते, न काचिदद्वयवादहानिः, एवं भोग्यात्मदीर्घत्रयं भोक्त्रात्मनि ह्रस्वत्रये प्रत्येकं विश्रान्तम्--इति ह्रस्वत्रयमेव प्रधानभूतमिति तात्पर्यम्, तदाह 'अत' इत्यादि, चिदनुत्तरम्, इषिरिच्छा ॥१९१॥

नन्वेवमपि भोक्तुरानैक्यादद्वयवादहानिरिति तदवस्थ एव स दोषः? इत्याशङ्क्याह

तदेव त्रितयं प्राहुर्भैरवस्य परं महः ॥१९२॥
तत्त्रिकं परमेशस्य पूर्णा शक्तिः प्रगीयते ।

तदेव--समनन्तरोक्तमनुत्तरेच्छोन्मेषात्मकं, 'त्रितयं', भैरवस्य--अनन्यापेक्षत्वात्पूर्णस्य तत्त्वस्य, परं--विश्वापूरकं शाक्तं तेजः प्राहुः, यतः

'बहुशक्तित्वमप्यस्य तच्छक्त्यैवावियुक्तता ।'

इत्याद्युक्तयुक्त्या तदेव त्रिकं पूर्णं संघट्टितं सत् परमेश्वरस्य स्वातन्त्र्यलक्षणा शक्तिः सर्वत्रैवेष्यते, यतोऽस्य वाच्यवाचकात्मनो विश्वस्य प्रसरः, एतदेव हि त्रिकं सर्वाक्षेपेण वर्तते इत्यभिप्रायः ॥१९२॥

तदाह

तेनाक्षिप्तं यतो विश्वमतोऽस्मिन्समुपासिते ॥१९३॥
विश्वशक्तावविच्छेदवन्ध्ये जातमुपासनम् ।

यतस्तेन त्रिकेण सर्वमिदमाक्षिप्तम् अतोऽस्मिन्नेव स्वातन्त्र्यशक्तिमात्रपरमार्थे त्रिके समावेशशालिनः

'..............शैवी मुखमिहोच्यते ।'

इत्याद्युक्त्या तद्द्वारेणैव अनवच्छिन्नस्वभावत्वात्पूर्णे शक्तिमद्रूपेऽपि अयत्नेनैव समावेशो जायते इति वाक्यार्थः ॥१९३॥

सर्वं चैतदाक्षेप्यमेतत्स्फारसारमपरिच्छेद्यं चेत्याह

इत्येष महिमैतावानिति तावन्न शक्यते ॥१९४॥
अपरिच्छिन्नशक्तेः कः कुर्याच्छक्तिपरिच्छिदाम् ।

न शक्यते इति--अर्थात्परिच्छेत्तुम् ॥१९४॥

अत एव च स एव भगवाननुत्तरः स्वस्वातन्त्र्याद्विश्वरूपतामाप्तः, इत्याह

तस्मादनुत्तरो देवः स्वाच्छन्द्यानुत्तरत्वतः ॥१९५॥

विसर्गशक्तियुक्तत्वात्संपन्नो विश्वरूपकः ।

विसर्गशक्तियोगे स्वाच्छन्द्यमनुत्तरत्वं च हेतुः, स्वतन्त्रस्यैव हि पञ्चविधकृत्यकारित्वाद्विसर्गे सामर्थ्यम्, अनुत्तरस्यैव च शक्तिः विसर्गशब्दव्यपदेश्येति, यदुक्तं प्राक्

'अनुत्तरं परं धाम तदेवाकुलमुच्यते ।
विसर्गस्तस्य नाथस्य कौलिकी शक्तिरुच्यते ।।

इति ।।१९५।।

नन्वेवं विश्वरूपतायामस्यानैक्यं स्यात्, इत्यद्वयहानिः ? इत्याशङ्क्याह

एवं पञ्चाशदामर्शपूर्णशक्तिर्महेश्वरः ।।१९६।।
विमर्शात्मैक एवान्याः शक्तयोऽत्रैव निष्ठिताः ।

पञ्चाशदामर्शा--आदि--क्षान्ताः, एक इति शक्तिशक्तिमतोरभेदात्, ननु समनन्तरमेव शक्तीनामपरिच्छिन्नत्वमुक्तं तत्कथं तासां पञ्चाशदिति नियतावच्छेदः संगच्छते ? इत्याशङ्क्योक्तम् 'अन्याः शक्तयोऽत्रैव निष्ठिता' इति, अन्या इति--तत्संयोगवियोगसमुत्थाः 'घटः पट' इत्येवमादयः, अत्रैव निष्ठिताः—पञ्चाशतोऽतिरिक्तस्य परामर्शस्यानुपपत्तेः ।।१९६।।

अत एव चार्धमात्रागणनाक्रमेण एकाशीतिपदापि देवी वर्णपञ्चाशत्येवान्तर्भावयिष्यते, इत्याह

एकाशीतिपदा देवी ह्यत्रान्तर्भावयिष्यते ।।१९७।।

अत्रान्तर्भावयिष्यते इति--एतन्निष्ठतयैव पर्यवसाययिष्यते, यद्वक्ष्यति

'कालोऽर्धमात्राः कादीनां त्रयस्त्रिंशत उच्यते ।
मात्रा ह्रस्वाः पञ्च दीर्घाष्टकं द्विस्त्रिः प्लुतं तु ॡ ।।
एकाशीतिमिमामर्धमात्राणामाह नो गुरुः ।
यद्वशाद्भगवानेकाशीतिकं मन्त्रमभ्यधात् ।।
एकाशीतिपदा देवी शक्तिः प्रोक्ता शिवात्मिका ।'

इति ।।१९७।।

नन्वेवं परामर्शान्तराणामत्रैव निष्ठितत्वात्पञ्चाशदेव परामर्शा मुख्या, इति पुनरपि नियतावच्छेद एवापतेत् ? इत्याशङ्क्य अवच्छेदाधानासामर्थ्यं

द्योतयितुमवास्तवत्वप्रकटीकाराय आमर्शविशेषाणां तत्तदुपाधियोगोत्थापितत्वं दर्शयति

एकामर्शस्वभावत्वे शब्दराशिः स भैरवः ।
आमृश्यच्छायया योगात्सैव शक्तिश्च मातृका ॥१९८॥
सा शब्दराशिसंघट्टाद्भिन्नयोनिस्तु मालिनी ।
प्राग्वन्नवतयामर्शात्पृथग्वर्गस्वरूपिणी ॥१९९॥
एकैकामर्शरूढौ तु सैव पञ्चाशदात्मिका ।

एकः--आमृश्यशून्यत्वान्निः सहायः, आमर्शनमामर्शः परामर्शकः प्रमाता, तत्स्वभावत्वे पञ्चाशतोऽपि वर्णानां संकलनया 'शब्दराशिरिति, भैरव' इति व्यपदेशः, आमृश्येनापि योगात् 'शक्तिरिति मातृकेति' च, सैव मातृका शब्दराशिसंघट्टाच्छक्तिशक्तिमदैक्यात्म्यलक्षणात् लवणारनालवत्परस्परमेलनात्, भिन्ना बीजैर्भेदिता योनयो व्यञ्जनानि यस्याः सा तथाविधा सती, 'म' इति--वाच्यस्य प्रतियोग्यभावस्यालिनी विमर्शिका, मलते--विश्वं स्वरूपे धत्ते, मालयति--अन्तःकरोति कृत्स्नमिति च मालिनीति व्यपदिश्यते, भिन्नयोनित्वादेव च अस्या बीजयोनीनां विसंस्थुलत्वाम् नादि-फान्तत्वम्, प्राग्वदिति--षोडशकपञ्चपञ्चकचतुष्कद्वत्यैकरूपतया यथापूर्वम्, उक्तमित्यर्थः, तदुक्तम्

'......................नवधा वर्गभेदतः ।
पृथग्वर्गविभेदेन शतार्धकिरणोज्ज्वला ॥'

इति ॥१९९॥

तदेवमत्र वर्णपञ्चाशतः प्रत्येकं भेदेन स्वरूपमभिधाय अभेदेनापि अभिदधदेव तदनुषक्तमनुजोद्देशोद्दिष्टं मन्त्राद्यभिन्नरूपत्वमपि आसूत्रयति

इत्थं नादानुवेधेन परामर्शस्वभावकः ॥२००॥
शिवो मातापितृत्वेन कर्ता विश्वत्र संस्थितः ।

इत्थम्--उक्तेन वक्ष्यमाणेन च प्रकारेण, नादेन हकारात्मना शक्त्या, योऽसावनुवेधः--तादात्म्यापत्तिः, तेन अनुत्तरः परमेश्वरः शिव एव

'अकारश्च हकारश्च द्वावेतावेकतः स्थितौ ।
विभक्तिर्नानयोरस्ति मारुताम्बरयोरिव ।।'

इत्याद्युक्त्या परमन्त्रवीर्यस्वभाव-अकारहकारात्मपरामर्शरूपो भवेत्, यतः स एव कर्ता परप्रमात्रेकरूपो वर्णपञ्चाशदात्मनि विश्वत्र, मातापितृत्वेन संस्थितः--अनुत्तरविसर्गरूपतया प्रस्फुरित इत्यर्थः ।।२००।।

नन्वेवमपि भेदेनैव वर्णपञ्चाशतो रूपमुक्तं स्यात् नाभेदेन ? इत्याशङ्क्याह

विसर्ग एव शाक्तोऽयं शिवबिन्दुतया पुनः ।।२०१।।
गर्भीकृतानन्तविश्वः श्रयतेऽनुत्तरात्मताम् ।

इह खलु अनुत्तरस्य परमेश्वरस्य शाक्त एवायं विसर्गो—हकारपर्यन्तेन स्थूलेन रूपेण परिस्फुरणं, पुनः प्रत्यावृत्य शिवबिन्दुतया निर्विभागात्मपरप्रकाशात्मप्रमात्रेकरूपतया क्रोडीकृतनिखिलवाच्यवाचककलापः सन्, अनुत्तरात्मतां श्रयते—निर्विभागपरप्रकाशस्वभावबिन्दुरूपतामाश्रयते, येन 'अहम्' इति परामर्शो भवेत्--यदनुत्तर एव हकारात्मशक्तिरूपतामाभास्य स्वात्मन्येव अविभागप्रकाशरूपे विश्राम्यतीति भावः । यद्वक्ष्यति

'संवित्तौ भाति यद्विश्वं तत्रापि खलु संविदा ।
तदेतत्त्रितयं द्वन्द्वयोगात्संघाततां गतम् ।।
एकमेव परं रूपं भैरवस्याहमात्मकम् ।' (३।२०७)

इति ।।२०१।।

ननु अविभागपरप्रकाशविश्रान्तावपि अहंपरामर्शस्य भेदमयत्वमेवास्ति ? इत्याह

अपरिच्छिन्नविश्रान्तःसारे स्वात्मनि यः प्रभोः ।।२०२।।
परामर्शः स एवोक्तो द्वयसंपत्तिलक्षणः ।

प्रभोः--अनुत्तरस्य परमेश्वरस्य, अनन्तजगन्मध्यसातिशये स्वात्मनि यः 'अहम्' इति परामर्शः, स एव प्रतियोगिभूतस्यापोह्यस्य इदन्तापरामर्शस्यापि संभवात् 'द्वयसंपत्तिलक्षण उक्तो' भेदनिबन्धनत्वेन प्रतिभासते इत्यर्थः ।।२०२।।

ननु इह शरीरादावहंप्रत्यवमर्शः सप्रतियोगित्वाद्भवतु नाम भेदनिबन्धनं, परप्रमात्रात्मनि प्रकाशे प्रवर्तमानः अतिरेकानतिरेकविकल्पोपहतत्वात् प्रतियोगिनो [अप्रतियोगी] न तथा ? इत्याह

अनुत्तरविसर्गात्मशिवशक्त्यद्वयात्मनि ॥२०३॥
परामर्शो निर्भरत्वादहमित्युच्यते विभोः ।

अनुत्तरविसर्गात्मिके ये शिवशक्ती, तयोरद्वयं सामरस्यं, यत्र 'शिव इति, शक्तिरित्यपि' पृथक् परामर्शो नास्ति, तथात्वे हि प्रतियोगिनः संभावनामात्रमपि भवेदिति भावः। एवंविधे परप्रकाशस्वभावे विभोः अनुत्तरस्यात्मनि निर्भरत्वात्परस्य कस्यचिदपेक्षणीयस्याविद्यमानत्वेन पूर्णत्वात्

प्रकाशस्यात्मविश्रान्तिरहंभावो हि कीर्तितः।' (अ. प्र. २२ श्लो.)

इत्यादिदृशा अहमिति स्वात्ममात्रस्फुरत्तारूपः परामर्श उच्यते--सर्वशास्त्रेषु अविगानेन अभिधीयते इत्यर्थः ॥२०३॥

ननु भवतु नाम स्वात्ममात्रस्फुरत्तारूपोऽहंपरामर्शः किमनेन नः प्रयोजन, वर्णपञ्चाशतः पुनरभेदेन स्वरूपमनेनोक्तं न भवेत् ? इत्याशङ्क्याह

अनुत्तराद्या प्रसृतिर्हान्ता शक्तिस्वरूपिणी ॥२०४॥
प्रत्याहृताशेषविश्वानुत्तरे सा निलीयते ।

अनुत्तरात् आदिवर्णादानन्दादिपरामर्शान्तराविर्भावकारित्वाच्छक्तिस्वरूपिणी, या हान्ता प्रसृतिर्हकारपर्यन्तेन स्थूलेन रूपेण स्फुरत्ता, सैव पुनः 'आदिरन्त्येन सहेता' (पा० १।१।७१) इति नीत्या अकारहकारात्मना रूपेण, प्रत्याहृतं गर्भीकृतमशेषमानन्दाद्यमृतबीजपर्यन्तं विश्वं यया तथाभूता सती, अनुत्तरे निर्विभागप्रकाशात्मनि परस्मिन्रूपे, निलीयते विश्राम्यति, येनाहंपरामर्शो जायते, येन अभेदेनैव प्रत्याहारनीत्या सर्वेषामपि वर्णानां परामर्शः स्यात् ॥२०४॥

ननु यदि पाणिनीयप्रक्रियया प्रत्याहारक्रमेणैव युगपत्सर्वेषां वर्णानां परामर्शो विवक्षितः, तदकारहकारात्मनैव परामर्शविशेषेण भवेत्; यत्तु पुनरपि 'अनुत्तरे एव विश्रान्तिः' इत्युक्तं तत्किमर्थम् ? इत्याशङ्क्याह

तदिदं विश्वमन्तःस्थं शक्तौ सानुत्तरे परे ॥२०५॥
तत्तस्यामिति यत्सत्यं विभुना संपुटीकृतिः ।

यद्यपि अकारहकारात्मनैव रूपेण प्रत्याहारनीत्या समस्तवर्णपरामर्शः सिद्धचेत्, तथापि हकलात्मनो विश्वरूपायाः शक्तेरनुत्तरकर्तृकं संपुटीकारं प्रदर्शयितुमेवमुक्तम् । तथाहि

'शक्तयोऽस्य जगत्कृत्स्नं............. ।

इत्यादिनीत्या विश्वं तावच्छक्त्येकात्मकं, शक्तिरपि 'शक्तिमतः खलु शक्तिरनन्या' इत्यादिनीत्या अनुत्तर एव विश्रान्ता, अत एव च परस्परावियोगात् शक्तिशक्तिमतोः, तत् शक्तिमद्रूपमप्यनुत्तरं, तस्यां शक्तावेवान्तःस्थम्-इत्यनुत्तरादेव शक्तेरुदयस्तत्रैव च विश्रान्तिः,-इत्यनुत्तरेणैव विभुना नूनं शक्तेराद्यन्तयोगात्संपुटी कृतिः ॥२०५॥

अत एव चागमोऽप्येवमित्याह

तेन श्रीत्रीशिकाशास्त्रे शक्तेः संपुटिताकृतिः ॥२०६॥

त्रयाणां परादिशक्तिप्रतिपादकानां शास्त्राणामीशेति त्रीशिका श्रीपरात्रिंशका । यदुक्तं तत्र

'तत्र सृष्टिं यजेद्वीरः पुनरेवासनं ततः ।
संपुटीकृत्य सृष्टिं तु पश्चाद्यजनमारभेत् ॥'(परात्री० २९ श्लो.)

इति ॥२०६॥

तदेवोपसंहरति

संवित्तौ भाति यद्विश्वं तत्रापि खलु संविदा ।
तदेतत्त्रितयं द्वन्द्वयोगात्संघाततां गतम् ॥२०७॥
एकमेव परं रूपं भैरवस्याहमात्मकम् ।

यदिदं हकलात्म शक्तिरूपं विश्वं संवित्तावनुत्तरात्मनि परस्मिन्रूपे भाति तत एवादितमित्यर्थः । तत्रापि एवंरूपतायामपि, संविदेव खलु भाति तत्रानुत्तरात्मन्येव रूपे तद्विश्रान्तमित्यर्थः । यदुक्तम्

'यत्रोदितमिदं चित्र विश्वं यत्रास्तमेति च ।'

इति । तदेतत् संवित्तिर्विश्वं संविदेति त्रितयं, द्वन्द्वयोगात्परस्परसंघ-

ट्टात्संघाततां गतं मेलनां प्राप्तं सत्, अहमिति प्रतियोगिभूतपरामर्शान्तराभावादेकमेव प्रमातृप्रमेयादिप्रकाशविश्रान्तिधामतया, परम् उत्कृष्टं, भैरवस्य सर्वभावनिर्भरत्वादनन्यापेक्षिणः पूर्णवृत्तेः प्रकाशैकवपुषः स्वात्मनो रूपं परविमर्शात्मा स्वभाव इत्यर्थः ॥२०७॥

ननु 'परस्याकुलस्य धाम्नः कौलिकी शक्तिर्विसर्ग' इति प्रागुक्तं, सा च न शक्तिमतोऽतिरिक्तेति तस्यास्तदतिरेकेण परिस्फुरणमेव न युज्यते,– इति का वार्ता पुनरपि तत्र विश्रान्तौ ? इत्याशङ्कयाह

विसर्गशक्तिर्या शंभोः सेत्थं सर्वत्र वर्तते ॥२०८॥

तत एव समस्तोऽयमानन्दरसविभ्रमः ।

या खलु निःश्रेयसात्मपरश्रेयः कारणस्य अकुलस्य धाम्नो विसर्गशक्तिरुक्ता, सैवेत्थं वक्ष्यमाणेन प्रकारेण, सर्वत्र वर्तते भेदभेदाभेदाभेदात्मना प्रस्फुरतीत्यर्थः । यद्वशादेव वाच्यवाचकात्मा बाह्योऽयमानन्दमयः समुज्जृम्भते स्फारः ॥२०८॥

ननु बाह्यस्य सुखदुःखादिरूपत्वादानन्दमयत्वमेव कथमुक्तम् ? इत्याशङ्कां गर्भीकृत्य तदेवोपपादयति

तथाहि मधुरे गीते स्पर्शे वा चन्दनादिके ॥२०९॥

माध्यस्थ्यविगमे यासौ हृदये स्पन्दमानता ।

आनन्दशक्तिः सैवोक्ता यतः सहृदयो जनः ॥२१०॥

इह खलु यस्य कस्यचन प्रमातुः, गीतादौ विषये यदा माध्यस्थ्यविगमः ताटस्थ्यपरिहारेण तदेकतानता, तदा येयं हृदये विश्वप्रतिष्ठास्थाने बोधे, स्पन्दमानता तन्मयतया परिस्फुरद्रूपता, सैवेयमानन्दशक्तिरुक्ता सर्वशास्त्रेषु अभिहितेत्यर्थः । यदुक्तम्

'गीतादिविषयास्वादासमसौख्यैकतात्मनः ।
योगिनस्तन्मयत्वेन मनोरूढेस्तदात्मता ॥' (वि. भै. ७३ श्लो.)

इति । भोगस्य सुखदुःखाद्याभाससाधारण्यमनश्नुवाना

'सा स्फुरत्ता महासत्ता देशकालाविशेषिणी ।
सैषा सारतया प्रोक्ता हृदयं परमेष्ठिनः ॥'ई. प्र. १।५।१४)

इत्यादिनिरूपितस्वरूपा परिस्फुरद्रूपतैव 'स्वातन्त्र्यमिति विमर्श इति आनन्द इति च' सर्वत्रैव उद्घोष्यते, यन्माहात्म्यादेव च जडोऽपि निखिलोऽयं जनः सचेतन इत्युच्यते, अत एव लोकेऽप्यानन्दातिशयकार्येव जनः 'सहृदय' इति प्रसिद्धिः। यद्यपि सर्व एवायं विश्वप्रपञ्च आनन्दशक्तिस्फारः तथापि स्फुटोपलम्भादत्र तस्या एवमुक्तम् ॥२१०॥

तदेवं विसर्गशक्तेरेवायं महिमा—यदियान्भेदभेदाभेदाभेदात्मा विश्वस्फारः, यदुपाधिवशादेव विसर्गशक्तेरपि त्रैविध्यं, तदाह

पूर्वं विसृज्यसकलं कर्तव्यं शून्यतानले।
चित्तविश्रान्तिसंज्ञोऽयमाणवस्तदनन्तरम् ॥२११॥
दृष्टश्रुतादितद्वस्तुप्रोन्मुखत्वं स्वसंविदि।
चित्तसंबोधनामोक्तः शाक्तोल्लासभरात्मकः ॥२१२॥
तत्रोन्मुखत्वतद्वस्तुसंघट्टाद्वस्तुनो हृदि।
रूढेः पूर्णतयावेशान्मितचित्तलयाच्छिवे ॥२१३॥
प्राग्वद्भविष्यदौन्मुख्यसंभाव्यमिततालयात्।
चित्तप्रलयनामासौ विसर्गः शाम्भवः परः ॥२१४॥

शून्यता भावप्रक्षयात्मकं निष्कलं रूपं, तस्या अनले तद्विलापकत्वात्तद्विरुद्धे निखिले भावमये सकले रूपे, पूर्वम् अनिदंप्रथमतया प्रवृत्तं, विसृज्यं न तु स्थाप्यं संहार्यं वा, सकलं प्रमातृप्रमेयात्म विश्वं यत्र, एवंविधं यत्कर्तव्यं तेन तेन रूपेण परिस्फुरणं, तदेव नाम चित्तं

'चितिरेवचेतनपदादवरूढा चेत्यसंकोचिनी चित्तम्'
(प्र० हृ० ५ सू०)

इत्यादिनीत्या चितिचेत्ययोः संघट्टरूपं संकुचितं ज्ञानं, तस्य विश्रान्तिः भेदौन्मुख्ये परा काष्ठा, तदभिधानोऽयं भेदप्राधान्यादाणवो नरसंबन्धी हकारात्मा स्थूलो विसर्गः। एतदनन्तरमपि दृष्टश्रुते आदौ यत्र, आदिग्रहणात् स्पृष्टघ्रातादयपि, एवंविधं यत्तच्चरचरात्मना प्रसिद्धं जगल्लक्षणं वस्तु, तस्य यदात्मसंविदि प्रकर्षेणोन्मुखत्वं ग्राह्यग्राहकभेदात्म सकलरूपापहस्तनेन निष्कलरूपतोद्रेचनेन स्वात्मसंविदेकीभावेनावभासनं, तदेव नाम चित्तस्य

संकुचितात्मनो ज्ञानस्य, स्वात्मसंविद्विश्रान्तेः संबोधः सम्यग्बोधः, तन्नामायं सूक्ष्मो विसर्जनीयात्मा भेदाभेदप्रधानः शाक्तोः विसर्ग उक्तः। तथा तत्र आत्मसंविदि, उन्मुखत्वेन तस्य जगल्लक्षणस्य वस्तुनोऽर्थात्तथैव संघट्टात्परस्परौन्मुख्यात्तस्यैव च वस्तुनो हृदि तत्रैव संविल्लक्षणे पारमार्थिके रूपे, प्ररोहात्, शिवे चिदात्मनि बोधे, पूर्णतया कर्तृत्वाद्युत्तेजनेन, मितस्य शून्यादेः संकुचितस्य परिमितस्य प्रमातुर्गुणीभावात्, य आवेशस्ततः प्राग्वदाणववद्भविष्यदपि यदौन्मुख्यं बहीरूपतया परिस्फुरणं, तेन संभाव्यमाना येयं मितता संकुचितज्ञानरूपता तस्या लयः संभाव्यमानस्यापि संकोचस्याभावः, ततश्चित्तस्य प्रकर्षेण लयः संकुचिततापासनेन पूर्णतावलम्बनेन च स्वात्मसंविन्मात्रतया परिस्फुरणं, तन्नामायमभेदप्रधान आनन्दात्मा परः शैवो विसर्गः। तदेवं पारमेश्वरी विसर्गशक्तिरेव तथा तथा परिस्फुरति,–इति नरशक्तिशिवात्मना अस्यास्त्रैविध्यमुक्तं, तेन युक्तमुक्तं–यद्विसर्गशक्तिः सर्वत्र वर्तत इति ॥२१४॥

अत एव भगवताप्येवमुक्तमित्याह

तत्त्वरक्षाविधानेऽतो विसर्गस्त्रैधमुच्यते ।

अत इति यथोक्तन्यायात् ॥

तदेव शब्दद्वारेण अर्थद्वारेण च पठति

हृत्पद्मकोशमध्यस्थस्तयोः संघट्ट इष्यते ॥२१५॥
विसर्गोऽन्तः स च प्रोक्तश्चित्तविश्रान्तिलक्षणः ।
द्वितीयः स विसर्गस्तु चित्तसंबोधलक्षणः ॥२१६॥
एकीभूतं विभात्यत्र जगदेतच्चराचरम् ।
ग्राह्यग्राहकभेदो वै किंचिदत्रेष्यते यदा ॥२१७॥
तदासौ सकलः प्रोक्तो निष्कलः शिवयोगतः ।
ग्राह्यग्राहकविच्छित्तिसंपूर्णग्रहणात्मकः ॥२१८॥
तृतीयः स विसर्गस्तु चित्तप्रलयलक्षणः ।
एकीभावात्मकः सूक्ष्मो विज्ञानात्मात्मनिर्वृतः ॥२१९॥

हृत् बोधभूः, तदेव बहिर्विकस्वरत्वात्पद्मं, तस्य कोशमध्यं परा काष्ठा,

तत्रस्थो योऽयं चितिचेत्ययोः संकुचितज्ञानात्मा संघट्टः, स एव चित्तविश्रान्तिनामा विसर्गयोः शैवशाक्तयोरन्तः तृतीयः प्रथमो वा आणवो विसर्गः, प्रकर्षेण भेदप्रधानतयोक्तः। द्वितीयः शाक्तः पुनः स विसर्गश्चित्तसंबोधनामा, यतोऽत्र चराचरं ग्राह्यग्राहकरूपमेतद्विचित्रावभासं जगदेकीभूतं विभाति स्वात्मसंविन्मात्ररूपतया परिस्फुरति, यतोऽसौ शाक्तो विसर्गो ग्राह्यग्राहकभेदावभासे सकलो विश्वमयः प्रोक्तः, परनिःश्रेयसात्मश्रेयस्करस्वात्मसंविदेकीभावे पुनर्निष्कलो विश्वोत्तीर्णो, येनायं भेदाभेदप्रधानः। तृतीयः शैवः पुनः स विसर्गः चित्तप्रलयनामा, यतोऽयं ग्राह्यग्राहकयोः संविन्मात्ररूढ्या येयं विच्छित्तिः त्रोटः, तया सम्यक् शून्यादिनियतावच्छेदाभावात्पूर्णं यद्ग्रहणं, तदात्मकः परप्रकाशरूप इत्यर्थः, अत एवैकीभावात्मकः स्वात्मसंविन्मात्रावेशरूपः, अत एव सूक्ष्मः—प्रमात्रेकरूपत्वात्परासंवेद्यः, अत एव संभाव्यमानस्यापि संकुचितज्ञानरूपस्याभावाद्विज्ञानात्मा पूर्णज्ञानस्वभावः, अत एव परस्य कस्यचिदपि आकाङ्क्षणीयस्याभावादात्मनिर्वृतः स्वात्ममात्रविश्रान्तः, अत एव चायमभेदप्रधानः। तदेवं पारमेश्वरी कौलिक्यादिशब्दव्यपदेश्या विसर्गशक्तिरेव तत्तदामर्शात्मना स्फुरतीति तात्पर्यार्थः॥२१९॥

न चैतदस्माभिः स्वोपज्ञमेवोक्तमित्याह

निरूपितोऽयमर्थः श्रीसिद्धयोगीश्वरीमते।

तदेवार्थद्वारेण पठति

सात्र कुण्डलिनी वीजं जीवभूता चिदात्मिका॥२२०॥
तज्जं ध्रुवेच्छोन्मेषाख्यं त्रिकं वर्णास्ततः पुनः।

सा पारमेश्वरी संविन्मात्ररूपा विसर्गशक्तिरेव गर्भीकृतनिखिलविश्वत्वात् कुण्डलिनीशब्दव्यपदेश्या अनच्ककलारूपा वाच्यवाचकात्मन्यत्र विश्वत्र अविद्यादेस्तत्कारणत्वे दूरापास्तत्वात् बीजभूता, तत्त्वेऽपि संविन्निष्ठत्वात्सर्वव्यवस्थितीनां जीवभूता, नहि संविदमन्तरेण किंचिदपि स्फुरेदिति भावः। तदुक्तं तत्र

'या सा कुण्डलिनी सात्र जगद्योनिः प्रकीर्तिता।
तुटिरूपा तु सा ज्ञेया जीवभूता जगत्यपि॥
बीजरूपा समाख्याता चिद्रूपापि प्रकीर्तिता।'

इति। मात्रेत्यपपाठः—नह्यनेन कश्चिदप्यागमिकोऽर्थः संग्राह्यो वर्तते यदर्थोऽयमेतत्प्रयोगः, प्रत्युतासंगतार्थत्वमसाधुशब्दत्वं च प्रसज्यते,—इत्यलं बहुना। तदेवंभूतायाश्च तस्याः सकाशादनुत्तरेच्छाज्ञानाख्यं परामर्शत्रयं जातं, ततश्च परामर्शत्रयादुक्तवक्ष्यमाणनीत्या निखिलपरामर्शान्तरोदयः। तदुक्तं तत्र

'शक्तित्रयसमुद्भूतिस्ततो वर्णसमुद्भवः।'

इति ॥२२०॥

एतदेव विभजति

आ इत्यवर्णादित्यादियावद्वैसर्गिकी कला ॥२२१॥
ककारादिसकारान्ता विसर्गात्पञ्चधा स च।
बहिश्चान्तश्च हृदये नादेऽथ परमे पदे ॥२२२॥
बिन्दुरात्मनि मूर्धान्तं हृदयाद्व्यापको हि सः।

एक 'इतिशब्दः' स्वरूपपरामर्शकः, अपरः प्रकारे, तेनानुत्तरादानन्दो यथा जातः एवमिच्छातः ईशित्री उन्मेषादूनता यावत्ककारादिः सकारोऽन्ते यस्या एवंविधा हकारात्मा वैसर्गिकी कला जाता, निखिलमेव वर्णजातमुदितमित्यर्थः। तदुक्तं तत्र

'अकाराज्जात आकार इकारादी इति स्मृतः।
ऊकारश्च उकारात्स्यादृकाराच्च नपुंसकम् ॥
एकार ऐस्वरश्चैव ओकार औकार एव च।
अंकारश्च अनुस्वारः अः विसर्ग इति स्मृतः ॥'

इति। तथा

'ककारादिसकारान्ता द्वात्रिंशत्ताः कलाः स्मृताः।'

इति। मकारान्तेति वक्तव्ये ककारादीत्यत प्रभृति व्यञ्जनरूपत्वं कवर्गस्य च अकाराज्जन्म द्योतयितुमुक्तम् 'अकुहविसर्जनीयानां कण्ठः' इत्यादिनीत्या कवर्गहकारविसर्जनीयानामकारादेवोत्पत्तिः। वैसर्गिकी कला इति सामान्योक्तेः परापरो हि विसर्जनीयात्मा विसर्गः कटाक्षितः। एतच्च सर्वं विसर्गादुत्पन्नं विसर्ग एव तत्तदामर्शात्मना प्रस्फुरित इत्यर्थः। स एव हि

परप्रमात्रेकरूपोऽशेषविश्वक्रोडीकारेण अनुत्तरहकारात्मना प्रस्फुरन्नन्तर्बही-रूपतया नरशक्तिशिवात्मतामाभासयेत्। तदुक्तं तत्र

'तदेवं बिन्दुरुद्दिष्टो व्याप्नुवन्स जगत्स्थितः।
अष्टात्रिंशत्कलाभेदाद्बिन्दुमाला व्यवस्थिता॥
बिन्दुना क्रमिताः सर्वे आदिमान्त्ययुताः स्मृताः।'

इति। अत एवाह 'पञ्चधा स च' इति। चो हेतौ यतः स विसर्ग एव बिन्दुः विदिक्रियायां स्वतन्त्रः प्रमाता, बहीरूपतया हृदये नरतया–बहीरूपत्वेऽपि अन्तारूपतायामेव विश्रान्तेः; नादे शक्तितया, अन्तारूपतया परमे पदे, द्वादशान्ते शिवतया प्रस्फुरन्पञ्चप्रकारः। अत एव शरीरेऽपि हृदयान्मूर्धान्तं हृत्कण्ठललाटशक्त्यन्तद्वादशान्तेषु अर्थादवस्थितः। एवं पञ्चधात्वेऽपि अस्य वस्तुतस्त्रैरूप्य एव पर्यवसानम्,–इति न पूर्वापरव्याहतत्वं किंचिदाशङ्क-नीयम्। नन्वेक एवासौ कथं हृदादौ वर्तते इत्याह 'व्यापको हि स' इति। यदुक्तं तत्र

'बाह्यात्मा तु भवेदेको ह्यन्तरात्मा द्वितीयकः।
तृतीयो हृदयात्मा तु नादात्मा तु चतुर्थकः॥
एवमेते महावीरे पञ्चमः परमात्मकः।
बिन्दुः पञ्चविधो देवि हृत्कण्ठे तु ललाटके॥
नासान्ते च तथा चान्ते बिन्दुस्तेनैव व्यापकः।'

इति। तदेवमनुत्तरैव इयं पारमेश्वरो विसर्गशक्तिर्हकारपर्यन्तं स्थूलं रूपमा-भास्य पुनरपि स्वस्वरूपाप्रच्यावादनुत्तरे स्वात्मन्येव विश्राम्यति, यदवद्यो-तनाय प्रत्याहृताशेषविश्वः प्रमात्रेकरूपः परमन्त्रवीर्यात्मा अयमहंपरामर्शः

'प्रकाशस्यात्मविश्रान्तिरहंभावो हि कीर्तितः।'
(अजड प्र० सि० २२ श्लो०)

इत्यादिसर्वशास्त्रेषु उद्घोष्यते, तदेव च परं तत्त्वं मातृकायाः, यदभिप्रायेणैव

'.........न विद्या मातृकापरा।' (स्व. ११५. १९७श्लो.)

इत्याद्याम्नातम्। एवं परिज्ञानवतामेव च इयं योगिनां भुक्तिमुक्तिलक्षणां सिद्धिं यच्छेत्, अन्यथा पुनः तत्तद्वाचकानुवेधद्वारेण हर्षशोकादिरूपतामा-दधाना बन्धकारिण्येव पशूनाम्,–इति भुक्तिमुक्तिलक्षणफलायोगात् निष्फलैव भवेदिति पिण्डार्थः। तदुक्तम्

'सेयं क्रियात्मिका शक्तिः शिवस्य पशुवर्तिनी ।
बन्धयित्री स्वमार्गस्था ज्ञाता सिद्ध्युपपादिका ॥'
(स्पन्द. ४ । १८)

इति ॥२२२॥

न केवलमेवमस्या एव संभवेत्, यावन्मननत्राणधर्माणां मन्त्राणामपीत्याह

आदिमान्त्यविहीनास्तु मन्त्राः स्युः शरदभ्रवत् ॥२२३॥

तु-शब्दश्चार्थे, आदिमोऽनुत्तरः, अन्त्यो हकारः, तेन मन्त्रा अपि अहंपरामर्शरूपाभ्यामादिमान्त्याभ्यां विहीनाः तद्रूपत्वेनापरिज्ञायमानाः, शरदभ्रवत् स्युः, अकिंचित्करा एवेत्यर्थः । तदुक्तं तत्र

'आदिमान्त्यविहीनास्तु मूलयोनिमजानतः ।
न ते सिद्धिकरा मन्त्रानिष्फलाः शरदभ्रवत् ॥
खपुष्पं निष्फलं यद्वच्छशकस्य विषाणकम् ।
वन्ध्यायाः प्रसवो देवि क्लीबस्य द्रवमेव च ॥
अग्निमुक्ता यदा विप्रास्तदा एते तु निष्फलाः ।
आदिमान्त्यविहीनानि मन्त्राणि च तथैव च ॥
निष्फलानि भवन्त्येवं पिबतो मृगतृष्णिकाम् ।'

इति । अन्यथा पुनरहंपरामर्शात्मकपरमन्त्रवीर्यात्मत्वेन परिज्ञायमानाः तत्तत्स्वकार्यकारिण एव भवेयुरिति तात्पर्यार्थः, यद्वक्ष्यति

'एतद्रूपपरामर्शमकृत्रिममनाविलम् ।
अहमित्याहुरेषैव प्रकाशस्य प्रकाशता ॥
एतद्वीर्यं हि सर्वेषां मन्त्राणां हृदयात्मकम् ।
विनानेन जडास्ते स्युर्जीवा इव विना हृदा ॥
अकृत्रिमैतद्धृदयारूढो यत्किंचिदाचरेत् ।
प्राण्याद्वा विमृशेद्वापि स सर्वोऽस्य जपो मतः ॥'(४।१९४)

इति ॥२२३॥

अत एव च एतत्परिज्ञानमेव गुरोर्मुख्यं लक्षणम्, इत्याह

गुरोर्लक्षणमेतावदादिमान्त्यं च वेदयेत् ।

पूज्यः सोऽहमिव ज्ञानी भैरवो देवतात्मकः ॥२२४॥

अत एव स ज्ञानित्वादियोगात् द्योतनस्वभावो, विश्वनिर्भरोऽहमिव सर्वेषां पूज्य इति भगवदुक्तिः। यदुक्तं तत्र

'आदिं चैव तथा चान्त्यमाचार्यो यस्तु विन्दति।
स भवेद्योगिसंघस्य पूज्यः पूज्यतरो भवे॥
अच्छिद्रं तस्य कुर्वन्ति कुर्वन्ति च अनुग्रहम्।
वरं तस्य प्रयच्छन्ति पुत्रवत्पालयन्ति च॥
पूज्यः सर्वत्र जायेत अहं देवि यथा तव।
स ज्ञानी वै वरारोहे स भवेत्साधकोत्तमः॥
सर्वेषामुत्तमः प्रोक्तो दैवज्ञः सर्वसिद्धिदः।
स यतिः पण्डितश्चैव भैरवेश : प्रकीर्तितः॥'

इति ॥२२४॥

अत एव च एवंविधो गुरुर्न केवलं स्वभावत एव परिस्फुरत्परशक्ति-वीर्यात्मनो मन्त्रानेव वेत्ति यावत् यत्किंचन लौकिकमपि श्लोकादि, इत्याह

श्लोकगाथादि यत्किंचिदादिमान्त्ययुतं ततः।
तस्माद्विदंस्तथा सर्वं मन्त्रत्वेनैव पश्यति ॥२२५॥

स खलु गुरुः, तस्मात् निरतिशयज्ञानयोगात्, सर्वं यत्किंचन बाह्यं श्लोकादि, तथा अहंपरामर्शरूपत्वेन परामृशन्मन्त्रत्वेनैव

'मननं सर्ववेत्तृत्वं त्राणं संसार्यनुग्रह :।'

इत्येवं-कार्यकारितया साक्षात्करोति, यतस्तदपि आदिमान्त्ययुतमहंपरामर्श-रूपमेवेत्यर्थः। नहि प्रकाशात्मपरप्रमातृरूपतामन्तरेण किंचिदपि स्फुरेदिति भावः। तदुक्तं तत्र

'श्लोकगाथा तथा वृत्तं गीतकं वचनं तथा।
स्तुतिर्वै दण्डकं चैव आदिमान्त्ययुता यदा॥
तेऽपि मन्त्रा भवन्त्येव किं पुनस्तद्ग्रहस्य तु।'

इति ॥२२५॥

विसर्गशक्तिरेव च इयान्विश्वस्फारः,-इति न केवलमस्मन्नयसहोदरेषु शास्त्रेषु भगवता उक्तं यावदितो बाह्येष्वपि, इत्याह

विसर्गशक्तिर्विश्वस्य कारणं च निरूपिता ।
ऐतरेयाख्यवेदान्ते परमेशेन विस्तरात् ॥२२६॥

परमेशेनेति गृहीतैतरीयकमुनिभूमिकेन, विस्तरादिति निखिलस्यास्य हि ग्रन्थस्य एतदेव प्राधान्यादभिधेयमिति भावः ॥२२६॥

तदेव अर्थद्वारेण संवादयति

यल्लोहितं तदग्निर्यद्वीर्यं सूर्येन्दुविग्रहम् ।
अ इति ब्रह्म परमं तत्संघट्टोदयात्मकम् ॥२२७॥

लोहितं प्रकाशैकात्मकत्वात् दीप्तं यदनुत्तरं धाम तदेव प्रमात्रेकरूपत्वादग्निः, यच्चास्य वीर्यं ज्ञानक्रियात्मा शाक्तः स्फारः तदेव प्रमाणप्रमेयादिरूपतया सूर्येन्दुविग्रहम्, इत्येवंरूपयोस्तयोः—लोहितवीर्ययोः, यः संघट्टः ऐकात्म्यं, तस्य उदयः सततमेवानस्तमितत्वेन प्रस्फुरद्रूपत्वं, तत्स्वभावमिदम् अकारहकारात्मकशिवशक्तिसामरस्यरूपं परं ब्रह्मोच्यते, यतोऽयम् 'अहम्' इति परप्रमात्रेकरूपः परः परामर्श उदियात्, यन्माहात्म्यान्निखिलोऽयं वाच्यवाचकात्मा सृष्ट्यवभासः स्यात् । यद्गीतम्

'अक्षरं ब्रह्म परमं स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते ।
भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः ॥ (गी. ८अ. ३श्लो.)

इति । एतदेव स्वरूपं प्राग्वितत्योक्तं, न पुनरिहायस्तम् । चर्याक्रमे च यल्लोहितं पक्वान्नरसरूपमार्तवं तदग्निस्तत्परिपाकोऽन्नं, यद्वा सर्वस्य आर्तवस्य यच्च वीर्यम् आनन्दफलं षष्ठग्रहपर्यायं

'तद्यदेतद्रेतस्तदेतत्सर्वेभ्योऽङ्गेभ्यस्तेजः
संभूयात्मन्येवात्मानं बिभर्ति' (ऐ० उ० ४।२)

इत्यादितत्रत्योक्त्या तेजोमयत्वादाप्यायकत्वाच्च सूर्याचन्द्ररूपम्, अत एव धामत्रयात्मकत्वादेतदुभयमपि कुण्डगोलकादिशब्दव्यपदेश्यं परं पावनं, येनास्य

'...........................तत्रार्घःशक्तिसंगमात् ।'

इत्यादिवक्ष्यमाणनीत्या परमोपादेयत्वमुक्तम्, तत्संघट्टादेव च नित्योदितं परं ब्रह्मापि नियते देहादौ गृहीताहंभावं भवेत्, येनायं स्त्रीपुंनपुंसकरूपादिः सर्गः, यदुक्तं तत्र

यदेतत्स्त्रियां लोहितं भवत्यग्नेस्तद्रूपं तस्मात्तस्मान्न बीभत्सेत, अथ यदेतत्पुरुषे रेतो भवत्यादित्यस्य तद्रूपं तस्मात्तस्मान्न बीभत्सेत ॥'(ऐ० उ०)

इति, तथा

'अः इति ब्रह्म, तत्रागतमहमिति ।'(ऐ० उ०)

इति ॥२२७॥

अतश्च अस्यैव विश्वं वैभवमित्याह

तस्यापि च परं वीर्यं पञ्चभूतकलात्मकम् ।
भोग्यत्वेनान्नरूपं च शब्दस्पर्शरसात्मकम् ॥२२८॥

यदेतत्पञ्चानां पृथिव्यादीनां भूतानामंशांशरूपं शब्दादिविषयपञ्चकं, तत् तथोक्तरूपस्य परब्रह्मणः परं वीर्यम्

'शक्तयोऽस्य जगत्कृत्स्नं ....।'

इत्याद्युक्त्या विश्ववैभवात्मना परां कोटिं प्राप्तः शाक्तः स्फार इत्यर्थः । ननु शब्दादि यद्येतत्स्फार एव तदस्य भोक्त्रेकरूपत्वात् तदपि तथैव किं न स्यात् ? इत्याशङ्कयोक्तं 'भोग्यत्वेन' इति, न तु भोक्तृत्वेन, अन्नरूपमिति न पुनरन्नादरूपम् । चर्याक्रमे च--लोहितवीर्यसंघट्टादस्यैव पाञ्चभौतिकशरीरादिपरिग्रहः इति । एतच्च तत्रैव

'यो ह वात्मानं पञ्चविधमुक्तं वेद यस्मा-
दिदं सर्वमुत्तिष्ठति स संप्रतिवित्पृथिवी
वायुराकाश आपो ज्योतींषि ।'(ऐ० उ०)

इत्याद्युपक्रम्य

'तस्माद्योऽन्नं च अन्नादं च वेद अहमस्मिन्नन्नादौ जायते (?)
भवत्यस्य अन्नमापश्च पृथिवी चान्नम् ।' (ऐ०उ०)

इत्यादि बहूक्तम् ॥२२८॥

ननु 'शब्दादयोऽस्यैव स्फारः' इत्यत्र किं प्रमाणम् ? इत्याशङ्क्याह

शब्दोऽपि मधुरो यस्माद्वीर्योपचयकारकः ।
तद्धि वीर्यं परं शुद्धं विसिसृक्षात्मकं मतम् ॥२२९॥

शब्द इति शब्दादयः पञ्चापि हृद्याः सन्तो, यस्मात्परब्रह्मात्मनो वीर्यस्य उपचयहेतवः, तदवहितचेतसां झगित्येव परसंविदुल्लासः स्यात् इत्यर्थः। यदुक्तम्

'गीतादिविषयास्वादासमसौख्यैकतात्मनः।
योगिनस्तन्मयत्वेन मनोरूढेस्तदात्मता ॥'(वि. भै. ७३श्लो.)

इति। अनेनैवाभिप्रायेण श्रीप्रशस्तिभूतिपादैरपि

'ये ये भावा ह्लादिन इह दृश्याः सुभगसुन्दराकृतयः।
तेषामनुभवकाले स्वस्थितिपरिपोषणं सतामर्चा ॥,

इत्याद्युक्तम्। एवं यदि एषां परब्रह्मरूपत्वं न स्यात् तत्तदवहितचेतसां कथं नाम तद्विकासा भवेदिति भावः। नन्वेवंविधं तत्परं ब्रह्म किं शान्तं किं वा चित्रम्? इत्याशङ्क्याह–तद्धात्यादि। हिशब्द आशङ्कानिवृत्त्यर्थः, विसिसृक्षात्मकमिति निर्मित्सात्मकत्वेन सदैव तत्तद्विश्ववैचित्र्योल्लासस्वभावमेवेत्यर्थः। मतमिति सर्वेषां, न पुनरत्र कश्चिदपि विमतिं कर्तुं शक्नुयादित्याशयः ॥२२९॥

एवमप्यस्य किं विश्वोत्तीर्णं रूपमुत विश्वमयम्? इत्याशङ्क्याह

तद्बलं च तदोजश्च ते प्राणाः सा च कान्तता।

तदेव तत्तद्रूपतया प्रस्फुरतीत्यर्थः। यदुक्तं तत्र

'स एषोऽसुः स एव प्राणः स एष भूतिश्च,। (ऐ० उ०)

इति, तथा

'स एष मृत्युश्चैवामृतं च'। (ऐ० उ०)

इति, तथा

'एष ब्रह्मैष इन्द्र एष प्रजापतिः'।(ऐ० उ०)

इति। गीतं च

'तद्वीर्यं सर्ववीर्याणां तद्बै बलवतां बलम्।
तदोजश्चौजसां सर्वं शाश्वतं ह्यचलं ध्रुवम् ॥'

इति ॥

विश्वरूपतया चास्य स्फुरणे प्रक्रियाबन्धं दर्शयति

तस्माद्वीर्यात्प्रजास्ताश्च वीर्यं कर्मसु कथ्यते ॥२३०॥
यज्ञादिकेषु तद्वृष्टौ सौषधीष्वथ ताः पुनः ।
वीर्ये तच्च प्रजास्वेवं विसर्गे विश्वरूपता ॥२३१॥

प्रजा इति स्त्रीपुमादिरूपाः, ताश्च प्रजा यज्ञादिकेषु कर्मसु, वीर्यं कारणं कथ्यते इति संबन्धः। एवमुत्तरत्रापि योज्यम्। तदिति यज्ञादिकं कर्म, ओषधीष्वन्नादिरूपासु, वीर्यं इति शुक्रशोणितात्मनि। एवं परब्रह्मण एवाजवञ्जवीभावेन तत्तद्रूपतया विश्वकारणत्वम्, इति तस्यैव एतद्विश्वं रूपमित्युक्तम्। 'एवं विसर्गेऽपि विश्वरूपतेति'। यदुक्तं तत्र

'अथातो रेतसः सृष्टिः प्रजापतेरेव रेतो देवा, देवानां रेतो वर्षं' वर्षस्य रेत ओषधयः, ओषधीनां रेतो अन्नमन्नस्य रेतो रेतः, रेतसो रेतः प्रजाः'। (ऐ० उ०)

इति। तथान्यत्रापि

**'अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते ।
आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः ॥' (म. स्मृ. ३।७६)**

इति। गीतं च

**'अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसंभवः ।
यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः ॥' (गी. ३अ. १४श्लो.)**

इति ॥२३१॥

तदेवं विसर्गशक्तिरेव तत्तदामर्शात्मना स्वात्मनि विश्वरूपतामाभासयन्ती आगमेषु तत्तच्छब्दव्यपदेश्या भवतीत्याह

शब्दराशिः स एवोक्तो मातृका सा च कीर्तिता ।
क्षोभ्यक्षोभकतावेशान्मालिनीं तां प्रचक्षते ॥२३२॥

पदवाक्याद्यात्मनाविभक्तानां स्थूलानां शब्दानामविभागस्वभावः कारणात्मा राशिः, मातृकेति पशुभिः,

**'सर्वेषामेव मन्त्राणां विद्यानां च यशस्विनि ।
इयं योनिः समाख्याता सर्वमन्त्रेषु सर्वदा ॥'**

इत्यादिनिरूपितेन स्वेन रूपेण अज्ञाता माता इत्यर्थः। तदेवं स्वात्ममात्रा-

वस्थानादक्षुब्धाया विसर्गशक्तेरागमिको द्विधा व्यपदेशो दर्शितः, क्षुब्धायाः पुनर्व्यपदेशान्तरमस्ति इत्याह क्षोभ्येत्यादि । क्षोभ्या योनयः, क्षोभकाणि बीजानि तेषां भावः क्षुभिक्रियायां कर्तृकर्मरूपः संबन्धस्तत्र य आवेशः परस्परसंघट्टात्मा लोलीभावः, ततो भिन्ना बीजैर्भेदिता, योनयो व्यञ्जनानि यस्याः सा तथाविधा सती, मालिनी—मलते विश्वं स्वरूपं धत्ते इति विश्वस्वरूपिणी इत्यर्थः ॥२३२॥

ननु कथमेतावतैवास्या विश्वरूपत्वम् ? इत्याह

बीजयोनिसमापत्तिविसर्गोदयसुन्दरा ।
मालिनी हि परा शक्तिर्निर्णीता विश्वरूपिणी ॥२३३॥

अनुत्तरप्रकाशात्मपरशक्तिरूपा हि मालिनी तद्रश्मिभूतशिवशक्तिरूपयोर्बीजयोन्योर्या समापत्तिः परस्परसंघट्टात्म सामरस्यं तया योऽयं विसर्गोदयः तेन तेन रूपेण परिस्फुरणं, तेन सुन्दरा निरतिशया, येन श्रीपूर्वशास्त्रादौ विश्वरूपत्वमस्या निर्णीतम् ॥२३३॥

ननु एकैवानुत्तरा परा संविदस्ति तदतिरिक्तस्य अन्यस्य कस्यचित्संवेद्यमानतायोगात्, तत् तदतिरेकेण शिवशक्तिरूपत्वमपि न युज्यते, का पुनर्वार्ता विश्वरूपतायाः ? इत्याशङ्क्याह

एषा वस्तुत एकैव परा कालस्य कर्षिणी ।
शक्तिमद्भेदयोगेन यामलत्वं प्रपद्यते ॥२३४॥

एषा इत्यनुत्तरा संवित्, कलयति शिवादिक्षित्यन्तं जगत्सृजति इति कालः भैरवः, तस्य कर्षिणी स्वात्मायततयावभासयन्तीत्यर्थः । नहि तदिच्छामन्तरेण किंचिदपि प्रस्फुरेदिति भावः । यदुक्तम्

'भैरवरूपी कालः सृजति जगत्कारणादिकीटान्तम् ।
इच्छावशेन यस्याः सा त्वं भुवनाम्बिके जयसि ॥'

इति, किं तु प्रकाशविमर्शलक्षणमौपाधिकं भेदमवभास्य यामलतामेति, येन शक्तिरिति शक्तिमानिति च व्यपदिश्यते, वस्तुतो हि न प्रकाशाद्विमर्शः स वा तस्मादतिरिच्यते,—इति बहुश उक्तम् ॥२३४॥

ननु यद्येवं तर्हि एतदेवास्तु, विश्वरूपतायाः पुनः कोऽवकाशः ? इत्याशङ्क्याह

तस्य प्रत्यवमर्शो यः परिपूर्णोऽहमात्मकः ।
स स्वात्मनि स्वतन्त्रत्वाद्विभागमवभासयेत् ।।२३५।।

तस्येति यामलस्य, अहमात्मक इति असांकेतिकपरपरामर्शरूप इत्यर्थः । परिपूर्ण इति पारिमित्ये ह्यस्य विकल्परूपत्वं स्यादिति भावः । विभागमिति विश्वरूपतामित्यर्थः ।।२३५।।

तथात्वे चास्य पश्यन्त्यादिशब्दाभिधेयं त्रैविध्यं भवेदित्याह

विभागाभासने चास्य त्रिधा वपुरुदाहृतम् ।
पश्यन्ती मध्यमा स्थूला वैखरीत्यभिशब्दितम् ।।२३६।।

अस्येति परावाग्रूपस्य अहमात्मनः परामर्शस्य, स्थूलेति अपरयोः परत्वं सूक्ष्मत्वं चार्थाक्षिप्तं, परस्या वाचः पुनरन्यानपेक्षं परत्वत्, इत्यस्याः परतरं रूपं, सैव हि परमेश्वरी स्वस्वातन्त्र्याद्बहीरूपतामुल्लिलासयिषुर्वाच्यवाचकक्रमानुदयाद्विभागस्यास्फुटत्वाच्चिज्ज्योतिष एव प्राधान्याद्द्रष्टृरूपतया पश्यन्तीशब्दव्यपदेश्या, तदनु वाच्यवाचकक्रमस्य आसूत्रितविभात्वेऽपि स्फुटास्फुटरूपत्वेन बुद्धिमात्रनिष्ठतया दर्शनप्राधान्याद्द्रष्टृदृश्ययोरन्तरालवर्तित्वेन मध्यमापदवाच्या, ततोऽपि स्थानकरणप्रयत्नबलात्तत्तद्वर्णक्रमोपग्रहाद्विभागस्य स्फुटत्वात् दृश्यस्यैव प्राधान्यात् विखरे शरीरे भवत्वाद्वैखरीशब्दाभिधेया,—इत्यस्या विश्वरूपतावभासने त्रैविध्यम् ।। २३६ ।।

एवं न केवलमासाभेकैकस्य स्थूलत्वादिना त्रैरूप्यं यावत्प्रत्येकमपि,—इत्याह

तासामपि त्रिधा रूपं स्थूलसूक्ष्मपरत्वतः ।

एतदेव याक्त्रयस्यापि स्थूलोपक्रमं विभजति

तत्र या स्वरसन्दर्भसुभगा नादरूपिणी ।।२३७।।
सा स्थूला खलु पश्यन्ती वर्णाद्यप्रविभागतः ।

तत्र स्वराणां षड्जादीनां यः परस्परं लोलीभावात्मा सन्दर्भः, अत अत एव षड्जाद्येकतमत्वे नियतोऽनुद्भिन्नवर्णादिविभाग आलापः, तेन सुभगा माधुर्यातिशयादाह्लादरूपा, अत एव प्राथमिकनादमात्रस्वभावा या

वाक् सा खलु स्थूला पश्यन्ती भवतीति शेषः। ननु एवमात्मन आलापस्य स्थानवाय्वादिसंघर्षोत्थत्वमपि संभवेदिति वैखर्येव किं न स्यात्? इत्याशङ्क्याह 'वर्णाद्यप्रविभागतः' इति। वर्णाद्यप्रविभागहेतुकमेवास्या माधुर्यं, यद्वशादेवात्र सर्वेषामासक्तिः—मधुर एव हि लोको रज्यतीत्यविवादः। अन्यत्र पुनर्वर्णादिविभागात्पारुष्यं, परुषे च न कस्यचिदप्यासक्तिस्तदियाननयोः स्वानुभवसिद्धो भेद इति भावः॥ २३७॥

तदाह

अविभागैकरूपत्वं माधुर्यं शक्तिरुच्यते ॥२३८॥
स्थानवाय्वादिघर्षोत्था स्फुटतैव च पारुषी।

तदेवमत्र आसक्तिभाजां योगिनां सहसैव संविन्मयीभावो भवतीत्याह

तदस्यां नादरूपायां संवित्सविधवृत्तितः ॥२३९॥
साजात्यान्तर्म [त्तन्म] यीभूतिर्झगित्येवोपलभ्यते।

संवित्सविधवृत्तित इति मध्यमादिवद्बहीरूपतया दूरदूरमनुल्लासात्, अत एव

'गीतादिविषयास्वादा' ....।(वि० भै० ७३श्लो०)

इत्याद्यन्यत्रोक्तम्॥ २३९॥

ननु केषांचिद्गीतादाववहितचेतसामपि न तन्मयीभावो भवेदिति कथमेतदुक्तम्? इत्याशङ्क्याह

येषां न तन्मयीभूतिस्ते देहादिनिमज्जनम् ॥२४०॥
अविदन्तोमग्नसंविन्मनास्त्वहृदया इति।

लोके हि सातिशये गीतादौ विषये तन्मयीभावेन सचमत्काराणां 'सहृदया' इति, अन्यथा 'परहृदयगा' [अहृदयाः] इति प्रसिद्धिः॥२४०॥

एवं पश्यन्त्याः स्थूलं रूपं विचार्य मध्यमाया अप्यभिधत्ते

यत्तुचर्मावनद्धादि किंचित्तत्रैष यो ध्वनिः ॥२४१॥
स स्फुटास्फुटरूपत्वान्मध्यमा स्थूलरूपिणी।

तत्र चर्मावनद्धे मृदङ्गादावेव यो ध्वनिः कराघाताद्युत्थः षड्जाद्येकतमरूपत्वेन अभिव्यक्तेः पूर्वापेक्षया स्फुटो वर्णादिविभागानुल्लासाच्चास्फुटः अत एव मध्यमाशब्दव्यपदेश्यः ॥ २४१ ॥

तदेवमत्राविभागांशस्य सद्भावान्माधुर्यमपि संभवेदिति लोकस्याप्यत्रासक्तिः, इत्याह

मध्यायाश्चाविभागांशसद्भाव इति रक्तता ॥२४२॥
अविभागस्वरमयी यत्र स्यात्तत्सुरञ्जकम् ।

ननु किमियमपि पश्यन्तीवदासक्तिं जनयेत् ? इत्याशङ्कयाह 'अविभागेत्यादि' यत्र क्वचिद विभागस्वरमयी अर्थाद्वाक् स्यात् तत्सुष्ठु रञ्जकमासक्तिजननयोग्यमित्यर्थः। तेनात्राप्यासक्त्या तन्मयीभावो भवेदिति भावः। अनेनास्या अपि वैखरीतो भेदः सूचितः ॥ २४२ ॥

नन्वविभाग एवासक्तौ निमित्तमित्यत्र किं प्रमाणम् ? इत्याशङ्कयाह

अविभागो हि निर्वृत्यै दृश्यतां तालपाठतः ॥२४३॥
किलाव्यक्तध्वनौ तस्मिन्वादने परितुष्यति ।

अविभाग एव हि निर्वृतिनिमित्तं दृश्यतां साक्षात्क्रियतामित्यर्थः। नहि, दृष्टमदृष्टं भवतीति भावः, किलेति हेतौ, यतस्तालानां चञ्चुपुटादीनां पाठं गानमाश्रित्य अव्यक्तध्वन्यात्मनि तस्मिन्नविभागरूपे वादने अर्थात्सर्वोऽप्ययं लोकः परितुष्यति निर्वृतिं भजत इत्यर्थः। तेनात्र स्वानुभव एव प्रमाणमिति तात्पर्यम् ॥ २४३ ॥

एवं मध्यमायाः स्थूलं रूपमुक्त्वा वैखर्या अप्यभिधत्ते

या तु स्फुटानां वर्णानामुत्पत्तौ कारणं भवेत् ॥२४४॥
सा स्थूला वैखरी यस्याः कार्यं वाक्यादि भूयसा ।

स्फुटानामिति परस्परवैलक्षण्यावस्थानेन श्रोत्राकर्ण्यमामानानाम्, अत एव पारुष्यादत्र लोकस्य नासक्तिः ॥ २४४ ॥

एवं स्थूलं भेदत्रयमभिधाय सूक्ष्ममप्याह

अस्मिन्स्थूलत्रये यत्तदनुसन्धानमादिवत् ॥२४५॥

पृथक्पृथक्त्त्रितयं सूक्ष्ममित्यभिशब्द्यते ।

अस्मिन्समनन्तरोक्ते स्थूले भेदत्रये यदाद्यं जिगासाद्यात्मेच्छारूपमनुसन्धानं, तदेव पृथक् पृथक् पश्यन्तीमध्यमावैखरीगतं सूक्ष्मं भेदत्रयमुच्यते ॥ २४५ ॥

एतदेव क्रमेणोदाहरति

षड्जं करोमि मधुरं वादयामि ब्रुवे वचः ॥२४६॥

तेन जिगासाविवाहयिषाविवक्षात्मकानुसन्धानत्रयरूपमेतत्सूक्ष्मं भेदत्रयमिति तात्पर्यार्थः २४६ ॥

किं चात्र प्रमाणम् ? इत्याशङ्क्याह

पृथगेवानुसन्धानत्रयं संवेद्यते किल ।

संवेद्यते इति स्वानुभवसिद्धमेतदित्यर्थः ॥

एवं सूक्ष्मं भेदत्रयमुक्त्वा परमप्याह

एतस्यापि त्रयस्याद्यं यद्रूपमनुपाधिमत् ॥२४७॥

तत्परं त्रितयं तत्र शिवः परचिदात्मकः ।

एतस्य जिगासाद्यात्मनोऽनुसन्धानत्रयस्यापि यदनुपाधिमत्--जिगासाद्युपरञ्जकरहितमाद्यं रूपमिच्छाया अपि पूर्वकोटिभूतं संवित्तत्त्वं, तदेतत्परं भेदत्रयम् । नन्वनुपाधिमति अत्र संवित्तत्वे भेदस्यावकाशमात्रमपि न संभवेत् तत्कथमत्र त्रिरूपत्वमुक्तम् ? इत्याशङ्क्याह 'शिवः परचिदात्मकः' इति । परचिन्मात्ररूपशिवैकात्म्येनात्र पश्यन्त्यादित्रयमवभासत इत्यर्थः, यदुक्तम्

स्वामिनश्चात्मसंस्थस्य भावजातस्य भासनम् ।
अस्त्येव न विना तस्मादिच्छामर्शः प्रवर्तते ॥' ई. प्र. १।५।२०

इति ॥ २४७ ॥

ननु परस्य निरंशस्य प्रकाशस्य विभागेन प्रकाशनमेव नोपपद्यते, तत्रापि त्रैरूप्ये किं निमित्तम् ? इत्याशङ्क्याह

विभागाभासनायां च मुख्यास्तिस्रोऽत्र शक्तयः ॥२४८॥

कास्ताः ? इत्याह

अनुत्तरा परेच्छा च परापरतया स्थिता ।२४९।।
उन्मेषशक्तिर्ज्ञानाख्या त्वपरेति निगद्यते ।।

ह्रस्वत्रयमेव च भैरवात्मनः परस्य तत्त्वस्य शक्तिरूपतया पूर्वं निर्णीतम्, तदुक्तम्

'अतः षण्णां त्रिकं सारं चिदिष्युन्मेषणात्मकम् ।
तदेव त्रितयं प्राहुर्भैरवस्य परं महः ।।', (३।९२)

इति ।। २४९ ।।

इदानीं विभागाभासनमेव प्रपञ्चयति

क्षोभरूपात्पुनस्तासामुक्ताः षट् संविदोऽमलाः ।

तासामिति तिसृणां शक्तीनां क्षुब्धं रूपमाश्रित्य, पुनः षट् ऊनतान्ताः संविदः पूर्वमुक्ताः, ताश्च क्षुब्धत्वेऽपि स्वस्वरूपाप्रच्यावादमलाः, अत एव च परस्परसंघट्टेन संविदन्तरावभासनेऽपि योग्याः । तदुक्तम्

'स्वराणां षट्कमेवेह मूलं स्याद्वर्णसन्ततौ ।
षड्देवतास्तु ता एव ये मुख्याः सूर्यरश्मयः ।।'(३।१८४)

इति ।।

अत आह

आसामेव समावेशात्क्रियाशक्तितयोदितात् ।।२५०।।
संविदो द्वादश प्रोक्ता यासु सर्वं समाप्यते ।

तासामेव षण्णां संविदां क्रियाशक्तितयोदितेन परस्परसंघट्टेन द्वादश संविदः प्रोक्ताः—षण्ठवर्जं सन्ध्यक्षरादिरूपोपग्रहात्स्वरद्वादशकात्मनावभासिता इत्यर्थः । एतास्वेव च संवित्सु वक्ष्यमाणनीत्या प्रमेयादिक्रमेण परमात्रन्तमवस्थितत्वात् अतोऽतिरिक्तस्य चाभावात् सर्वस्य परिपूर्तिः 'यासु सर्वं समाप्यते' इति इति । इयदेव च मुख्यं शक्तिचक्रम्—अत्रैवोक्तवक्ष्यमाणनीत्या शक्त्यन्तराणामन्तर्भावात् ।। २५० ।।

तदाह

एतावद्देवदेवस्य मुख्यं तच्छक्तिचक्रकम् ॥२५१॥
एतावता देवदेवः पूर्णशक्तिः स भैरवः ।

एता एव द्वादशापि संविदः क्रमदर्शनादौ अन्वर्थेनापि अभिधानेन दर्शिताः,-इति दर्शयितुमाह

परामर्शात्मकत्वेन विसर्गाक्षेपयोगतः ॥२५२॥
इयत्ताकलनाज्ज्ञानात्ताः प्रोक्ताः कालिकाः क्वचित् ।

'कल शब्दे' 'कल किल बिल क्षेपे' 'कल संख्याने' 'कल गतौ' इति धात्वर्थानुगमात्क्रमेण कलयन्ति परामृशन्ति, क्षिपन्ति, विसृजन्ति संहरन्ति च गणयन्ति जानते चेति काल्यः, ता एव कालिकाः ॥ २५२ ॥

न केवलमेताः क्रमदर्शनादावेवोक्ता यावदस्मन्नयसहोदरेषु शास्त्रेष्वपीत्याह

श्रीसारशास्त्रे चाप्युक्तं मध्य एकाक्षरां पराम् ॥२५३॥
पूजयेद्भैरवात्माख्यां योगिनीद्वादशावृताम् ।

सारशास्त्रे इति श्रीत्रिकसारे, यदुक्तं तत्र

'परां त्वेकाक्षरां मध्ये शंखकुन्देन्दुसुन्दराम् ।
चतुर्भुजां चतुर्वक्त्रां योगिनीद्वादशावृताम् ॥'

इति । भैरवात्माख्यामिति विश्वस्यान्तर्बहीरूपतया, पालनपूरणात्मकात् 'परा' इत्यन्वर्थानुसरणात्पूर्णात्मना समन्तात्ख्यातिः अवभासते इत्यर्थः । कालिकानां च योगिनीत्यनेन नाममात्र एवायं भेदो न वस्तुनि इति,-सूचितम् । तत्तदनुत्तराद्यामर्शरूपत्वमप्यासां संविदां श्रीत्रिकसार एवं भङ्ग्याभिहितम् । तत्र हि

'अथातः संप्रवक्ष्यामि वाग्विधानमनुत्तमम् ।'

इति वाच एव प्राधान्यमुपक्रम्य

'तद्बीजं तु विभिन्नं वै स्वरैर्द्वादशभिः क्रमात् ।
ताश्चैव तु तथा देव्यः.......... ॥'

इत्याद्युक्तं । एतच्च शाक्तोपायाह्निक एव वितत्य विचारयिष्यते,-इति नेहायस्तम् ॥ २५३ ॥

आसां च यत्प्रोक्तं मुख्यत्वं तदेव प्रपञ्चयति

ताभ्य एव चतुःषष्टिपर्यन्तं शक्तिचक्रकम् ॥२५४॥
एकारतः समारभ्य सहस्रारं प्रवर्तते ।
तासां च कृत्यभेदेन नामानि बहुधागमे ॥२५५॥
उपासाश्च द्वयाद्वैतव्यामिश्राकारयोगतः ।
श्रीमत्त्रैशिरसे तच्च कथितं विस्तराद्बहु ॥२५६॥
इह नो लिखितं व्यासभयाच्चानुपयोगतः ।

आगम इति सामान्येनोक्तेः श्रीमत्त्रैशिरस इत्यनेन विशेषो दर्शितः, तत्तत एव प्रथमपटलादेतदनुसर्तव्यमिति भावः ॥ २५६ ॥

ननु यद्येवं तदघोराद्याः सृष्टयादिक्रमेष्वप्यवस्थिता याः शक्तयः, किमासामेव स्फारो न वा ? इत्याशङ्क्याह

ता एव निर्मलाः शुद्धा अघोराः परिकीर्तिताः ॥२५७॥
घोरघोरतराणां तु सोतृत्वाच्च तदात्मिकाः ।
सृष्टौ स्थितौ च संहारे तदुपाधित्रयात्यये ॥२५८॥
तासामेव स्थितं रूपं बहुधा प्रविभज्यते ।

प्रक्षीणमलत्वेऽपि उद्रिक्तदृक्क्रिया इत्युक्तं 'निर्मलाः शुद्धा' इति । तस्य सृष्टयाद्यात्मन उपाधि त्रयस्य अत्ययोऽनाख्यं, यथैवासां द्वादशानामपि संविदामनाख्याक्रमे रूपं प्रविभक्तं तथैव सृष्टयादिक्रमेष्वपिति समुच्चितत्वमभिधातुं 'तदुपाधित्रयात्यय' इत्युपात्तम् ॥ २५८ ॥

ननु अनाख्यक्रमे योऽयं सृष्टयाद्यात्मन उपाधि-त्रयस्य अत्यय उक्तः स किं प्रागभावरूपः प्रध्वंसाभावरूपो वा ? इत्याशङ्क्याह

उपाध्यतीतं यद्रूपं तद्द्विधा गुरवो जगुः ॥२५९॥
अनुल्लासादुपाधीनां यद्वा प्रशमयोगतः ।

अनुल्लासादिति प्रागभावरूपात्, प्राक्कोटौ हि निस्तरङ्गजलधिप्रख्यं परं तत्त्वं, यतः स्वस्वातन्त्र्याद्बाह्योन्मुखतायामुपाधीनामुल्लासः स्यात्, प्रशमयोगत इति प्रध्वंसाभावरूपात् ॥ २५९ ॥

प्रशमो हि द्विधेत्याह

प्रशमश्च द्विधा शान्त्या हठपाकक्रमेण तु ॥२६०॥
अलंग्रासरसाख्येन सततं ज्वलनात्मना ।

शान्त्येति शान्तेन मधुरपाकक्रमेणा गुर्वाद्याराधनपूर्वं समय्यादि-दीक्षासाधनेन तत्तन्नित्यनैमित्तिकाद्यनुष्ठाननिष्ठतया देहान्ते सृष्टयाद्युपाधीनामत्ययो भवेदित्यर्थः । शान्तिः पुनः स्वारसिक एव सृष्ट्याद्युपाधीनां प्रशमो न वाच्यः, तथात्वे हि शास्त्रोपदेशादेरानर्थक्यं स्यात् स्वरसत एवोपाधीनां कादाचित्कस्य प्रशमस्याभावात्, तथालम् अत्यर्थं सार्वात्म्येन, यः सृष्ट्यादीनां ग्रासः स्वात्मसात्कारस्तत्र रसो गृध्नुता तत्त्वेनालंग्रासभैरवादावाख्या यस्य, अत एव सततमविच्छिन्नतया ज्वलन् यथायथं दाह्यनिष्ठतया दीप्यमान आत्मा स्वरूपं यस्य, एवंविधेन हठेन क्रमव्यतिक्रमरूपेण सकृदुपदेशात्मना बलात्कारेण यः पाकः चिदग्निसात्कारः, तस्य क्रमः परिपाटी, तेन सृष्ट्याद्युपाधीनामत्ययो भवेत् इत्यर्थः । इह खलु सर्वेषामेव सृष्ट्याद्युपाधित्रयास्य य एव समभिलषणीयः,, इति तत्कार्यक्षमः कश्चनोपायविशेषोऽत्रश्यानुसन्धातव्यः, स च त्रिधेत्युक्तः तत्र यो नामानुल्लास एवोपाधीनामुक्तः स दूरापास्तः, समुल्लसितानामेवैषामत्ययस्येष्टेः, शान्त्याख्यश्च उपायविशेषो यद्यपि शनैः शनैर्देहान्ते तदत्ययक्षमः तथापि स मन्दशक्तिपाताधिकारेण प्रवृत्तः, इति शीव्रशक्तिपाताधिकारेण तृतीयस्य हठपाकप्रशमस्यैवोपायविशेषस्योपदेशो युक्तो येन झटित्येवोपाधिविगलनं भवेत् ॥ २६० ॥

तदाह

हठपाकप्रशमनं यत्तृतीयं तदेव च ।
उपदेशाय युज्येत भेदेन्धनविदाहकम् ॥२६१॥

युज्येतेत्यत्र हेतुः 'भेदेन्धनविदाहकम्' इति । अस्यैव हि सहसैव भेदविलापने परं सामर्थ्यमिति भावः ॥ २६१ ॥

अत आह

निजबोधजठरहुतभुजि भावाः सर्वे समर्पिता हठतः ।

विजहति भेदविभागं निजशक्त्या तं समिन्धानाः ॥२६२

सर्वं एव हि सृष्ट्यादयो भावो बोधाग्नौ हठेन समर्पिता भेदविभागं विजहति, बोधैकरूपतया, परिस्फुरन्तीत्यर्थः। ननु यदि नाम सर्वे भावास्तत्तद्रूपतया बोधादतिरिक्तास्तत्किमिति तदेकरूपतया परिस्फुरन्ति ? इत्याशङ्क्याह 'निजशक्त्या तं समिन्धाना' इति। तेऽपि बोधरूपतया निजशक्त्या तमेव बोधमुद्दीपयन्तोऽत्रभासन्त इत्यर्थ। अबोधरूपत्वे हि तेषामबुध्यमानत्वमेव भवेदिति भावः ॥ २६२ ॥

नन्वेवं किं स्यात् ? इत्याशङ्क्याह

हठपाकेन भावानां रूपे भिन्ने विलापिते।
अश्नन्त्यमृतसाद्भूतं विश्वं संवित्तिदेवताः ॥२६३॥

चिदग्न्युद्बोधनपूर्वं हठपाकक्रमेण सृष्ट्यादीनां भावानां भेदस्य विलापनात् अमृतसाद्भूत बोधैकरूपतामापन्नं सत् विश्वं, संवित्तिदेव्यः करणेश्वर्योऽश्नन्ति परबोधैकरूपतया परामृशन्तीत्यर्थः। अथ च लौकिको भोक्तृभोग्यव्यवहारोऽपि अत्राक्षिप्तः, तद्विशिष्टत्वेनैव प्रकृतस्यार्थस्यावगतेः ॥२६३॥

ततोऽपि किम् ? इत्याह

तास्तृप्ताः स्वात्मनः पूर्णं हृदयैकान्तशायिनम्।
चिद्व्योमभैरवं देवमभेदेनाधिशेरते ॥२६४॥

ताश्च संवित्तिदेवतास्तृप्ताः परबोधैकरूपतासादनेनानन्यापेक्षाः सत्यो हृदयैकान्तशायिनं सारभूतपरामर्शैकविश्रान्तम्, अत एव पूर्णमनन्याकाङ्क्षम्, अत एव च देवं द्योतनैकसतत्त्वं, चिद्व्योमभैरवं परप्रकाशात्म परं तत्त्वं, स्वात्मनः स्वस्वरूपस्याभेदेनाधिशेरते तदेकरूपतया परिस्फुरन्तीत्यर्थः। अथ चात्र पूर्ववल्लौकिकनायकव्यवहार आक्षिप्तः ॥ २६४ ॥

नन्वासां चिदात्मनि परस्मिन्रूपे विश्रान्तत्वात् तदतिरिक्तस्यान्यस्याभावात् द्वादशविधं रूपं कुतस्त्यम् ? इत्याशङ्क्याह

एवं कृत्यक्रियावेशान्नामोपासाबहुत्वतः।
आसां बहुविधं रूपमभेदेऽप्यवभासते ॥२६५॥

कृत्यं रूपाद्यालोचनादि, नाम चक्षुरादिदेवतादि, उपासा रूपाद्यालोचना

त्मवृत्तिविलापनादिरूपा। 'अभेदेऽपि बहुविधमवभासत' इत्यनेन काल्पनिकत्वमुक्तम् ॥ २६५ ॥

ननु यदि कृत्यादिभेदादासां बहुविधत्वं तद्रूपाद्यालोचनात्मकृत्यमपि द्वादशविधमेव तदतिरिक्तस्य कृत्यान्तरस्याभावात्,-इत्यासां द्वादशविधादेव रूपान्न्यूनमधिकं वा रूपं न स्यात्,—इति 'ताभ्य एव चतुःषष्टिपर्यन्तं शक्तिचक्रकम्' (३। ५४)

इत्यादि कथमुक्तम् ? इत्याशङ्क्याह

आसामेव च देवीनामावापोद्वापयोगतः ।
एकद्वित्रिचतुष्पञ्चषट्सप्ताष्टनवोत्तरैः ॥२६६॥
रुद्रार्कान्यिकलासेनाप्रभृतिर्भेदविस्तरः ।

आवापः संक्षेपः, उद्वापो विकासः। आसामेव हि स्वस्वातन्त्र्यात् कमलवदनवरतं संकोचविकाससंभव इति भावः। उत्तरे दश, अन्ये त्रयोदश, कलाः षोडश. सेना अष्टादशाक्षौहिण्यः ॥ २६६ ॥

तदेवं प्रसक्तानुप्रसक्त्यागतमेतदुपसंहरन्प्रकृतमेवावतारयति

अलमन्येन बहुना प्रकृतेऽथ नियुज्यते ॥२६७॥

अन्येनेत्यवान्तरेण शाम्भवोपायप्रतिपादनेन, तस्य हि मुख्यतया विश्वचित्प्रतिबिम्बत्वादिना त्रिधा रूपं निरूपितं येन तदुपासन्नानां झटित्येवाविकल्पस्वरूपावाप्तिः स्यात्; तदनेकप्रमेयसंकुलतया विश्वचित्प्रतिबिम्बत्वाद्येवोपदेश्या मा विस्मार्षुः,—इति तदेव तान्प्रति संक्षेपेणोच्यते, इत्याह 'प्रकृतेऽथ नियुज्यते' इति। अथेत्यानन्तर्ये, तदितोऽनन्तरं प्रकृतं विश्वचित्प्रतिबिम्बत्वाद्येव प्रस्तूयते इत्यर्थः ॥ २६७ ॥

अत आह

संविदात्मनि विश्वोऽयं भाववर्गः प्रपञ्चवान् ।
प्रतिबिम्बतया भाति यस्य विश्वेश्वरो हि सः ॥२६८॥
एवमात्मनि यस्येदृगविकल्पः सदोदयः ।
परामर्शः स एवासौ शांभवोपायमुद्रितः ॥२६९॥
पूर्णाहन्तापरामर्शो योऽस्यायं प्रविवेचितः ।

मन्त्रमुद्राक्रियोपासास्तदन्या नात्र काश्चन ॥२७०॥

यस्य तीव्रशक्तिपातवतः साधकादेर्विश्वः प्रमातृप्रमेयात्मा तद्भेदोपभेदादिना प्रपञ्चवानप्ययं भाववर्गः प्रतिबिम्बतया भाति दर्पणनगरन्यायेनातिरिक्तायमानत्वेऽपि अनतिरिक्तत्वेन स्वात्ममात्ररूपतयैवावभासते, स खलु विश्वेश्वरः परप्रकाशात्मभगवदैकात्म्येन प्रकाशत इत्यर्थः। यस्याप्येवं भाववर्गस्य प्रतिबिम्बकल्पतयावभासने सति स्वात्मनीदृगहमेव भाववर्गात्मना प्रस्फुरित इत्येवमात्मसाक्षात्काररूपः सततोदितः परामर्शः स्यात्, एवासौ शांभवोपायेन मुद्रितः स्वसमुचितोपेयासादनेन नियमित इत्यर्थः। अत एवास्य सर्वविषयतया पूर्णो योऽयमहन्तापरामर्शः प्रविवेचितः' अर्थात्तस्यैवात्र शांभवोपाये काश्चन मन्त्रमुद्राक्रियोपासा न ततः पूर्णाहन्तापरामर्शादन्या, परप्रमात्रेकरूपस्वात्माभेदेनैव प्रस्फुरन्तीत्यर्थः। न ह्येतत्पदमधिशयानस्यैतदुपयोग इति भावः। यदुक्तम्

'अयं रसो येन मनागवाप्तः स्वच्छन्दचेष्टानिरतस्य तस्य ।
समाधियोगव्रतमन्त्रमुद्राजपादिचर्या विषवद्विभाति ॥'

इति। वक्ष्यति च—

'स्नानं व्रतं देहशुद्धिर्धारणा मन्त्रयोजना ।
अध्वक्लृप्तिर्यागविधिर्होमजप्यसमाधयः ॥
इत्यादिकल्पना कापि नात्र भेदेन युज्यते ।'
(तं० ३।२९०)

इति ॥ २७० ॥

तदेवं त्रिविधमपि शांभवोपायमुपासन्नो महात्मा जीवन्नेव मुक्तिमासादयेदित्याह

भूयो भूयः समावेशं निर्विकल्पमिमं श्रितः ।
अभ्येति भैरवीभावं जीवन्मुक्त्यपराभिधम् ॥२७१॥

ननु पूर्वम्

'तत्र तावत्क्रियायोगो नाभ्युपायत्वमर्हति ।'(तं० २।८)

त्यादिना नित्योदितत्वेनादिसिद्धत्वाद्भैरवीयायां संविदि ज्ञापकः कारको

वा न कोऽप्युपायः समस्तोत्युक्तं तत्कथमिदमिदानीमुक्तमयं निर्विकल्पः समावेशोऽत्राभ्युपायः ? यत्याशङ्क्याह

इत एव प्रभृत्येषा जीवन्मुक्तिर्विचार्यते ।
यत्र सूत्रणयापीयमुपायोपेयकल्पना ॥२७२॥
प्राक्तने त्वाह्निके काचिद्भेदस्य कलनापि नो ।
तेनानुपाये तस्मिन्को मुच्यते वा कथं कुतः ॥२७३॥

सूत्रणयापीति, आह्निकान्तरेषु पुनः स्फुटैव भविष्यतीति भावः। भेदस्येति कर्तृकरणापादानानादेः, अत एवोक्तं 'कः कथं कुत' इति ॥२७३॥

उपायोपेयभावमेव चात्र दर्शयति

निर्विकल्पे परामर्शे शाम्भवोपायनामनि ।
पञ्चाशद्भेदतां पूर्वसूत्रितां योजयेद्बुधः ॥२७४॥
धरामेवाविकल्पेन स्वात्मनि प्रतिबिम्बिताम् ।
पश्यन्भैरवतां याति जलादिष्वप्ययं विधिः ॥२७५॥
यावदन्ते परं तत्त्वं समस्तावरणोर्ध्वगम् ।
व्यापि स्वतन्त्रं सर्वज्ञं यच्छिवं परिकल्पितम् ॥२७६॥

पूर्वेति प्रथमाह्निके । यदुक्तम्

'पञ्चाशद्विधता चास्य समावेशस्य वर्णिता ।
तत्त्वषट्त्रिंशकैतत्स्थस्फुटभेदाभिसन्धितः ॥'
(तं० १। १८७)

इत्यादि, योजयेदित्येकैकश्येन उपायतया परिकल्पयेदित्यर्थः। तदाह धरामित्यादि। एकमेव धरातत्त्वमविकल्पज्ञानेन न तु विकल्पमात्रेण स्वात्मनि प्रतिबिम्बितं पश्यन् स्वात्मसंविन्मात्ररूपतया साक्षात्कुर्वन् सर्वस्य सर्वात्मकत्वाद्भैरवतां याति परप्रकाशरूपतया परिस्फुरतीत्यर्थः एतदेव च तत्त्वान्तरेष्वप्यतिदिशति 'जलादिष्वपि' इत्यादिना। अयं विधिरिति जलादिशिवतत्त्वपर्यन्तं तत्त्वजालमविकल्पवृत्त्या स्वात्मनि प्रतिबिम्बितं पश्यन् भैरवतां यातीति। ननु यदि नाम परं तत्त्वं व्यापि तत्कथं पञ्चत्रिंशत्तत्त्वीमुज्झित्वा षट्त्रिंशद्रूपतयैवोक्तमित्याशङ्क्याह 'समस्तावरणोर्ध्वगं

परिकल्पितम्' इति । वस्तुतो हि तज्ज्ञातृकर्तृस्वभाव परप्रमात्रेक रूपमित्युक्तं 'स्वतन्त्रं सर्वज्ञम्' इति ।। २७६ ।।

ननु यदि नाम परप्रमात्रेकरूपं भैरवात्मकं परं तत्त्वं तत्कथं दर्शन क्रियायां भैरवात्मत्वे चोपायतां यायात् ? इत्याशङ्क्याह

तदप्यकल्पितोदारसंविद्दर्पणबिम्बितम् ।
पश्यन्विकल्पविकलो भैरवी भवति स्वयम् ।।२७७।।

न केवलं तत्त्वान्तराणि यावत्तत्प्रमात्रेकरूपं भैरवात्मकं च परं तत्त्वमपि

'स्वातन्त्र्यामुक्तमात्मानं स्वातन्त्र्यादद्वयात्मनः ।
प्रभुरीशादिसंकल्पैर्निर्माय व्यवहारयेत् ।।'
(ई० १। ५। १६)

इत्याद्युक्तयुक्त्या स्वस्वातन्त्र्यात्स्वात्मनि परिकल्पितोपायोपेयभावं सत् विकल्पविकलः शाम्भवोपायसमाविष्टः साधकादिरकल्पितत्वादेव तत्तदुपाधिसंकोचाभावादुदारा येयं संवित् सैव स्वच्छतातिशयाद्दर्पणस्तत्र प्रतिबिम्बितं पश्यन् तन्मात्ररूपतया साक्षात्कुर्वन् स्वयमनन्यापेक्षमेव भैरवीभवति, अविकल्पितोदारसंविदात्मना परिस्फुरतीत्यर्थः ।। २७७ ।।

ननु परतत्त्वद्वारेण पूर्णस्वरूपावेशो यद्युच्यते तदास्तां धराद्यंशांशिकामुखेन पुनः कथमसौ स्यात् ? इत्याशङ्क्याह

यथा रक्तं पुरः पश्यन्निर्विकल्पकसंविदा ।
तत्तद्द्वारनिरंशैकघटसंवित्तिसुस्थितः ।।२७८।।
तद्वद्धरादिकैकैकसंघातसमुदायतः ।
परामृशन्स्वमात्मानं पूर्ण एवावभासते ।।२७९।।

इह खलु सर्व एव द्रष्टा यथा निर्विकल्पकेन ज्ञानेन रक्तं लोहितं गुणं तदुपलक्षितं पृथुबुध्नोदराकारादिसन्निवेशाद्यपि पुरः पुरतः प्रथममेव वा साक्षात्कुर्वंस्ते ते स्वेच्छादिनावभासमाना रक्ततादयोंऽशा द्वारमुपायो यस्यास्तथाविधा येयं निरंशस्य अनेकसामान्याभाससंमेलनात्मक स्वलक्षणरूपस्य अखण्डस्य, अत अवांशापेक्षयैकस्य प्रधानस्य सम्यगन्यूनातिरिक्तत्वेन

वित्तिरवबोधस्तया सुष्ठु 'ज्ञातोऽयं मया घटः' इत्यादिसन्तोषाधानात् नैराकाङ्क्षयेण स्थितः स्वात्मात्रविश्रान्तो भवेत्, तथैव धरादि पृथ्वीजलादि यदेकमेकं तत्त्वं, तथा धरादिर्यो भूताद्यात्मा संघातः तथा धरादिर्यः पञ्चाशदात्मा समुदायस्तदवलम्बनेन स्वामात्मानं निर्विकल्पकवृत्त्या परामृशन् पूर्ण एवावभासते स्वात्मसंवित्तिमात्ररूपतया प्रस्फुरतीत्यर्थः ॥ २७९ ॥

ननु धरादितत्त्वसमुदायात्मकं विश्वं नामेदं भिन्नमेवावभासते तत्कथमेवं परामर्शेनैव स्वात्मसंविन्मात्ररूपता ? इत्याशङ्क्याह

मत्त एवोदितमिदं मय्येव प्रतिबिम्बितम् ।
मदभिन्नमिदं चेति त्रिधोपायः स शाम्भवः ॥२८०॥

मत्त इति

'सर्वत्रात्र ह्यहंशब्दो बोधमात्रैकवाचकः ।'(तं० १। १३२)

इत्याद्युक्त्या परस्माद्बोधात् न पुनरविद्यादेरिदं प्रमातृप्रमेयात्म विश्वमुदितम्, एवंभूतमपि तन्मयि बोधे प्रतिबिम्बितमनतिरिक्तत्वेऽपि अतिरिक्तायमानत्वेन न पुनर्विच्छिन्नतयैवावस्थितमेवमपि संह्रियमाणामिदं ममैवाभिन्नं बोधात्मनैव पारमार्थिकेन रूपेण सत् न पुनरवयवविभागक्रमेण द्व्यणुकत्वाद्यापत्त्या पारमाणवेन रूपेण,-इति युक्तमेव परामर्शमात्राद्विश्वस्य संविन्मात्ररूपत्वमित्येवं परामर्श एव चास्य शांभवस्योपायस्य स्वरूपमित्युक्तम् 'इति त्रिधोपायः स साम्भवः' इति ॥ २८० ॥

एवमहंपरामर्शस्य च सृष्टयादयो निबन्धनमिति तदासूत्रणमपि अनेन कृतमित्याह

सृष्टेः स्थितेः संहृतेश्च तदेतत्सूत्रणं कृतम् ।
यत्र स्थितं यतश्चेति तदाह स्पन्दशासने ॥२८१॥

न चैतदस्माभिरेवोक्तं यावद्गुरुभिरपीत्याह यत्रेत्यादि । तदुक्त तत्र

'यत्र स्थितमिदं विश्वं कार्यं यस्माच्च निर्गतम् ।
तस्यानावृतरूपत्वान्न निरोधोऽस्ति कुत्रचित् ॥'
(स्प० १का० २)

यतो निर्गतमिति सृष्टिरुक्ता, यत्र स्थितमित्यनतिरिक्तत्वेन चातिरिक्तायमानत्वेन,-इति स्थितिसंहारौ ॥ २८१ ॥

ननु किमिदं नाम संविदः सृष्टयादिकारित्वमुक्तं

'यानुभूतिरजामेयानन्तात्मानन्दविग्रहा' ।

इत्यादिलक्षणान्तरं किंचिद्ब्रह्मवादिवदभिधानीयं येनास्या वाद्यन्तरसिद्धमसाधारणं रूपभिहितं स्यात् ? इत्याशङ्कयाह

एतावतैव ह्यैश्वर्यं संविदः ख्यापितं परम् ।
विश्वात्मकत्वं चेत्यन्यल्लक्षणं किं नु कथ्यताम् ।।२८२।।

एतावता सृष्टयादिकारित्वेनैव हि संविद ऐश्वर्यं विश्वात्मकत्वं च परं वाद्यन्तरवैलक्षण्येन अत्यर्थं ख्यापितमुक्तं भवेदित्यर्थः। एतदेव ह्यस्या मुख्यमसाधारणं लक्षण यत्स्वातन्त्र्याद्विश्वात्मकत्वेन परिस्फुरतीति, अत एव किंनु नाम लक्षणान्तरमस्याः कथ्यतां, तेन कथितेन न किंचिदुक्तं भवेदिति भावः । तथात्वे हि प्रत्युत अविद्यादेरतिरेकानतिरेकविकल्पोपहतत्वाद्विश्ववैचित्र्ये कारणमेव न सिद्धयेत्, तेनास्याः सृष्टयादिकारित्वमेव मुख्यं लक्षणमिति यथोक्तमेव युक्तम् ।। २८२ ।।

अत एव स्वात्मनि सृष्टयादिकारित्वमेव परा मृशन् परसंविदैकात्म्यमेति,–इत्याह

स्वात्मन्येव चिदाकाशे विश्वमस्म्यवभासयन् ।
स्रष्टा विश्वात्मक इति प्रथया भैरवात्मता ।।२८३।।
षडध्वजातं निखिलं मय्येव प्रतिबिम्बितम् ।
स्थितिकर्ताहमस्मीति स्फुटेयं विश्वरूपता ।।२८४।।
सदोदितमहाबोधज्वालाजटिलतात्मनि ।
विश्वं द्रवति मय्येतदिति पश्यन्प्रशाम्यति ।।२८५।।

तन्वेवमपि विश्वस्य सृज्यमानत्वादिरूपतया संस्कारेणावस्थानात्कथमस्य प्रशान्ततोदियात् ? इत्याशङ्कयाह

अनन्तचित्रसद्गर्भसंसारस्वप्नसद्मनः ।
प्लोषकः शिव एवाहमित्युल्लासी हुताशनः ।।२८६।।

देशाध्ववक्ष्यमाणनीत्या निःसंख्याकत्वादनन्ता नानासंनिवेशात्मकत्वाच्च

चित्राः, अत एव सन्तः शोभना गर्भा भुवनानि यस्यैवंविधो यः संसारस्तत्तत्त्वात्मा विश्वस्फारः स एवासारत्वात् स्वप्नसद्म, जागरासद्मनो हि प्लोषेऽवशेषसंभावनापि स्यादिति भावः। तस्य प्लोषकः स्रष्टास्मीत्यादिपरामर्शवलोपनीतः, अत एव सतताभ्यासादुल्लसनशीलोऽनवच्छिन्न संविदात्मकः शिव एवाहमिति परामर्श एव हुताशनो विश्वसंस्कारस्यापि स्वात्मसंविस्सात्कारक इत्यर्थः यथा ह्यग्नावुदयति अनेकावरकप्रायेऽपि सद्मनि किंचिदवशिष्यते तथैव शिवात्मतायामप्युल्लसितायां विश्वस्येति ॥ २८६ ॥

ननु सृष्ट्यादिकारित्वेन स्वात्मनि यः संवित्साक्षात्कारः स सृष्ट्याद्यवच्छिन्नः—इति कथं तन्मुखेनानवच्छिन्नसंविदैकात्म्यं स्यात् ? इत्याशङ्क्याह

जगत्सर्वं मत्तः प्रभवति विभेदेन बहुधा
तथाप्येतद्रूढं मयि विगलिते त्वत्र न परः।
तदित्थं यः सृष्टिस्थितिविलयमेकीकृतिवशा-
दनंशं पश्येत्स स्फुरति हि तुरीयं पदमितः ॥२८७॥

बहुप्रकारं निखिलमिदं जगत्परस्मादेव बोधाद्विच्छिन्नतयोदेति, तथोदितमपि तत्रैव बोधे विश्रान्तम्, एवमपि संहृते तस्मिञ्जगति न परः कश्चिदवशिष्यते अपितु बोध एवेति। इत्थमुक्तेन प्रकारेण बोधस्यैव सर्वदशास्वनुस्यूतत्वाद्यः सृष्ट्यादि बोधैकात्म्यलक्षणादेकीकाराद्धेतोरनंशं पश्येत्सृष्ट्यादिविभागविगलनेन अखण्डबोधैकरूपतया साक्षात्कुर्यात् स शाम्भवोपायसमाविष्ट एव हि तुरीयं पदं प्राप्तः सन् स्फुरति, अनाख्यपरसंविद्रूपत्वेनावभासत इत्यर्थः। स इत्येकवचनेन बहूनामत्रनाधिकार,—इति सूचितम् ॥ २८६ ॥

एत एवाह

तदस्मिन्परमोपाये शाम्भवाद्वैतशालिनि।
केऽप्येव यान्ति विश्वासं परमेशेन भाविताः ॥२८८॥

भाविता इति तीव्रतीव्रशक्तिपातत्वेन भगवतात्राधिकृतत्वेनाधिवासिता इत्यर्थः। अत एव केऽप्येवेत्युक्तं, न हि एवंविधशक्तिपातपात्रत्वं सर्वेषामेव भवेदिति भावः। यदाहुः

'पूजकाः शतशः सन्ति भक्ताः सन्ति सहस्रशः।
प्रसादपात्रमाश्वस्ताः प्रभोर्द्वित्रा न पञ्चषाः॥'

इति । परमत्वे चास्य शाम्भवाद्वैतशालित्वं हेतुः, अन्ये ह्याणवादयो भेदरूपत्वादपरमा एव, इत्याशयः । अत एवात्र स्नानादि भिन्नमुपायजातं न किंचिदुपयुक्तम् ॥ २८८ ॥

तदाह

स्नानं व्रतं देहशुद्धिर्धारणा मन्त्रयोजना ।
अध्वक्लृप्तिर्यागविधिर्होमजप्यसमाधयः ॥२८९॥
इत्यादिकल्पना कापि नात्र भेदेन युज्यते ।

ननु यद्यत्र भिन्नमुपायजातं नोपयुक्तं तदेतदुपायाविष्टः कथं नामाचार्यः परानुग्रहं कुर्यात् ? इत्याशङ्क्याह

परानुग्रहकारित्वमत्रस्थस्य स्फुटं स्थितम् ॥२९०॥
यदि तादृगनुग्राह्यो देशिकस्योपसर्पति ।

तादृगिति शाम्भवोपायभाजनं, तस्य हि तद्दर्शनसंभाषणमात्रादिनैव

'.........दीपाद्दीपमिवोद्यतम् ।'

इत्याशयेन स्वात्मनि कृतकृत्यत्वं जायते,-इति किं नाम भिन्नेनोपायजातेन प्रयोजनमिति भावः २९०

नन्वनेवंविधश्चेत् कश्चित्तदाराधनाय प्रवृत्तः स्यात्तत्रानेन किं प्रतिपत्तव्यम् ? इत्याशङ्क्याह

अथासौ तादृशो न स्याद्भवभक्त्या च भवितः ॥२९१॥
तं चाराधयते भावितादृशानुग्रहेरितः ।
तदा विचित्रं दीक्षादिविधिं शिक्षेत कोविदः ॥२९२॥

तादृश इति शाम्भवोपायभाजनं, न स्यादिति तीव्रतीव्रशक्तिपाताभावात् । अथ च

'तत्रैतत्प्रथमं चिह्नं रुद्रे भक्तिः सुनिश्चला ।' (मा० वि० २।१४)

इत्यादिनीत्या शक्तिपातावेदकेन भवभक्त्याख्येन प्रथमेन चिह्नेनाधिष्ठितः, शक्तिपातस्य चात्र भवभक्त्याख्यस्यैकस्य तच्चिह्नस्य निर्देशाच्चिह्नान्तराणां चानिर्देशान्मन्दमन्दादिरूपत्वं सूचितम् । एवं मन्दमन्दादिशक्तिपातवत्त्वेऽपि

स न समुचितमाणवाद्युपायमात्राभिज्ञं गुरुमाराधयितुं प्रवृत्तोऽपि तु शाम्भवोपायात्रिष्टमित्युक्तं 'तं चाराधयते' इति। यतः स भाविताहशानुग्रहेरितः, न ह्याणवोपायमात्राभिज्ञाद्गुरोर्भाविनमपि शाम्भवोपायसमुचितमनुग्रहं लभते इति भावः, तेन

'न चावज्ञा क्रियाकाले संसारोद्धरणं प्रति।'

इत्याद्युक्तेः शिष्यस्य चोक्तयुक्त्या गत्यन्तराभावादवश्यमेव अस्य तदुद्दिधीर्षया भिन्ननुपायजातमुपयुक्तमित्याह तदा विचित्रमित्यादि। अत एव पूर्वं

'सोऽपि स्वातन्त्र्यधाम्ना चेदप्यनिर्मलसंविदाम्।
अनुग्रहं चिकीर्षुस्तद्भाविनं विधिमाश्रयेत् ॥' (तं० २।४४)

इत्याद्युक्तम्। विचित्रमिति अनुग्राह्यभेदात्। यदुक्तं प्राक्

'अनुग्राह्यानुसारेण विचित्रः स च वक्ष्यते।'(तं० २।४५)

इति ॥२९२॥

नन्वेवंविधस्यानुग्राह्यस्य शाम्भवोपायसमावेशभाजो गुरोः सकाशादाणवापायप्रक्रियया चेदनुग्रहो वृत्तस्तर्हि 'शाणसूत्रवानाभ्यासे त्रसरतन्तुवानवैचित्र्यलाभः' इत्यादिन्यायेन हेतुफलभावस्य नैयत्याद्भात्यपि शांभवोपायसमुचितोऽनुग्रहः कथं नामास्य स्यात्? इत्याशङ्क्याह

भाविन्योऽपि ह्युपासास्ता अत्रैवायान्ति निष्ठितिम्।
एतन्मयत्वं परमं प्राप्यं निर्वर्ण्यते शिवम् ॥२९३॥

भाविन्य आणवादौ वक्ष्यमाणाः, तासां हि द्वारद्वारिभावेनैतदतिरिक्तस्य मृग्यस्याभावात् शाम्भवोपाय एव प्ररोह इत्युक्तम् 'अत्रैवायान्ति निष्ठितिम्' इति। अत एवैतन्मयत्वमेन नामासां श्रेयोरूपं परमुपेयं सर्वत्रैवोद्धोष्यते, न हि एताद्विश्रान्तिमन्तरेण किंचिदपि भवेदिति भावः। अत एवोपायनानात्वेऽपि नोपेयनानात्व यदभिप्रायेणैव

'द्वावप्येतौ समावेशौ निर्विकल्पार्णवं प्रति।
प्रयात एव तद्रूढिं विना नैव हि किंचन ॥
संवित्तिफलभिच्चात्र न प्रकल्प्येत्यतोऽब्रवीत्' (तं० १।२२७)

इत्यादि प्रागुक्तम् ॥ २९३ ॥

एतदेव श्लोकस्य प्रथमार्धेनोपसंहरति

इति कथितमिदं सुविस्तरं परमं शाम्भवमात्मवेदनम् ॥

शैवावेशवशोल्लसदसमरसास्वादसामरस्यमयः ।
कश्चिज्जयरथनामा तृतीयमिदमाह्निकं व्यवृणोत् ॥

इति श्रीमन्महामाहेश्वराचार्यवर्यश्रीमदभिनवगुप्तविरचिते तन्त्रालोके

श्रीजयरथविरचितविवेकाभिख्यव्याख्योपेते
शां—भवोपायप्रकाशनं नाम तृतीयमाह्निकं समाप्तम् ॥३॥

अथ

श्रीतन्त्रालोके

श्रीमन्महामाहेश्वराचार्यवर्यश्रीमदभिनवगुप्तविरचिते
श्रीराजानकजयरथाचार्यकृतोद्योताभिख्यविवरणोपेते

चतुर्थमाह्निकम्

यो दुर्विकल्पविघ्नविध्वंसे सद्विकल्पगणपतिताम् ।
वहति जयताज्जयन्तः स परं परमन्त्रवीर्यात्मा ॥

इदानीं शांभवोपायानन्तरं क्रमप्राप्तं शाक्तोपायं कथयितुमपरार्धेन प्रतिजानीते

अथ शाक्तमुपायमण्डलं कथयामः परमात्मसंविदे ॥१॥

'उपायमण्डलम्' इति विकल्पसंस्क्रियादीनामानैक्यात् ॥ १ ॥

तत्र प्रथममनुजोद्देशोद्दिष्टां विकल्पसंस्क्रियां तावदभिधातुमुपक्रमते

अनन्तराह्निकोक्तेऽस्मिन्स्वभावे पारमेश्वरे ।
प्रविविक्षुर्विकल्पस्य कुर्यात्संस्कारमञ्जसा ॥२॥

'अस्मिन्स्वभाव' इति निर्विकल्पैकरूपे, तेनास्य शांभवोपाय एव विश्रान्तिः, इत्यावेदितम् । संस्कारमिति—पौनःपुन्येन श्रुतचिन्तादिवशात् अस्फुटत्वादिक्रमेण स्फुटतमत्वाद्यापत्तिपर्यन्तं गुणान्तराधानं, येन निर्विकल्पस्वरूपानुप्रवेशो भवेत् । अञ्जसेति शीघ्रम्, अन्यथा हि विरुद्धविकल्पान्तरोत्पादात् संस्कारस्य प्ररोहो न स्यात् ॥ २ ॥

ननु ज्ञानस्य क्षणिकत्वे सर्वेषामविवादः—तद्विकल्पस्यापि ज्ञानरूपत्वेन क्षणिकत्वात्, उत्पादसमनन्तरमेव अन्तर्हितस्वरूपस्य कथं नाम संस्कारः प्ररोहमियात्, स हि स्थिरे स्यात्, यथा,—तिलादौ सुमनोभिः, तत् कथमेतदुक्तम् ? इत्याशङ्क्याह

विकल्पः संस्कृतः सूते विकल्पं स्वात्मसंस्कृतम् ।
स्वतुल्यं सोऽपि सोऽप्यन्यं सोऽप्यन्यं सदृशात्मकम् ।।३।।

इह यथा—नीलविकल्पान्नीलविकल्पस्यैव उत्पादो, न पीतविकल्पस्य, तथैव अस्फुटत्वेऽपि स्फुटीभावाय भाव्यमानत्वात् भ्रश्यदस्फुटत्वाद्यापत्तेः आहितसंस्कारो विकल्पः स्वात्मवत् संस्कृतमेव विकल्पान्तरं जनयेत्—कारणानुरूपेणैव हि प्रायः कार्यस्योत्पादो भवेत्, इति भावः। एवं विकल्पान्तरेष्वपि ज्ञेयम्। सोऽपि इति संस्कृताद्विकल्पाज्जातो द्वितीयः-सोऽप्यन्यमिति तृतीयः, पुनः सोऽप्यन्यमिति चतुर्थः। अत्र स्वतुल्यत्वस्य संम्बन्धसहिष्णुत्वेऽपि 'सदृशात्मकम्' इत्युक्त्या दूरदूरत्वेऽपि विकल्पमालायाः सादृश्यस्य न काचिद्धानिः, इत्यावेदितम् ॥ ३ ॥

ननु एकस्मात् संस्कृताद्विकल्पात् यदि तादृशस्यैव द्वितीयस्योत्पादः तदास्तां, तृतीयादेः पुनरेवमेवोत्पत्तावानर्थक्यं स्यात्, विशेषे वा सादृश्यस्य हानिः? इत्याशङ्क्याह

चतुर्ष्वेव विकल्पेषु यः संस्कारः क्रमादसौ ।
अस्फुटः स्फुटताभावी प्रस्फुटन्स्फुटितात्मकः ।।४।।

स्फुटताभावीति स्फुटनयोग्यः, प्रस्फुटन्निति उद्गच्छत्स्फुटत्वः, स्फुटितात्मक इति सिद्धस्फुटत्वः, क्रमादिति अभ्यासातिशयतारतम्यात्, अत एव अत्र यथायथमतिशयदर्शनात् नानर्थक्यं, नापि सादृश्यस्य हानिः–विसदृशस्य प्रत्ययान्तरस्यानुत्पादात्, आद्य एव हि संस्कारो यथायथमभ्यासातिशयात् प्ररोहमुपगत इत्येवमुक्तम् ।। ४ ।।

न च इयानेव अस्य संस्कारः संभवेत्? इत्याह

ततः स्फुटतरो यावदन्ते स्फुटतमो भवेत् ।

तत इति चतुर्भ्योऽनन्तरम् ।।

ननु अभ्यासातिशयतोऽपि अस्फुटत्वादिरूपो विकल्पः कथं शीघ्रमेव स्फुटताभाव्यादिरूपतामेति? इत्याशङ्क्याह

अस्फुटादौ विकल्पे च भेदोऽप्यस्त्यान्तरालिकः ।।५।।

भेद इति विशेषः, आन्तरालिक इति मध्यवर्ती, तथाहि अस्फुटस्फुटता-

भाविनोरन्तराले अश्यदस्फुटत्वः, एवमीषत्प्रस्फुटत्वः अङ्कुरितस्फुटितत्वः आसूत्रितस्फुटतरत्वः उद्गच्छस्फुटतमत्वश्चेति ॥ ५ ॥

ननु एवं-कृते सति किं स्यात् ? इत्याशङ्क्याह

ततः स्फुटतमोदारताद्रूप्यपरिबृंहिता ।
संविदभ्येति विमलामविकल्पस्वरूपताम् ॥६॥

ततो—यथोक्तात् संस्काराद्धेतोः, स्फुटतमम्, अत एव उदारं—निर्विकल्पकसमानकक्ष्यतया महत्, यत्ताद्रूप्यं—विकल्पकत्वं तेन परिबृंहिता—संस्कारान्तरनिरपेक्षीकृता सती विकल्परूपा संवित्, विमलां—संकोचकलङ्कापहस्तनेन शुद्धामविकल्पस्वरूपतामभ्येति—पूर्णाविकल्पज्ञानमयतया परिस्फुरतीत्यर्थः। अतश्च 'विकल्पमात्रे एव न विश्रान्तव्यम्' इत्यपि अनेन उक्तम्, यदाहुः

'परमार्थविकल्पेऽपि नावलीयेत पण्डितः ।
को हि भेदो विकल्पस्य शुभे वाप्यथ वाशुभे ॥'

इति ॥ ६ ॥

एतदेव प्रकृते योजयति

अतश्च भैरवीयं यत्-तेजः संवित्स्वभावकम् ।
भूयो भूयो विमृशतां जायते तत्स्फुटात्मता ॥७॥

अतो—विकल्पसंविद एव तत्तत्संस्कारबलादविकल्पसंविद्रूपतया परिस्फुरणाद्धेतोः, यद्भैरवीयं ज्ञानक्रियाख्यं संवित्स्वभावं तेजः तद्रूप एव 'अहमिति' भूयो भूयः अस्फुटत्वादिक्रमेण उद्गच्छत्स्फुटतमत्वाद्यापत्ति-पर्यन्तेन परामृशतां तीव्रतीव्रशक्तिपातवतां महात्मनां, तस्य परामृश्यस्य संविदात्मकस्य भैरवीयस्य तेजसः स्फुटात्मता जायते—शांभवावेशवशेन तत्साक्षात्कारो भवतीत्यर्थः ॥ ७ ॥

ननु संविदः प्रमात्रेकरूपत्वात् परामर्शकत्वमेव युज्यते, न परामृश्यत्वं, तथात्वे हि नीलादिवत् अस्या जाड्यं प्रसज्येत् ? इत्याशङ्कां दर्शयति

ननु संवित्परामष्ट्री परामर्शमयी स्वतः ।
परामृश्या कथं ताथारूप्यसृष्टौ तु सा जडा ॥८॥

ताथारूप्येति परामृश्यत्वस्येत्यर्थः ॥ ८ ॥

एतदेव समाधत्ते

उच्यते स्वात्मसंवित्तिः स्वभावादेव निर्भरा ।
नास्यामपास्यं नाधेयं किंचिदित्युदितं पुरा ॥९॥

इह स्वात्मरूपा संवित् तावत् अतिरिक्तस्य अपेक्षणीयस्याभावात् स्वत एव निर्भरा नान्याकाङ्क्षेति, नित्योदितत्वात् अस्यां स्वात्मसंवित्तौ न किंचिदस्फुटत्वादि अपास्यं, नापि स्फुटतमत्वादि आधेयमिति पुरा—अनुपायाह्निके

'अत्र तावत्क्रियायोगो नाभ्युपायत्वमर्हति ।'

इत्यादिनोक्तम् । यदभिप्रायेणैव अतो बाह्यैरपि

'नापनेयमतः किंचित्प्रक्षेप्तव्यं न किंचन ।
द्रष्टव्यं भूततोऽभूतं भूतदर्शी विमुच्यते ॥'

इत्याद्युक्तम् ॥ ९ ॥

ननु यद्येवं तत् इयान् अस्फुटत्वादिरूपः संविदः कुतस्त्योऽयं स्फारः ? इत्याशङ्क्याह—

किं तु दुर्घटकारित्वात् स्वाच्छन्द्यान्निर्मलादसौ ।
स्वात्मप्रच्छादनक्रीडापण्डितः परमेश्वरः ॥१०॥

किं पुनर्, असौ परमेश्वरः परः प्रकाशः—स्वरूपगोपनात्मकदुर्घटकारित्वलक्षणात् शुद्धात् स्वाच्छन्द्यात् हेतोः, परप्रमात्रेकस्वभावस्यापि स्वात्मनः प्रच्छादनं—ग्राह्यग्राहकाद्युल्लासात्तथात्वेनाभासनं, सैव क्रीडा-प्रतिनियतफलाननुसंधानेन प्रवृत्तिः, तत्र पण्डितः—प्रवीण इत्यर्थः । इयमेव हि तस्य स्वातन्त्र्यरूपा मायाख्या शक्तिः—यदनावृतमपि स्वं रूपमावृतत्वेनैव आभासयति, यतोऽयमियान् ग्राह्यग्राहकाद्यात्मा भेदावभासः ॥ १० ॥

तदाह

अनावृत्ते स्वरूपेऽपि यदात्माच्छादनं विभोः ।
सैव माया यतो भेद एतावान्विश्ववृत्तिकः ॥११॥

एवमस्य विश्वरूपतयाऽवभासनमेव द्वैतमुच्यते, यद्वशादयं दुरन्तः संसारबन्धः, तदपासनायैव च अयं परामर्शो—यत् संविदेव पुनः पुनः परामृश्यमाना स्फुटतामियात् इति ॥ ११ ॥

तदाह

तथाभासनमेवास्य द्वैतमुक्तं महेशितुः ।
तद्द्वयापासनेनायं परामर्शोऽभिधीयते ॥१२॥

तत्द्वयापासनेति—कार्यकारणयोरभेदोपचारात् ॥ २॥

ननु इह 'नहि भातमभातं भवति' इति सर्वेषामविवादः, देहनीलादि चेदं भेदेनावभासते, तत् कथमुक्तं 'तदपासनेन संविद एव अवभासो भवेत्'? इत्याशङ्कामपाकर्तुं विकल्पसंस्क्रियानन्तर्येण अनुजोद्देशोद्दिष्टं तर्कतत्त्वमवतारयति

दुर्भेदपादपस्यास्य मूलं कृन्तन्ति कोविदाः ।
धारारूढेन सत्तर्ककुठारेणेति निश्चयः ॥१३॥

बन्धैककारणत्वात् दुष्टो योऽसौ ग्राह्यग्राहकाद्यात्मा भेदः, स एव दुरुन्मूल्यत्वात् पादपः, तस्य अस्य अनुभूयमानस्य, कोविदाः प्रत्यभिज्ञातस्वात्मानः, सन्—साक्षात्तत्त्वनिष्ठः, अत एव तर्कान्तरविलक्षणो योऽसौ परां कोटिं प्राप्तस्तर्कः—शुद्धविद्यांशस्पर्शपवित्रिताया बुद्धेरुदीयमानः स्वात्मप्रत्यभिज्ञापनपररूपः स एव समुत्तेजितधारः कुठारः, तेन मूलम्—अख्यातिलक्षणं कारणमेव कृन्तन्ति, यथास्य पूर्णपरसंविन्मात्रख्यातेः पुनरुत्थानमेव न भवेत्, इत्ययं निर्णयः, स एव हि महात्मनां देहाद्यालोचनेन यथायथमभ्यासातिशयात् विकल्पशुद्धिमादधानः, परां काष्ठामुपागतः सन्, भावनात्मकतां यायात्, येन अस्फुटमपि संविद्रूपं स्फुटतामासादयेत् ॥१३॥

अत आह

तामेनां भावनामाहुः सर्वकामदुघां बुधाः ।
स्फुटयेद्वस्तु यापेतं मनोरथपदादपि ॥१४॥

यस्तर्कः, तां भावनामाहुः, इति विधीयमानलिङ्गानुवेधः तर्क एव हि परां काष्ठामुपगतो भावनेत्युच्यते, तदुक्तम्

'तदेव परमं ज्ञानं भावनामयमिष्यते ।'

इति । अत एव एनामित्यन्वादेशेनास्य कथनं, तस्यां च परिनिष्पन्नायामभीप्सितफलावाप्तिर्भवेत् इत्युक्तं—सर्वकामदुधामिति, तदुक्तम्

'मुहूर्तादेव तत्रस्थः समाधिं प्रतिपद्यते ।
तत्रापि च सुनिष्पन्ने फलं प्राप्नोत्यभीप्सितम् ॥'

इति । या भावनैव हि मनोरथादपि अपेतं—स्वतन्त्रविकल्पानामपि अविकल्प्यत्वादगोचरं, वस्तु—पारमार्थिकं परप्रमात्रेकलक्षणं संविद्रूपं, स्फुटयेत्—अविकल्पवृत्त्या साक्षात्कुर्यात्, यन्महिम्ना किं नाम न योगिनः सिद्धेत् ॥ १४ ॥

अतश्च 'इदमेव उत्तमं योगस्याङ्गम्' इत्यस्मद्दर्शने उच्यते, इत्याह

श्रीपूर्वशास्त्रे तत्प्रोक्तं तर्को योगाङ्गमुत्तमम् ।
हेयाद्यालोचनात्तस्मात्तत्र यत्नः प्रशस्यते ॥१५॥
मार्गे चेतः स्थिरीभूतं हेयेऽपि विपर्येच्छया ।
प्रेर्य तेन नयेत्तावद्यावत्पदमनामयम् ॥१६॥

यद्यपि

'प्राणायामस्तथा ध्यानं प्रत्याहारोऽथ धारणा ।
तर्कश्चैव समाधिश्च षडङ्गो योग उच्यते ।।'

इत्यादिनीत्या तर्कस्य प्राणायामादिभिर्योगाङ्गत्वे साम्यं, तथापि हेयाद्यालोचनात् असौ उत्तममन्तरङ्गं योगस्याङ्गं, तर्केण हि 'इदं हेयम्, इदमुपादेयम्' इति विचारयन् योगी झटित्येव तत्त्वज्ञो भवेत्, तदुक्तम्

'ऊहोऽन्तरङ्गं योगस्य तेन चाध्वन्यवस्थितेः ।
साधारणोऽप्यसौ मुक्तेर्भूयसोपकरोति हि ॥'

इति । तथा

'स्वसिद्धान्ताविरुद्धेन यस्तर्केण विचारयेत् ।
धर्मज्ञानापवर्गार्थं स तत्त्वं वेद नापरः ॥'

इति, अतश्च—अत्रैव मुख्यया वृत्त्या यतितव्यम् इत्युक्तं 'तस्मात्तत्र यत्नः प्रशस्यते' इति, तत्र हि कृतप्रयत्नो योगी सांख्यादिशास्त्रान्तरोदिते हेये

मोक्षोपायलक्षणे मार्गे 'ममेदमेव आकाङ्क्षणीयं तत्त्वम्' इत्याद्यभिमानोदयात् स्थिरीभूतमपि चेतः, तेन तर्केण प्रेर्य—ततो हेयान्मार्गात् पराङ्मुखीकृत्य, तावन्नयेत्—उपादेये मार्गे विश्रामयेत्, यावत् पदमनामयं—सर्वोत्तीर्णपरप्रकाशात्मतया प्रस्फुरेदित्यर्थः ॥१५।१६॥

अत्र च विषमत्वात् स्वयमेव पदचतुष्टयं व्याचष्टे

मार्गोऽत्र मोक्षोपायः स हेयः शास्त्रान्तरोदितः।
विषिणोति निबध्नाति येच्छा नियतिसंगतम् ॥१७॥
रागतत्त्वतयोक्तं यत् तेन तत्रानुरज्यते।

शास्त्रान्तरोदितस्य मार्गस्य हेयत्वं प्रागेवोपपादितम्, इति नेह पुनरायस्तं 'षिञ् बन्धने' इत्यस्य विपूर्वस्य अचि विषयशब्दः, तेन विषयरूपा बन्धयित्री येयमिच्छा—'इदमेव मे स्यात्' इत्यादिरभिमानविशेषः, तया नियतिसंगतं रागतत्त्वमुक्तं सामान्येन, सर्वविषयमभिलाषमात्रं हि रागतत्त्वस्य रूपं, तदेव नियतविषयतयोद्यत् नियतितत्त्वस्य, इति तदुक्तं रागतत्त्वमस्य अभिधेयम्, यत्—यस्माद्धेतोः तत्र नियतेः हेये मार्गे तेन रागेण चेतोऽनुरज्यते—स्थिरीभवेत् इत्यर्थः। ननु सर्वत्रैव अन्यत्र

'गुरुदेवाग्निशास्त्रस्य ये न भक्ता नराधमाः।
असद्युक्तिविचारज्ञाः शुष्कतर्कावलम्बिनः॥
भ्रमयत्येव तान्माया ह्यमोक्षे मोक्षलिप्सया।'

इति। तथा

'हेतुशास्त्रं च यल्लोके नित्यानित्यविडम्बकम्।
वादजल्पवितण्डाभिर्विवदन्ते ह्यनिश्चिताः॥
हेतुनिष्ठानि वाक्यानि वस्तुशून्यानि सुव्रते।
ज्ञानयोगविहीनानि देवतारहितानि तु॥
धर्मार्थकाममोक्षेषु निश्चयो नैव जायते।
अज्ञानेन निबद्धानि त्वधर्मेण निमित्ततः॥
निरयं ते प्रयच्छन्ति ये तत्राभिरता जनाः।'

इत्यादिना भगवतास्य तर्कस्य निन्दां विदधता अधमत्वमवद्योतितम्, यदभिप्रायेणैव तद्भेदकस्य गुरोरपि परिहार्यत्वमुक्तम्, यदुक्तम्

'तार्किकं न गुरुं कुर्यात्...... .... ।'

इति । तथा

'..................तार्किके वधबन्धनम् ।'

इति । एतदनुवेधेनैव अभियुक्तैरपि

'वस्तुनिर्णयशून्याभिर्बोधिताभिः परस्परम् ।
अभिमानैकसाराभिर्जिह्मीमस्तर्कबुद्धिभिः ॥'

इत्याद्युक्तम्, तत् कथमस्य इहोत्तमत्वमुक्तम्, एवं हि श्रुतिविरोधः स्यात्, न च उभयत्रापि एकस्यैव प्रमाण्यकारणस्य सद्भावात् एकत्रापि अप्रामाण्यमुद्भावयितुं शक्यम्, इति किमत्र प्रतिपत्तव्यम् ? विषयभेदोऽत्र प्रतिपत्तव्यो, येन सर्वं स्वस्थं स्यात्, द्विविधो हि तर्कः-कश्चिद्धि वस्तुनिर्णयशून्यश्छलादिप्रधानः परपराजयमात्रपर्यवसानो जल्पप्रायः, कश्चित् हेयोपादेयविवेककारितया वस्तुनिर्णयफलः छलादिशून्यो वादप्रायः, तत्राद्यस्य वस्तुनिर्णयशून्यत्वात् गर्हणीयत्वम्, अत एव

'.........................वस्तुशून्यानि.... ।'

इति । तथा

'...................निश्चयो नैव जायते ।'

इत्याद्युक्तम्, अत एव तद्वेदकानामपि वस्तुज्ञत्वाभावात् परिहार्यत्वमभिहितम्, यस्तु हेयाद्यालोचनेन वस्तुपरिशुद्धिमादधानो हेयमपहाय उपादेये विश्रामयेत् स परमुत्तमं योगस्याङ्गम्, इति न कश्चिद्दोषः, तत् आस्माकः सत्तर्को, दर्शनान्तरीययस्त्वसत्तर्कः इति विभागः ॥ १७ ॥

ननु स्वार्थतत्परो लोकः स्वयमेव अनपेक्षितशास्त्रो हेयमपहातुमुपादेयं च उपादातुं प्रवर्तते, नहि बुभुक्षितस्याशने मलिनस्य वा स्नाने शास्त्रमुपयुज्यते, तत्किम् अत्र तर्केण ? इत्याशङ्क्याह

यथा साम्राज्यसंभोगं दृष्ट्वादृष्ट्वाथवाधमे ॥१८॥
भोगे रज्येत दुर्बुद्धिस्तद्वन्मोक्षेऽपि रागतः ।

यथा खलु अज्ञः कश्चन—हेयोपादेयविवेकमजानानः, साम्राज्यसंभोगं सम्यगुपभोगयोग्यतया परिज्ञाय अपरिज्ञाय वा, अधमे—दुर्गतजनोपभोग्ये, भोगे रागतो रज्येत—चिरतरप्ररूढप्राक्संस्कारपरिपाकवशात् आसक्तो भवेत्,

तथैव साक्षान्मोक्षमपहाय असन्मोक्षेऽपि, इति वाक्यार्थः, तेन हेयहानाय उपादेयोपादानाय च अवश्यं तर्कस्योपयोगः, इति युक्तमुक्तम् 'तर्को योगाङ्गमुत्तमम्' इति ॥ १८ ॥

ननु स्वभावत एवायं सर्वो जनस्तत्तद्दर्शनासक्तः स्यात् यदभिप्रायेण

'रिक्तस्य जन्तोर्जातस्य कार्याकार्यमपश्यतः ।
विलब्धा वत केनामी सिद्धान्तविषमग्रहाः ॥'

इत्यादि अन्यत्रोक्तं, तत् तदुचित एव मोक्षोऽपि अस्य भवेत्, इति कोऽयं रागो नाम ? इत्याशङ्क्याह

स एवांशक इत्युक्तः स्वभावाख्यः स तु स्फुटम् ॥१९॥
सिद्ध्यङ्गमिति मोक्षाय प्रत्यूह इति कोविदाः ।

स—राग एव हि 'स्वभावाख्योऽंशक' इत्यागमेषूक्तम्, तथाहि श्रीस्वच्छन्दशास्त्रे

'अंशकं षड्विधं देवि कथयाम्यनुपूर्वशः ।'

इत्युपक्रम्य

'भावांशकः स्वभावाख्यः पुष्पपातांश एव च ।'

इत्युद्दिश्य

'स्वभावश्च भवेच्चेष्टा कथयाम्यनुपूर्वशः ।
ब्रह्मांशो वेदभक्तस्तु रुद्रांशं च निबोध मे ॥
रुद्रभक्तः सुशीलश्च शिवशास्त्ररतः सदा ।'

इत्यादिना असौ लक्षितः ननु यद्येवं तत् सर्वोऽयं जनः स्वाभावशादेव स्वोचितं मोक्षमासादयेत्, इति को नाम अस्य हेयोपादेयविभागः ? इत्याशङ्क्याह 'स तु' इत्यादि, स—एवंविधः स्वभावः पुनः स्फुटम्

'पौरुषं चैव सांख्यानाम्.............. ।'

इत्याद्यागमप्रमाणसिद्धत्वेन अपरिम्लानतया तत्तत्स्वोचितभोगात्मिकायाः सिद्धेरङ्गमपि

'स्थान्युपनिमन्त्रणे सङ्गस्मयाकरणं पुन-
रनिष्टप्रसङ्गात् ।' (यो० सू० ३-५१)

इत्याद्युक्तिवन्मोक्तुं विघ्न इत्यागमज्ञाः, एवंस्वभावो हि तत्तत्त्वावाप्तिलक्षणां सिद्धिमेव मुक्तिमभिमन्यते, इति मुक्त्याभासरूपायां हेयायां तस्यामेव विश्रान्तः ॥ १९ ॥

एवमेवंस्वभावत्वादेव साक्षान्मोक्षोपायमपहाय अन्यत्रासक्तो भवेत्, इत्याह

शिवशासनमाहात्म्यं विदन्नप्यत एव हि ॥२०॥
वैष्णवाद्येषु रज्येत मूढो रागेण रञ्जितः ।

ननु असौ साक्षान्मोक्षोपायतया शिवशासनस्य प्रभावातिशयं चेज्जानीते किमित्यन्यत्र आसक्तो भवेत् ? इत्याशङ्क्याह

यतस्तावति सा तस्य वामाख्या शक्तिरैश्वरी ॥२१॥
पाञ्चरात्रिकवैरिञ्चसौगतादेर्विजृम्भते ।

तावतीति—तत्तन्नियतसिद्धिमात्रप्रदे, वामाख्येति

'वामा संसारवमनात्.................'

इत्याद्युक्त्या संसाराविर्भाविका तिरोधानशक्तिरित्यर्थः, वैरिञ्चाः—ब्रह्मवादिनः ॥ २१ ॥

ननु शिवशासनमाहात्म्यमजानन् चेदन्यत्र आसक्तो भवेत् तत् भवतु नाम, को दोषो, जानन् पुनः कथमेवम् ? इत्याशङ्क्याह

दृष्टाः साम्राज्यसंभोगं निन्दन्तः केऽपि बालिशाः ॥२२॥
न तु संतोषतः स्वेषु भोगेष्वाशीः प्रवर्तनात् ।

इह खलु केऽपि बालिशप्राया अत्युत्कृष्टतया स्पृहणीयत्वेन परिज्ञायापि साम्राज्यसंभोगं बालिशत्वादेव निन्दन्तो दृष्टाः, न पुनः संतुष्टत्वात्, तेषां हि भोगाभिलाषस्य दूरापास्तत्वात् तन्निन्दायामौचित्यमित्याशयः, बालिशानां पुनः संतोषस्तावन्नास्ति, यतः—स्वेषु अधमेषु भोगेष्वपि 'पुनः पुनरेतत् स्यात्'—इत्येवंरूपमाशीर्वादं प्रवर्तयन्ते—भोगाभिलाषस्यानपास्तत्वात्, एवं विदन्तोऽपि शिवशासनमाहात्म्यं मूढाः तन्निन्दामारभमाणा अन्यत्रासक्ता दृश्यन्ते, यद्वशात् तेषां वामाधिष्ठितत्वात् पुनः पुनः संसारे एव निमज्जनं भवेत् ॥ २२ ॥

तदाह

एवंचिद्भैरवावेशनिन्दातत्परमानसाः ॥२३॥
भवन्त्यतिसुघोराभिः शक्तिभिः पातिता यतः ।

अतिसुघोराभिरिति

'विषयेष्वेव संलीनानधोधः पातयन्त्यणून् ।'

इत्यादिलक्षिताभिः घोरतर्यभिधानाभिरपराभिरित्यर्थः ॥२३॥

अत एव च अस्य मूढजनस्य संसारादुन्मज्जनमेव नास्ति, इत्याह

तेन शांभवमाहात्म्यं जानन्यः शासनान्तरे ॥२४॥
अाश्वस्तो नोत्तरीतव्यं तेन भेदमहार्णवात् ।

आश्वस्तहृदयत्वात् तन्निष्ठो, न पुनः

'अन्तः कौलो बहिः शैवो लोकाचारे तु वैदिकः ।'

इत्यादिनीत्या लोकसंग्रहरक्षापरत्वेन उत्तानतया, इति नास्य संसारार्णवादुत्तारः स्यात्—तदन्तरेव उन्मज्जननिमज्जनानुभवस्याविच्छेदात् ॥२४॥

न च एतदस्माभिः स्वोपज्ञमेवोक्तमित्याह

श्रीकामिकायां प्रोक्तं च पाशप्रकरणे स्फुटम् ॥२५॥

तदेव पठति

वेदसांख्यपुराणज्ञाः पाञ्चरात्रपरायणाः ।
ये केचिदृषयो धीराः शास्त्रान्तरपरायणाः ॥२६॥
बौद्धार्हताद्याः सर्वे ते विद्यारागेण रञ्जिताः ।
मायापाशेन बद्धत्वाच्छिवदीक्षां न विन्दते ॥२७॥

धीराः—वेदादिविषय एव स्थिरप्रज्ञाः, शास्त्रातरं वेदान्तादि, विद्या च रागश्चेति समाहारे द्वन्द्वः, विद्या चात्र रागशब्दसंनिधेरशुद्धविद्योच्यते, अत एव वेदादिशास्त्रनिष्ठा मायान्तःपातात् तदुत्तीर्णं शैवं ज्ञानं न लभन्ते, इत्युक्तम् 'मायापाशेन बद्धत्वाच्छिवदीक्षां न विन्दते ।' इति ॥२६॥२७॥

पूर्वं च यदस्माभिः श्रीपूर्वशास्त्रीये संवादग्रन्थे विषयेच्छाशब्देन वेदादि-

शास्त्रान्तरोदिते मोक्षोपाये अभिष्वङ्गप्रदं दियतितत्त्वोपेतं रागतत्त्वं व्याख्यातं, तत् न निर्मूलम्, इत्यभिद्योतयितुम् अत्रत्यमपि रागशब्दं व्याचष्टे

रागशब्देन च प्रोक्तं रागतत्त्वं नियामकम् ।
मायीये तच्च तं यस्मिञ्छास्त्रे नियमयेदिति ॥२८॥

अत्र च रागशब्देनेति—वक्ष्यमाणेन हेतुना, नियामकं रागतत्त्वमुक्तमिति समन्वयः, नियामकमिति नियत एव कस्मिंश्चिद्विषयेऽभिष्वङ्गदमित्यर्थः, यतस्तद्रागतत्त्वं तस्मिन्नियते मायीये शास्त्रे वेदादौ, तं मूढं जनं नियमयेत् 'इदमेव ममाकाङ्क्षणीयम्' इति संकुचितत्वेनावस्थापयेत्, यद्यपि सामान्येन सर्वविषयाभिलाषमात्रमयत्वं नाम रागतत्त्वस्य स्वरूपं तथापि नियतविषयोपारोहमन्तरेण तत् नाभिव्यक्तिमियात्, इत्यवश्यमेव तन्नियतितत्त्वमाक्षिपेत्, इति युक्तमुक्तं 'रागतत्त्वं नियामकम्' इति ॥२८॥

ननु प्राप्तेऽपि वैष्णवादिशास्त्रान्तरोदिते मोक्षे किमिति नाम अयं जनः संसारात् नोन्मज्जति ? इत्याशङ्क्याह

मोक्षोऽपि वैष्णवादेर्यः स्वसंकल्पेन भावितः ।
परप्रकृतिसायुज्यं यद्वाप्यानन्दरूपता ॥२९॥
विशुद्धचित्तमात्रं वा दीपवत्संततिक्षयः ।
स सवेद्यापवेद्यात्मप्रलयाकलतामयः ॥३०॥

यः खलु वैष्णवादीनां मते मोक्षः, सोऽपि अस्मद्दर्शने प्रलयाकलतामयः—इति सम्बन्धः, तत्र वैष्णवानां 'परप्रकृतिसायुज्यं मोक्षः' तन्मते हि भगवद्वासुदेवाभिधानस्य महाविभूतेश्चेतनाचेतनविधातृत्वात् परप्रकृतिरूपस्य परस्य ब्रह्मणः स्वस्वभावात् क्रमविचित्रतया तथा तथाभावनात् विश्वरूपतयानेकात्मनोऽपि

'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म ।'

इत्यादिश्रुतेः तत्त्वज्ञानाभ्यासात् परिशुद्धसंविद्रूपैकतत्त्वाव्यभिचारात् अनैक्यस्यापारमार्थिकत्वात् उपशान्तविकारग्रन्थेरैक्यात्मावगमो मोक्षः, यत्श्रुतिः

'पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि ।'

इति ।

'.....ततः सर्गो बुद्बुदत्वेनाभिव्यज्यते ।'

इति च। ब्रह्मवादिनाम् 'आनन्दरूपता मोक्षः' तन्मते हि संसारदशायामविद्यावरणवशेन अनुभूयमानस्य आत्मनः

'आत्मा श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः ।'

इत्यादिश्रुतेः तत्त्वज्ञानाभ्यासादविद्यावरणापगमे निरवधिकनिरतिशयस्वप्रकाशनैसर्गिकानन्दसुन्दरतया संवेदनं मोक्षः यत् श्रुतिः

'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म ।'

इति। विज्ञानवादिनां विशुद्धचित्तमात्रं मोक्षः' तन्मते हि स्वभावतः प्रभास्वरस्वरूपस्य चित्तसंतानस्यानाद्यविद्याबलात् रागादिभिरागन्तुकैर्मलैरावृतत्वेऽपि नैरात्म्यादिभावनाभ्यासात् तत्तदागन्तुकमलप्रहाणेन आश्रयपरावृत्तिबलादविन श्वरज्योतीरूपस्वस्वरूपसाक्षात्कारो मोक्षः, यदाहुः,

प्रभास्वरमिदं चित्तं प्रकृत्यागन्तवो मलाः ।
तेषामपाये सर्वार्थं तज्ज्योतिरविनश्वरम् ॥'

इति। वैभाषिकाणां 'दीपवत् संततिक्षयो मोक्षः तन्मते हि क्लेशकर्मादिहेतुसमुत्थं तत्फलरूपं रूपादिस्कन्धपञ्चकम्, इति तदुभयात्मायं संसारः, यदाहुः

'हेतुफले संसारः ।'

इति, मोक्षः पुनर्दीपस्य यथा स्नेहादिकारणक्षयात् पुनरुत्पादायोगात् निरोधः, तथैव नैरात्म्यादिभावनाभ्यासात् क्लेशकर्मादिप्रहाणेन रूपादीनां पञ्चानामपि स्कन्धानाम् इति, यदाहुः

'दीपो यथा निर्वृतिमभ्युपेतो नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम् ।
देशं न कंचिद्विदिशं न कांचित् स्नेहक्षयात्केवलमेति शान्तिम् ॥'
'योगी तथा निर्वृतिमभ्युपेतो नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम् ।
देशं न कंचिद्विदिशं न कांचित् क्लेशक्षयात्केवलमेति शान्तिम् ॥'

इति। प्रलयाकलानां 'सवेद्यापवेद्यात्मेति' विशेषणोपादाने च अयमभिप्रायः—अत्राद्ये पक्षद्वये ब्रह्मण आनन्दमयत्वात् स्वात्मपरामर्शकतया सवेद्यप्रलयाकलप्रायत्वम्, इतरत्र पुनरेकस्य नित्यस्य कस्यचिद्वेदकस्य अनभ्युपगमात्

अपवेद्यप्रलयाकलप्रायत्वम्, पक्षचतुष्टयस्य अस्य पक्षान्तरोपलक्षणत्वात् अक्षपादमतादावात्मनः सर्वगुणोच्छेदात्मनि अपवर्गेऽपि अपवेद्यप्रलयाकल-प्रायत्वमेवावसेयम्, प्रलयाकलानां च मलद्वयावशेषात् संसारकारणस्याप्रक्षपात् संसारित्वमेव, इति—एतत्प्रायस्य मोक्षस्यापि हेयत्वमुक्तम्, एवं च व्यर्थ एव तैस्तत्तत्तत्त्वप्रलयात् स्वारसिकयामपि प्रलयाकलतायां यत्नः कृतः इति भावःअत एव 'स्वसंकल्पेन भावितः' इत्यनेन च अस्य पक्षचतुष्टयस्य काल्पनिकत्वात् अवास्तवत्वं प्रकाशितम् ॥२९॥३०॥

ननु इह 'बन्धप्रक्षयो नाम मोक्षः' स च

'.........अन्धात्तैमिरिको वरः ।'

इतिन्यायेन त्रिमलबद्धं सकलमपेक्ष्य द्विमलबद्धस्य प्रलयाकलस्य वृत्तः—इति किमिति नामास्य तत्प्रायस्यापि मोक्षस्य एकान्ततो हेयत्वम् ? इत्याशङ्क्याह

तं प्राप्यापि चिरं कालं तद्भोगाभोगभुक्ततः ।
तत्तत्त्वप्रलयान्ते तु तदूर्ध्वां सृष्टिमागतः ॥३१॥
मन्त्रत्वमेति संबोधादनन्तेशेन कल्पितात् ।

वैष्णवादिः खलु अयं जनः, तं—प्रलयाकलप्रायं मोक्षं चिरं कालमासाद्यापि प्रलयाकलसंबन्धिमोहादिरूपभोगाभोगभुक् सन्, समनन्तरं तस्य प्रलयाकलभोगभूमेर्मायादेस्तत्त्वस्य प्रलयान्ते, पुनः सृष्टिप्रारम्भे

'.........प्रबुध्यन्ते मन्त्रत्वाय भवाय ।'

इत्यादिनीत्या आयातशक्तिपातत्वे सति अनन्तेशेन कृतात् ज्ञानक्रियोत्तेजन-लक्षणात् संबोधात्, तदूर्ध्वां—मायोपरिवर्तिनीं शुद्धां सृष्टिं प्राप्तः सन् मन्त्रत्वमेति, अन्यथा पुनः संसारित्वम्—इति सिद्धम्, अत एव प्राप्तायामपि वैष्णवादिदर्शनान्तरोक्तायां मुक्तौ संसारस्य प्रक्षयो न जायते, इति तत्र हेयत्वमुक्तम् ॥३१-॥

ननु समानेऽपि प्रलयाकलत्वे केषांचिन्मन्त्रत्वं केषांचित् संसारित्वम्, इत्यत्र किं निमित्तम् ? इत्याशङ्क्याह

एतच्चाग्रे तनिष्याम इत्यास्तां तावदत्र तत् ॥३२॥

अग्र इति—नवमाह्निकादौ, यद्वक्ष्यति

'एतत्कार्ममलं प्रोक्तं येन साकं लयाकलाः ।
स्युर्गुहागहनान्तःस्थाः सुप्ता इव सरीसृपाः ॥
ततः प्रबुद्धसंस्कारास्ते यथोचितभागिनः ।
ब्रह्मादिस्थावरान्तेऽस्मिन्संसरन्ति पुनः पुनः ॥
ये पुनः कर्मसंस्कारहान्यै प्रारब्धभावनाः ।
भावनापरिनिष्पत्तिमप्राप्य प्रलयं गताः ॥
महान्तं ते तथान्तःस्थभावनापाकसौष्ठवात् ।
मन्त्रत्वं प्रतिपद्यन्ते चित्रं चित्राच्च कर्मतः ॥'

इति । 'इत्यास्ताम्' इति प्रकृते तर्कतत्त्वेऽस्यानुपयोगात् ॥ ३२ ॥

ननु यदि नाम दर्शनान्तरोक्तया मुक्त्या संसारस्य प्रक्षयो न जायते, तत् कस्मादयं वैष्णवादिर्जनस्तत्र अनुरज्यते ? इत्याशङ्क्याह

तेनाज्ञजनताक्लृप्तप्रवादैर्यो विडम्बितः ।
असद्गुरौ रूढचित्स मायापाशेन रञ्जितः ॥३३॥

यः खलु वैष्णवादिर्जनाऽज्ञजनतया—कपिलादिना उपदेष्टृसमूहेन, कल्पितैः—प्रकृतिपुरुषविवेकादिभिः प्रवादैः मोहितः, स यतस्तेन सकललोकप्रसिद्धेन भगवता परमेश्वरेण, मायापाशेन—वामाख्यया शक्त्या, तत्रैव गाढानुरक्तीकृतः, अत एवासद्गुरौ तत्त्वोपदेष्टरि आचार्यविशेषे रूढचित्—आश्वस्तो, न तु जिज्ञासामात्रवान्, सद्गुरौ पुनराश्वस्तस्य साक्षादेव मोक्षो भवेदित्यर्थसिद्धो व्यतिरेकः, अत एव चानेन तर्कतत्त्वानन्तर्येण अनुजोद्देशोद्दिष्टं तदनुषक्तमेव गुरुसतत्त्वमपि प्रतिपादयितुमुपक्रमः कृतः ॥ ३३ ॥

ननु यद्येवं तर्हि अस्य वैष्णवादेर्वामाधिष्ठितत्वात् सद्गुरावेवाश्वासो न जायते, इति का कथा साक्षान्मोक्षावाप्तौ ? इत्याशङ्क्याह

सोऽपि सत्तर्कयोगेन नीयते सद्गुरुं प्रति ।
सत्तर्कः शुद्धविद्यैव सा चेच्छा परमेशितुः ॥३४॥

सोऽपीति—असद्गुरौ रूढचित् वैष्णवादिः, ननु युक्तियुक्ते वस्तुनि तर्केण प्ररोहः क्रियते शिवशक्त्या च सद्गुरुप्राप्तिः, इति सर्वत्रैवोक्तम्

'यत्र रूढिः प्रजायेत युक्तियुक्ते विनिश्चयात् ।
शुद्धविद्याप्रसादोऽसावित्याह भगवाञ्छिवः ।।'

इति, सेति शुद्धविद्या, इच्छेति सद्गुरुप्राप्तिपर्यवसायिनी अनुग्रहरूपा ।।३४।।

न च एतत् स्वोपज्ञमेवोक्तम्, इत्याह

श्रीपूर्वशास्त्रे तेनोक्तं स यियासुः शिवेच्छया ।
भुक्तिमुक्तिप्रसिद्ध्यर्थं नीयते सद्गुरुं प्रति ।।३५।।

सः–रुद्रशक्तिसमाविष्टः स्वस्वरूपं प्राप्तुमिच्छुः, ज्येष्ठाख्यशक्तिरूपया शिवेच्छया सद्गुरुं प्रति नीयते--सद्गुर्वाभिमुख्येन प्रवर्त्यते, येनास्य भुक्ति-मुक्ति सिध्यतः, तेन सत्तर्कशिवशक्त्योरभेदात् यत् सत्तर्केण सद्गुर्वाभिमुख्येन प्रवर्तनं तत् शिवशक्त्यैव, इति सिद्धम् ।। ३५ ।।

ननु 'सर्वस्य शिवच्छयैव असद्गुरौ सद्गुरौ वा आभिमुख्यमभिजायते' इत्युक्तं, तत् सद्गुरावेव तदस्तु, किं क्रमेण ? इत्याशङ्क्याह

शक्तिपातस्तु तत्रैष क्रमिकः संप्रवर्तते ।
स्थित्वा योऽसद्गुरौ शास्त्रान्तरे वा सत्पथं श्रितः ।।३६।।

शास्त्रान्तरे इति–अर्थादसत्पथे वैष्णवाद्ये, सत्पथं शैवगुरुशास्त्रलक्षणम्, असद्गुर्वाद्याश्रयानन्तरं सद्गुर्वाद्याश्रिते ।। ३६ ।।

ननु अयं लोकश्चेत् सद्रूपमसद्रूपं वा गुरुं शास्त्रं च शक्तिपातवशादा-श्रयेत तदस्तु, को नाम दोषः, तयोरेव पुनरसत्त्वे सत्त्वे वा किं निमित्तम् ? इत्याशङ्क्याह

गुरुशास्त्रगते सत्त्वेऽसत्त्वे चात्र विभेदकम् ।
शक्तिपातस्य वैचित्र्यं पुरस्तात्प्रविविच्यते ।।३७।।

अत्रेति–समनन्तरोक्ते, पुरस्तादिति—शक्तिपाताह्निकादौ, विभेदकं—विशेषे हेतुः, एवं वामाख्यया मायाशक्त्या अधिष्ठिता दर्शनान्तरीया गुर्वाद्याः, ज्येष्ठाशक्त्या पुनरास्माकाः, तेन तच्छक्त्यैवाधिष्ठितोऽयं लोकः तत्राश्वस्तः स्यात् ।। ३७ ।।

न च एतदप्रमाणकम्, इत्याह

उक्तं स्वच्छन्दशास्त्रे तत् वैष्णवाद्यान्प्रवादिनः ।
सर्वान्भ्रमयते माया सामोक्षे मोक्षलिप्सया ॥३८॥

भ्रमयते इति अतस्मिंस्तद्ग्रहात्, तदाह 'अमोक्षे मोक्षलिप्सया' इति, अत्र चार्थद्वारेण पाठे अयमाशयो—यत् तत्र बहुधोक्तमिति, तदुक्तं

'अतः परं भवेन्माया सर्वजन्तुविमोहिनी ।
निर्वैरपरिपन्थिन्या यया भ्रमितबुद्धयः ॥
इदं तत्त्वमिदं नेति विवदन्तीह वादिनः ।
सत्पथं तु परित्यज्य नयति द्रुतमुत्पथम् ॥
गुरुदेवाग्निशास्त्रस्य ये न भक्ता निराधमाः ।
असद्युक्तिविचारज्ञः शुष्कतर्कावलम्बिनः ॥
भ्रमयत्येव तान्माया ह्यमोक्षे मोक्षलिप्सया ।'

इति । तथा

'सांख्यवेदपुराणज्ञा अन्यशास्त्रविनिश्चये ।
न ?ांल्लङ्घयितुं शक्ता यदान्ये मोक्षवादिनः ॥
क्लिश्यन्ते मायया भ्रान्ता अमोक्षे मोक्षलिप्सया ।'

इति ॥ ३८ ॥

ननु यदि वैष्णवादिरयं जनो मायया भ्रमितः तत् तस्य तत्रैव संस्कार-प्ररोहात् असन्मार्गादवरोहो न स्यात्, इत्यस्य कदाचिदपि सन्मार्गारोहो न भवेत् ? इत्याशङ्क्याह

यस्तु रूढोऽपि तत्रोद्यत्परामर्शविशारदः ।
स शुद्धविद्यामाहात्म्याच्छक्तिपातपवित्रितः ॥३९॥
आरोहत्येव सन्मार्गं प्रत्यूहपरिवर्जितः ।

यः पुनस्तत्र वैष्णवादौ संस्कारदार्ढ्यात् जातप्ररोहोऽपि उद्यन्योऽसौ सत्तर्कात्मा परामर्शः तेन विशारदः—सारेतरविभागकुशलः, अत एव स सत्तर्कात्मशुद्धविद्यामाहात्म्यात् ज्येष्ठाशक्त्यधिष्ठानपवित्रीभूतः सन् निर्विघ्न-

मेव सन्मार्गमारोहति—अस्मद्दर्शननिष्ठो भवेत्, येनास्य साक्षात् मोक्षः स्यात् ॥ ३९ ॥

ननु अस्य परामर्शोदये किं निमित्तम् ? इत्याशङ्क्याह

स तावत्कस्यचित्तर्कः स्वत एव प्रवर्तते ॥४०॥
स च सांसिद्धिकः शास्त्रे प्रोक्तः स्वप्रत्ययात्मकः ।

स्वत एव—लोकप्रसिद्धगुरूपदेशादिनिमित्तानपेक्षं, न तु सर्वसर्विकया निर्निमित्तमेव, वस्तुतः पारमेश्वरशक्तिपातादेर्निमित्तान्तरस्यापि संभवात्, अत एव चास्य यौगिकमपि नाम अस्मद्दर्शनेऽभिहितम्, इत्याह 'स च' इत्यादि स इति—स्वयं प्रवृत्ततर्कः, सांसिद्धिक इति—तर्केण स संसिद्ध्या जन्मनागत इत्यर्थः, उक्तं च

'गुरुशास्त्रानपेक्षं च यस्यैतत्स्वयमुद्भवेत् ।
स सांसिद्धिक इत्युक्तस्तत्त्वनिष्ठो महामुनिः ॥'

इति। अत एव स्व आत्मीयो, न तु गुर्वादिपरापेक्षः, इदमेवेति सुनिश्चितं ज्ञानमात्मा स्वभावो यस्य स तथोक्तः ॥ ४० ॥

ननु अन्यत्र परतत्त्वाधिगमे गुर्वाद्यन्यदपि कारणतयोक्तम्, इह पुनः कथं स्वत एव इति 'एकमव' इत्याशङ्क्याह

किरणायां यदप्युक्तं गुरुतः शास्त्रतः स्वतः ॥४१॥
तत्रोत्तरोत्तरं मुख्यं पूर्वपूर्व उपायकः ।

यदपि किरणाख्यायां संहितायां मायाधर्मैः शून्यं परं तत्त्वं ज्ञातुम्—

'शून्यमेवं—विधं ज्ञेयं गुरुतः शास्त्रतः स्वतः ।'

इत्यादिना कारणत्रयमुक्तं, तत्र उत्तरोत्तरं मुख्यं विवक्षितं, यथा—गुरुतः शास्त्रं, ततोऽपि स्वपरामर्शः, यतः पूर्वं पूर्वो यथा गुरुः शास्त्रे उपायः, तदपि स्वपरामर्शे । एवम्

'उपादायापि ये हेयास्तानुपायान्प्रचक्षते ।'

इत्याद्युक्तयुक्त्या गुरुशास्त्रयोरुपायत्वादमुख्यत्वम्, इति स्वपरामर्शस्यैव प्राधान्यं, येन अत्रास्यैव उपादानम् ॥ ४१- ॥

तेन यस्य स्वत एव परामर्श उद्भवेत् स एव सर्वत्र अधिकृतः, इत्याह

यस्य स्वतोऽयं सत्तर्कः सर्वत्रैवाधिकारवान् ॥४२॥
अभिषिक्तः स्वसंवित्तिदेवीभिर्दीक्षितश्च सः ।

यस्य स्वतो-गुर्वादिनैरपेक्ष्येण, अयं समनन्तरोक्तः सत्तर्क उदेति, स सर्वत्रैव–योगज्ञानादावधिकारवान्भवेत् ॥ ४२ ॥

ननु

'न चाधिकारिता दीक्षां विना योगेऽस्ति शांकरे ।'

इत्याद्युक्त्या दीक्षादिकमपहाय कथमस्य सर्वत्रैवाधिकारः? इत्याशङ्क्योक्तं 'स्वसंवित्तिदेवीभिर्दीक्षितोऽभिषिक्तश्चेति— स्वा आत्मीया याः संवित्तय इन्द्रियवृत्तयः ता एव

'बहिर्मुखस्य मन्त्रस्य वृत्तयो याः प्रकीर्तिताः ।
ता एवान्यमुखस्यास्य शक्तयः परिकीर्तिताः ॥'

इत्याद्युक्त्या प्रमात्रैकात्म्यमभिद्योतयन्त्यो देव्यः, ताभिर्ज्ञानक्रियोत्तेजनेन सर्वत्रैव स्वातन्त्र्यमापादितः, इत्यर्थः ॥ ४२ ॥

अतश्च स एव परमुत्कृष्ट इत्याह

स एव सर्वाचार्याणां मध्ये मुख्यः प्रकीर्तितः ॥४३॥
तत्संनिधाने नान्येषु कल्पितेष्वधिकारिता ॥

सर्वाचार्याणां वक्ष्यमाणानामकल्पितकल्पकादीनां मुख्यत्वादेव च तत्संनिधावन्येषां न परानुग्रहादावधिकारः, इत्युक्तं 'तत्संनिधाने न' इत्यादि, यद्वक्ष्यति

'यथा भेदेनादिसिद्धाच्छिवान्मुक्तशिवा ह्यधः ।
तथा सांसिद्धिकज्ञानादाहृतज्ञानिनोऽधमाः ॥
तत्संनिधौ नाधिकारस्तेषां मुक्तशिवात्मवत् ।
किन्तु तूष्णींस्थितिर्यद्वा कृत्यं तदनुवर्तनम् ॥'

इति ॥ ४३ ॥

ननु गुरुतः शास्त्राधिगमः—इत्यत्र सर्वेषामविवादः, तद्यस्य गुरुरेव नास्ति तस्य शास्त्राधिगमे का वार्ता? इत्ययं स्वयं प्रवृत्ततर्कोऽपि दीक्षाद्यारभमाणः

'शास्त्रहीने न सिद्धिः स्याद्दीक्षादौ वीरवन्दिते ।'

इत्याद्युक्त्या कां नाम सिद्धिमासादयेत् ? इत्याशङ्क्याह

स समस्तं च शास्त्रार्थं सत्तर्कादेव मन्यते ॥४४॥

मन्यते, इत्यवबुद्ध्यते ॥ ४४- ॥

ननु गुर्वादिनैरपेक्ष्येण कथमेतावतैव समस्तशास्त्रावबोधो भवेत् ? इत्याशङ्क्याह

शुद्धविद्या हि तन्नास्ति सत्यं यद्यन्न भासयेत् ।

न च एतद्युक्तिमात्रेणैव सिद्धम्, अपि त्वागमेनापि इत्याह

सर्वशास्त्रार्थवेत्तृत्वमकस्माच्चास्य जायते ॥४५॥

इति श्रीपूर्ववाक्ये तदकस्मादिति-शब्दतः ।

तत्--सत्तर्कनिमित्तकं समस्तशास्त्रावबोधलक्षणं वस्तु, 'अकस्मादिति-शब्दात्' उक्तमिति संबन्धः ॥

ननु 'अकस्मात् इति' शब्दमात्रादेव कथमेतदुक्तं स्यात् ? इत्याशङ्क्याह

लोकाप्रसिद्धो यो हेतुः सोऽकस्मादिति कथ्यते ॥४६॥

स चैष परमेशानशुद्धविद्याविजृम्भितम् ।

अकस्मादिति हि निर्निमित्तत्वमुच्यते, नचैतद्युज्यते, तथात्वे हि--नित्यसतत्त्वमतत्त्वं वा स्यात् ॥ ४६- ॥

तदत्र केनचित् हेतुना अवश्यभाव्यं, स च न लोकप्रसिद्धो--गुरूपदेशादेः साक्षाददृष्टत्वात्, तेन पारिशेष्याल्लोकाप्रसिद्धः, स चैष फलानुमेयः पारमेश्वरः शुद्धविद्यासमुल्लासो, यद्वशादेव अस्य गुरुशास्त्रानपेक्षं सर्वविषयं प्रातिभं महाज्ञानमुदियात्, यद्वक्ष्यति

'मध्यतं त्रात्पुनः सर्वमज्ञानं विनिवर्तते ।
अयमेव यतो याति बन्धमोक्षतथात्मताम् ॥
तत्प्रातिभं महाज्ञानं शास्त्राचार्यानपेक्षि यत् ।'

इति

उपाधिभेदाच्च अस्य नानात्वम्, इत्याह

अस्य भेदाश्च बहवो निर्भित्तिः सहभित्तिकः ॥४७॥
सर्वगोऽंशगतः सोऽपि मुख्यामुख्यांशनिष्ठितः ।
भित्तिः परोपजीवित्वं परा प्रज्ञाथ तत्कृतिः ॥४८॥

भित्तेर्निष्क्रान्तो निर्भित्तिः, सह भित्त्या वर्तते इति सहभित्तिकः इत्यस्य सांसिद्धिकस्य मुख्यं भेदद्वयं, सहभित्तिकश्च सर्वामेव भित्तिं गतः स्यात् अंशेन वा, इत्युक्तं 'सर्वगोऽशंगतश्च' इति, सोऽपि अंशगतः मुख्यांशनिष्ठितः स्यात् अन्यथा वा, इति सहभित्तिकस्य त्रयो भेदाः, निर्भित्तिना सह अस्य चत्वारः, बहुत्वं च—भित्तेस्तदंशानां च नानात्वात्, अत्र यद्भावाभावाभ्यां भेदोल्लासः त भित्तिशब्दं व्याचष्टे 'भित्तिः' इत्यादिना, परोपजीवित्वमिति—उपजीव्यमानः परो भित्तिरित्यर्थः, कः परः ? इत्याशङ्क्योक्तं 'परः प्रज्ञाथ तत्कृतिः' इति, प्रज्ञा--स्वविमर्शः तत्कृतिः—तत्तत्कर्माभिधायकं परकृतं शास्त्रम्। ननु अस्य स्वत एव ज्ञानोदयादुपजीव्यमानतया परो नास्ति, इत्यतोऽस्तु नाम निर्भित्तिकत्वं, को दोषः, सहभित्तिकत्वे पुनरस्य उच्यमाने सांसिद्धिकत्वमेव न स्यात्--परोपजीवित्वेन कल्पितत्वापत्तेः, न च असंभवत्सामान्यः तद्विशेषो नाम, इति कथमस्य सहभित्तिकत्वमुक्तम् ? उच्यते-- इह खलु स्वत एव सत्तर्कोदयात् खिलीकृतनिखिलबन्धनस्य भैरवीभावपूर्णस्य सांसिद्धिकस्य गुरोः स्वात्मनि कृतकृत्यत्वात् शेषवृत्तौ परानुग्रह एव परं प्रयोजनम्, यदुक्तं प्राक्

'समस्तयन्त्रणातन्त्रत्रोटनाटङ्कधर्मणः ।
नानुग्रहादृते किंचिच्छेषवृत्तौ प्रयोजनम् ॥'

इति । तथा

'स्वं कर्तव्यं किमपि कलयंल्लोक एष प्रयत्ना-
न्नो पारक्यं प्रति घटयते कांचन स्वात्मवृत्तिम् ।
यस्तु ध्वस्ताखिलभवमलो भैरवीभावपूर्णः
कृत्यं तस्य स्फुटमिदमियल्लोककर्तव्यमात्रम् ॥'

इति च । तत्रास्य निर्मलसंविदोऽनुग्राह्यान् प्रति निरुपकरणमेव अनुग्रहकारित्वम्--इत्यसौ निरनुसंधानदर्शनमात्रेणैव स्वसंवित्संक्रान्तेः स्वसाम्यापादनेनताननुगृह्णाति, यदुक्तं प्राक्

'तं ये पश्यन्ति ताद्रूप्यक्रमेणामलसंविदः ।
तेऽपि तद्रूपिणस्तावत्येवास्यानुग्रहात्मता ॥'

इति, यदभिप्रायेणैव परानुग्रहेऽपि परानपेक्षित्वात् 'निर्भित्तिकः' इत्ययमुच्यते। अनिर्मलसंविदः प्रति पुनरस्य सोपकरणमेव अनुग्रहकारित्वम्-- इति 'असावित्थं मयायमनुग्राह्यः' इत्याद्यनुसंधानेन अत्र प्रवृत्तः सर्वमेव बाह्यमुपकरणजातमपेक्षेते, येनास्य परानुग्रहः सिद्ध्येत्, प्रदुक्तं प्राक्

'सोऽपि स्वातन्त्र्यधाम्ना चेदप्यनिर्मलसंविदाम् ।
अनुग्रहं चिकीर्षुस्तद्भाविनं विधिमाश्रयेत् ॥'

इति ।

'तदर्थमेव चस्यापि परमेश्वररूपिणः ।
तदभ्युपायशास्त्रादौ श्रवणाध्ययनादरः ॥'

इति च । अनिर्मलचित्त्वेऽपि अनुग्राह्याणां वैचित्र्यात् तत्तदाशयानुसारेण उपकरणानामपि आनन्त्यम्--इति तदभिधायकं शास्त्रमपि सर्वेषामेवापेक्षणीयम्, अन्यथा हि परानुग्रहो न सिद्ध्येत्, यदुक्तम्

'चित्तभेदान्मनुष्याणां शास्त्रभेदो वरानने ।
व्याधिभेदाद्यथा भेदो भेषजानां महौजसाम् ॥
यथैकं भेषजं ज्ञात्वा न सर्वत्र भिषज्यति ।
तथैकं हेतुमालम्ब्य न सर्वत्र गुरुर्भवेत् ॥'

इति । यदभिप्रायेणैवास्य सर्वगतत्वमुक्तम् । कश्चिदपि असावेकमेव नियतं शास्त्रमधिकृत्य तदुचितानेव अनुग्राह्याननुगृह्णाति--इत्यंशगतत्वम् अस्योक्तम्, यद्वक्ष्यति

'कल्पवित्तत्समूहज्ञः शास्त्रवित्संहितार्थवित् ।
सर्वशास्त्रार्थविच्च .... ॥'

इति ।

यो यत्र शास्त्रे स्वभ्यस्तज्ज्ञानो व्याख्यां चरेत्तु सः ।
नान्यथा .... ॥'

इति च । तत्तच्छास्त्रात्मनामंशानामपि

'वेदाच्छैवं ततो वामं ततो दक्षं ततः कुलम् ।
ततो मतं ततश्चापि त्रिकं सर्वोत्तमं परम् ॥'

इत्याद्युक्त्या तथोत्तरं मुख्यत्वम्, इतरेषां चा मुख्यत्वम्--इति मुख्यामुख्य-रूपत्वमुक्तम् । न च अस्य एवमपि परमुखप्रेक्षित्वात् सांसिद्धिकत्वं खण्ड्यते--स्वात्मनि स्वत एव कृतकृत्यत्वात् परार्थमेतदपेक्षणात्, यदुक्तं प्राक्

'नहि तस्य स्वतन्त्रस्य कापि कुत्रापि खण्डना ।
नानिर्मलचितः पुंसोऽनुग्रहस्त्वनुपायकः ।।'

इति, तेनास्य स्वात्मन्यन्यानपेक्षणात् सांसिद्धिकत्वमेव--इति यथोक्तमेव युक्तम् ।।४७ ४८।।

न च एतत् स्वोपज्ञमेवोक्तम्, इत्याह

अदृष्टमण्डलोऽप्येवं यः कश्चिद्वेत्ति तत्त्वतः ।
स सिद्धिभाग्भवेन्नित्यं स योगी स च दीक्षितः ।।४९।।
एवं यो वेत्ति तत्त्वेन तस्य निर्वाणगामिनी ।
दीक्षा भवेदिति प्रोक्तं तच्छ्रीत्रिंशकशासने ।।'५०।।

परशक्तिपातानुगृहीतत्वात् गुर्वाद्यनपेक्षणेन, अदृष्टं-बाह्यदीक्षोपकरणो-पलक्षणभूतं, मण्डलं-यागादि येन स, तथाविधोऽपि, अत एव तिलाज्याहुति-वर्जिताम्, असंदिग्धां निर्वाणगामिनीं दीक्षां भजमानो, यः कश्चित् एवमेव-स्वत एव तात्त्विकेन रूपेण विशेषानुपादानात् स्वात्मानं वेत्ति, स दीक्षितः स्वसंवित्तिदेवीभिरेव पाशक्षपणपुरःसरं स्वात्मज्ञानपात्रतामापादितः, अत एव स नित्यं योगी - व्युत्थानकालेऽपि परमेश्वरैकात्म्यवान्, अत एव स सिद्धिभाक्--जीवन्नेव मोक्षलक्षणां सिद्धिं भजमानः--इत्येतत् श्रीत्रिशिका-शास्त्रे प्रोक्तं--नैतन्निष्प्रमाणकमित्यर्थः । तत्र च

'अदृष्टमण्डलोऽप्येवम् .... ।'

इत्यादिश्लोकान्तरम्

'अनेन ज्ञातमात्रेण .... ।'

इत्यादिग्रन्थान्तरं संभवदपि प्रकृतानुपयोगात् न पठितम्, अदृष्टमण्डलत्वादेव च 'तिलाज्याहुतिवर्जितत्वादि' अवसीयते, इति तदपि न पठितम् ।।४९।।५०।।

अस्य च व्यपदेशान्तरमपि अस्ति, इत्याह

अकल्पितो गुरुर्ज्ञेयः सांसिद्धिक इति स्मृतः ।

य एष गुरुः 'सांसिद्धिकः' इत्यस्मच्छास्त्रे स्मृतः, स आचार्यान्तरेण अनिष्पादितत्वात् 'अकल्पितो' ज्ञेयः--अकल्पितशब्दव्यपदेश्योऽपि भवेदित्यर्थः ।

एवमकल्पितं गुरुमुक्त्वा तत्संबन्धतया गर्वन्तरमपि आह

यस्तु तद्रूपभागात्मभावनातः परं विना ॥५१॥

शास्त्रवित्स गुरुः शास्त्रे प्रोक्तोऽकल्पितकल्पकः ।

यः पुनः सांसिद्धिकरूपभागपि स्वयमुदिते ज्ञाने तावता पारिपूर्ण्यस्याभावात्

'अहमेव परो हंसः .... ।'

इत्याद्युक्तेरात्मभावनाबलात्, परं गुर्वादिकमनपेक्ष्य शास्त्रवित्, स गुरुर्ज्ञानस्य सांसिद्धिकत्वेनाकल्पितत्वात् आत्मभावनातः शास्त्रवेदनक्रमेण कल्पनाच्च 'अकल्पितकल्पकः' इत्यस्मच्छास्त्रे प्रोक्तः ॥ ५१ ॥

सांसिद्धिकवदस्यापि बहवो भेदाः, इत्याह

तस्यापि भेदा उत्कृष्टमध्यमन्दाद्युपायतः ॥५२॥

उपायः शक्तिपातः ॥ ५२ ॥

ननु अस्य स्वयं प्रवृत्तज्ञानपारिपूर्ण्याय किमात्मभावनैव निमित्तम्, उतान्यदपि किंचित् ? इत्याशङ्क्याह

भावनातोऽथ वा ध्यानाज्जपात्स्वप्नाद्व्रताद्धुतेः ।

प्राप्नोत्यकल्पितोदारमभिषेकं महामतिः ॥५३॥

अयं खलु महाज्ञानी भावनाद्यनन्तोपायमाहात्म्यात् गुर्वादिना परेणाकृतत्वात् अकल्पितम्, अत एवोदारं—महान्तम्, अभिषेकं प्राप्नोति--शास्त्रज्ञानादावधिकारवान्भवति, इत्यर्थः ॥ ५३ ॥

ननु एवं ज्ञानावाप्तौ भावनादिनिमित्तानन्त्ये किं प्रमाणम् ? इत्याशङ्क्याह

श्रीमद्वाजसनीये श्रीवीरे श्रीब्रह्मयामले ।

श्रीसिद्धायामिदं धात्रा प्रोक्तमन्यत्र च स्फुटम् ॥५४॥

इदमिति--भावानादीनां निमित्तानामानन्त्यम् ॥ ५४ ॥

एवमनेकागमोक्तावपि निदर्शनार्थं प्रथमं श्रीसर्ववीरग्रन्थं पठति

तस्य स्वेच्छाप्रवृत्तत्वात्-कारणानन्ततेष्यते ।
कदाचिद्भक्तियोगेन कर्मणा विद्ययापि वा ॥५५॥
ज्ञानधर्मोपदेशेन मन्त्रैर्वा दीक्षयापि वा ।
एवमाद्यैरनेकैश्च प्रकारैः परमेश्वरः ॥५६॥
संसारिणोऽनुगृह्णाति विश्वस्य जगतः पतिः ।

तत्र हि

'अनादिमति संसारे कारणं परमेश्वरः ।
स्वभावेनैव जन्तूनामनुग्रहपरः सदा ॥'

इत्यादिना परमेश्वरस्य स्वस्वातन्त्र्यादेव अनुग्रहकारित्वमुपक्रम्य

'तया बद्धाञ्छिवो जन्तून्स्वेच्छया मोचयत्यतः ।'

इत्यादिना तदेव निर्वाह्य, अनेन ग्रन्थेन भगवतः स्वातन्त्र्येऽपि परानुग्रहे निमित्तान्तरोपलक्षितत्वमुक्तम्, तथाहि—तस्य परमेश्वरस्यैव भगवतः

'इच्छैव कारणं तस्य.......................... ।'

इत्याद्युक्त्या स्वेच्छाया एवानुग्रहादिप्रवृत्तौ कारणत्वेऽपि अनुग्राह्यभेदात् तस्या अपि वैचित्र्यात् कारणानामानन्त्यमुच्यते, वस्तुतस्तु तदतिरेक्यन्यत् अस्यापेक्षणीयं नास्ति—इति बहुशः प्रागुक्तम्, तेन निखिलस्य जन्मवतो जन्तुचक्रस्य पालनादियोगात् 'पतिः' परमेश्वरोऽसौ तत्तदाशयानुसारेण कदाचिद्भक्त्या कदाचिद्योगेन--इत्येवमाद्यैरनेकैः कारणप्रकारैः संसारिणः—संकुचितं प्रमातृवर्गमनुगृह्णाति, संकोचापहस्तनेन पूर्णज्ञानरूपतया प्रथयतीत्यर्थः। 'एवमाद्यैः' इत्यनेन तपोजपादेर्ग्रहणम्, एवं--पूर्णज्ञानावाप्तावनेके उपायाः संभवन्ति, इति तात्पर्यार्थः ॥ ५५ ॥ ५६ ॥

एवमुपदर्शितेऽपि निमित्तानन्त्यसाधनाय प्रमाणेऽधिकावापं कर्तुं श्रीब्रह्मयामलग्रन्थं पठति

मातृमण्डलसंबोधात्-संस्काराात्तपसः प्रिये ॥५७॥
ध्यानाद्योगाज्जपाज्ज्ञानान्मन्त्राराधनतो व्रतात् ।
संप्राप्यं कुलसामान्यं ज्ञानं कौलिकसिद्धिदम् ॥५८॥

मातृणां – चक्षुरादिकरणेश्वरीणां, मण्डलस्य सम्यक् वृतिरूपतापरिहारेण शक्तिरूपतया परिज्ञानान्मातृमण्डलकर्तृकात् प्रियमेलापादिक्रमेण संबोधनाद्वा – इत्येवमाद्यैरनन्तैर्निमित्तैः

'…………………कुलमुत्पत्तिगोचरम् ।'

इत्याद्युक्त्या कुले—स्वस्वरूपादतिरेकायमाणतया उत्पत्स्यमाने प्रमातृप्रमेयात्मनि विश्वत्र, सामान्यम् – अनुगामितया वर्तमानम्, अन्यथा हि अस्य भानमेव न भवेदिति भावः, अत एव कुले–आत्मनि भवा, येयं सिद्धिः, तां ददाति — स्वात्ममात्ररूपतया प्रस्फुरत्परप्रमात्रात्म ज्ञानमवश्यं प्राप्यते इत्यर्थः, संस्कारात् – दीक्षादेः ॥ ५७ ॥ ५८ ॥

ननु यद्येवं, तर्हि अकल्पितकल्पकस्य गुरोः भावनादिहेतुजालनिष्ठत्वं नाम मुख्यं लक्षणम् ? इत्याशङ्कां ग्रन्थकृदेव स्वयं निराकर्तुमाह

तत्त्वज्ञानात्मकं साध्यं यत्र तत्रैव दृश्यते ।
स एव हि गुरुस्तत्र हेतुजालं प्रकल्प्यताम् ॥५९॥

यत् खलु स्वात्मलक्षणं सिसाधयिषितं परतत्त्वात्मकं पूर्णं ज्ञानं तदेव नाम यत्र क्वापि दृश्यते स एव अकल्पितकल्पको गुरुर्ज्ञेयो, न पुनर्भावनादिहेतुजालमात्रनिष्ठः, एवं हि

'नावश्यं कारणानि कार्यवन्ति भवन्ति ।'

इतिन्यायेन भावनादौ हेतुजाले कृतप्रयत्नोऽपि कश्चित् कदाचित् पूर्ण ज्ञानं नासादयेत्—इति कथमिव अस्य अकल्पितकल्पकत्वं स्यात्, एवंरूपस्य ज्ञानस्य कादाचित्कत्वात् केनचित् कारणेन भाव्यम्, इत्युक्तं 'तत्र हेतुजालं प्रकल्प्यताम्' इति, तेनेह फलभूतं पूर्णज्ञानवत्त्वमेवास्य मुख्यं लक्षणम्–इति तात्पर्यार्थः ॥ ५९ ॥

न च एतदस्मदुपज्ञमेव, इत्यर्थद्वारेण संवादयति

तत्त्वज्ञानादृते नान्यल्लक्षणं ब्रह्मयामले ।

'भावितः सुप्रसन्नात्मा जपहोमरतः सदा ।'

इत्यादि अन्यत् शास्त्रान्तरोक्तं लक्षणमपहाय, तत्वज्ञानमेव मुख्यं लक्षणं श्रीब्रह्मयामले गुरोरुक्तम्, इति वाक्यार्थः, यदभिप्रायेणैव

'सर्वलक्षणहीनोऽपि ज्ञानवान्गुरुरुत्तमः ।'

इत्यादि अन्यत्रोक्तम् ॥

ननु भावनादौ कृतप्रयत्नस्यापि न किंचित्फलं जायते इत्येतदागमेन विरुद्धचते ? इत्याशाङ्क्कां गर्भीकृत्य पुनरपि अर्थद्वारेण संवादयति

तत्रैव चोक्तं सेवायां कृतायामविकल्पतः ॥६०॥
साधकस्य न चेत्सिद्धिः किं कार्यमिति चोदिते ।
आत्मीयमस्य संज्ञानक्रमेण स्वात्मदीक्षणम् ॥६१॥
सस्फुरत्वप्रसिद्धचर्थं ततः साध्यं प्रसिद्धचति ।

तत्र- श्रीब्रह्मयामले एव च – अविकल्पतः,

'......................संशयानो न सिद्धचति ।'

इत्याद्युक्त्या, विकल्पः-संशयः, तदभावात्—स्वपक्षदाढर्चेन स्वकल्पाम्नातायां लक्षजपादिरूपायां सेवायां कृतायामपि, साधकस्य केनापि वैगुण्येन, तत्फलभूता मनीषितार्थसंपत्तिलक्षणा सिद्धिः, न चेत्स्यात्, तदा किं तेन कार्यम्, इति भगवत्या चोदिते – प्रश्निते सति, आत्मीयम्—आत्मसंबन्धि, स सम्यक्-संशयविपर्यासरहितम् 'आत्मैवेदं सर्वम्' इत्येवमात्म, यत् ज्ञानं, तस्य क्रमो-यथायथमभ्यासातिशयात् परधाराधिरोहः, तेन सस्फुरत्वप्रसिद्धचर्थम्, अर्थात्-जप्यस्व मन्त्रादेः स्वरूपोत्तेजनाय निमित्तान्तरभूतं, स्वात्मनो दीक्षणम्—परसंविद्रूपतया प्रत्यवमर्शनं नाम, भगवतोत्तरमुक्तं, येन सिसाधयिषितं वस्तु साधकस्य प्रसिद्धचति--फलपर्यन्तां निष्पत्तिं यायादित्यर्थः ॥ ६० ॥ ६१- ॥

अत्रैव तात्पर्यार्थं व्याचष्टे

अनेन स्वात्मविज्ञानं सस्फुरत्वप्रसाधकम् ॥६२॥
उक्तं मुख्यतयाचार्यो भवेद्यदि न सस्फुरः ।

अनेन-श्रीब्रह्मयामलग्रन्थेन, साधकस्य स्वात्मीयमेव विज्ञानं जप्यस्य मन्त्रादेः सस्फुरत्वे निमित्तमुक्तं, यदि नाम मुख्यत्वेनाचार्यः परमेश्वरैकात्म्यायोगात् सस्फुरो न स्यात्, तेन सस्फुरे पुनराचार्ये सति तमेव स्वात्मनि दीक्षां कारयेत्, येनास्य मन्त्रोऽपि सस्फुरः स्यात् ॥ ६२ ॥

ननु आचार्यः सस्फुरो भवतु अस्फुरो वा, किमनेन नः प्रयोजनं, तम-

न्तरेण पुनः स्वयमेव दीक्षा न भवेत्, एवं हि आगमविरोध आपतेत्, तद-पव्याख्यानमेतत् ? इत्याशङ्क्याह

तत्रैव च पुनः श्रीमद्रक्ताराधनकर्मणि ॥६३॥
विधिं प्रोक्तं सदा कुर्वन् मासेनाचार्य उच्यते ।
पक्षेण साधकोऽर्धार्धात् पुत्रकः समयी तथा ॥६४॥

तत्रैव–श्रीब्रह्मयामले, पुनः–समनन्तरोक्तप्रश्नोत्तरानन्तरं, श्रीमद्रक्तायाः–श्रीचण्डिकाया विधाने, प्रकर्षेण—गुर्वादिनैरपेक्ष्येण, उक्तं विधिं तन्मन्त्र ग्रहणजपध्यानादिरूपं, सदा–प्रत्यहं, साधकः कुर्वन्, मासेन अभिषेकादिपरिहारेण 'आचार्यः' उच्यते–तदुचितमधिकारमारभमाणो न प्रत्यवैतीत्यर्थः। एवं पक्षण 'साधकः' सार्धेन–दिनसप्तकेन 'पुत्रकः' पादोनेन दिनचतुष्टयेन 'समयी' इति ॥ ६३ ॥ ६४ ॥

ननु दीक्षामन्तरेण कथं समय्यादिरूपत्वं स्यात ? इत्याशङ्क्याह

दीक्षयेज्जपयोगेन रक्तादेवी क्रमाद्यतः ।
गुरोरलाभे प्रोक्तस्य विधिमेतं समाचरेत् ॥६५॥

दीक्षयेदित्यनेन सर्वमेव गुरुकर्तृकं कर्मोपलक्षितम्, यदुक्तम्

'जुहोति जपति प्रेद्धे सर्वत्रैवात्र चण्डिका ।'

इति । क्रमादिति–समय्यादिरूपात् । ननु एवं तर्हि गुरुप्रशंसाभिधायिनो निखिलस्यैव आगमस्यानर्थक्यमापतेत् ? इत्याशङ्क्याह 'गुरोरलाभे' इत्यादि, प्रोक्तस्य – अकल्पितकल्पकादेः सस्फारस्य गुरोरलाभे सति, एतं – समनन्तरोक्तं, स्वयमेव मन्त्रग्रहणादिरूपं विधिं समाचरेत् – अनुतिष्ठेत्, अन्यथा पुनराचार्यमेव सर्वं कारयेत्, इति भावः ॥ ६५ ॥

ननु यद्येवं

'स्वयं गृहीतमन्त्राश्च क्लिश्यन्ते चाल्पबुद्धयः ।'

इत्यादिना पुस्तकाधीतविद्यानां क्लेशभागित्वाद्यात्मा दोषः कस्मादन्यत्रोक्तः? इत्याशङ्क्याह

मते च पुस्तकाद्विद्याध्ययने दोष ईदृशः ।
उक्तो यस्तेन तद्दोषाभावेऽसौ न निषिद्धता ॥६६॥

मते इति – श्रीसिद्धामते, यद्वक्ष्यति

'पुस्तकाधीतविद्याश्चेत्युक्तं सिद्धामते यतः ।'

इति । तेनेति–भगवता, ईदृश इति – समनन्तरोक्तः सस्फुरत्त्वाभावलक्षणः, पुस्तकावस्थिता हि मन्त्रा निर्वीर्या इति ततो गृहीतानां तेषां, न स्वसिद्धि-साधनाय निजं तेजः प्रस्फुरेत्, इति – पुस्तकाधीतविद्यानां सिद्ध्यभावात् क्लेशमात्रभागित्वमुक्तम्, यद्वक्ष्यति

'लिपिस्थितस्तु यो मन्त्रो निर्वीर्यः सोऽत्र कल्पितः ।
संकेतबलतो नास्य पुस्तकात्प्रथते महः ॥'

इति । स एव चेद्यदा दोषो न स्यात् तदा नायं कश्चिन्निषेधः, 'पुस्तकान्मन्त्रा नाध्येयाः' इति, पुस्तकाधीतानां हि मन्त्राणां समनन्तरोक्तया युक्त्या केषां-चन निजं तेजः प्रस्फुरेत्, यद्वक्ष्यति

'ये तु पुस्तकलब्धेऽपि मन्त्रे वीर्यं प्रजानते ।
ते भैरवीयसंस्काराः प्रोक्ताः सांसिद्धिका इति ॥'

इति ॥ ६६ ॥

एतदभिप्रायावेदकं च तत्रत्यमेव ग्रन्थं पठति

मन्त्रद्रव्यादिगुप्तत्वे फलं किमिति चोदिते ।
पुस्तकाधीतविद्या ये दीक्षासमयवर्जिताः ॥६७॥
तामसाः परहिंसादि वश्यादि च चरन्त्यलम् ।
न च तत्त्वं विदुस्तेन दोषभाज इति स्फुटम् ॥६८॥

इह खलु

'कथितं गोपितं तेभ्यस्तस्माल्लेख्यं न पुस्तके ।
गुरुवक्त्रात्तु लभ्येत अन्यथा न कदाचन ॥'

इति । तथा

'स्वमन्त्ररक्षणं यत्नात्सर्वदा कारयेत्सुधीः ।'

इत्यादि भगवदुक्तं बहुशोऽवधार्य, मन्त्रादीनां पुस्तकाद्यलिखनेन 'गोपने किं प्रयोजनम्'? इति देव्या प्रश्निते, भगवता 'पुस्तकाधीतविद्या' इत्यादिनोत्तरं दत्तं, मन्त्राणां हि पुस्तकादौ लिखने केचन 'दीक्षासमयवर्जिताः' अत एव

'तामसाः' तमो – बौद्धपौंस्नत्वेन द्विप्रकारमज्ञानं, तत्र भवा ज्ञानशून्याः, ततस्तानधीत्य 'परहिंसाद्यर्थं चरन्ति' न पुनस्तत् सिद्ध्येत्, यतस्ते मन्त्रादीनां तत्वं न जानते गुरुमुखाभावत्, ततश्च स्फुटमेव तेषां निरयपातादिदोषभागित्वं स्यात् , यतस्ते पुस्तकाधीतत्वेन मन्त्राणां निर्वीर्यत्वात्, तत्तद्वश्याद्यारभमाणास्तत्सिद्ध्यभावात्, शास्त्रे स्वयं शिथिलितास्थाः सन्तः, परेषामपि तत्र अनादरमुत्पादयन्ति—इति शास्त्रप्रक्रियोत्सादे निमित्तत्वमासादयेयुः ॥ ६७ ६८ ॥

अत्रैव वैषम्यात् पदयुगं व्याचष्टे

पूर्वं पदयुगं वाच्यमन्योन्यं हेतुहेतुमत् ।

अन्योन्यमिति—यतः पुस्तकाधीतविद्या अतो दीक्षासमयवर्जिताः, यतश्च दीक्षासमयवर्जिताः अतश्च पुस्तकाधीतविद्या इति ॥

एवमकल्पितकल्पकं गुरुमभिधाय कल्पितमपि अभिधातुमुपक्रमते

यस्तु शास्त्रं विना नैति शुद्धविद्याख्यसंविदम् ॥६९॥
गुरोः स शास्त्रमन्विच्छुस्तदुक्तं क्रममाचरेत् ।

यः कश्चित् पुनः शास्त्रपरामर्शमन्तरेण सत्तर्कात्मिकां शुद्धविद्याख्यां संविदं नाभ्येति यस्य स्वत एव सत्तर्को नोदियात्, स कस्यापि अकल्पितादेर्गुरोः सकाशात् शुश्रूषादिना शास्त्रमन्वेष्टुमिच्छुः सन् वृद्धव्यवहाराद्यधिगतं शास्त्रोक्तमेव 'इदं कृत्वा इदं कुर्यात्' इत्येवमात्मकं क्रममाचरेत्, येनास्य गुर्वाराधनक्रमेण शुद्धविद्योदयः स्यादिति ॥ ६९ ॥

तदाह

येन केनाप्युपायेन गुरुमाराध्य भक्तितः ।७०॥
तद्दीक्षाक्रमयोगेन शास्त्रार्थं वेत्त्यसौ ततः ।
अभिषेकं समासाद्य यो भवेत्स तु कल्पितः ॥७१॥
सन्नप्यशेषपाशौघविनिवर्तनकोविदः ।

इह खलु

'तमाराध्य ततस्तुष्टाद्दीक्षामासाद्य शांकरीम् ।'

इत्यादिशास्त्रोक्तक्रमेण प्रथमं गुरोरेव तावदाराधनं कार्यं, तच्च नोपायम-

न्तरेण भवेत् – इतितराम् तत्स्वीकारे यतितव्यम्, स च नैकः – आराध-नीयानामानैक्यात् कश्चिद्धि शुश्रूषया, कश्चिद्धनेन, कश्चिच्च प्रतिविद्यादिना आराध्यते, इति येन केनाप्युपायेन' इति सामान्येनोक्तंयस्य हि यथाराधनं सिद्ध्येति तस्य तथा कार्यमिति भावः, तच्च न दृष्टवत्कार्यार्थमेव कार्यम्, इत्युक्तं 'भवितत' इति, आराधिताच्च तस्माद्दीक्षाक्रमसंबन्धो भवेत्—येना-स्य शास्त्राधिगमः सिद्ध्येत्, अन्यथा हि शास्त्रश्रवणमात्रेऽपि अधिकारो न स्यात्, तदधिगमे पुनः का नाम संभावनेति भावः, यदुक्तम्

'अदीक्षितानां पुरतो नोच्चरेच्छिवसंहिताम् ।'

इति । तदनन्तरं च

'संहितापारगस्येह सेकः कार्योऽन्यथा नहि ।'

इत्याद्युक्तदृशा 'अभिषेकम्' अर्थात् तस्मादेव गुरोः सम्यक् पूर्णज्ञानादिरूप-त्वेनासाद्य, यः सर्वत्रैव परानुग्रहादावधिकृतो भवेत्, स पुनराचार्यान्तिरेण निष्पादितत्वात कल्पितोऽपि सन्, अशेषस्य पाशौघस्य, विशेषेण – निः-संस्कारं, निवर्तने कोविदः–प्रगल्भते इत्यर्थः । अनेन कल्पितत्वेऽपि अस्य फलतः कश्चिदकल्पितान्न विशेषः–इत्यावेदितम् । परमेश्वर एव हि आचार्य-मूर्तिमाश्रित्म अशेषपाशौघविनिवर्तनं कुर्यात्, तदुक्तम्

'यस्मान्महेश्वरः साक्षात्कृत्वा मानुषविग्रहम् ।
कृपया गुरुरूपेण मग्नाः प्रोद्धरति प्रजाः ॥'

इति । तदत्र किं वस्तुतः कल्पिताकल्पितविभागेन इति भावः ॥ ७०-७१- ॥

एवमकल्पितत्वेऽपि कस्यचिद्यथा स्वात्मज्ञानपारिपूर्ण्याय भावनादिना कल्पितत्वमपि संभवेदिति 'अकल्पितकल्पकः' उक्तः, तथा कल्पितस्यापि गुर्वाद्यनपेक्षमेव स्वप्रतिभाबलात् क्वचिच्छास्त्रेऽधिगमो जायते–इत्यकल्पितत्वं भवेत्, इति कल्पिताकल्पिताख्यं गुरुमप्यभिधातुमाह

यो यथाक्रमयोगेन कस्मिंश्चिच्छास्त्रवस्तुनि ॥७२॥
आकस्मिकं व्रजेद्बोधं कल्पिताकल्पितो हि सः ।

यः कश्चित्कल्पितो गुरुः, कस्मिंश्चित्-लोकोत्तरे शास्त्रीये पारमार्थिक-प्रमेयरूपे वस्तुनि, आकस्मिकं–गुर्वाद्यनपेक्षमेव, यथाक्रमयोगेन–यथावस्तु, बोधमासादयेत्, स कल्पितत्वेऽपि स्वयमेव बोधप्रवृत्तेरकल्पितः ॥ ७२- ॥

ननु कल्पितस्य गुरोः क्वचिदंशे यद्यकल्पितत्वं भवेत् तावता किम्? इत्याशङ्क्याह

तस्य योऽकल्पितो भागः स तु श्रेष्ठतमः स्मृतः ॥७३॥
उत्कर्षः शुद्धविद्यांशतारतम्यकृतो यतः ।

श्रेष्ठतमत्वे शुद्धविद्यातारतम्यकृत उत्कर्षो हेतुः—शुद्धविद्याया एव तरतमभावो हि अकल्पितत्वादौ निमित्तमिति भावः ॥ ७३- ॥

ननु 'कल्पितस्याकल्पितस्य वा गुरोः फले न कश्चिद्विशेष' इति समनन्तरमेवोक्तं, तदकल्पितस्य कल्पितापेक्षया श्रेष्ठतमत्वे किं निमित्तम्? इत्याशङ्क्याह

यथा भेदेनादिसिद्धाच्छिवान्मुक्तशिवा ह्यधः ॥७४॥
तथा सांसिद्धिकज्ञानादाहृतज्ञानिनोऽधमाः ।
तत्संनिधौ नाधिकारस्तेषां मुक्तशिवात्मवत् ॥७५॥
किं तु तूष्णीं-स्थितिर्यद्वा कृत्यं तदनुवर्तनम् ।

यद्यपि भेदेश्वरवादे

'..............................परेह शिवसमता ।'

इत्याद्युक्तेः अणूनां सर्वज्ञत्वसर्वकर्तृत्वाद्यभिव्यक्तेरविशेषात् 'शिवसाम्यं नाम मुक्तिरिष्यते' तथापि मुक्ताणुभ्योऽस्यास्ति विशेषो—यदयमनादिसिद्ध इति, तेषां पुनः सर्वज्ञत्वादि तदुपाधिकम्, इति तथा सर्वज्ञत्वाद्यविशेषेऽपि तस्मान्मुक्तशिवा न्यूनाः तथैव अकल्पितादपि गुरोः कल्पितादयः, अस्य हि स्वत एवं प्रवृत्तेरनुपाधिकं ज्ञानम्, एषां पुनः परोपाधिकमिति, अत एव यथा परशिवसंनिधौ मुक्तशिवानां सृष्ट्याद्यधिकारित्वे नाधिकारः, तथैव सांसिद्धिकस्य गुरोः संनिधाने कल्पितादीनां दीक्षादौ, इति युक्तमुक्तम् 'अकल्पितः श्रेष्ठतमः' इति । ननु यद्येवं तत् किं तत्संनिधौ मुक्ताणुवत् कल्पितादयोऽपि किंचित् कुर्वन्ति न वा? इत्याशङ्क्योक्तं 'किं तु तूष्णीं-स्थितिः' इत्यादि ॥ ७४ ॥ ७५- ॥

ननु इह स्वतः प्रवृत्ततर्कस्यापि अकल्पितस्य यन्नाम शास्त्रादिसापेक्षत्वं प्रागुक्तं, तत् किमस्य दूषणमुत भूषणम्? इत्याशङ्क्याह

यस्त्वकल्पितरूपोऽपि संवाददृढताकृते ॥७६॥
अन्यतो लब्धसंस्कारः स साक्षाद्भैरवो गुरुः ।

यः पुनरकल्पितरूपोऽपि स्वानुभवमात्रगोचरस्य स्वयंप्रवृत्तस्य ज्ञानस्य परत्रापि तथोपलभ्यमानत्वात्मना संवादनेन 'एवमेतत् नान्यथा' इत्येवं-रूपं दार्ढ्यं कर्तुम्, अन्यतो--गुरुशास्त्रादेः समस्तात्, गुरुतः शास्त्रतो वा व्यस्तात् प्राप्तातिशयः स स्वात्मनि नैराकाङ्क्षयेण 'साक्षाद्भैरवः'—पूर्णपरसंविदाविष्ट इत्यर्थः ॥ ७६- ॥

ननु कथं सवादमात्रादेव एतत्स्यात् ? इत्याशङ्क्याह

यतः शास्त्रक्रमात्तज्ज्ञगुरुप्रज्ञानुशीलनात् ॥७७॥
आत्मप्रत्ययितं ज्ञानं पूर्णत्वाद्भैरवायते ।

यतः शास्त्राधिगमक्रमेण शास्त्रज्ञगुरुप्रज्ञाया अनुशीलनाच्च 'इत्थमिदं, नानित्यम्' इत्येवंरूपात् पर्यालोचनात् ससंवादं सत् ज्ञानन् आत्मनि संजात-प्रत्ययम् 'एवमेवैतत्, नान्याथा' इत्येवंनिश्चयोत्पादात् दाढर्च प्राप्तम्, अत एव नैराकाङ्क्षयात् पूर्णं सत् भैरवायते--निराशंसानुत्तरपरज्ञानरूपतया प्रस्फुरति, इत्यर्थः ॥ ७७ ॥

अत एवागमोऽप्येवम्, इत्याह

तेन श्रीकिरणोक्तं यद्गुरुतः शास्त्रतः स्वतः ॥७८॥
त्रिप्रत्ययमिदं ज्ञानमिति यच्च निशाटने ॥
तत्संघातविपर्यासविग्रहैर्भासते तथा ॥७९॥

त्रिप्रत्ययमिति, यदुक्तं तत्र

'त्रिप्रत्ययमिदं ज्ञानमात्मा शास्त्रं गुरोर्मुखम् ।'

इति, तेनाकल्पितस्यापि गुर्वाद्यपेक्षणेन हेतुना, श्रीकिरणादौ यत् परतत्त्व-ज्ञाने गुर्वादि कारणत्रयमुक्तं तत् संघातादिरूपत्वेन, तथा--उक्तेन प्रकारेण, भासते--सर्वस्यैव अनुभवसिद्धतया प्रस्फुरतीत्यर्थः, संघातः--समस्तत्वं, विपर्यासः--उक्तक्रमान्यथाभावः, कस्यचित् स्वतः प्रवृत्तेऽपि ज्ञाने गुरु-शास्त्राभ्यां पूर्णता भवेत्, इति भावः, विग्रहो--व्यस्तत्वं,--कस्यचिद्धि गुर्वादिभिरेककैरेव ज्ञानं जायते, इत्याशयः ॥ ७८ ॥ ७९- ॥

ननु यदि नाम परतत्त्वज्ञाने गुर्वादीनां समस्तानामेव कारणत्वं, तत् कथं व्यस्तानामप्युक्तं, व्यस्तत्वेऽपि वा एकस्मादेव कार्यसिद्धेः किमन्येन ? इत्याशङ्क्याह

करणस्य विचित्रत्वाद्विचित्रामेव तां छितम् ।
कर्तुं वासीं च टङ्कं च क्रकचं चापि गृह्णते ॥८०॥
तावच्च छेदनं ह्येकं तथैवाद्याभिसंधितः ।

तक्षादयो हि करणस्य छिदिक्रियायां साधकतमस्य वास्यादेर्विचित्रत्वात् तथाविधामेव तां छिदं--द्वैधीभावं कर्तुं समस्तमसमस्तं वा तदुपाददते इति वाक्यार्थः। लोके हि सरले यथा यथा महति दारुणि वास्यादिभिर्व्यस्तैरवच्छेदः क्रियते वक्रकोटरादौ च समस्तैरित्याशयः । ननु करणवैचित्र्यात् कार्यवैचित्र्ये नास्ति विवादः, तत् वास्यादेः करणस्य भेदाच्छिदिक्रियापि भिन्नभिन्नैव, इति—व्यस्तैः समस्तैर्वा कथमेभिरेकमेव कार्यं क्रियते ? इत्याशङ्क्याह 'तावच्च' इत्यादि, तावत्--तत्तद्वास्यादिकरणनिर्वर्त्यमियत् यच्छेदनं तद्धयेकं, न भिन्नभिन्नं, तथैव चिच्छिदिषात्मन एकस्यैव आद्यस्याभिसंधानस्य भावात्--परामर्शभेदादेव हि परामृश्यभेदो भवेदिति भावः, एकमेकस्यामपि छिदिक्रियायां वास्यादीनां समस्तानां व्यस्तानां च करणत्वे न कश्चिद्दोषः ॥ ८०- ॥

एतदेव प्रकृते योजयति

इत्थमेव मितौ वाच्यं करणस्य स्वकं वपुः ॥८१॥
न स्वतन्त्रं स्वतो मानं कुर्यादधिगमं हठात् ।
प्रमात्राश्वासपर्यन्तो यतोऽधिगम उच्यते ॥८२॥
आश्वासश्च विचित्रोऽसौ शक्तिपातवशात्तथा ।
प्रमितेऽपि प्रमाणानामवकाशोऽस्त्यतः स्फुटः ॥८३॥

करणस्य—गुर्वादेः, स्वकम्--अनन्यसाधारणं, वपुः--स्वरूपं, तर्कज्ञानात्मिकायां मितौ, इत्थम्—उक्तेन व्यस्तसमस्तात्मना प्रकारेणैव वाच्यं, यद्यपि गुर्वादेरेकैकस्यापि तत्त्वाधिगमेऽस्ति साधकतमत्वं, तथापि यावता प्रमातुराकाङ्क्षा विरमेत्, तावदेव एषां व्यस्तानां समस्तानां वा विनियोगः, इत्याकूतम्, अत एव न मानं नाम मानत्वात्स्वतन्त्रम् इत्येव बलात्कारेण

प्रमात्रपेक्षां विना अधिगमं विदध्यात्, अधिगमो हि नाम 'ज्ञातोऽयं मयार्थः' इत्येवंपर्यवसानः प्रमातुराश्वासः, स एव चेन्नोत्पन्नः, को नाम अधिगमार्थः, स च आश्वासः शक्तिपातस्य तीव्रतमत्वादिभेदात् तथा तीव्रतमत्वादिनैव क्रमेण विचित्रो, येन—गुर्वादेर्व्यस्तात् समस्ताद्वा उत्पद्यते इत्याशयः, अत एव बहिः प्रमितेऽपि अर्थे प्रमातुरा श्वासानुत्पादात् प्रमाणान्तराणामस्ति निर्बाध उपयोगः ॥८१॥ ॥८२-८३-॥

ननु अर्थालोकादिरूपा सामग्री चेन्न संघटिता, तत् ज्ञानमेव नोत्पद्यते, इति कस्तत्र अधिगमार्थः, अथ चेत् संघटिता, तत् प्रथमाक्षसंनिपात एव प्रत्ययान्तरानपेक्षिणः प्रमातुरनधिगतार्थविषयोऽधिगमः स्यात्, एवमपि उत्तरकालं धारावाहीनि विज्ञानानि तत्र चेत्प्रवर्तन्ते, तत् प्रवर्तन्तां नाम, को दोषः, तेषां पुनस्तत्रैव प्रमाणत्वं न भवेत्—आद्येनैव ज्ञानक्षणेन अपूर्वस्यार्थस्य प्रकाशनात्, अपूर्वार्थप्रकाशत्वमेव हि नाम प्रमाणत्वम्, यदाहुः

'अनधिगतविषयं प्रमाणम्, अज्ञातार्थप्रकाशो वा ।'

इति, प्रमातुरपि एतावतैव फलवत्त्वं 'ज्ञातोऽयं मयार्थः' इत्येवंसंतोषाभिमानात्, न च एतत् औत्तरकालिकानां धारावाहिनां विज्ञानानां संभवति, इति कथमुक्तं 'प्रमितेऽपि प्रमाणानामवकाशः' इति ? इत्याशङ्क्याह

दृष्ट्वा दृष्ट्वा समाश्लिष्य चिरं संचर्व्य चेतसा ।
प्रिया यैः परितुष्येत किं ब्रूमः किल तान्प्रति ॥८४॥

दृष्ट्वा दृष्ट्वेति– आभीक्ष्ण्येनाश्लेषसंचर्वणयोरपि असौ अर्थाल्लभ्यते, चिरशब्दाद्वा – तेन रूपाज्ञानात्मकैः स्पर्शज्ञानात्मकैस्तत्पृष्ठभाविविकल्पज्ञानात्मकैश्च शतशः प्रवृत्तैः प्रमाणैः प्रमितायां प्रियायां येषामाश्वासलक्षणः परितोषो जायते, तान् प्रति किं ब्रूमः–प्रमात्राश्वासपर्यन्तस्याधिगमस्य आद्येनेव ज्ञानक्षणेन उपादेऽनुभवविरोधान्न किंचित्, इति यावत्, अतश्च

'एकस्यार्थस्वभावस्य प्रत्यक्षस्य सतः स्वयम् ।
कोऽन्यो न भागो दृष्टः स्याद्यः प्रमाणैः परीक्ष्यते ॥'

इत्याद्युक्तमयुक्तमेव, इति भावः, तेन

'यत्रापि स्यत्परिच्छेदः प्रमाणैरुत्तरैः पुनः ।
नूनं तत्रापि पूर्वेण सोऽर्थो नावधृतस्तथा ॥'

इत्याद्युक्तयुक्त्यापूर्वप्रमाणानधिगतः कश्चिदपूर्वं एवांशः प्रमाणान्तरैरवश्यमधिगम्यते, येन पर्यन्ते प्रमातुः समाश्वासोत्पादः स्यात्। यत् पुनरन्यैः

'नैवाधिकपरिच्छेदः प्रमाणैरुत्तरैर्ध्रुवम्।
धारावाहिषु बोधेषु कोऽधिकोऽर्थः प्रकाशते ॥'

इत्याद्युक्त्या गृहीतग्राहिणामपि धारावाहिनां विज्ञानानां प्रामाण्यमुक्तं, तन्न युक्तं—व्यर्थत्वादिदूषणशतोपनिपातात्, तस्मादेकस्मिन्नपि अर्थेऽनेकप्रमाणप्रवृत्यात्मनि संप्लवेऽपि नाधिगतस्यैव अर्थस्याधिगमः, इति – न प्रमाणान्तराणां निष्प्रयोजनत्वं, तैरपि–अपूर्वस्यार्थस्य प्रकाशनात्, यद्येवं तदौत्तरकालिकानां धारावाहिनां विज्ञानानां स्वारसिक्यां प्रवृत्तावपूर्वार्थप्रकाशो न कदाचिदपि विरमेत्, इत्यनवस्थापि न स्यात्–प्रमात्रा श्वासक्षणस्य अनुलङ्घनीयस्यावधेर्भावात्। एवमपि एकस्मिन्नेवार्थे प्रमातुरनेकैः प्रमाणैः प्रवृत्तैः संभूयापूर्वतया प्रकाशो जायते, – इत्येषां पूर्वापेक्षमुत्तरेषां प्रामाण्यम्, उत्तरापेक्षं च पूर्वेषाम् – इत्यन्योन्याश्रयतापि न स्यात्, अत्रान्योन्यापेक्षस्यैव प्रामाण्यस्याभावात्, अपूर्वार्थप्रकाशाधीनं हि ज्ञानानां प्रामाण्यम्, स चापूर्वार्थविषयः प्रकाशः सर्वेषामेव पृथक्पृथगवस्थितः, इति–को नाम अन्योन्याश्रयताया अवकाशः, संप्लवो हि धर्म्यभिप्रायेणोच्यते 'एकस्मिन्नेवार्थेऽनेकप्रमाणप्रवृत्तिः' इति, वस्तुतः पुनरनेकधर्मविशेषिते धर्मिणि केनचित् कश्चिद्धर्मविशेषोऽपूर्वतया प्रकाशते, यद्वशात् – तत्तद्धर्माधिगतिपुरःसरीकारेण पूर्णेन रूपेण धर्मिणमधिगम्य प्रमातुः पर्यन्ते समाश्वासो जायते इति ॥ ८४ ॥

तदेतदाह

इत्थं च मानसंप्लुत्यामपि नाधिगते गतिः।
न व्यर्थता नानवस्था नान्योन्याश्रयतापि च ॥८५॥

इदानीं तर्कतत्त्वानुपक्तं गुरुसतत्त्वमुपसंहरन् तदानन्तर्येणानुजोद्देशोद्दिष्टं योगाङ्गानुपयोगित्वमपि वक्तुमुपक्रमते

एवं योगाङ्गमियति तर्क एव न चापरम्।
अन्तरन्तः परामर्शपाटवातिशयाय सः ॥८६॥

एवमियति–गुरुसतत्त्वात्मनि प्रमेये प्रतिपादिते, तर्क एव उत्तमं योगाङ्ग,

न पुनरपरं यमादि किंचित्, इति पर्यवसितम्, यतः स एवान्तरन्तर-यथायथं संवित्संनिकर्षेण शुद्धविद्यात्मनः परामर्शस्य पाटवातिशयं जनयेत्, येन अन्ते योगिनः परसंवित्साक्षात्कारः स्यात्, तदुक्तं

'लब्धभूमेर्विरक्तस्य तज्जयोपायपेशलः ।
ऊहो नाम वितर्कोक्तिः प्रविचारेक्षणात्मवः ॥
यद्यत्सातिशयं स्थानं भोगेन वमाधिष्ठतम् ।
विनश्वरेण संन्देहमूलेन सुमलीमसम् ॥
किमनेन विकल्पोक्तिव्यवहारात्माना त्वलम् ।
अस्मादन्यद्विशिष्टेन भोगेन परिपूरितम् ॥'

इत्यादि ।

'पदं पदवतां श्रेष्ठं स्वतेजोगूढलोचनम् ।
तदेकं निर्वितर्कं स्यात्प्रभोः स्थानमनातुरम् ॥
शेषाणि संवितर्काणि संत्याज्यानि मुमुक्षुभिः ।
न वितर्कं विना तानि त्यक्तुं योगप्रयोक्तृभिः ॥'
'शक्यन्ते मुनिशार्दूल तस्मात्तर्कोऽपि युज्यते ।
योगिनोऽङ्गत्वमापन्नः स्वोपकाराय चेष्टते ॥'

इत्यन्तम् ॥ ८६- ॥

ननु समानेऽपि योगाङ्गत्वे तर्कस्यैवोत्तमं योगाङ्गत्वं, न पुनर्यमादीना-मित्यत्र किं निमित्तम् ? इत्याशङ्क्याह

अहिंसा सत्यमस्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहाः ।
इति पञ्च यमाः साक्षात्संवित्तौ नोपयोगिनः ॥८७॥
तर्कप्रभृतयो ये च नियमा यत्तथासनम् ।
प्राणायामाश्च ये सर्वमेतद्बाह्यविजृम्भितम् ॥८८॥

प्रभृतिना शौचादय उक्ताः, यदुक्तम्

'शौचसंतोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः ।'

इति, एवमादयः सर्वे संवित्तौ साक्षान्नोपयोगिनः इति संबन्धः, साक्षाद्ग्रहणेन पारम्पर्येण पुनर्येषामुपयोगित्वं भवेदपि नाम-इति सूचितम्, एषां साक्षाद-नुपयोगित्वे हेतुः-'सर्वमेतद्बाह्यविजृम्भितम्' इति ॥ ८७ ॥ ८८ ॥

न चैतद्युक्तिमात्रेणैव सिद्धं, यावदागमेनापि, इत्याह

श्रीमद्वीरावलौ चोक्तं बोधमात्रे शिवात्मके ।
चित्तप्रलयबन्धेन प्रलीने शशिभास्करे ॥८९॥
प्राप्ते च द्वादशे भागे जीवादित्ये बोधके ।
मोक्षः स एव कथितः प्राणायामो निरर्थकः ॥९०॥
प्राणायामो न कर्तव्यः शरीरं येन पीडचते ।
रहस्यं वेत्ति यो यत्र स मुक्तः स च मोचकः ॥९१॥

चित्तस्य चेत्यग्रासीकरणक्रमेण चेतयितरि यः प्रलयो – विश्रान्तिः, स एव अनन्यगमनात्मा बन्धः, तेन शशिसहिते भास्करे – प्राणापानप्रवाहे प्रलीने, मध्यधामलयादुच्छिन्नस्ववाहे, अत एव जीवः– उदान एव आदित्यः तत्तत्प्रमेयादिदाह्यवस्तूपादानात् अग्निः, तस्मिन् मध्योर्ध्ववाहक्रमेण द्वादशान्तं प्राप्ते सति–प्रमाणप्रमेयव्यवहारोच्छेदेन प्रमातर्येव परां काष्ठामधिरूढे, निःश्रेयसात्मपरश्रेयोरूपे स्वबोधके स्वप्रकाशे बोधमात्रे अर्थादुदिते, यः कश्चिदनुभवविशेषः स एव मोक्षः कथितः,

'शशिभास्करसंयोगाज्जीवस्तन्मात्रतां व्रजेत् ।
अत्र ब्रह्मादयो लीना मुक्तये मोक्षकाङ्क्षिणः ॥'

इत्यादिना तत्रैव प्रागुपदिष्टो, न तु दर्शनान्तरवन्निमित्तान्तरसमधिगम्यः, अत एव रेचकादिरूपः प्राणायामो निरर्थकः– तेन न कश्चिन्मोक्षलक्षणोऽर्थः सिद्धचति इत्यर्थः । एवं भगवता प्रश्निते भगवतीप्रश्नार्थमेव सिद्धान्तोक्तुम्

'सत्यमेतन्महाप्राज्ञ प्राणायामो न कारणम् ।'

इत्युपक्रम्य

'प्राणायामो न कर्तव्यः शरीरं येन पीडचते ।'

इत्यादिना परपक्षे बाधकं प्रमाणमुपन्यस्य स्वपक्षे साधकं प्रमाणं दर्शयति 'रहस्यं वेत्ति यो यत्र' इत्यादि, रहस्यं — प्रमाणाद्यप्रवृत्तेः सर्वजनागोचरं प्रमातृमात्रसतत्त्वं परं तत्वं, योऽभिजानाति–साक्षात्कुर्यात्, स स्वयं मुक्तः सन् , अन्येषामपि मोचकः, प्राणायामस्य आनर्थक्याभिधाने यमादीनामपि

दण्डापूपीयन्यायेन तत् अर्थसिद्धम्, इति पृथक् नोक्तम्, 'बोधमात्रे शिवात्मके' इत्यनेन पुनः प्राक् पटलद्वयोक्तमर्थजातं संक्षिप्योपक्षिप्तम् ॥ ८९ ॥ ॥ ९० ॥ ९१ ॥

ननु यमादि यदि बाह्यविजृम्भितत्वात् न संवित्तावुपयोगि, तदस्तु, को दोषः, प्रत्याहारादि पुनर्बाह्यात्प्रत्यावृत्तं सत्, अन्तरेव लब्धप्ररोहम्, इति तदपि कथं न तत्रोपयुक्तम् ? इत्याशङ्क्याह

प्रत्याहारश्च नामायमर्थेभ्योऽक्षधियां हि यः ।
अनिबद्धस्य बन्धस्य तदन्तः किल कीलनम् ॥९२॥
चित्तस्य विषये क्वापि बन्धनं धारणात्मकम् ।
तत्सदृग्ज्ञानसंतानो ध्यानमस्तमिता परम् ॥९३॥
यदा तु ज्ञेयतादात्म्यमेव संविदि जायते ।
ग्राह्यग्रहणताद्वैतशून्यतेयं समाहितिः ॥९४॥

अयं हि नाम प्रत्याहारो – यदर्थेभ्यो रूपादिभ्यः प्रत्याहृतानां चक्षुरादीन्द्रियज्ञानानाम् अन्तः कीलनं – चित्तस्वरूपानुकारायमाणतया स्वात्मायत्ततासादनम्, यदुक्तम्

'स्वविषयासंप्रयोगे चित्तस्य स्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः ।' (यो० सू० २—३)

इति, तदेव च अनिबद्धस्य

'संसारोऽस्ति न तत्त्वतस्तनुभृतां बन्धस्य वार्तैव का ।'

इत्यादिन्यायेन अलब्धप्ररोहस्यापि बन्धस्य, कीलनं – दार्ढ्यापादनम् 'परस्या हि संविदः स्वस्वातन्त्र्यात् गृहीतसंकोचाया देशाद्यवच्छिन्नत्वं नाम बन्धः' स एव चात्र कुतश्चित् प्रत्या हृतानामिन्द्रियाणां कुत्रचिदवस्थापनादुपोद्बलीकृतः, इति कथं नाम प्रत्याहारादेः संवित्साक्षात्कारायोपयोगः– व्यापिकाया हि सविदः कथं नाम कुत्रचिदेवोपलम्भो भवेत् इति भावः, यदुक्तम्

'यत्र यत्र मनो याति तत्र तत्रैव धारयेत् ।
चलित्वा कुत्र गन्तासि सर्वं शिवमयं यतः ॥

इति। एव धारणादावपि अवसेयम्, तत्र हि कन्दादौ नियत एव देशे 'चित्तस्य बन्धो रूपम्' यदुक्तम्

'देशबन्धश्चित्तस्य धारणा।' (यो० सू० ३-१)

इति। ध्यानेऽपि सजातीयानामेव ज्ञानानां प्रवहद्रूपत्वं नाम रूपं, न विजातीयानाम्, इत्यत्र नियताकारावच्छिन्नत्वम् यदुक्तं

'तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्।' (यो० सू० ३-२)

इति, अत एव 'अस्तमिता परम्' इत्युक्तम्। समाधावपि ज्ञानज्ञेयाख्यरूपद्वयतिरस्कारेण ध्येयात्मज्ञेयमात्रप्रतिभास एव रूपम्, इत्यत्र नियत एवाकारोऽवच्छेदकः, यदुक्तम्

'तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः।' (यो० सू० ३-३)

इति ॥ ९२ ॥ ९३ ॥ ९४ ॥

ननु यमादीनां पञ्चानामपि बहिरङ्गत्वात् यदि संवितौ नोपयोगः, तत् तावदास्ताम्

'त्रयमन्तरङ्गं पूर्वेभ्यः।' (यो० सू० ३-७)

इति तेषां किमिति नाम न तत्रोपयोगः ? इत्याशङ्क्याह

तदेषा धारणाध्यानसमाधित्रितयी पराम्।
संविदं प्रति नो कंचिदुपयोगं समश्नुते ॥९५॥

'अनिबद्धस्य बन्धस्य तदन्तः किल कीलनम्' इत्याद्युक्त्या बन्धकत्वादेर्हेतोः ॥ ९५ ॥

ननु यद्येवं तद्यमादीनामष्टानामपि योगाङ्गानां किमर्थमभिधानम् ? इत्याशङ्क्याह

योगाङ्गता यमादेस्तु समाध्यन्तस्य वर्ण्यते।
स्वपूर्वपूर्वोपायत्वादन्त्यतर्कोपयोगतः ॥९६॥

अन्त्येति-अन्ते साधुः, अष्टानां यमादीनामङ्गानामुपेयत्वेन योग्य इति, यमा नियमानायापायो; नियमाश्च आसनस्य - इत्यादिक्रमेण यमादीनामष्टानामपि पूर्वपूर्वोपायत्वेन योगाङ्गत्वं वर्णितम्, अथैषामुपेयरूपत्वात् पार्यन्तिके तर्के द्वारद्वारिभावेनोपयोगः स्यात्, यस्मादष्टाभिरपि एतैरङ्गैरुपस्कृ-

तमतेर्योगिन एवं स्वपरामर्शो जायते, येनास्य झटित्येव स्वसंवित्तिसाक्षात्कारो भवेत्, यन्नाम अत्र योगस्य स्वदर्शनोक्तानि षडङ्गान्यपहाय पातञ्जलीयं यमाद्यङ्गाष्टकमुक्तं, तत्रायमाशयो—यत् क्वचिदपि एतदङ्गाष्टकातिरिक्तम् अन्यदङ्गान्तरं नास्ति, इति सर्वत्र तर्कस्यैवाङ्गान्तराण्युपायः, स च स्वसंवित्साक्षात्कारस्येति ।। ९६ ।।

एतदेवोपपादयति

अन्तः संविदि रूढं हि तद्द्वारा प्राणदेहयोः ।
बुद्धौ चार्प्यं तदभ्यासान्नैष न्यायस्तु संविदि ।।९७।।

यतः खलु संविदि, अन्तर्-अभेदेन, जातप्ररोहं संवेद्यमानं सत् तद्यमादि, तद्द्वारा – संविन्मुखेनैव, नहि असंविदितं किंचिदपि वस्तु व्यवहारयोग्यं भवेत्, इति भावः, अभ्यासात् – पौनःपुन्येन सेवनात्, देहादावर्प्यं–देहादि यथा शनैः शनैः संस्कारपाटवेन तथैव प्ररोहमियादित्यर्थः, तद्यथा आसनादि देहे, प्राणायामादि प्राणे, प्रत्याहारादि बुद्धाविति । संविदि पुनरेष देहादौ प्ररूढस्य यमादेः तद्द्वारेण अभ्यासबलात् प्ररोहोत्पादनात् स न्यायो न भवेत्, संविदि हि यमादेः प्ररोहः पटीयस्त्वमुच्यते, स एव च नाम संस्कारः, न च संवित् संस्कार्या, संस्कारो हि अतिशयः, स च नास्यां संभवेत्-असंविद्रूपतापत्तेः, तेन पराद्वयरूपायां नित्योदितायामस्यां यमादेर्न किंचित्प्रयोजनम्—इति तात्पर्यम्, यदुक्तम्

'अन्तः संविदि यन्निरूढमभितस्तत्प्राणधीविग्रहे
संचार्येत कथं तथेति घटते तत्राभ्युपायक्रमः ।
ये त्वभ्यासपथेन संविदमिमां संस्कर्तुमभ्युद्यता-
स्ते किं कुत्र कथं नु वा विदधतामित्यत्र संदिह्महे ।।'

इति ।। ९७ ।।

अथ वा देहादिद्वारेण संविद्यभिव्यक्तिलक्षणोऽतिशयो भवेत्, इत्याह

अथ चास्मद्दृशि प्राणधीदेहादेरपि स्फुटम् ।
सर्वात्मकत्वात्तत्रस्थोऽप्यभ्यासोऽन्यव्यपोहनम् ।।९८।।

यद्वा पराद्वयदर्शने

'प्रदेशोऽपि ब्रह्मणः सार्वरूप्यमनतिक्रान्तश्चाविकल्प्यश्च ।'

इत्यादिनीत्या देहादेरपि संविद्रूपत्वेन सर्वात्मकत्वात्, तत्र प्राणादाव-वस्थितोऽपि यमादीनामभ्यासः; अन्येषां भेदनिष्ठानामयमादिरूपाणां हिंसादीनामपोहनम्, एवं हि यथात्मनि हिंसा न कार्या, तथा परत्रापि—इति स्वपरयोरात्मरूपतयावभासनेन भेददिगलनत्त् संविद एवाभिव्यक्तिर्भवेत्, इति भावः ॥ ९८ ॥

ननु यद्यत्र अभ्यस्यते तच्चेत् तत्र संस्कारदार्ढ्यात् पाटवातिशयं यायात्, इत्यस्तु को दोषः, तत् पुनरन्यव्यपोहनमाधातुं कथमुत्सहते--येन कार्यान्तरमपि उत्पद्येत ? इत्याशङ्कां शमयितुं दृष्टान्तयति

देव उत्प्लुतिसंपातधर्मो।ज्जगमिषारसात् ।
उत्प्लाव्यते तद्विपक्षपाताशङ्काव्यपोहनात् ॥९९॥

उत्प्लुतिः—ऊर्ध्वं प्लवनं, तस्याः पौनःपुन्येन संभवात् यः संपातस्तद्धर्मा येयमुद्गन्तुमिच्छा तस्या रसः--पुनःपुनरभ्यासादादरातिशयः ततो हेतोः, यथा देहः तस्योज्जिगमिषारसस्य विपक्षभूतो यस्तिर्यगधश्च पातः तदा-शङ्काया व्यपोहनमधिकृत्य, उत्प्लाव्यते—अङ्कश्रमादिनोर्ध्वंप्लवने योग्यः क्रियते इत्यर्थः,--तेन ऊर्ध्वं प्लवनाभ्यासेन अधःवातादि देहे व्यपोह्यते—इत्यन्यदभ्यस्यतोऽपि अन्यनिवृत्तिर्भवेदिति भावः ॥ ९९ ॥

एतदेव प्रकृते योजयति

गुरुवाक्यपरामर्शसदृशे स्वविमर्शने ।
प्रबुद्धे तद्विपक्षाणां व्युदासः पाठचिन्तने ॥१००॥

एवं शिष्यस्य पाठचिन्तनादौ विषये पुनः पुनरभ्यासातिशयात्, गुरु-वाक्यपरामर्शानुगुणे स्वपरामर्शे, उदितस्य स्वपरामर्शस्य, विपक्षभूतानां मौढ्यादीनामपि व्युदासः .... ॥ १०० ॥

ननु गुरुवाक्यबलादेवास्य मौढ्यादीनामपि व्युदासः सिद्ध्येदिति अन्तर्ग-डुप्रायेण स्वविमर्शेनापि कोऽर्थः ? इत्याशङ्क्याह

नह्यस्य गुरुणा शक्यं स्वं ज्ञानं शब्द एव वा ।
धियि रोपयितुं तेन स्वप्रबोधक्रमो ध्रुवम् ॥१०१॥

नहि नामास्य शिष्यस्य स्वबलादेव गुरुणा चिन्ताद्यात्म स्वं ज्ञानं,

पाठ्यमानो वा स्वः शब्दः तद्बुद्धौ प्ररूढं कर्तुं शक्यं, यावदस्य स्वपरामर्शो न स्यात्, यतः स्वविमर्शं विना हि असौ गुरुवाक्यमवधारयितुमपि नालं, का पुनर्मौढ्यादिनिवृत्तौ संभावनापि भवेत्, तस्मान्निश्चितमेव स्वस्यात्मीयस्य शुद्धविद्यारूपत्वात् प्रकृष्टस्य परामर्शात्मनः बोधस्य क्रमोऽस्तीति शेषः ॥ १०१ ॥

यन्माहात्म्यादवधानशालिनां स्वप्नानुभूतमति वस्तु अर्थक्रियापर्यन्तां साक्षात्काररूपतामेति, इत्याह

अत एव स्वप्नकाले श्रुते तत्रापि वस्तुनि ।
तादात्म्यभावनायोगो न फलाय न भण्यते ॥१०२॥

अतः—स्वपरामर्शस्य सद्भावादेव, तत्र असदर्थोपलम्भात्मन्यपि स्वप्नसमये कस्मिंश्चित् श्रुतेऽपि वस्तुनि विषये स्त्र्यादाविव ताद्रूप्येण पुनःपुनरभ्यासात्मा भावनायोगः क्रियमाणः फलाय न भण्यते--जागरोचितार्थक्रियाकारितया साक्षात्क्रियते इत्यर्थः ॥ १०२ ॥

ननु यद्विषयोऽयं नाम स्वपरामर्श इष्यते, तयोः पाठचिन्तनयोरेव किं स्वरूपम् ? इत्याशङ्क्याह

संकेतानादरे शब्दनिष्ठमामर्शनं पठिः ।
तदादरे तदर्थस्तु चिन्तेति परिचर्यताम् ॥१०३॥

संकेतस्य—सांकेतिकस्यार्थस्यानादरः--उपेक्षा, अत एव 'शब्दनिष्ठम्' इत्युक्तं, न पुनरर्थनिष्ठमपि, तदादरे शब्दापेक्षायां शब्दप्रतीतिपुनःसरीकारेण हि अर्थप्रतीतिरिति भावः ॥१०३॥

एवमेतत्प्रसङ्गादभिधाय प्रकृतमेवानुसरति

तदद्वयायां संवित्तावभ्यासोऽनुपयोगवान् ।
केवलं द्वैतमालिन्यशङ्कानिर्मूलनाय सः ॥१०४॥

तदिति--उक्तोद्धेतोः, अभ्यास इति यमादीनाम् । ननु यदि नामायमनुपयुक्तः तत्किमर्थमुक्तः ? इत्याशङ्क्याह—केवलमित्यादि ॥१०४॥

ननु यद्येवं तत्कथं स्वपरामर्शात्मनस्तर्कस्य द्वैतशङ्कानिर्मूलत्वं प्रागुक्तम् ? इत्याशङ्क्याह

द्वैतशङ्काश्च तर्केण तर्क्यन्त इति वर्णितम् ।
तत्तर्कसाधनायास्तु यमादेरप्युपायता ॥१०५॥

वर्णितमिति तर्कतत्त्वचर्चावसरे, उक्तं च

'अनेन लक्षयेद्योगी योगसिद्धिप्रवर्तकम् ।
निवर्तकं च यद्वस्तु बहुधा संव्यवस्थितम् ॥'

इति, तस्मात् यमादीनां यद्द्वैतशङ्कानिर्मूलकत्वमुक्तं तत् तर्कोपायत्वात्पारम्पर्येण, इत्येषां तदेव मुख्यतयाभिधानीयम्, इत्याह 'तत्तर्केत्यादि' तेन तर्कस्यैव संवित्तौ साक्षादुपायत्वं, नेतरेषाम् इत्युक्तम् भवेत् ॥१०५॥

न चैतत् निष्प्रमाणकमित्याह

उक्तं श्रीपूर्वशस्त्रे च न द्वैतं नापि चाद्वयम् ।
लिङ्गपूजादिकं सर्वमित्युपक्रम्य शंभुना ॥१०६॥
विहितं सर्वमेवात्र प्रतिषिद्धमथापि वा ।
प्राणायामादिकैरङ्गैर्योगाः स्युः कृत्रिमा यतः ॥१०७॥
तत्तेनाकृतकस्यास्य कलां नार्हन्ति षोडशीम् ।

श्रीपूर्वशास्त्र इत्युपक्रम्य शंभुनोक्तम्, इति संबन्धः 'न द्वैतं नापि चाद्वैतम्' इत्येवं-वृत्तानुरोधान्न पठितम्, 'लिङ्गपूजादिक सर्वम्' इत्यत्रापि नञा संबन्धः, यदुक्तं तत्र

'.........................लिङ्गपूजादिकं न च ।'

इति । सर्वमित्यनेन लिङ्गपूवाद्यपरित्यागादेः स्वीकारः, यदुक्तं तत्र

'न चापि तत्परित्यागो निष्परिग्रहतापि वा ।
सपरिग्रहता वापि जटाभस्मादिसंग्रहः ॥
तत्त्यागो वा व्रतादीनां चरणाचरणं च यत् ।
क्षेत्रादिसंप्रवेशश्च समयादिप्रपालनम् ॥
परलिङ्गस्वरूपादि नामगोत्रादिकं च यत् ।
नास्मिन्विधीयते किंचिन्न चापि प्रतिषिध्यते ॥'

इति । एवं हि तूष्णींभाव आपतेत्, इत्याशङ्क्य 'विहितम्' इत्याद्युक्तं, सर्वमिति विधीयमानं प्रतिषिध्यमानं च किंचिन्निषिद्ध्य, किंचिद्विधीयमानं

हि भेदमेवाविर्भावयेत् तेन--संविदद्वैतशालिनो योगिनः कार्याकार्यविभागो नास्ति, इत्युक्तं स्यात्, अत एव प्राणायामाद्यङ्गकरणकतया कृत्रिमत्वात् स्वरससिद्धसंविदद्वयात्मनो योगस्य स्वल्पेनापि अंशेन दर्दनान्तरीया योगाः साम्यमात्रमप्यधिगन्तुं नोत्सहन्ते इत्युक्तं--प्राणायामादिकैरित्यादि ॥१०७॥

ननु यद्येवं तत् अकृतकत्वेन निमित्तानपेक्षणादस्य नित्यं सत्वमसत्वं वा स्यात् ? इत्याशङ्क्याह

किं त्वेतदत्र देवेशि नियमेन विधीयते ॥१०८॥
तत्त्वे चेतः स्थिरं कार्यं तच्च यस्य यथास्त्विति ।

किं पुनरेतत् अत्र नियमेन विधातव्यं, यत् – 'तत्त्वे स्थिरं चेतः स्यात्' इति, चेतसोऽपि अत्र स्थैर्यमाकस्मिकमेव न स्यात्, इत्यत्र केनापि निमित्तेनावश्यं भाव्यम्, इत्याशङ्क्य उक्तं 'तच्च यस्य यथास्त्विति' तच्च–स्थिरं चेतो, यस्य कस्यचन योगिनो यथा नियतनिमित्तानपेक्षित्वेय स्यादित्यर्थः, यदुक्तं तत्र

'तच्च यस्य यथैव स्यात्स तथैव समाचरेत् ।'

इति, अत एव नियमाभावात् सर्वमेव विहितं प्रतिषिद्धं चेत्युक्तम् । अष्टादशस्य पटलस्यैकवाक्यतां दर्शयितुमालूनविशीर्णतया अयं ग्रन्थः संवादितः ॥ १०८ ॥

तदेवोपसंहरति

एवं द्वैतपरामर्शनाशाय परमेश्वरः ॥१०९॥
क्वचित्स्वभावममलमामृशन्ननिशं स्थितः ।

ननु शुद्धसंविन्मात्रात्मैव पारमेश्वरः स्वभावो यस्य 'अहमेव सर्वम्' इत्येवं-रूपः परामर्शः, न च अस्य क्वचित् कदाचित् कश्चिद्विशेषः संभवेत् इति कथमुक्तं – क्वचिदमलं स्वभावमामृशन् स्थितः ? इति, इत्याशङ्क्याह

यः स्वभावपरामर्श इन्द्रियार्थाद्युपायतः ॥११०॥
विनैव तन्मुखोऽन्यो वा स्वातन्त्र्यात्तद्विकल्पनम् ।

इह खलु इन्द्रियार्थाद्युपायनैरपेक्ष्येण अन्तरुल्लिखिताकारमात्रनिष्ठः, तन्मुखः-इन्द्रियार्थाद्युपायको निर्विकल्पपृष्ठभावी अन्यो वा यः स्वभावप-

रामर्शः तदुभयरूपमपि क्षेत्रज्ञस्वातन्त्र्योल्लासितं विकल्पनं विकल्प इत्यर्थः ॥ ११० ॥

तच्च द्विधा, इत्याह

तच्च स्वच्छस्वतन्त्रात्मरत्ननिर्भासिनि स्फुटम् ॥१११॥
भावौघे भेदसंधातृस्वात्मनो नैशमुच्यते ।
तदेव तु समस्तार्थनिर्भरात्मैकगोचरम् ॥११२॥
शुद्धविद्यात्मकं सर्वमेवेदमहमित्यलम् ।

तच्च – विकल्पनं, परानवभास्यत्वात् स्वच्छः, अत एवानन्यापेक्षत्वात् स्वतन्त्रो, योऽसावात्मा प्रमात्रेकरूपः परः प्रकाशः, स एव प्रतिबिम्बग्रहणसहिष्णुत्वात, स्फटिकं, तत्राभेदेन निर्भासनशीलेऽपि प्रमातृप्रमेयात्मनि भावौघे, स्फुटं कृत्वा, स्वात्मनः सकाशादन्यापोहरूपत्वेन भेदसंधायकत्वात् नैशं – मायीयमुच्यते, ति सामान्येनोक्तेः सर्वैरेवाभिधीयते इत्यर्थः, तदेव विकल्पनं पुनः 'सर्वमिदमहमेव' इत्येवं-रूपम्, अत एव समस्तार्थपरिपूर्णस्वात्मैकनिष्ठम्, अत एवालं – पर्याप्तं सत् शुद्धविद्यात्मकमुच्यते, इति प्राच्येन संवन्धः ॥ १११ ॥ १०२- ॥

ननु

'सर्वो विकल्पः संसारः........................ ।'

इत्यादिनीत्या विकल्पस्तावत् सर्व एव हेयः, तदनेनापि विभागेनाभिहितेन कोऽर्थः ? इत्याशङ्क्याह

इदं विकल्पनं शुद्धविद्यारूपं स्फुटात्मकम् ॥११३॥
प्रतिहन्तीह मायीयं विकल्पं भेदभावकम् ।

स्फुटात्मकमिति–प्रागुक्तविकल्पसंस्क्रियाक्रमणेन साक्षात्कारतां प्राप्तमित्यर्थः, मायीयस्य विकल्पस्य प्रतीघाते भेदभावकत्वं हेतुः, अत एवाभेदभावकत्वादिदमुपादेयम्, इत्युक्तं स्यात् ॥ ११३ ॥

तच्च परामृश्यभेदादनेकप्रकारम्, इत्याह

शुद्धविद्यापरामर्शो यः स एव त्वनेकधा ॥११४॥
स्नानशुद्ध्यर्चनाहोमध्यानजप्यादियोगतः ।

ननु अयं शुद्धविद्यात्मा परामर्शः कथं नाम भेदनिष्ठं मायीमेव विकल्पं प्रतिहन्यात् यत्प्रयोजकीकाराय अस्यापि प्रकारान्तरासूत्रणम्, इत्याशङ्क्याह

विश्वमेतत्स्वसंवित्तिरसनिर्भरितं रसात् ॥११५॥
आविश्य शुद्धो निखिलं तर्पयेदध्वमण्डलम् ।

इह खलु एवंपरामर्शवान् योगी वक्ष्यमाणक्रमेण स्वात्मचमत्कारपूर्णतया आदरातिशयात् विश्वमिदमाविश्य, अत एव परप्रमात्रेकरूपत्वात् शुद्धो निखिलमध्वमण्डलं तर्पयेत् – स्वात्मसंवित्तिरसनिर्भरतया साक्षात्कुर्यादित्यर्थः। अनेन च प्रतिनियतकल्पितबाह्यार्चनीयाद्यभावं कटाक्षयता योगाङ्गानुपयोगित्वानन्तर्येण उद्दिष्टस्य कल्पितार्चाद्यनादरस्य अवकाशो दत्तः ॥ ११५ ॥

ननु स्नानादेरपि भेदसंधायकत्वान्मायीयामर्शरूपत्वमेव युक्तं, तत् कथमस्य शुद्धविद्यापरामर्शकत्वमुक्तम् ? इत्याशङ्क्याह

उल्लासिबोधहुतभुग्दग्धविश्वेन्धनोदिते ॥११६॥
सितभस्मनि देहस्य मज्जनं स्नानमुच्यते ।

बाह्योन्मुखत्वादुल्लसनशीलः प्रमाणात्मा योऽसौ बोधः स एव प्रकाशत्वादग्निः, तेन दग्धंस्वात्मसात्कृतं यन्नीलसुखादिरूपं विश्वं तदेव दाह्यत्वादिन्धनं, तत उदिते – तदुभयसंघट्टनेन लब्धप्रतिष्ठाने, सिते–निरुपाधिनि, भस्मनि अपरिमितप्रमात्रेकरूपे परे तत्त्वे, देहादेः–परिमितस्य प्रमातुर्यन्मज्जनं –स्वगुणीभावेन तत्रैव मुख्यतया समावेशः, तन्नाम स्नानमुच्यते, न पुनर्बाह्यजलादिरूपम्, इति अर्थसामर्थ्यलभ्यो व्यतिरेकः, यदभिप्रायेणैव

'यदि मुक्तिर्जलस्नानान्मत्स्यानां सा न किं भवेत् ।'

इत्यादि अन्यत्रोक्तम् ॥ ११६ ॥

ननु बाह्येन स्नानेन नित्यादौ कर्मण्यधिकारो देहादौ च शुद्धिर्भवेत्, अस्य पुनरेवं-विधस्य किं फलम् ? इत्याशङ्क्याह

इत्थं च विहितस्नानस्तर्पितानन्तदेवतः ॥११७॥
ततोऽपि देहारम्भीणि तत्त्वानि परिशोधयेत् ।

ननु

'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'

इत्यादिनीत्या सर्वमिदं – देहादि परब्रह्मात्मकशिवस्वभावमेव, इति का नाम तत्र शुद्धिरशुद्धिर्वा ? इत्याशङ्क्याह

शिवात्मकेष्वप्येतेषु बुद्धिर्या व्यतिरेकिणी ॥११८॥
सैवाशुद्धिः पराख्याता शुद्धिस्तद्धीविमर्दनम् ।

व्यतिरेकिणी – भेदात्मा, तद्धीः – व्यतिरेकिणी बुद्धिः, यदुक्तम्

'अशुद्धं नास्ति तत्किंचित्सर्वं तत्र व्यवस्थितम् ।
यत्तेन रहितं किंचिदशुद्धं तेन जायते ॥'

इति ॥ ११८- ॥

ततश्च किम्, – इत्याह

एवं स्वदेहं बोधैकपात्रं गलितभेदकम् ॥११९॥
पश्यन्संवित्तिमात्रत्वे स्वतन्त्रे तिष्ठति प्रभुः ।

एवम्—उक्ते प्रकारेण अनात्मन्यात्माभिमादन्यक्कारेण आत्मनि स्वतन्त्रतादिधर्मप्रयोजकीकारेण, संविन्मात्ररूपतां साक्षात्कुर्यादित्यर्थः ॥ ११९- ॥

एव स्नानादेरकल्पितत्वमभिधायेतरेषामपि अर्चानाङ्गानां दर्शयति

यत्किंचिन्मानसाह्लादि यत्र क्वापीन्द्रियस्थितौ ॥१२०॥
योज्यते ब्रह्मसद्धाम्नि पूजोपकरणं हि तत् ।

यस्यां कस्यांचिदिन्द्रियवृत्तौ, यत् किंचित्—अनियतं, मानसाह्लादि वस्तु, ब्रह्मरूपे शोभने सूर्यचन्द्रादिविलक्षणे तेजसि, योज्यते-बहीरूपता-रित्यागेन संविन्मात्रात्मना साक्षात्क्रियते, तन्नाम पूजोपकरणं—तावतैव पूजायाः परिपूर्तिर्भवेदित्यर्थ ॥ १२०- ॥

ननु अश्रुतपूर्वमिदं पूजालक्षणम् ? इत्याशङ्क्याह

पूजा नाम विभिन्नस्य भावौघस्यापि संगतिः ॥१२१॥
स्वतन्त्रविमलानन्तभैरवीयचिदात्मना ।

विभिन्नस्यापि रूपरसादेर्भावौघस्य, देशकालाद्यनवच्छिन्ननिरुपाधिपूर्णपरसंविदात्मना, या संगतिः—एकीकारः, सा पूजेति संभाव्यते--नैतदस्मदुपज्ञमेवेत्यर्थः, यदुक्तम्

'पूजा नाम न पुष्पाद्यैर्या मति क्रियते दृढा।
निर्विकल्पे महाव्योम्नि सा पूजा ह्यादराल्लयः ॥'

इति। एवं होमादीनामपि पूजोपकरणत्वादेव इद्दक् रूपमर्थसिद्धम्, इति न साक्षादुक्तम्, तच्च प्राक् बहूक्तं, वक्ष्यते च, इति – तत एवावधार्यम् ॥ १२१ ॥

ननु कथमन्यस्य अन्येनैकोकार एव भवेत् यदपि पूजादेर्लक्षणतयोच्येत ? इत्यशङ्क्याह

तथाहि　　संविदेवेयमन्तर्बाह्योभयात्मना ॥१२२॥
स्वातन्त्र्याद्वर्तमानैव　　परामर्शस्वरूपिणी ।

इयम् – उक्तस्वरूपा, संविदेव हि स्वस्वातन्त्र्यादन्तर्बहीरूपतया परिस्फुरति, इति – तदतिरिक्तमन्यत् नाम न किंचिद्वस्तुतोऽस्ति, इति युक्तमुक्तं–'विभिन्नस्यापि भावौघस्य चिदात्मनैकीकार' इति, ननु कथं नामास्या वहीरूपताभासनेऽपि अहंपरामर्शात्मकं स्वं रूपं स्यात् ? इत्याशङ्क्योक्तं 'परामर्शस्वरूपिण्येव' इति, एवमप्यस्या न स्वरूपात्प्रच्याव इत्यर्थः ॥ १२२ ॥

इयदेव हि नामास्याः परामर्शरूपत्वं – यद्विश्वरूपतया प्रस्फुरति, इत्यत आह

स च द्वादशधा तत्र सर्वमन्तर्भवेद्यतः ॥१२३॥
सूर्य एव हि सोमात्मा स च विश्वमयः स्थितः ।
कलाद्वादशकात्मैव　　तत्संवित्परमार्थतः ॥१२४॥

सः—परप्रमातृरूपः परामर्शश्च द्वादशधा विश्वरूपतयोल्लसेदित्यर्थः, अनेन कल्पितार्चाद्यनादरानन्तर्येण अनुजोद्देशोद्दिष्टः संविच्चक्रोदयोऽप्युपक्रान्तः। ननु विश्वस्य प्रमातृप्रमेयादिरूपत्वेनापि बहुधात्वमस्ति, इति कथं–

द्वादशकलात्मसूर्यरूपेण प्रमाणमात्रेणैवोपात्तेन तत्संग्रहः सिद्धयेत् ? इत्याशङ्कयाह 'तत्रेत्यादि' सर्वमिति – प्रमातृप्रमेयादि, इह खलु

'योऽयं वह्निः परं तत्त्वं प्रमातुरिदमेव तत् ।'

इत्याद्युक्त्या परसंविदात्मा प्रमाता तावत् भेदेन्धनदाहकत्वादग्निः, स एव च अहंप्रतीतिमात्रस्वरूपः स्वस्वातन्त्र्यात् बुद्धीन्द्रियाद्यात्मना द्वादशधा प्रस्फुरन् प्रमाणदशामधिशयानः 'सूर्य' इत्युच्यते, प्रमाणं च प्रमातुरेव बहिर्मुखं रूपम्, इति–तत्र प्रमाता तावदन्तर्भावमियात्, प्रमाणं नाम च ज्ञानं, तच्चोपाश्रयशून्यं न क्वचिदपि संभवति – इत्यवश्यमेव मेयाक्षेपेण वर्तते, इति, तदपि अत्रान्तर्भूतमेव, तदाह 'सूर्य एव' इत्यादि, 'सोमः' प्रमेयम्, यदुक्तं प्राक्

'सूर्यं प्रमाणमित्याहुः सोमं मेयं प्रचक्षते ।
अन्योन्यमवियुक्तौ तौ स्वतन्त्रावप्युभौ स्थितौ ।।'

इति । विश्वमय इति विश्वस्य मेयात्मकत्वात्, अतश्च सर्वस्यैव अत्रान्तर्भावात् विश्वरूपतया प्रस्फुरन्त्याः परस्याः संविदो द्वादशात्मकत्वमेव वस्तुतः संभवति, इति युक्तमुक्तं 'स च द्वादशधा इति, अत एवाह 'कलाद्वादशकेत्यादि' कलाः–प्रमात्रादिरूपाः अंशाः ॥ १२३ ॥ १२४ ॥

ननु अस्यास्त्रयोदशात्मकत्वमपि अन्यैरुक्तं, तत् कथमिह द्वादशात्मकत्वमेवोच्यते ? इत्याशङ्कयाह

सा च मातरि विज्ञाने माने करणगोचरे ।
मेये चतुर्विधं भाति रूपमाश्रित्य सर्वदा ।।१२५।।

विज्ञाने इति मानविशेषणम्, अन्येषां हि बोधाबोधरूपमपि प्रमाणलक्षणं विवक्षितं, करणगोचरे इति–प्रमाणविषयतां प्राप्ते इत्यर्थः, अन्यथा हि मेयं नाम स्वात्मनि न किंचिदेवेति भावः, चो हेतौ, यतः, सा – पारमार्थिकी संवित् सृष्टिस्थितिसंहारानाख्यत्वेन चतुर्विधं रूपमाश्रित्य प्रमातरि प्रमाणे प्रमेये च सर्वदा भाति – अविच्छिन्नत्वेन एकैकत्र चातुरात्म्येन द्वादशधा प्रस्फुरतीत्यर्थः, यदुक्तम्

'सोमार्कानलदीप्तीनां रूपं यः सर्वगोऽस्मितः ।
सृष्टयादिक्रमयोगेन व्यक्ततां नयति स्फुटम् ।।'

इति । तथा

'यस्यां यस्यां बोधभूमौ समाविशति तत्त्ववित् ।
तस्यां तन्मयतां प्राप्य चातुरात्म्यं प्रपद्यते ॥,

इति । ननु अस्या परस्याः संविदोऽन्यैरनयैव भङ्ग्या त्रयोदशात्मकत्व-मुक्तम्, यदुक्तम्

'एकं स्वरूपरूपं हि मानमेयप्रमातृताः ।
सर्गावतारसंहारनयीराक्रम्य वर्तते ॥
स्वस्वरूपानुगुण्येन प्रत्येकं कलनावशात् ।
सृष्टिस्थित्यादिभिर्भेदैश्चतुर्धा ता अपि स्थिताः ॥
कालग्रासान्तमुदयाच्चतुर्धा विभवो हि यः ।
तस्य विश्रान्तिरेकैव ततो देव्यस्त्रयोदश ॥
अनाख्यचक्रे प्राधान्यात्पूजनीयतया स्थिता ।'

इति । इह च द्वादशात्मकत्वमुच्यते इति किमेतत् ? इति न जानीमः, अत्रोच्यते--इह खलु परैव संवित् स्वस्वातन्त्र्यात् यथोक्तयुक्त्या द्वादशधा प्रस्फुरिता इति तावदविवादः, तत्र यद्यसौ परैव संवित् तेभ्यो द्वादशभ्यो रूपेभ्यः पृथगवभासेत तदस्या भवेत्त्रयोदशत्वम्, अन्यथा तत् कस्यान्यस्य त्रयोदशत्वं स्यात्, संविदो हि अतिरेके द्वादश रूपाणि असंविद्रूपत्वात् न चकास्युरेव, इति—निराभासा संविदेकैव अवशिष्येत, इति को नाम त्रयो-दशरूपत्वस्यावकाशः । अथातिरेकेऽपि संवित् सामान्यन्यायेन द्वादशापि रूपाण्यनुयन्ती स्वरूपेणापि अवभासते, इति स्थितमेव अस्यास्त्रयोदशत्वम् इति चेत्, असदेतत्, सामान्यं हि विशेषेभ्यो भिन्नं सत्ताननुगच्छति, येन-गौर्गौरिति अभिन्नस्तदनुगतः प्रत्ययः स्यात्, संविदि पुनस्तानि तान्यपि रूपाणि प्रस्फुरन्ति, नातिरिच्यन्ते, तथात्वे हि तेषामवभास एव न स्यात्, तेन यन्नाम तानि तानि रूपाणि प्रस्फुरन्ति तदेवोच्यते, 'संविदवभासते' इति, तत् किं केनानुगम्यते--दृष्टान्तस्य वैषम्यात्, यत्किंचिदेतत्, यदभिप्रायेणैव

'भावा भान्तीति संवित्तावात्मा भातीति भासते ।
आत्मा भातीति संवित्तौ भावा भान्तीति भासते ॥'

इत्यादि अन्यत्रोक्तम् । अथ परैवेयं संवित् द्वादशकात्मनारूषितेन रूपेण प्रस्फुरेत शुद्धसंविन्मात्रात्मना त्रयोदशेन चानारूषितेन ? इति चेत्, नैतत्' इह हि—निरुपाधिरनारूषिता निराभासा परैव शुद्धा संविदस्ति इति

नः सिद्धान्तः' सा च स्वस्वातन्त्र्यमाहात्म्यात् स्वं स्वरूपं गोपयित्वा विश्वरूपतामवभासयन्ती द्वादशकात्मनारूषितेनैव रूपेण प्रस्फुरेत्, नहि तदानीं तदतिरिक्तमनारूषितमपि अस्या रूपं भायात्' तथात्वे हि आरूषितमेव रूपं न चकास्यादित्युक्तं बहुशः। ननु विश्वमयत्वेऽप्यस्या विश्वोत्तीर्णमनारूषितं रूपं संभवत्, अन्यथा हि अस्या जाड्यमापतेत्, नन्वस्य प्रश्नस्य क इवाशयः---किं विश्वमयत्वेऽप्यस्या गोशृङ्गन्यायेन तदरिक्तमनारूपितं रूपं संभवेदिति, उत स्वस्वातन्त्र्याद्विश्वरूपतामवभासयन्त्या अप्यस्याः संविदद्वयात्मनः स्वस्वरूपात् प्रच्यावो न जायते इति? तत्राद्यः पक्षो दूषितप्रायः---नहि वैश्वरूप्यमतिक्रम्य अस्याः स्फुरत्तैव स्यादित्युक्तमसकृत्, वक्ष्यति च

'न खल्वेष शिवः शान्तो नाम कश्चिद्विभेदवान्।
सर्वेतराध्वव्यावृत्तो घटतुल्योऽस्ति कुत्रचित्॥
महाप्रकाशरूपा हि येयं संविद्विजृम्भते।
स शिवः शिवतैवास्य वैश्वरूप्यावभासिता॥
तथाभासनयोगोऽतः स्वरसेनास्य जृम्भते।'

इति। अनेनैवाभिप्रायेण श्रीतपस्विनापि

'परतरतयादिरूपं यद्यत्कलयामि तत्तदधरं ते।
अधरतरापि न कलना सा काचिद्यत्र न स्थितास्यभितः॥'

इत्याद्युक्तम्। द्वितीयस्मिन् पक्षे पुनर्वस्तुतोऽनारूपितत्वेऽपि स्वस्वातन्त्र्योल्लासितेन तेन तेनारूषितेनैव रूपेण अस्या अवभासः, इति पुनरपि नास्यास्त्रयोदशरूपत्वं, तद्धि अयोःशलाकाकल्पतया स्पर्धाबन्धेन परिस्फुरतोरनयोः स्यात्, यथाहि---नटस्तत्तद्भूमिकावलम्बनवेलायां वस्तुतो नटत्वेऽपि तत्तद्रूपतयैवावभासते, न पुनः नटत्वेनापि, तथैव च संविदपि वस्तुतः शुद्धसंविन्मात्रत्वेऽपि विश्वमयतायां द्वादशकात्मनैव रूपेणावभासते, न पुनः शुद्धसंविन्मात्रात्मना त्रयोदशेनापि रूपेणावभासते, इति यथोक्तमेव युक्तम्, तस्माद्विश्वरूपतामवभासयन्ती संवित् द्वादशधैव प्रस्फुरेत्, अन्यथा पुनरेकैवेति पर्यवसितम्, यदागमः

'पृथक्पृथक्स्वकार्यस्था यावत्तिष्ठन्ति देवताः।
तावत्क्रमकृता संज्ञा विद्यते नान्यथा पुनः॥

एकीभावतय सर्वमनाख्यायां यदा स्थितम्।
अक्रमस्तु तदा ज्ञेयः प्रोत्तीर्णः सर्वतो यतः ॥'

इति। एवं चैकत्वमपि द्वयप्रतिपक्षभूतम्, इति तद्विशेषणत्वमपि न सहते, इति संविदेवेति स्यात्, एवकारश्च अन्ययोगव्यवच्छेदकः, अन्यश्च कश्चिदपीह नास्ति, इति किं व्यवच्छिन्द्यात्, इति तद्योगमप्यसहमाना संविदित्येवं स्यात्, संविच्च संवेद्यनिष्ठा, संवेद्यं नाम च स्वात्मातिरिक्तं न किंचिदप्यस्ति इति, तथा व्यपदेशमप्यलभमाना सर्वत्रैवाव्यपदेश्येति अनामकेति अनाख्येति चोद्राष्यते, इत्यलं बहुना। ननु यद्येवं तत् कथमन्यत्र अस्यास्त्रयोदशरूपत्वमुक्तं युज्यते, नहि तन्नोपपद्यते इति वक्तुं शक्यम्--आगमात्मनो निर्वाधस्य प्रमाणस्य भावात्, तत् कथमेतत् प्रतिसमाधीयते इत्युच्यताम्? उच्यते--इह भेदाधिवासिता मायाप्रमातारस्तावदुपदेश्याः इति समानार्थंचर्यावत् तदानुगुण्येन अत्र प्रवृत्त उपदेशः सुखेन प्ररोहमियात्, इति विकल्पबलोपनतं भेदमाश्रित्य संविदस्त्रयोदशरूपत्वमुक्तम्, इह पुनर्वास्तवमभेदमेवावलम्ब्य एवमुपदेशः, इति सर्वमेव प्रतिसमाहितम्। ननु अस्याः परस्याः संविदः

'तस्य शक्तय एताश्च तिस्रो भान्ति परादिकाः।
सृष्टौ स्थितौ लये तुर्ये तेनैता द्वादशोदिताः ॥'

इत्याद्युक्त्या प्रागन्यथा द्वादशधोदय उक्तः, इह चान्यथा, इति पूर्वापरव्याहतत्वमापतेत्, इति किमेतत्? अत्रोच्यते--इह यावता हि परस्याः संविदो द्वादशधोदयो विवक्षितः स चेवमस्तु, अनेवं वा --प्रक्रियाया विशेषे तस्याविशेषात्, एतदभिप्रायगर्भीकारेणैव च अन्यत्राप्यनेनैव

'ता एताश्चतस्रः शक्तयः स्वातन्त्र्यात्प्रत्येकं त्रिधैव वर्तन्ते--
सृष्टौ स्थितौ संहारे च इति द्वादश भवन्ति'

इत्याद्युक्त्या प्रक्रियान्तरेण अस्या द्वादशधोदय उक्तः, इति सर्वं निरवद्यम् ॥१२५॥

नन्वेवंरूपत्वेनावभासमानाया अस्या वैशिष्ट्यमवश्याश्रयणीयम्, अन्यथानैक्यमेव न स्यात् तत् पुनः कुत्रकीदृक्? इत्याशङ्क्याह

शुद्धसंविन्मयी प्राच्ये ज्ञाने शब्दनरूपिणी।
करणे ग्रहणाकारा यतः श्रीयोगसंचरे ॥१२६॥

इयं खलु परा संवित् प्राच्ये--प्रमातरि कथंचित्संकोचोल्लासेऽपि प्रमातृरूपत्वात् शुद्धा, न पुनः प्रमाणादिवदशुद्धैव येयं संवित् संकुचितमविकल्पकं ज्ञानं तत्स्वभावा, बुद्धीन्द्रियाद्यात्मकरणलक्षणे प्रमाणे च, शब्दन-विकल्पस्तद्रूपिणी भेदामर्शमतीत्यर्थः, अत एव 'ग्रहणाकारा' इत्युक्तम्, ग्रहणं हि ग्राह्यग्राहकोभयापेक्षकम् । ननु प्रमाणदशायामपि परैव संवित् ग्रहणाकारा वर्तते, इत्यत्र किं प्रमाणम्? इत्याशङ्क्याह--यत इत्यादि 'यतः श्रीयोगसंचरे' इति वक्ष्यमाणमुक्तमिति शेषः ॥ १२६ ॥

तदेवाह

ये चक्षुर्मण्डले श्वेते प्रत्यक्षे परमेश्वरि ।
षोडशारं द्वादशारं तत्रस्थं चक्रमुत्तमम् ॥१२७॥

ये इति द्विवचनं गोलकद्वयापेक्षया, एवमुत्तरत्रापि ज्ञेयम्, ये श्वेते चक्षुर्मण्डले दृश्येते दृश्यमाने न तु रक्तमण्डलवद्गुप्ते तत्र विश्वक्रोडीकारादुत्तमं प्रमेयप्रमाणप्रमातृप्रमाणां सर्वसर्वात्मकत्वात् षोडशारं चक्रं तिष्ठति--तद्रूपतया प्रस्फुरतीत्यर्थः, यदभिप्रायेणैव श्रीक्रमसद्भावभट्टारके 'अनाख्यचक्रे षोडशैव देव्यः पूज्यत्वेनोक्ताः,' यदुक्तं तत्र

'षोडशातः समासेन शृणुष्वैकमना हर ।'

इत्यादि ।

'सा सत्ता लीयते यस्याः काली द्व्यष्टकला स्मृता ॥'

इत्यन्तम् । अत्र चानाख्यत्वेऽपि सृष्टयात्मनः प्रमेयस्य प्राधान्येनावस्थितेः सोमरूपत्वात् श्वेतत्वम् ॥ १२७ ॥

ननु यद्यत्र षोडशारं चक्रमवस्थितं, तत् कथं द्वादशारमपि? इत्याशङ्क्याह

प्रतिवारणवद्रक्ते तद्बहिर्ये तदुच्यते ।
द्वितीयं मध्यगे ये ते कृष्णश्वेते च मण्डले ॥१२८॥
तदन्तर्ये स्थिते शुद्धे भिन्नाञ्जनसमप्रभे ।
चतुर्दले तु ते ज्ञेये अग्नीषोमात्मके प्रिये ॥१२९॥

मिथुनत्वे स्थिते ये च चक्रे द्वे परमेश्वरि ।
संमीलनोन्मीलनं ते अन्योन्यं विदधातके ॥१३०॥

तद्बहिः-श्वेतमण्डलबाह्ये, प्रतिवारणवत्--प्रतिमण्डलन्यायेन, रक्ते ये मण्डले स्थिते, तत् द्वितीयं – श्रीसृष्टिकाल्यादिरूपं द्वादशारं चक्रमुच्यते, अनाख्यत्वेऽपि अत्र स्थित्यात्मनः प्रमाणस्य प्राधान्याद्रक्तत्वं, तद्धि प्रमेयोपरञ्जितमेव भवेत्, अतश्च प्रमेयस्य तदभेदेनैवावस्थानात् तद्गतस्य रूपचतुष्कस्य पृथगभावात् द्वादशारत्वम्, अत एवास्य प्रमेयान्तःकाराद्बहिरप्यवस्थानं, मध्यगे – श्वेतकृष्णमण्डलान्तर्गते, अत एव अन्तर्वर्तिना कृष्णेन मण्डलेन बहिष्ठेन च श्वेतेनाच्छुरणात् श्वेतकृष्णे धूसरप्राये ये पुनर्मण्डले तत्प्रमाणस्य प्रमातरि विश्रान्तेः तद्गतस्यापि रूपचतुष्कस्य पृथगभावात् संहारात्मप्रमातृप्रधानं 'भैरवत्रयं, देवीत्रयं, कुलेश्वरः, कुलेश्वरी' चेत्यष्टारं चक्रमुच्यते – इत्यर्थाविसेयम्, यद्वक्ष्यति

'षोडशद्वादशाराभ्यामष्टारेष्वथ सर्वशः ।'

इति, तस्य – श्वेतस्यापि मण्डलस्यान्तर् अतीव कृष्णे – कुमारिकाशब्दव्यपदेश्ये, ये मण्डले स्थिते ते पुनः प्रमातुरपि प्रमायां विश्रान्तेः चतुर्दले ज्ञेये– देवीत्रयं श्रीमातृसद्भावश्चेति, प्रमामात्रसतत्त्वानाख्यचक्ररूपतता प्रस्फुरत इत्यर्थः, अत एव चात्र सर्वसंहारकत्वात् निर्विभागतया तमोरूपत्वात् कार्ष्ण्यं, तदेवं चक्षुषि प्रतिनियतावयवरूपत्वेन सृष्ट्यादिक्रमचतुष्टयमवस्थितमित्युक्तम्, तत्रापि अस्य यथासंभवं स्वरूपं निरूपयति 'अग्नीषोम' इत्यादिना, एतच्चक्रचतुष्टयस्य मध्यादग्नीषोमात्मके प्रमातृप्रमेयमये षोडशाराष्टारे भोक्तृभोग्योभयात्मकतया मिथुनरूपे ये द्वे चक्रे स्थिते ते परस्परं संमीलनोन्मीलने विदधाते एव–विदधातके, संकोचविकासौ कुर्वाते इत्यर्थः, प्रमाता हि स्वात्मनि संमीलनमादधानः प्रमेयमुन्मीलयेत् प्रमेयं च संमीलयन् स्वात्मानमुन्मीलयेत्, एवं प्रमेयमपि, इत्यन्योन्यशब्दार्थः, एतदेव च सृष्टिसंहाररूपत्वमुच्यते, प्रमेयं च नाम प्रमाणोपारोहमन्तरेण प्रमातारि विश्रान्तिमेव न यायात्, इत्यत्र स्थितेरपि अर्थाक्षिप्तत्वम्, प्रमातापि प्रमेयौन्मुख्येन 'ज्ञातोऽयं मायार्थः' इति संतोषोत्पादान्निराकाङ्क्षः सन् स्वात्मनि विश्रान्तिमासादयेत् – इति प्रमातृप्रमेयसंघट्टादपि पूर्णायाः परस्याः संविदः समुल्लासः स्यात् ॥ १२८ ॥ १२९ ॥ १३० ॥

अत आह

यथा योनिश्च लिङ्गं च संयोगात्स्रवतोऽमृतम् ।
तथामृताग्निसंयोगाद्द्रवतस्ते न संशयः ॥१३१॥

'भोगसाधनसंसिद्ध्यै भोगेच्छोरस्य मन्त्रराट् ।
जगदुत्पादयामास मायामाविश्य शक्तिभिः ॥'

इत्यादिनीत्या परस्परावेशलक्षणं संयोगमासाद्य योनिः- माय, लिङ्गं च -

'लिङ्गशब्देन विद्वांसः सृष्टिसंहारकारणम् ।
लयादागमनाच्चाहुर्भावानां पदमव्ययम् ॥'

इत्याद्युक्त्या सृष्ट्यादिपञ्चविधकृत्यकारी परमेश्वरः, तौ यथा स्रवतः- सृष्टिं कुरुतः, तथा तेषोडशाराष्टारे, निःसंशयममृतस्य सोमात्मनः प्रमेयस्य, अग्नेश्च प्रमातुः परस्परौन्मुख्यलक्षणात् संयोगादमृतम् – अकालकलितत्वात् अनादिनिधनं परं संवित्तत्वं द्रवतः—तद्रूपतया प्रसरत इत्यर्थः, संविदेव हि आश्यानीभूता नीलादिरूपतामधिशयाना प्रमाणोपारोहद्वारेण तद्रूपतां विलाप्य प्रमातरि विश्रान्तिमुपगच्छन्ती स्वेन प्रमात्रेकात्मना रूपेण प्रस्फुरतीत्याशयः ॥ १३१ ॥

ननु मातृमेयाद्यात्मा मायीयोऽयं व्यवहारः, तत् कथं तस्मिन् सत्यप्येवं भवेत् ? इत्याशङ्क्याह

तच्चक्रपीडनाद्रात्रौ ज्योतिर्भात्यर्कसोमगम् ।
तां दृष्ट्वा परमां ज्योत्स्नां कालज्ञानं प्रवर्तते ॥१३२॥

तयोः—प्रमातृप्रमेयात्मकयोः षोडशाराष्टारयोश्चक्रयोः, पीडनात्— सारार्थाकर्षणलक्षणान्निष्पीडनात्, रात्रौ–मायायामपि सत्याम्, अर्कसोमगं- प्रमाणप्रमेयाभ्यामप्यतिक्रान्तं, प्रमातृलक्षणं ज्योतिरवभासत एव, यत् प्रमाणाद्यपेक्षया परमं, विश्वाप्यायकारित्वादिना ज्योत्स्नाशब्दव्यपदेश्यं, दृष्ट्वा- स्वात्मरूपतया निभाल्य

'भैरवरूपी कालः सृजति जगत्कारणादिकीटान्तम् ।'

इत्यादिनीत्या सृष्ट्याद्यात्मनो विश्वस्य कलनात्कालः—परप्रमात्रेकरूपः पूर्णः प्रकाशः, तस्य ज्ञानं प्रवर्तते—स एव तद्रूपतयावभासत इत्यर्थः ॥ १३२ ॥

ननु यद्येवं, तत् विश्वस्याभास एव न स्यात् ? इत्याशङ्क्याह

सहस्रारं भवेच्चक्रं ताभ्यामुपरि संस्थितम् ।

ताभ्यां – षोडशाराष्टाराभ्यामेव चक्राभ्यां सकाशात् सहस्रारं चक्रं– भूतभावभुवनादिरूपतयानन्तभेदं विश्वम्, उपरि संस्थितं भवेत् – व्यतिरिक्तायमानत्वेऽपि स्वसंलग्नमेव प्रस्फुरेदित्यर्थः ॥

ततोऽपि विश्वलक्षणाच्चक्रादवान्तराणि चक्राणि उद्भूतानि, इत्याह

ततश्चक्रात्समुद्भूतं ब्रह्माण्डं तदुदाहृतम् ॥१३३॥

ब्रह्माण्डमिति – प्रकृत्यण्डादीनामप्युपलक्षणम् ॥ १३३ ॥

ननु कथमनेकप्रकारमियदविच्छेदेनैव विश्वं प्रस्फुरेत् ? इत्याशङ्क्याह

तत्रस्थां मुञ्चते धारां सोमो ह्यग्निप्रदीपितः ।

यतः क्रियाशक्त्यात्मा सोमः परप्रमात्रेकरूपेणाग्निना स्वस्वातन्त्र्यात् प्रदीपितो – बाह्यौन्मुख्ये समुत्तेजितः सन्, तत्रस्थां – विश्वत्र वर्तमानां, धारां मुञ्चति – प्रमातृप्रमेयादिरूपत्वेनाविच्छिन्नेन प्रवाहेण परिस्फुरति, येनायम् इयान्विश्वस्फारः ॥

न केवलमयं साधारणमेव विश्वं सृजति, यावदसाधारणमपि, इत्याह

सृजतीत्थं जगत्सर्वमात्मन्यात्मन्यनन्तकम् ॥१३४॥

आत्मन्यात्मनि इति वीप्सायां – प्रत्यात्ममित्यर्थः ॥ १३४ ॥

तच्च कथम् ? इत्याह

षोडशद्वादशाराभ्यामष्टारेष्वथ सर्वशः ।
एवं क्रमेण सर्वत्र चक्रेष्वमृतमुत्तमम् ॥१३५॥
सोमः स्रवति यावच्च पञ्चानां चक्रपद्धतिः ।

अष्टारेष्विति बहुवचनादाद्यर्थो लभ्यते, इति चतुरारस्यापि आक्षेपात् षोडशद्वादशाराभ्यां सह सर्वत्र सर्वेषु चतुर्ष्वप्येतेषु चक्रेषु, एवम् – उक्तयुक्त्या अवरोहात्मना क्रमेण, सर्वशः – सर्वप्रकारम्, उत्तमममृतं—बहीरूपतात्मकं निजं सारं, क्रियाशक्त्यात्मा सोमः, अर्थात् तावत् स्रवति यावत् पञ्चप्रकारा बुद्धीन्द्रियादीनां च तुर्णां चक्राणां पद्धतिः – परिपाटी, पृथ्वी-

तत्त्वपर्यन्तं प्रमेयप्रकृतिना स्थूलेन रूपेण प्रस्फुरेदित्यर्थः। परमेश्वरो हि स्वस्वातन्त्र्याद्विश्वरूपतामवबिभासयिषुः संकुचितप्रमातृत्वाद्याभासनक्रमेण प्रमाणप्रमेयादिरूपतामधिशयानः कार्यकारणात्मापञ्चभौतिकशरीरादिरूपतामवभासयति, इति भावः ॥ १३५ ॥

न केवलमयं जगत् सृजत्येव यावत्संहरत्यपि, इत्याह

तत्पुनः पिबति प्रीत्या हंसो हंस इति स्फुरन् ॥१३६॥
सकृद्यस्य तु संश्रुत्या पुण्यपापैर्न लिप्यते ।

अहं परप्रमातृरूपोऽपि सविश्वस्फारः, सविश्वस्फारोऽपि वा अहमेव, इत्यकृत्रिमेण सृष्टिसंहारकारिणा स्वभासभूतेन विमर्शेन सातत्येन प्रवृत्तत्वादविच्छिन्नतया प्रस्फुरन्

'परमात्मा शिवो हंसः………………… ।'

इत्याद्युक्त्या 'हंसो' हानसमादानधर्मा अग्निशब्दव्यपदिष्टः परप्रमाता, तत्-प्रमातृप्रमेयाद्यात्मकं विश्वं, पुनः–सृष्ट्याद्युत्तरकालं, प्रीतिः-आनन्दः स्वातन्त्र्यं, तया पिबति--स्वात्मसात्करोति संहरतीत्यर्थः, यस्य परमात्मनो हंसस्य, सकृत् – एकवारमपि, संश्रुत्यासाक्षात्कारेण, अर्थात् सर्वो जनः पुण्यपापैर्न लिप्यते–स्वकृतैरपि शुभाशुभैः कर्मभिर्भोगं दातुं न स्पृश्यते, अपि तु अपवृज्यत एवेत्यर्थः, तेन एतत्साक्षात्कारभाज एव जनस्य कार्तार्थ्यं, नेतरस्य, इत्युक्तं स्यात्, यदुक्तम्

'अकृतार्थो नरस्तावद्यावद्धंसं न विदन्ति ।'

इति ॥ १३६ ॥

एवमस्य प्रसङ्गापतितं संहारकारित्वमभिधाय प्रकृतमेवानुबध्नाति

पञ्चारे सविकारोऽथ भूत्वा सोमस्रुतामृतात् ॥१३७॥
धावति त्रिरसाराणि गृह्यचक्राण्यसौ विभुः ।

अथासौ – हंसशब्दव्यपदेश्यो, विभुः – परमात्मा शिवः स्वस्वातन्त्र्याद्गृहीतसंकोचः, पञ्चारे–पाञ्चभौतिके शरीरे, समनन्तरोक्तयुक्त्या सोमस्रुतेनामृतेनाप्यायितत्वात् सविकारो भूत्वा, जन्मादिविकारयोगाद्वर्धमानः सन्, त्रिरसाराणि

'अम्बुवाहा वहेद्वामा मध्यमा शुक्रवाहिनी ।
दक्षस्था रक्तवाहा च.................. ....॥'

इत्याद्युक्त्या त्रयोऽम्बुप्रभृतयो रसाः, तत्संख्या नाडिरूपाश्चारा येषां तथाविधानि, यद्वा वियुतत्वे त्र्यराणि, यामलत्वे षडराणि, अप्रकाशत्वाद्गुह्यानि, अत एव रहस्यरूपाणि जन्मस्थानप्रभृतीनि चक्राणि, धावति-जगत्सिसृक्षया तदौन्मुख्येन प्रवर्तते इत्यर्थः ॥ १३७ ॥

ननु यदि नामायं जगत्सिसृक्षुः, तत्तदौन्मुख्येन प्रवृत्त्यास्य कोऽर्थः ? इत्याशङ्क्याह

यतो जातं जगल्लीनं यत्र च स्वकलीलया ॥१३८॥

यतो-येभ्यो गुह्यचक्रेभ्य एव, स्वकलीलयास्वस्वातन्त्र्यात्, जगज्जातम्-अतिरेकायमाणतयोल्लसितं, तथात्वेऽपि अवभासनान्यथानुपपत्त्या तदनतिरिक्तमेवेत्युक्तम् 'यत्रैव च लीनमिति' एवमेतदेव जगत्सिसृक्षोः परमात्मनः परमेश्वरस्य परं कारणम्, इति तात्पर्यार्थः ॥ १३८ ॥

न केवलमेषां बाह्यौन्मुख्य एव साधकतमत्वं, यावत् स्वात्मविश्रान्तावपि, इत्याह

तत्रानन्दश्च सर्वस्य ब्रह्मचारी च तत्परः ।
तत्र सिद्धिश्च मुक्तिश्च समं संप्राप्यते द्वयम् ॥१३९॥

सर्वस्येति - पामरादेरपीत्यर्थः, तत्परः-तदेकपरायणः, पुनः ज्ञानी योगी वा ब्रह्मचारी

'आनन्दो ब्रह्मणो रूपम्........................।'

इत्याद्युक्त्या आनन्दरूपं ब्रह्म चरति-परब्रह्मैकात्म्येन प्रस्फुरतीत्यर्थः, अत एव सिद्धिः-ऐहिक्यानन्दरूपा, मुक्तिः-ब्रह्मचारित्वरूपा, सममिति आनन्दस्यैव ब्रह्मरूपत्वात् ॥ १३९ ॥

ननु एवं विश्वसृष्टिरेकमादेन अस्माज्जन्मस्थानाख्याद्गुह्यचक्रात्, अस्य सिद्धेत्, इति किमर्थं 'गुह्यचक्राणि' इति बहुवचनेनायं निर्देशः ? इत्याशङ्क्याह

अत ऊर्ध्वं पुनर्याति यावद्ब्रह्मात्मकं पदम् ।

अग्नीषोमौ समौ तत्रा सृज्येते चात्मनात्मनि ॥१४०॥

अतो – यथोक्ताज्जन्मस्थानाख्याद्गुह्यचक्रात्, पुनरूर्ध्वं – ब्रह्मात्मकं परं पदं द्वादशान्तावस्थितं, शक्तिव्यापिनीसमनात्मकारात्रययोगि विसर्गशब्दव्यपदेश्यं गुह्यचक्रं यावत्, याति–तदौन्मुख्येन प्रवर्तते इत्यर्थः, चो हेतौ, तत्र हि आत्मना हंसशब्दव्यपदेश्येन परमेश्वरेणात्मनि–स्वभित्तौ, अहन्तेदन्तास्वभावौ प्रमातृप्रमेयात्मानावग्नीषोमौ समौ सृज्येते,

'सामानाधिकरण्यं हि सद्विद्याहमिदंधियोः ॥'

इत्यादिन्यायेन तुल्यकक्ष्यतयावभास्येते इत्यर्थः ॥ १४० ॥

यदा पुनः सोमात्मनः प्रमेयस्योद्रेकस्तदा विश्वोल्लास इत्याह

तत्रस्थस्तापितः सोमो द्वेधा जङ्घे व्यवस्थितः ।

तत्र –साम्यावस्थायामवस्थितः, प्रमेयात्मा सोमो, द्वेधा भासितो–भेदेन समुत्तेजितः सन्, जङ्घे व्यवस्थितः–पृथ्वीतत्त्वपर्यन्तेन विश्वात्मना स्थूलेन रूपेणोल्लसित इत्यर्थः ॥

कथं चैतत् ? इत्याह

अधस्तं पातयेदग्निरमृतं स्रवति क्षणात् ॥१४१॥
गुल्फजान्वादिषु व्यक्तं कुटिलार्कप्रदीपिता ।
सा शक्तिस्तापिता भूयः पञ्चारादिक्रमं सृजेत् ॥१४२॥

अध इति – बहीरूपतायाम्, तमिति – सोमम्, अमृतं स्रवतीति–अर्थादग्नितापितः सोमो, यतः सा प्राणकुण्डलिनीरूपत्वात् कुटिला सोमात्मिका क्रियारूपा शक्तिः, अर्केणप्रमात्रैव प्रमाणदशामधिशयानेन, प्रदीपितावहिरुल्लिलासयिषया प्रबोधिता, अत एव भूयः–पुनस्तापिता बहीरूपत्वेनैवोत्तेजिता सती, पञ्चरादिक्रमं सृजेत्––पञ्चभूतात्म विश्वमवभासयेदित्यर्थः ॥१४२॥

एतदिन्द्रियान्तरेष्वपि अतिदिशति

एवं श्रोत्रेऽपि विज्ञेयं यावत्पादान्तगोचरम् ।

पादान्तगोचरमित्यनेन कर्मेन्द्रियाणामप्येवंरूपत्वम्, इत्युक्तम् ॥

न केवलं प्रमाणरूपेष्विन्द्रियेष्वेवंरूपत्वमस्ति यावत्प्रमेयात्मसु पञ्चभूतेष्वपि, इत्याह

पादाङ्गुष्ठात्समारभ्य यावद्ब्रह्माण्डदर्शनम् ॥१४३॥

पादाङ्गुष्ठादारभ्य ब्रह्मरन्ध्रान्तं पञ्चभूतात्मके शरीरेऽप्येवं विज्ञेयम्, इति प्राच्येन संबन्धः। एवं मेयदशायामपि परैव संविद्ग्राह्याकारा वर्तते इत्यत्रापि एतदेव प्रमाणम् इत्यर्थसिद्धम्, अत एवोत्तरत्र संवादयिष्यते ॥१४३॥

नन्विन्द्रियादीनामेवंरूपत्वेनाभिहितेन कोऽर्थः ? इत्याशङ्कयाह

इत्यजानन्नैव योगी जानन्विश्वप्रभुर्भवेत्।
ज्वलन्निवासौ ब्रह्माद्यैर्दृश्यते परमेश्वरः ॥१४४॥

ब्रह्माद्यैरिति--एतत्स्फार एव हि सर्वलोक इति भावः, अत्र चान्तरान्तरावस्थितोऽपि चर्याक्रमः सुस्पष्टत्वात् रहस्यत्वाच्च न तथा वितानितः--इति स्वयमेवावधार्यम् ॥ १४४ ॥

एवं संवादिते आगमे तात्पर्यार्थं व्याचष्टे

अत्र तात्पर्यतः प्रोक्तमक्षे क्रमचतुष्टयम्।
एकैकत्र यतस्तेन द्वादशात्मकतोदिता ॥१४५॥

एकैकत्राक्षे इति--समस्तेष्विन्द्रियेषु इति यावत्, तेन सृष्टयादिक्रमचतुष्टयस्य मातृमानमेयगतत्वेन प्रत्येकमवस्थानेन हेतुना, यतो--यस्मात्, एकैकत्राक्षे द्वादशात्मकतोदिता--एकमेकमिन्द्रियं द्वादशमरीचिरूपमित्यर्थः ॥ १४५ ॥

ननु तात्पर्यार्थव्याख्यानमेव कस्मात्कृतम् ? इत्याशङ्कयाह

न व्याख्यातं तु निर्भज्य यतोऽतिसरहस्यकम्।

न केवलं परैव संवित् प्रमाणदशायां ग्रहणाकारा यावत्प्रमेयदशायामपि ग्राह्याकारा, इत्याह

मेयेऽपि देवी तिष्ठन्ती मासराश्यादिरूपिणी ॥१४६॥

आदिशब्देन द्वादशसंख्यावच्छिन्नानां स्वरादीनां ग्रहणम्, यदुक्तम्

'द्वादशैव स्वराः प्रोक्ता नपुंसकविवर्जिताः।
आदित्या द्वादश प्रोक्ता द्वादशारव्यवस्थिताः॥
मासा द्वादश इत्युक्ताः कला द्वादशसंज्ञिताः।'

इति, तन्मेयदशायामपि अस्या द्वादशात्मकत्वमेव, इति भावः ।। १४६ ।।

एवमेकैवेयं परा संवित् तत्तद्रूपतया सर्वत्रावभासते, इत्याह

अत एषा स्थिता संविदन्तर्बाह्योभयात्मना ।
स्वयं निर्भास्य तत्रान्यद्भासयन्तीव भासते ।।१४७।।

अतो--यथोपपादितात् सर्वत्रैव अवस्थानाद्धेतोः, एषा--प्रत्यवमर्शात्मा परा संवित्, स्वमाहात्म्यादन्तर्बाह्योभयात्मना प्रमातृप्रमेयादिरूपतया स्वात्मानमवभास्य स्थितापि, तत्र स्वात्मन्येव--अर्थात् प्रमातृप्रमेयादि अन्यद्व्यतिरिक्तमिवावभासयन्ती, भासते--सर्वस्यानुभवसिद्धोऽयमर्थं इत्यर्थः, यद्यपि वस्तुतः परा संविदेवावभासते तदतिरेके हि न किंचिद्भायात् तथाप्यामुखे तत्स्वातन्त्र्यादेव तदतिरिक्तमिव प्रमात्रादि अवभासते येनास्या द्वादश धात्वमुल्लसितम् ।। १४७ ।।

तदेव चेदानीं विभज्य दर्शयन्, क्रमनयसोदरतामस्य दर्शनस्यावेदयति

ततश्च प्रागियं शुद्धा तथाभासनसोत्सुका ।
सृष्टिं कलयते देवी तन्नाम्नागम उच्यते ।।१४८।।

ततः--परस्या एव संविदस्तत्तत्प्रमात्रादिरूपत्वेन परिस्फुरणाद्धेतोः,-तथात्वेन स्फुरणात्प्राक्, शुद्धा--प्रमात्रादिनियतरूपानारूषिता इयं 'श्रीकालसंकर्षिणी'-शब्दव्यपदेश्या परा संविद्देवी कालकलनाकलङ्कग्रसिष्णुतया द्योतमाना, तथा स्वात्मानतिरेकेऽपि अतिरेकायमाणतया यत् स्वातन्त्र्याद्भासनं, तत्र सोत्सुका--सिसृक्षायोगिनी सती, सृष्टिं कलयते--बहिरासूत्रितप्रायं भावजातं विमृशति, अत एव तन्नाम्ना--अन्वर्थेन 'श्रीसृष्टिकाली'-शब्देन, आगमे--श्रीपञ्चशतिकादौ, उच्यते--अभिधीयते इत्यर्थः, यदुक्तं तत्र

'मन्त्रोदया व्योमरूपा व्योमस्था व्योमवर्जिता ।
सर्वा सर्वविनिर्मुक्ता विश्वस्मिन्सृष्टिनाशिनी ।।
या कला विश्वविभवा सृष्टयर्थकरणक्षमा ।
यदन्तः शान्तिमायाति सृष्टिकालीति सा स्मृता ।।'

इति । श्रीक्रमस्तोत्रेऽपि

'कौलार्णवामन्दघनोर्मिरूपामुन्मेषमेषोभयभाजमन्तः ।
निलीयते नीलकुलालये या तां सृष्टिकालीं सततं नमामि ।।'

इति ॥ १४८ ॥

एवं प्रमेयगतं सृष्टिस्वरूपमभिधाय, स्थितिस्वरूपमप्यभिधातुमाह

तथा भासितवस्त्वंशरञ्जनां सा बहिर्मुखी ।
स्ववृत्तिचक्रेण समं ततोऽपि कलयन्त्यलम् ॥१४९॥
स्थितिरेषैव भावस्य .... ।

ततः--श्रीसृष्टिकाल्युदयानन्तरमपि, सा--परैव प्रमात्रेकरूपा संवित्, बहिर्मुखी--स्वस्वातन्त्र्यात् प्रमाणदशामधिशयाना, स्वमात्मीयं यच्चक्षुरादीन्द्रियसंवन्धि रूपाद्यालोचनात्मक वृत्तिचक्रं, तेन समं--तथातिरेकायमाणतया भासितं यद्विश्वलक्षणं वस्तु, तस्य ये

'रूपादिपञ्चवर्गोऽयं विश्वमेतावदेव हि ।'

इत्याद्युक्त्या रूपाद्या अंशाः तत्कर्तृकां रञ्जनाम्, अलम्--अत्यर्थम्, आत्मविषयतयापि कलयन्ती, अविकल्पवृत्त्या जानाना सती 'मानं हि नाम मेयोपरञ्जितमेव भवेत्' इत्यविवादः, मानात्मना च बहिर्मुखेन रूपेण मातैव स्फुरेदिति, तस्यापि तद्द्वारेणैव मेयोपरञ्जनं, न पुनः--साक्षादिति भावः, एषैव रूपादेर्भावजातस्य स्थितिः--अवभासनात्मिका व्यक्तिरित्यर्थः, मेयं हि नाम स्वात्मनि न किंचिदिति प्रमाणोपारोहेणैव अस्य स्थितिः स्यात् इति--एवकाराशयः, एवंविधा चेयं मेये एवासक्त्या रक्तकालीशब्दव्यपदेश्या, इति अत्रापि तान्नाम्ना आगम उच्यते, इति प्राच्येन संवन्धः, तदुक्तं श्रीपञ्चशतिके

'न चैषा चक्षुषा ग्राह्या न च सर्वेन्द्रियस्थिता ।
निर्गुणा निरहङ्कारा रञ्जयेद्विश्वमण्डलम् ॥
सा कला तु यदुत्पन्ना सा ज्ञेया रक्तकालिका ।'

इति । श्रीक्रमस्तोत्रेऽपि

'महाविनोदार्पितमातृचक्रवीरेन्द्रकासृग्रसपानसक्ताम् ।
रक्तीकृतां च प्रलयात्यये तां नमामि विश्वाकृतिरक्तकालीम् ॥'

इति । ननु सर्वत्रैवान्यत्र श्रीसृष्टिकाल्यनन्तरं श्रीस्थितिकाल्या अभिधानम्, यदुक्तं श्रीसार्धशतिके

'द्वादशारं महाचक्रं रश्मिरूपं प्रकीर्तितम् ।
नाम चैव प्रवक्ष्यामि रश्मीनां तु यदास्थितम् ॥
सृष्टिः स्थितिश्च संहारो रक्तकाली तथैव च ।
स्वकाली यमकाली च मृत्युकाली तथैव च ॥
रुद्रश्च परमार्कश्च मार्तण्डश्च ततः परः ।
कालाग्निरुद्रकाली च महाकाल्यभिधा पुनः ॥
महाभैरवशब्दश्च घोरशब्दस्ततः परः ।
चण्डकालीपदं चान्ते त्रयोदश उदाहृताः ॥'

इति, तत्कथमिह तदनन्तरं श्रीरक्तकाल्यादिनिर्देशः कृतः, एवं हि आगमविरोधः स्यात् ? सत्यं—किं तु आगमे संवित्क्रमगोपनार्थम् आलूनविशीर्णतयैवमभिधानं, यथा श्रीपञ्चशतिके स्थितिक्रमेऽपि, यदेव चानुसृत्य महागुरुभिः पूजाक्रमः प्रक्रान्तः, इह तु पूजाक्रमगोपनाय स्वशय्ययैव स्थापनं, यदधिकृत्य संवित्क्रमः परिनिष्ठितिमियात्, अत एवागमैकशरणतया प्रवृत्तेऽपि श्रीक्रमस्तोत्रे ग्रन्थकृता संवित्क्रममेव प्रदर्शयितुं तद्विवृतौ श्रीसृष्टिकाल्यादिस्तुतिश्लोकव्याख्यानानन्तरं श्रीरक्तकाल्या भगवत्याः अतः परं स्थितिः संभाल्यते इत्याद्युक्तम्, इह पुनः संवित्क्रमाभिप्रायेणैव मुक्तकण्ठमेवमभिधानम्, इति न कश्चिद्दोषः ॥ १४९ ॥

एवं प्रमेयगतं स्थितिस्वरूपमभिधाय संहारस्वरूपमप्यभिधातुमाह

तामन्तर्मुखतारसात् ।
संजिहीर्षुः स्थितेर्नाशं कलयन्ती निरुच्यते ॥१५०॥

सैव परा संविद्देवी, तां – प्रमाणरूपां रक्तापरपर्यायां स्थितिम्, अन्तः प्रमात्रेकात्मतायामौन्मुख्ये 'ज्ञातो मयार्थ' इति स्वात्मविश्रान्तिचमत्कारात्मनो रसात्, संहर्तुमिच्छुः – आत्मसाच्चिकीर्षुः, अत एव 'स्थितेर्नाशं कलयन्ती निरुच्यते' श्रीक्रमभट्टारकादौ स्थितिनाशकालीशब्दव्यपदेश्येत्यर्थः, यदुक्तं तत्र

'वाजिद्वयस्वीकृतवातचक्रप्रक्रान्तसंघट्टगमागमस्थाम् ।
शुचिर्यया स्तं गमितोऽर्चिषा तां शान्तां नमामि स्थितिनाशकालीम् ॥'

इति । श्रीपञ्चशतिकेऽपि

'ह्रासिनी पौद्गली येयं बालाग्रशतकल्पना ।
कल्पते सर्वदेहस्था स्थितिः सर्गस्य कारिणी ॥
यदुत्पन्ना तु सा देवी पुनस्तत्रैव लीयते ।
तां विद्धि देवदेवेश स्थितिकालीं महेश्वर ॥'

इति ॥ १५० ॥

एवं प्रमेयगतं संहारस्वरूपं निरूप्य, अनाख्यस्वरूपमप्याह

ततोऽपि संहाररसे पूर्णे विघ्नकरीं स्वयम् ।
शङ्कां यमात्मिकां भागे सूते संहरतेऽपि च ॥१५१॥

ततः—श्रीस्थितिनाशकाल्युदयानन्तरमपि, एवमुक्तरूपस्य संहारस्य प्रमातृतात्मनि रसे, पूर्णे—परां धारामधिरूढे, सैव परिगृहीतपरिमितप्रमातृभूमिका संवित्, स्वयं—स्वस्वातन्त्र्यमहिम्ना, बहिरौन्मुख्यात्मन्येकस्मिन् भागे, यमयति 'इदं कार्यमिदं न' इति नियतावस्थापयति, इति यमो – विकल्पः, तदनुप्राणिता येयं शङ्का—शास्त्राणामानन्त्यात् कार्याकार्यविभागस्य विपर्ययेणापि दर्शनात् किंकर्तव्यतया मूढतात्मा विचिकित्सा, अत एव

'.............................शङ्कया विघ्नभाजनम् ।'

इत्याद्युक्त्या स्वस्वरूपानुप्रवेशे विघ्नकरी, तां सूते – प्रमेयकक्ष्यापर्यन्तमुल्लासयति, अन्तर् औन्मुख्यात्मनि द्वितीयस्मिन्भागे च, संहरते – विगलितनियतिसंकोचविधिनिषेधाविषयपरसंविदात्मना स्वेनैव विकस्वरेण रूपेण परिस्फुरति

'रासभ्या मूत्रकाले तु योनिः प्रस्पन्दते यथा ।'

इत्याद्युक्तवदनवरतमेव संकोचविकासमयतया अनियतेन रूपेण ख्यातुमशक्या, इत्येवं यमं कलयन्ती 'यमकालीति' निरुच्यते, इति पूर्ववदाक्षेपः, तदुक्तं श्रीपञ्चशतिके

'यमरूपस्वरूपस्था रूपातीतस्वरूपगा ।
सा कला लीयते यस्यां यमकाली तु सा स्मृता ॥'

इति । श्रीक्रमस्तोत्रेऽपि

'सर्वार्थसंकर्षणसंयमस्य यमस्य यन्तुर्जगतो यमाय ।
वपुर्महाग्रासविलासरागात् संकर्षयन्तीं प्रणमामि कालीम् ॥'

इति । एवं प्रमेयांशग्रासरसिकं सृष्ट्यादिदेवी चतुष्टयं निरूपितम् ॥१५१॥

इदानीं तु प्रमाणांशभक्षणप्रवणं संहारादिदेवीचतुष्कं निरूपयति

संहृत्य शङ्कां शङ्कयार्थवर्जं वा भावमण्डले ।
संहृतिं कलयत्येव स्वात्मवह्नौ विलापनात् ॥१५२॥

एवं यमात्मिकां शङ्कां संहृत्य शङ्कास्थानं वा शङ्कयान्—कार्याकार्यरूपानर्थान्, परिहृत्य उपसंहृत्य, तन्नान्तरीयकवृत्त्या सा परैव संविद्देवी स्वात्मवह्निसात्काररलक्षणाद्विलापनाद्धेतोः, निखिलेऽपि भावमण्डले, संहृतिं कलयत्येव, येन—श्रीपञ्चशतिकादौ संहारकालीशब्दव्यपदेश्या, इति तन्नाम्ना आगम उच्यत, इति दूरेण संबन्धः, तदुक्तं तत्र

'चण्डकाली शुद्धवर्णा यामृतग्रसनोद्यता ।
भावाभावविनिर्मुक्ता विश्वसंहाररूपिणी ॥
यत्र सा याति विलयं सा च संहारकालिका ।'

इति । श्रीक्रमस्तोत्रेऽपि

'उन्मन्यनन्ता निखिलार्थगर्भा या भावसंहारनिमेषमेति ।
सदोदिता सत्युदयाय शून्यां संहारकालीं मुदितां नमामि ॥'

इति ॥ १५२ ॥

कीदृक् चात्रापसंह्रियमाणानां भावानां कलनम्? इत्याशङ्क्याह

विलापनात्मिकां तां च भावसंहृतिमात्मनि ।
आमृशत्येव येनैषा मया ग्रस्तमिति स्फुरेत् ॥१५३॥

स्वयमेव हि नाम भावानां संविद्विलीनतोत्पादनात्मा संहारो—यद्बहीरूपताविलापनेन प्रमाणदशामधिशयानयां संवित्तावभेदेन परामर्शनं यत एवेय संवित् 'मयैतदर्थजातमात्मनि अभेदेनावभासितम्' इत्येवं स्फुरत्तारूपा भवेत्, इत्युक्तं 'येनैषा मया ग्रस्तमिति स्फुरेदिति' इयमेव हि संविदः प्रमाणरूपतयां सृष्टिः—यत् तत्तदर्थारूषिता चकास्यादिति ॥ १५३ ॥

एवं प्रमाणगतं सृष्टिस्वरूपमभिधाय, स्थितिस्वरूपमप्यभिधातुमाह

संहार्योपाधिरेतस्याः स्वस्वभावो हि संविदः ।
निरुपाधिनि संशुद्धे संविद्रूपेऽस्तमोयते ॥१५४॥

एवं संहरणीये संहृतेऽपि, एतस्याः—प्रमाणमय्या निखिलार्थसंहर्तृत्वात् मृत्युरूपायाः संविदः, संहरणीयकार्याकार्याद्यर्थाविच्छिन्नो, यः स्वः सर्वत एवासाधारणः स्वभावः, स स्वांशसंविद्विश्रान्तिमन्तरेण स्थितिमेव न यायात्, इति प्रमेयमिव प्रमाणे निरुपाधिनि – तत्तदर्थानारूषिते, अत एव संशुद्धे-प्रमात्रात्मनि, संविद्रूपे 'अस्तमीयते' – तत्रैव रक्तिरूपां विश्रान्तिं गच्छेत् येनास्याः संहर्तृत्वमेव व्यवतिष्ठते, इत्येवं मृत्युरूपाया अपि संविदः कलनात् 'मृत्युकालीति' सर्वत्रेयमुद्घोष्यते, इत्यर्थत एतल्लाब्धम्, तदुक्तं श्रीपञ्चशतिके

'ओमित्येषा कुलेशानी मृत्युकालान्तपातिनी ।
मृत्युकालकला यस्याः प्रविशेद्विग्रहं शिव ॥
तदा सा मृत्युकालीति ज्ञेया गिरिसुताधव ।'

इति । श्रीक्रमस्तोत्रेऽपि

'ममेत्यहंकारकलाकलापविस्फारहर्षोद्धतगर्वमृत्युः ।
ग्रस्तो यया धस्मरसंविदं तां नमाम्यकालोदितमृत्युकालीम् ॥'

इति ॥ १५४ ॥

एवं प्रमाणगतं स्थितिस्वरूपमभिधाय संहारस्वरूपमप्याह

विलापितेऽपि भावौघे कंचिद्भावं तदैव सा ।
आश्यानयेद्य एवास्ते शङ्का संस्काररूपकः ॥१५५॥
शुभाशुभतया सोऽयं सोष्यते फलसंपदम् ।

एवं हि निरुपाधिशुद्धप्रमातृसंविद्विश्रान्त्या संहृतेऽपि कार्यरूपे भावौघे, सा परा संवित् तद्विलापनसमनन्तरमेव कंचित् प्रतिनियतरूपं भावमाश्यानयेत्—विलापितत्वेऽपि कथंचिद्भेदावभासात्मतया घनतामापादयेत्, य एवाश्यानीभूतः संस्काररूपतया वर्तमानः 'शङ्का' आस्ते—तन्निमित्ततया अवतिष्ठते इत्यर्थः, यद्वशादेव विचित्राचारप्रदर्शकेष्वनन्तेषु शास्त्रेषु कार्याकार्यविभागनिश्चयमलभमानस्य प्रमातुः

'अधर्मं धर्ममिति या बुध्यते तमसावृता ।'

इत्यादिदृशा यदेव यथा हृदये प्ररोहति तदेव तस्य तथा फलेत्—इति स एवायं शङ्कानिमित्तं कार्याकार्यलक्षणप्रतिनियतभावाहितः संस्कारः प्रबुद्धः

सन् शुभाशुभरूपां फलसंपदं जनयिष्यते, येनायं लोकः स्वर्निरयादिपात्रतया सुखदुःखादिभोक्तृतामियात् ॥ १५५ ॥

नन्वेवं शङ्कमानः प्रमाता कार्याकार्ययोर्निश्चययानुत्पादात् न किंचिदप्यनुतिष्ठेत्, इति किमस्य शुभाशुभतया फलेत् ? इत्याशङ्क्याह

पूर्वं हि भोगात्पश्चाद्वा शङ्केयं व्यवतिष्ठते ॥१५६॥

इह सर्वस्य लोकस्य नानात्वेन कार्याकार्ययोः श्रुतेः सुखदुःखाद्यनुभवात् पूर्वमेव तावच्छङ्का जायते 'किमनुष्ठेयं मया' इति, स्वसंस्कारप्रबोधतारतम्यात्तु कुत्रचिदेव कस्याचित्तन्निश्चयः समुत्पद्यते, तदनुष्ठानादस्य शुभाशुभफलभागितया सुखदुःखातौ भोक्तृता स्यात्, तदनन्तरं च दुःखाद्युपघातादेवमस्य शङ्का संप्रजायते 'यदकार्यमेव नूनं मया कार्यतयानुष्ठितं, येनैवमस्मि दुःखपराभूतो जातः' इति, ततश्च पूर्वं कृतमपि ब्राह्मणालम्भनादि तत्कालमेवेयं शङ्का शिथिलयति, येन तदनुशयवशाच्छुभमशुभं वा फलं दातुं न शक्नुयात् ॥ १५६ ॥

तदेवाह

अन्यदाश्यानितमपि तदैव द्रावयेदियम् ।
प्रायश्चित्तादिकर्मभ्यो ब्रह्महत्यादिकर्मवत् ॥१५७॥

न च मितः प्रमाता तदीयो वा चैतसिकः शङ्काख्यो धर्म एवं विधातुमुत्सहते, इत्याह

रोधनाद्द्रावणाद्रूपमित्थं कलयते चितिः ।

एवं संस्कारात्मनावस्थितस्यापि अर्थस्य, रोधनाद्द्रावणाच्च इयं परा संविदुक्तेन प्रकारेण रूपं कलयन्ती श्रीक्रमसद्भावभट्टारके 'रुद्रकालीति' व्यपदिष्टेत्यर्थः, तदुक्तं तत्र

'इदं सर्वमसर्वं यत्संहारान्तं तु नित्यशः ।
कुटिलेक्षणरेखान्तग्रस्तमस्तमितं च यत् ॥
ततो बोधरसाविष्टा स्पन्दमाता निराकुला ।
दीधितीनां सहस्रं यद्वमेच्च पिबते भृशम् ॥
सा कला लीयते यस्यां रुद्रकालीति सा स्मृता ।'

इति, श्रीपञ्चशतिकादौ पुनरियं 'भद्रकाली' इत्युक्ता, इति नाम्नि भेदेऽपि

वस्तुनि न कश्चिद्भेदो, यद्रुद्धं वार्थं द्रावयेद्भिन्नं वा, इत्युभयथापि अर्थानुगम इति, तदुक्तं तत्र

'गमागमक्षुनम्यस्था महाबोधावलोकिनी ।
मायामलविनिर्मुक्ता विज्ञानामृतनन्दिनी ।।
सर्वलोकस्य कल्याणी रुद्रा रुद्रसुखप्रदा ।
यत्रैव शाम्यति कला रुद्रकालीति सा मृता ।।
भेदस्य द्रावणाद्रुद्रा भद्रसिद्धिकरीति या ।'

इति । श्रीक्रमस्तोत्रेऽपि

'विश्वं महाकल्पविरामकल्पभवान्तभीमभ्रुकुटिभ्रमन्त्या ।
याश्नात्यनन्तप्रभवार्चिषा तां नमामि भद्रां शुभभद्रकालीम् ।।'

इति ।।

न केवलमियमाश्यानीभावेन रुद्धमेवार्थं द्रावयेत्, यावद्द्रावितमपि रोधयेत्, इत्याह

तदपि द्रावयेदेव तदप्याश्यानयेदथ ।।१५८।।

एवं चात्र प्रमाणरूपत्वेऽपि तत्तदर्थसंहारकारिणः प्रमातुरेव प्राधान्यं, येन ग्रन्थकृतो रुद्रशब्दे भरः ।। १५८ ।।

एवं प्रमाणगतं संहारस्वरूपं निरूप्य, अनाख्यस्वरूपमति निरूपयितुमाह

इत्थं भोग्येऽपि संभुक्ते सति तत्करणान्यपि ।
संहरन्ती कलयते द्वादशैवाहमात्मनि ।।१५९।।

एवमुपसंहृतेपि अर्थे तत्परिच्छेदकारीणि द्वादशापि करणानि संहरन्ती संवित् अहमात्मन्यहंकारे, कलयते--तत्रैव लीनतां नयेदित्यर्थः ।। १५९ ।।

ननु कान्येतानि द्वादश करणानि, किं चैषां शरणत्वम् ? इत्याशङ्क्याह

कर्मबुद्ध्यक्षवर्गो हि बुद्ध्यन्तो द्वादशात्मकः ।
प्रकाशकत्वात्सूर्यात्मा भिन्ने वस्तुनि जृम्भते ।।१६०।।

बुद्ध्यन्त इति--मनसा सह, प्रकाशकत्वादिति--अर्थालोचनात्मनः, सूर्यात्मेति--

'सूर्यं प्रमाणमित्याहुः .... ।'

इत्याद्युक्त्या प्रमाणरूप इत्यर्थः, भिन्नं प्रमेयं परिच्छिन्दच्च प्रमाणमुच्यते इत्युक्तं 'भिन्ने वस्तुनि जृम्भते' इति ॥ १६० ॥

नन्वहंकारस्यापि अन्तःकरणान्तःपातः समस्ति, इति कथं 'द्वादशैव करणानि' इत्युक्तम्? इत्याशङ्क्याह

अहंकारस्तु करणमभिमानैकसाधनम्।
अविच्छिन्नपरामर्शी लीयते तेन तत्र सः ॥१६१॥

अहंकारः पुनर् 'अहं श्रृणोम्यहं पश्यामि' इत्याद्यभिमानैकसाधनत्वात् अविच्छिन्नतया प्रमात्रभेदेन विशेषानुपादानात् सर्वस्यार्थस्य परामर्शनशीलः करणम्, इत्यसौ द्वादशविधोऽपि करणवर्गः तत्राहंकारे लीयते--तदेकविश्रान्तो भवेदित्यर्थः ॥ १६१ ॥

ननु करणत्वाविशेषेऽपि बुद्ध्यादिरेव करणवर्गः कथंकारमहंकारे लीयते? इत्याशङ्कां दृष्टान्तोपदर्शनेनोपशमयति

यथाहि खड्गपाशादेः करणस्य त्रिभेदिनः।
अभेदिनि स्वहस्तादौ लयस्तद्वदयं विधिः ॥१६२॥

इह करणस्य व्यतिरिक्तत्वे किं प्रेर्यत्वं न वा, तत्र अप्रेर्यत्वे सर्वस्यापि तथा प्रसङ्गः, प्रेर्यत्वे च प्रेरणक्रियायां कर्मत्वं स्यात्, न करणत्वम्, न च अकरणिका क्रिया भवेत्, इति तत्रापि करणान्तरेण भाव्यम्, इत्यनवस्था स्यात्, तद्व्यतिरिक्तस्यापि खड्गादेः करणस्य यथा कर्त्रभिन्नहस्ताद्यभेदभावनया करणत्वं घटते, तथा अहमंशस्पर्शितया प्रमात्रभेदिन्यहंकारेऽपि बुद्ध्यादेर्लयात्, इति युक्तमुक्तम्-अहंकारे बुद्धिर्लीयते इति ॥ १६२ ॥

एतदेव प्रकृते विश्रमयति

तेनेन्द्रियौघमार्तण्डमण्डलं कलयेत्स्वयम्।
संविद्देवी स्वतन्त्रत्वात्कल्पितेऽहंकृतात्मनि ॥१६३॥

तेन–उक्तेन क्रमेण, स्वस्वातन्त्र्यात् स्वयं, न तु परिमितप्रमात्रादिव्यवधानेन, संविद्देवी द्वादशसंख्यावच्छिन्नं बुद्ध्यादीन्द्रियमार्तण्डमण्डलं देहादावभिनिवेशात्कल्पितेऽहंकृतात्मनि कलयेत् – तदेकमयतामापादयेत्, येन श्रीक्रमस्तोत्रादौ इयं 'मार्तण्डकाली' इत्युच्यते, तदुक्तं तत्र

'मार्तण्डमापीतपतङ्गचक्रं पतङ्गवत्कालकलेन्धनाय ।
करोति या विश्वरसान्तकां तां मार्तण्डकालीं सततं प्रणौमि ॥'

इति । श्रीपञ्चशतिकेऽपि

'शब्दब्रह्मपदातीता षट्त्रिंशान्तनवान्तगा ।
ब्रह्माण्डखण्डादुत्तीर्णा मार्तणी मूर्तिरव्यया ॥
सा कला लीयते यस्यां मार्तण्डी कालिकोच्यते ।'

इति ॥ १६३ ॥

एवं प्रमाणांशभक्षणप्रवणं देवीचतुष्टयं निरूपितम्, इदानीं प्रमात्रंशचर्वणाचतुरं देवीचतुष्टयं निरूपयति

स एव परमादित्यः पूर्णकल्पस्त्रयोदशः ।
करणत्वात्प्रयात्येव कर्तरि प्रलयं स्फुटम् ॥१६४॥

एवमहंकारनाम्नि परमादित्ये संहृतेषु बुद्ध्यादिषु द्वादशसु करणेषु स एवाहंकारनामा त्रयोदशः प्रमातृनोन्मुखीभावात् पूर्णकल्पः परमादित्यः करणत्वात् कर्तर्येव स्फुटं प्रलयं प्रयातितदेकरूपतामासादयेदित्यर्थः ॥१६४॥

ननु द्विविधः कर्ता – संकुचितश्चासंकुचितश्च, तदयं कुत्र तावत् प्रलयं प्रयाति ? इत्याशङ्क्याह

कर्ता च द्विविधः प्रोक्तः कल्पिताकल्पितात्मकः ।
कल्पितो देहबुद्ध्यादिव्यवच्छेदेन चर्चितः ॥१६५॥
कालाग्निरुद्रसंज्ञास्य शास्त्रेषु परिभाषिता ।
कालो व्यवच्छित्तद्युक्तो वह्निर्भोक्ता यतः स्मृतः ॥१६६॥
संसाराक्लसिक्लसिभ्यां रोधनाद्द्रावणात्प्रभुः ।
अनिवृत्तपशूभावस्तत्राहंकृत्प्रलीयते ॥१६७॥

अस्येति–देहबुद्ध्यादिव्यवच्छेदभाजः कल्पितस्य प्रमातुः, किं च अस्याः संज्ञायाः प्रवृत्तावत्र निमित्तम् ? इत्याशङ्क्याह 'काल' इत्यादि, व्यवच्छित्–व्यवच्छेदः, तेन कालेन तद्व्यवच्छेदेन युक्तोऽग्निर्भोक्ता, स एव च किंचिद्भोग्यसंस्कारस्याप्रबोधात् 'ममैतन्मा भूत्' इति रुणद्धि प्रबोधाच्च किंचिद्द्रावयति, भोगेन स्वात्मसात्करोति इति रुद्रः, अत एव भोग्यौन्मुख्यात् अनिवृ-

त्तपशूभावः — प्रोन्मिषदभिलाषात्मकाणवमलयोग इत्यर्थः, तत्रेति-कालाग्निरुद्रसंज्ञे संकुचिते प्रमातरि, एवमहंकारनाम्नः परमार्कस्य परिमिते कालाग्निरुद्रसंज्ञे संकुचिते प्रमातरि, एवमहंकारनाम्नः परमार्कस्य परिमिते कालाग्निरुद्रसंज्ञे प्रमातरि, एवंकलनात् श्रीक्रमस्तोत्रादावियं 'परमार्ककाली' इत्युच्यते, तदुक्तं तत्र

'अस्तोदितद्वादशभानुभाजि यस्यां गता भर्गशिखा शिखेव।
प्रशान्तधाम्नि च्युतिनाशमेति तां नौम्यनन्तां परमार्ककालीम् ॥'

इति । श्रीपञ्चशतिकेऽपि

'एकाकिनी चैकवीरा सुसूक्ष्मा सूक्ष्मवर्जिता।
परमात्मपदावस्था परापरस्वरूपिणी ॥
सा कला पररूपेण यत्र संलीयते शिव।
सा कला परमार्केति ज्ञेया भस्माङ्गभूषण ॥'

इति ॥ १६५ ॥ १६६ ॥ १६७ ॥

एवं प्रमातृगत सृष्टिस्वरूपमभिधाय स्थितिस्वरूपमप्याह

सोऽपि कल्पितवृत्तित्वाद्विश्वाभेदैकशालिनि ।
विकासिनि महाकाले लीयतेऽहमिदंमये ॥१६८॥

एवमहंकारे ग्रस्ते, तद्ग्रसितुः—कालाग्निरुद्रशब्दव्यपदेश्यस्य कल्पितस्यापि प्रमातुर्ग्रासिन भाव्यम्, इति सोऽपि कल्पितः प्रमाता, कल्पितत्वादेव अहमिदंमये, अत एवाहन्तायामिदन्तया विश्रान्तेः विश्वाभेदैकशालिनि, अत एव विकासिनि

'भैरवरूपी कालः सृजति जगत्कारणादि कीटान्तम् ॥'

इत्याद्युक्तस्वरूपे माहाकाले लीयते—परस्मिन्नकल्पिते पूर्णाहंविमर्शमये प्रमातरि विश्रान्तो भवेदित्येवं परिमितप्रमात्रात्मनः कालाग्निरुद्रस्य कलनात् 'कालाग्निरुद्रकालीति' श्रीपञ्चशतिकादावियम् उच्यते, यदुक्तं तत्र

'वरदा विश्वरूपा च गुणातीता परा कला।
अघोषा सास्वरारावा कालाग्निग्रसनोद्यता ॥
निरामया निराकारा यस्यां सा शाम्यति स्फुटम्।
कालाग्निरुद्रकालीति सा ज्ञेयामरवन्दित ॥'

इति। श्रीक्रमस्तोत्रेऽपि

'कालक्रमाक्रान्तदिनेशचक्रक्रोडीकृतान्ताग्निकलाप उग्रः।
कालाग्निरुद्रो लयमेति यस्यां तां नौमि कालानलरुद्रकालीम् ॥'

इति ॥ १६८ ॥

एवं प्रमातृगतं स्थितिस्वरूपमभिधाय संहारस्वरूपमप्याह

एतस्यां स्वात्मसंवित्ताविदं सर्वमहं विभुः।
इति प्रविकसद्रूपा संवित्तिरवभासते ॥१६९॥
ततोऽन्तःस्थितसर्वात्मभावभोगोपरागणी ।
परिपूर्णापि संवित्तिरकुले धाम्नि लीयते ॥१७०॥

एवं कालाग्निरुद्ररूपे परिमिते प्रमातरि ग्रस्ते परिपूर्णाहंभावमयस्य परप्रमातुर्महाकालस्यापि स्वविमर्शश्रान्त्यात्मना ग्रासेन भवितव्यम्, इत्येतस्यामुक्तस्वरूपायां स्वात्मनो महाकालस्य संबन्धिन्यां संवित्तौ

'सर्वो ममायं विभव................................ ।'

इत्याद्युक्तवत् सर्वमिदमहमेवेति विभुः – विश्वाभेदैकशालिनी, अत एव प्रविकसद्रूपा या परिमितप्रमातृचर्वणाचतुरा संवित्तिः – अनुभवविशेषोऽवभासते, सापि ततः – एवमवभासानन्तरम्, अन्तः—प्रमात्रैकात्म्येन वर्तमानानाम्, अत एव सर्वसर्वात्मकत्वेन सर्वात्मरूपाणां भावानां यो भोगो – हठपाकक्रमेणालंग्रासयुक्त्या स्वात्मसात्कारः, तेनोपरागिणी—संहर्त्रेकस्वभावा, अत एव परिपूर्णा, अत एव परिपूर्णा, अत एव क्वचिदपि प्रति भोग्यत्वागमनाद्विदिक्रियाकर्तृतारूपा वित्तिः,

'अव्ययमकुलममेयं विगलितसदसद्विवेककल्लोलम्।
जयति प्रकाशविभवस्फीतं काल्याः परं धाम ॥'

इत्याद्युक्तस्वरूपाशालिन्यकुले धाम्नि लीयते -स्वात्मविश्रान्तिचमत्काररूपाहंपरामर्शदशाधिशायितामियादिति, एवं महाकालस्य कलनात् 'महाकालकालीति' श्रीक्रमस्तोत्रादावुच्यते, तदुक्तं तत्र

'नक्तं महाभूतलये श्मशाने दिक्खेचरीचक्रगणेन साकम्।
कालीं महाकालमलंग्रसन्तीं वन्दे ह्यचिन्त्यामनिलानलाभाम् ॥'

इति । श्रीपञ्चशतिकेऽपि

'ऋतोज्ज्वला महादीप्ता सूर्यकोटिसमप्रभा ।
कलाकलङ्करहिता कालस्य कलनोद्यता ॥
यत्र सा लयमाप्नोति कालकालीति सा स्मृता ।'

इति ॥ १६९ ॥ १७० ॥

एवं प्रमातृगतं संहारस्वरूपं निरूप्यानाख्यास्वरूपमपि निरूपयति

प्रमातृवर्गो मानौघः प्रमाश्च बहुधा स्थिताः ।
मेयौघ इति यत्सर्वमत्र चिन्मात्रमेव तत् ॥१७१॥
इयतीं रूपवैचित्रीमाश्रयन्त्याः स्वसंविदः ।
स्वाच्छन्द्यमनपेक्षं यत्सा परा परमेश्वरी ॥१७२॥

तदेवमात्र--अहंपरामर्शात्मन्यकुले धाम्नि, प्रमेयं प्रमाता प्रमा च इत्येतत्सर्वं नानारूपतयोज्जृम्भमाणं चिन्मात्रमेव--तदेकरसतयावभासते इत्यर्थः, तत्--तस्मादियतीं प्रमात्राद्यवच्छिन्नां रूपवैचित्रीमाश्रयन्त्याः स्वप्रकाशायाः परस्याः संविदो यदनपेक्षं

'तस्य देवातिदेवस्य परबोधस्वरूपिणः ।
विमर्शः परमा शक्तिः सर्वज्ञज्ञानशालिनी ॥'

इत्याद्युक्तस्वरूपमहंपरामर्शमयं स्वाच्छन्द्य, सा प्रमेयप्रक्रियया--प्रमातृपदेन महाभैरवशब्दस्य, मेयपदेन चण्डशब्दस्य, प्रमापदेनोग्रशब्दस्य, मानपदेन घोरशब्दस्य चाक्षेपात् 'महाभैरवचण्डोग्रघोरकाली' या अस्मद्दर्शने पूर्णतया परा इति परमेश्वर्युक्ता, यदुक्तं श्रीपञ्चशतिके

'दशसप्तविसर्गस्था महाभैरवभीषणा ।
संहरेद्भैरवान्सर्वान्विश्वं च सुरपूजित ॥
सान्तः शाम्यति यस्यां च सा स्याद्भूरिभैरवी ।
महाभैरवचण्डोग्रघोरकाली परा च सा ॥'

इति । श्रीक्रमस्तोत्रेऽपि

'क्रमत्रयत्वाष्ट्रमरीचिचक्रसंचारचातुर्यतुरीयसत्ताम् ।
वन्दे महाभैरवघोरचण्डकालीं कलाकाशशशाङ्ककान्तिम् ॥'

इति ॥ १७१ ॥ १७२ ॥

ननु किं नामास्याः परत्वम् ? इत्याशङ्क्याह

इमाः प्रागुक्तकलनास्तद्विजृम्भोच्यते यतः ।

अतस्तद्विजृम्भात्मकत्वादेवासां सर्वसर्वात्मकतया एकैकस्यामपि संविदि सर्वा एव संविदोऽनन्तरत्वेन वर्तन्ते, येनैकैकस्यामपि द्वादशात्मकत्वात् संचारक्रमपूजायां चतुश्चत्वारिंशदधिकं पूज्यत्वेनोक्तम्, यदागमः

'द्वादशाराविद्योगेन देवीं द्वादशधा यजेत् ।'

इति, अत एव च त्रयोदशं रूपमभिधातुमवकाशलेशोऽपि नास्ति इति युक्त-मुक्तं 'परमार्थतः संविद्द्वादशात्मैव' इति ॥

ननु क्रमदर्शने सर्वत्रैव श्रीसृष्टयादिदेवीनां मध्ये श्रीसुकाल्या भगवत्या अभिधानं, येनानाख्यचक्रे त्रयोदश देव्यः, अत एव श्रीमहाभैरवचण्डो-ग्रघोरकालीभट्टारिकायाश्च त्रयोदशत्वम्, तदुक्तं श्रीपञ्चशतिके

'इकला भीषणा रौद्रा कुलकालिनिराकुला ।
अलक्ष्या लक्ष्यनिर्लक्ष्या सुकाली नाम सिद्धिदा ॥'

इति । श्रीतन्त्रराजभट्टारकेऽपि

'सृष्टिकाली च संहारे सृष्टौ सा परमेश्वरी ।
स्थितिकाली तथा घोरा ततः संहारकालिका ॥
रक्तकाली चर्वयन्ती रक्तौघमविभेदतः ।
सुकाली यमकाली च मृत्युकाली भयावहा ॥
भद्रकाली तथा चान्या परमादित्यकालिका ।
मार्तण्डकाली कालाग्निरुद्रकालमहोल्लवणा ॥
महाकालकुले काली महाभैरवकालिका ।
त्रयोदशविधा काली विज्ञेया नामभेदतः ॥'

इति, श्रीसार्धशतिकं तु समनन्तरमेव संवादितं, तदत्र क्रमनयसमानकक्ष्यत्व-विवक्षायामपि कथमेतद्विरुद्धमभिहितं 'द्वादशैव देव्यः' इति ? अत्रोच्यते, इह—क्रमदर्शने सर्वसर्विकया अनाख्यचक्रे त्रयोदशैव देव्यः पूज्यत्वेनाभि-मताः, इति तावन्नास्ति नियमः, यतः श्रीक्रमसद्भावभट्टारके अनाख्यचक्रे सप्तदश देव्यः पूज्यत्वेनोक्ता, यदुक्तं तत्र

'कालोत्थिता महादेव सानन्दा नन्दिनी शिवा ।
चिद्घना युग्ममध्यस्था अक्षरा क्षरगोचरा ॥

अकुला कलयेन्नित्या कालकाली निराकुला ।
सा कला लीयते यस्यां सृष्टिकाली तु सा स्मृता ॥'

इत्याद्युपक्रम्य

'क्रमत्रयाणां यच्चक्रं घोरघोरतरं महत् ।
कालरूपं परीच्याद्यं त्वाष्ट्रं कल्पान्तकान्तगम् ॥
आचरेत्तु महाचारचातुर्येणैव तत्र च ।
या कला घोरघोरोग्रा तस्याः सा तुर्यगा शिवा ॥
महाभैरवघोरस्य चण्डरूपस्य सर्वतः ।
ग्रसते या महाकाली द्व्यष्टका कालनाशिनी ॥
सप्तादशी तु सा काली विद्धि सर्वार्थकारिणी ।'

इति, अत एव च 'एतदाशयेन श्रीस्तोत्रकारस्य पूजाक्रमः, इति न ग्राह्यम्, यदाहुः

'श्रीक्रमसद्भावादिकशास्त्राशयतश्च पत्रिका अत्र ।
श्रीस्तोत्रकारभास्करकुलधरपूर्वासु संततिषु ॥'

इति, अस्य हि अनाख्यचक्रे त्रयोदश देव्यः पूज्यतया अभिमता द्वादश वा, यदधिकारेण अयं विचारः प्रक्रान्तः, एवमिह श्रीसुकालीं विना द्वादशैव देव्यः, पूज्यतया यद्युक्ताः, तत्को दोषः, यदागमः

'यत्सृष्टिस्थितिसंहाररक्तैश्च यममृत्युभिः ।
रुद्रमार्तण्डपरमादित्यकालाग्निरुद्रकैः ।
पदैश्च समहाकालैः कालीशब्दान्तयोजितैः ।
महाभैरवचण्डोग्रघोरकालीपदं नयेत् ॥'

इति । एवं क्रमकेलावप्येतद्गर्भीकारेण यदनेन ग्रन्थकृता व्याख्यातं तत्रापि अन्यथा न किंचित्संभाव्यं, यतोऽत्रान्य 'श्रीगोविन्दराज-श्रीभानुकादिक्रमेण' बहुशाखमेवं गुरूपदेशः समस्तीति, योऽद्यापि महात्मनां महागुरूणां हृदयपथे शतशः परिपोस्फुरोति, यदुक्तं तत्रैवानेन-यथैकः श्रीमान् वीरवरः सुगृहीत-नामधेयो 'गोविन्दराजाभिधानः' 'श्रीभानुकाभिधानो' द्वितीयः श्रीमान् 'एरकसमाख्यः' तृतीयः सममेवोपदेशं पीठेश्वरीभ्य उत्तरपीठलब्धोपदेशात् श्रीशिवानन्दनाथाल्लब्धानुग्रहाभ्यः श्रीकेयूरवती-श्रीमदनिका-श्रीकल्याणि-काभ्यः प्राप्नुवन्तः । तत्राद्यः प्राप्तोपदेश एवैवं मनस्यकार्षीत्- -एतावत्यधिगते

किमिदानीं कृत्यमस्तीति, इत्थं च निष्ठितमना यावज्जीवमुपनतभोगातिवाहन-मात्रव्यापार एतद्विज्ञानोपदेशपात्रशिष्टोपदेशप्रवणः शरीरान्तं प्रत्यैक्षिष्ट, स चेदं रहस्यं 'श्रीसोमानन्दाभिधानाय' गुरवे संचारयां बभूव। द्वितीयोऽपि एवमेवास्त, तस्यैव चेषा 'श्रीमदुज्जटोद्भटट्टादिनानागुरुपरिपाटीसंततिः, यत्प्रसादासादितमहिममभिरस्माभिरेतत् प्रदर्शितम्। 'श्रीमानेरकस्तु' सिद्ध्यै प्रायतत्, यावत्सिद्धः सत् एवं मनसा समर्थयते स्म—किं भोगैः, यत्--अयं महान् क्लेशो मयानुभूतः, कथमहं सब्रह्मचारिवद्यावज्जीवं प्रपन्नलोकोद्धरण-मात्रपर एव नाभवम्, यतः

'श्रीमत्सदाशिवपदेऽपि महोग्रकाली
भीमोत्कटभ्रुकुटिरेष्यति भङ्गभूमिः।
इत्याकलय्य परमां स्थितिमेत्य काल-
सर्कर्षिणीं भगवतीं हठतोऽधितिष्ठेत्॥'

तदिदानीमपि निजभावगतरहस्योपदेशं स्तोत्रमुखेनापि तावत्प्रसारयंल्लोका-ननुगृह्णीयाम् इति, अतश्चास्य एवं गुरुक्रममजानानैरद्यतनैः

श्रीभूतिराजनामाप्याचार्यश्चक्रभानुशिष्योऽन्यः।
अभिनवगुप्तस्य गुरोर्यस्य हि कालीनये गुरुता॥'

इत्यादि यदुक्तं तत् स्वोत्प्रेक्षितमेव-इत्युपेक्ष्यम्। नहि श्रीचक्रभानुना प्रायः कस्यचिदपि एवमुपदिष्टं -- तन्मूलतयैव इदानीमस्योपदेशस्य शतशो दर्शनात्, तत्रापि चात्र श्रीभूतिराजस्यान्यथा पूजाक्रम इति

'देवीपञ्चशताशयमाश्रित्य च भूतिराजपूर्वाणाम्।'

इत्यभिदधद्भिर्भरेवोक्तम्, अथात्र 'द्वादशैव देव्यः पूज्यतया स्थिताः' इत्यभि-प्रेतं भवतस्तर्हि श्रीपञ्चशतिकार्थमपि न जानोषे-तद्गच्छ, स्वगुरुं पृच्छ, किमस्मदाविष्कृतेन, श्रीदेवीपञ्चशतिकेऽपि अस्य श्रीसोमानन्दभट्टपादेभ्यः प्रभृति त्रिकदर्शनवदेव गुरवः, इति-न तत्राप्यस्य श्रीभूतिराजो गुरुत्वेन स्थितः, न च 'असावस्य न गुरुः' यद्वक्ष्यति

'अथोच्यते ब्रह्मविद्या सद्यः प्रत्ययदायिनी।
शिवः श्रीभूतिराजो यामस्मभ्यं प्रत्यपादयत्॥'

इति,

'एतद्विद्यात्रयं श्रीमद्भूतिराजो न्यरूपयत् ।
यः साक्षादभजच्छ्रीमाञ्छ्रीकण्ठो मानुषीं तनुम् ॥'

इति च, किं त्वत्र नेति निश्चयः, किं च श्रीमदवतारकनाथेन श्रीककारदेवीवत् श्रीमदनिकाश्रीकल्याणिके चानुगृहीते, इत्यपि अतोऽवसितम्, तदेष

'क्रमकुलचतुष्टयाश्रयभेदाभेदोपदेशतो नाथः ।
सप्तदशैव शिष्यानित्थं चक्रे सवंशनिर्वंशान् ॥'

इति नियमो न न्याय्यः–शिष्यद्वयस्यास्यापरिगणनात् अन्यस्यापि कस्यचिच्छिष्यस्य संभाव्यमानत्वात्, एवं

'श्रीकेयूरवतीतः प्रभृति श्रीचक्रभानुशिष्यान्तम् ।
संततयोऽतिनयस्य प्रथिता इह षोडशैवेत्थम् ॥'

इत्यादावपि ज्ञेयम्, तथाहि – अत्र श्रीककारदेव्यास्तस्याः

'प्रकृतमहानयशिष्याः प्रथितास्त्रयः सवंशास्तु ।'

इति त्रय एव शिष्याः इति न वाच्यं—श्रीगोविन्दराजश्रीभानुकयोरपि एतच्छिष्यत्वात् नवेरकनाथश्चास्या अपि शिष्यः, यदाहुः

'यस्याः सदा खेचरिदृष्टिरोधात्सार्वात्मिकी भाति निरन्तरोक्ता ।
तामस्मि केयूरवतीं प्रसिद्धां नमामि देवीमनिकेतसंस्थाम् ॥'

'वन्दे ध्वस्तसमस्तभावविभवं श्रीमन्नवेराभिधं
तं यो यत्किरणौघपातविलसत्स्पर्शोदयो जृम्भते ।'

इति, श्रीह्रस्वनाथस्यापि

'श्रीवीरनाथपादैः पञ्च च देवीनये कृताः शिष्याः ।'

इति न पञ्चैव शिष्याः–श्रीभोजराजनाम्नः षष्ठस्यापि संभवात्, तदुक्तं स्वपारम्पर्यं व्याचक्षाणेन श्रीसोमराजेन

'श्रीमद्वामनभानुः क्रमकमलविकासने चतुरः ।
जयति षडध्वप्रोज्झितपरनभसि निबद्धसंतानः ॥'

'येन ध्वस्तः समस्तो गहनतरमहामोहघोरान्धकारो
दत्तः सम्यक्प्रकाशः क्रमकमलवनोल्लासविश्रान्तिरूपः ।
प्राप्ता येनैव संविन्निरुपमसरसास्वादसंयोगभोगा
वन्दे श्रीभोजराजं गुरुवरमहितं पूज्यमर्हद्भिरन्तः ॥'

इति । एवमत्र अनेकप्रकारमासमञ्जस्यं संभवदपि अनङ्गत्वान्न प्रदर्शितम् । ननु एवं गुरुक्रमोऽप्यस्य कथंकारमिदं संगच्छतां, यदत्र द्वादशैव एता देव्य इति, यतः श्रीमदवतारकनाथस्यापि अत्र त्रयोदशैव विवक्षिताः यः श्रीगोविन्दराजादीनामपि परमगुरुत्वेन स्थितः, यदाह

'एकं स्वरूपरूपं प्रसरस्थितिविलयभेदतस्त्रिविधम् ।
प्रत्येकमुदयसंस्थितिलयविश्रमतश्चतुर्विधं तदपि ॥
इति वसुपञ्चकसंख्यं विधाय सहजस्वरूपमात्मीयम् ।
विश्वविवर्तावर्तप्रवर्तकं जयति ते रूपम् ॥'

इति ? सत्यमेतत् – को नामात्र विप्रतिपद्यते, किं तु 'अस्य द्वादशापि अभिप्रेता' इत्यभिदध्मः, यदधिकारेण श्रीगोविन्दराजादीनामुपदेशः प्रवृत्तो योऽस्मत्पर्यन्तमपि प्राप्तः, यदाह

'कालस्य कालि देहं विभज्य मुनिपञ्चसंख्यया भिन्नम् ।
स्वस्मिन्विराजमानं तद्रूपं कुर्वती जयसि ॥'

इति, अयमत्रार्थः – त्वमेव मुक्तस्वरूपे भगवति कालि ! परप्रकाशैकस्वभावस्वात्माविभेदिनो

'भैरवरूपी कालः सृजति जगत्कारणादि कीटान्तम् ।'

इत्याद्युक्त्या विश्वकलनाहेतोः कालस्य रूपम्, एवं – उक्तयुक्त्या, मुनिपञ्चसंख्यया द्वादशधा विभज्य – बहिरेवं समुल्लास्य, पुनरपि अतिरिक्तमेव तद्रूपं स्वस्मिन् प्रकाशैकघने रूपे, विराजमानं कुर्वती – दर्पणप्रतिबिम्बवदनतिरिक्ततयैव अवभासयन्ती, जयसि – अतिदुर्घटकारिणैकेनैव अनाख्येन रूपेण सर्वकालं परिस्फुरसीति । नन्वेवमेतत्

'एकं स्वरूपरूपम्......................... ।'

इत्यादिना विरुध्येत् – यत्कथमेकत्रैव परस्याः संविदो द्वादशधोदयमभिधाय त्रयोदशधापि अभिदध्यादिति, तदत्र कर्तृतयावस्थिताया भगवत्या एव त्रयोदशरूपत्वमभिधातव्यं येनानयोरेकवाक्यत्वं स्यात् ? नैतत् – यदेवमभिधित्सितमपि उत्तरवाक्ये चतुर्दशं रूपमापतेत्, यदत्राप्यस्त्येव भगवत्याः कर्तृतयावस्थानमिति, वस्तुतस्त्वेतत् उभयत्रापि विकल्पस्यैव दौरात्म्यं यत् 'राहोः शिरः' इति वदभिन्नमपि वस्तु भेदेनामृशतीति, तस्मात् द्वादशधात्वमेवात्र वक्तुमभिप्रेतं सिद्धपदानाम् – इत्यवगन्तव्यम्, विरोधस्तु उत्थानोपहत एव,

यदत्र– 'तेन तेन क्रमेण त्वमेव परिस्फुरसि' इत्येवं व्याप्तिपरमेतदभिधान-मिति, तथा च

'सदसद्विभेदसूतेर्दलनपरा कापि सहजसंवित्तिः ।
उदिता त्वमेव भगवति जयसि जयाद्येन रूपेण ।।'

इत्यादिना श्रीहस्तनयाभ्युदितेन जयाद्येनापि रूपेण त्वमेव परिस्फुरिता– इत्युक्तम्, अत्र पुनराद्यवर्णकलाचतुष्टयात्मना जयाद्येन रूपेणोदिता त्वं जयसि, इति – स्वक्रमोचितं व्याख्यानं युक्तम्, यदागमः

'अथ ब्रह्म परं शुद्धमादिवर्णत्वमागतम् ।'

इत्यद्युपक्रम्य

'अम्बिकाधस्ततस्तिस्रो युगपच्छक्तयः पुनः ।
ज्येष्ठा रौद्री तथा वामा सुप्तनागेन्द्रसंनिभा ।।
रौद्री शृङ्गाटकाकारा ऋजुरेखा तथा परा ।
इत्येताः कारणं ज्ञेयाः सर्वमाभ्यः प्रवर्तते ।।
परापरपदप्राप्तौ शान्त्याद्याः परिकीर्तिताः ।
शान्तिर्विद्या प्रतिष्ठा च निवृत्तिश्चापरा स्मृता ।।
व्योमपञ्चकमाविष्टाः परमात्मपदास्पदाः ।
ता एवापररूपेण जयाद्या गुह्यशक्तयः ।।'

इति, अयं च प्रथममेताभिरेव कामरूपे चरुकप्रधानेनानुगृहीतः इति गुरवः, जयनशीला त्वम्, आद्येन – पूर्वकोटिभाविना रूपेणोदिता जयसि इति तु पापात्पापीयः, एवं

'ऋतुमुनिसंख्यं रूपं विभज्य पञ्चप्रकारमेकैकम् ।
दिव्यौघमुद्गिरन्ती जयति जगत्तारिणी जननी ।।'

इत्यादावपि ज्ञेयम् । तदेवम् एवं-विधस्य गुरुक्रमस्य भावात् तात्त्विक एवाय-मस्योपदेशः इति स्थितम्, तत्रापि च मूलभूतं शास्त्रं स्वविमर्शात्मा युक्तिश्च, इत्युभयमपि समनन्तरमेव प्रदर्शितम्. इत्येवं-प्रत्ययात्म अत्र परं निर्बाधं प्रमाणमुज्जृम्भते, ननु एतदस्तु, किं तु श्रीक्रमस्तोत्रमेवं व्याख्यां न सहते, यत्– तत्र संविदस्त्रयोदशधैवोदयो विचक्षिः, यतस्तत्र एकैकां देवीं प्रति एकैकेन श्लोकेन प्रक्रान्तायां स्तुतौ श्रीयमकालीभट्टारिकायाः श्लोकयुगलेन स्तुतौ क इवाशयः, तत् स्वकालीमित्यपास्य भवानीमित्यपपाठ एव, इत्यत्र विवरणका-

रान्तरसंमत एव पाठ इति ? अत्रोच्यते – इह तावदेकैकां देवीं प्रति एकैकेन श्लोकेन स्तुतिः प्राक्रान्ता – इति केनोक्तं, यत् श्रीरुद्रकालाग्निरुद्रकालीभट्टारिकाया अपि

'या सा जगद्ध्वंसयते समग्रं मृत्योर्वपुर्ग्रासयतीति विष्वक् ।
धामाग्निरूपीयसहस्रदीप्तां तां नौमि कालानलरुद्रकालीम् ॥'

इति द्वितीयेन श्लोकेन स्तुतिः समस्ति, इति श्रायमकालीभट्टारिकायाः श्लोकयुगलेन स्तुतौ क इवायं संरम्भ इति, अथायमपि भवत्कल्पित एव श्लोकः, इति चेत् नैतत्–श्रीह्लस्वनाथेनापि स्वलिपिविवरणेऽस्य श्लोकस्य दृष्टत्वात्, सर्वेषामेव च विवरणकृतामात्र प्रतिपदं पाठानां श्लोकानां व्यत्यासो दृश्यते, इत्यस्मदद्दृष्ट एव पाठे क इवायं प्रद्वेषः, नन्वेवं तर्हि 'अयं पाठः साधुरयमसाधुः' इति विचारः किं नाश्रीयते यद्य एव समूलः पाठः स एव साधुरितरस्तु इतरथेति, मूलं चात्रोभयत्रापि प्रदर्शितेन क्रमेण समानमुत्पश्यामः– इत्येकतरपरिग्रहे यथास्वं गुरूपदेश एव निबन्धनम्, यथोक्तमस्मत्परमगुरुभिः

'यो यस्य गुर्वादेशः स तस्य मोचकः ।'

इति, तस्माददृष्टगुरुभिरपरिशीलितशास्त्रसंप्रदायैः स्वविमर्शशून्यैर्देवानांप्रियैर्यत् किंचिदत्रोच्यते तदुपेक्ष्यमेव, इत्यलमतिरहस्यप्रकटनमहासाहसेन ॥

किंचात्र कलनमुच्यते ? इत्याशङ्क्याह

क्षेपो ज्ञानं च संख्यानं गतिर्नाद इति क्रमात् ॥१७३॥
स्वात्मनो भेदनं क्षेपो भेदितस्याविकल्पनम् ।
ज्ञानं विकल्पः संख्यानमन्यतो व्यतिभेदनात् ॥१७४॥
गतिः स्वरूपारोहित्वं प्रतिबिम्बवदेव यत् ।
नादः स्वात्मपरामर्शशेषता तद्विलोपनात् ॥१७५॥

'कल किल विल क्षेपे' 'कल गतौ' 'कल संख्याने' 'कल शब्दे' इति धातुचतुष्टयस्य पञ्चधायमर्थो–यद्गतिर्ज्ञाने प्राप्तौ च वर्तते इति, एतदेव क्रमेण व्याचष्टे-क्रमादित्यादिना, भेदनमिति – बहिरुल्लासनम्, अविकल्पनमिति– स्वात्माभेदेन परामर्शः, भेदितस्यैव प्रमातृप्रमेयादेरर्थस्य परस्परापोहनात् 'इदमिदं नानिदम्, इति प्रतिनियततयावस्थापनात् संख्यानं विकल्पः, गतिश्चात्र गत्युपसर्जना प्राप्तिस्तेन भेदितोऽर्थः –संविल्लक्षणं स्वरूपमारोहति

प्राप्नोतीति स्वरूपारोही, तस्य भावस्तत्त्वम्, न चैतत् कट इव देवदत्तस्ये-त्युक्तं--प्रतिबिम्बवत् इति, प्रतिबिम्बस्य हि तदव्यतिरिक्तत्वेऽपि तद्व्य-तिरिक्ततयैवावभासो भवेदिति भावः, स्वात्मपरामर्शशेषतेति नदनमात्र-रूपत्वात्, तद्विलोपनादिति -तेषामविकल्पज्ञानादीनां विलोपनात्, अपहस्त-नादित्यर्थः, एतद्धि भिन्नस्यैव भवेदिति भावः ॥ १७४ ॥ १७५ ॥

एतदेव प्रकृते विश्रमयति

इति पञ्चविधामेनां कलनां कुर्वती परा ।
देवी काली तथा कालकर्षिणी चेति कथ्यते ॥१७६॥

परादेव्या एवैतदर्थानुगमादेवंव्यपदेशः, इत्याशयः ॥ १७६ ॥

न केवलमस्या एते एव व्यपदेशा यावदन्येऽपि, इत्याह

मातृसद्भावसंज्ञास्यास्तेनोक्ता यत्प्रमातृषु ।
एतावदन्तसंवित्तौ प्रमातृत्वं स्फुटीभवेत् ॥१७७॥
वामेश्वरीति-शब्देन प्रोक्ता श्रीनिशिसंचरे ।

तेनास्यः—कल्यादिशब्दव्यपदेश्यायाः पराभट्टारिकायाः 'मातृसद्भाव' इति संज्ञोक्ता, यत् एतावदन्तं द्वादशदेवीपर्यन्तं यथायथमुद्रेकमासादयन्त्यां संवित्तौ, सकलादिषु प्रमातृषु प्रमितिक्रियाकर्तृत्वलक्षणं प्रमातृत्वं स्फुटं भवेत्-स्वतन्त्रस्वप्रकाशपरसंविदेकरूपता स्यात्, तन्मातृणां सद्भाव इति, यदुक्तं

'सद्भावः परमो ह्येष मातृणां परिपठ्यते ।'

इति, श्रीनिशिसंचरे इति – श्रीदिशाटने, यदुक्तं तत्र

'एषा तु कौलिकी विद्या सर्वसिद्धिप्रदायिका ।
सकाशाद्देवदेवस्य निर्गता शक्तिवर्त्मनि ॥
वामेश्वर्यवतारे तु प्रकाशत्वमुपासता ।'

इति ॥ १७७ ॥

ननु सृष्ट्यादिरूपोपग्रहेणावभासभेदात् क्रमिकतया वैचित्र्यातिशयादस्याः कथमेकत्वं तात्त्विकं भवेत्, येन 'श्रीकालसंकर्षिणीति, श्रीमातृसद्भाव, इत्या-द्येकतर एव परामर्शः स्यादिति कथमेतदुक्तम् ? इत्याशङ्क्याह

इत्थं द्वादशधा संवित्तिष्ठन्ती विश्वमातृषु ॥१७८॥
एकैवेति न कोऽप्यस्याः क्रमस्य नियमः क्वचित् ।
क्रमाभावान्न युगपत्तदभावात्क्रमोऽपि न ॥१७९॥
क्रमाक्रमकथातीतं संवित्तत्त्वं सुनिर्मलम् ।

इत्थम् – उक्तेन प्रकारेण, परैव संविद्देवी, विश्वमातृष्विति बहुवचनादाद्यर्थो लभ्यते, इति प्रमाणादेरपि आक्षेपात् प्रमातृप्रमाणादिविषयतया द्वादशधात्वेन अवभासमानापि, एकैव–अद्वितीयेत्यर्थः–विश्वात्मत्वेन परिस्फुरत्त्या अप्यस्या न स्वस्वरूपात्प्रच्याव इत्याशयः, अत एवास्या न नियतः कश्चित् क्रमः, येन – द्वादशधात्वेनैव परिस्फुरेदिति स्यात्, परस्याः संविदो हि सृष्टयाद्युपाधिसंभेदेन परिस्फुरणेऽपि

'सकृद्विभातोऽयमात्मा………………।'

इत्यादिनीत्या स्वस्वरूपावभासाविच्छेदात् विद्युदादिवदन्तरान्तरा प्रकाशनायोगात् स्वात्मनि कालावच्छेद एव नास्ति इति – को नाम तदात्मभूतस्य क्रमस्याप्यवकाशः, अत एव च नास्या यौगपद्यं, तद्धि स्पर्धाबन्धेन परिस्फुरतोरयःशलाकाकल्पयोर्द्वयोः संभवति, न चैतरपेक्षया अन्यः कश्चित् स्पर्धावानस्ति, इति कस्य नाम युगपद्भावः, अत एवास्याः क्रमाक्रमाभ्यामपि न योगः, तदाहक्रमाभावादित्यादि, ननु इहावश्य क्रमाक्रमाभ्यां पदार्थादां योगः संभवेदिति कथमुक्तं 'संवित्तत्त्वं तदतीतम्' ? इत्याह–सुनिर्मलमिति, अनिर्मल एव हि शून्यादिर्मायाप्रमाता जन्मादिक्रियावभासभेदादवस्थाभेदासक्रमेण कालावच्छेदवान् स्वात्मानं पूर्वावस्थाविनाशावभासापेक्षया अतीतोचितेनावभासेन पश्यम् तदतीतत्वानुरोधेन वर्तमानतयावभासयति, वर्तमानावभासापेक्षया च परिणामावभासादिरूपं भविष्यदवस्थान्तरं व्यवस्थापयति, स्वसत्ताकालभाविनं च नीलाद्यर्थविशेषं स्वापेक्षया युगपद्भावेनाभिमन्यते, इति तस्यैव क्रमयौगपद्यावभासः, यदुक्तम्

'सर्वत्राभासभेदो हि भवेत्कालक्रमाकरः ।
विच्छिन्नभासः शून्यादेर्मातुर्भातस्य नो सकृत् ॥'

इति ॥ १७८ ॥ १७९ ॥

ननु यद्येवं तदस्याः परस्याः संविदः कथं नामावाहनविसर्जनाद्यात्मकत्वात् क्रमानुप्राणिता पूजा भवेत् ? इत्याशङ्क्याह

तदस्याः संविदो देव्या यत्र क्वापि प्रवर्तनम् ॥१८०॥
तत्र तादात्म्ययोगेन पूजा पूर्णैव वर्तते ।

यत्र क्वचन संविदवष्टम्भेनावस्थानं नाम मुख्या पूजा, न पुनरावाहनादिरूपेति तात्पर्यार्थः, यथोक्तम्

'यस्मिन्यस्मिंश्चक्रवरे तत्स्पर्शाह्लादनिर्वृतिः ।
'तदवष्टम्भयोगो यः स हि पूजाविधिः स्मृतः ॥'

इति ॥ १८० ॥

ननु 'अमन्त्रका तावत्पूजा न स्यात्' इति सर्वत्रैवोक्तं, मन्त्राश्च यदि संविदोऽतिरिक्ताः तत् 'संविदैकात्म्येनावस्थानं पूजा' इत्युक्तं हीयेत, अनतिरेके च तेषां पृथगुपदेश एव न कार्यः ? इत्याशङ्कागर्भीकारेण प्राप्तावसरं संविच्चक्रोदयानुस्यूतत्वेन अनुजीद्देशोद्दिष्टं मन्त्रवीर्यं प्रकाशयितुमाह

परामर्शस्वभावत्वादेतस्या यः स्वयं ध्वनिः ॥१८१॥
सदोदितः स एवोक्तः परमं हृदयं महत् ।

यः खलु परावाग्रूपः स्वरसोदितो ध्वनिः--अहंपरामर्शात्मा नादः

'नास्योच्चारयिता कश्चित्प्रतिहन्ता न विद्यते ।
स्वयमुच्चरते देवः प्राणिनामुरसि स्थितः ॥'

इत्याद्युक्त्या, स्वयम्--अनन्यापेक्षत्वेन, अत एव सदा--नित्याविरतेन रूपेण, उदितः--उच्चरन्नास्ते, स एवैतस्याः परस्याः संविदः, परमं--सारभूतं, महत्--सर्वत्र सर्वदा चाव्यभिचरितस्वरूपत्वाद्व्यापकं, हृदयं--तथ्यं रूपं, सर्वशास्त्रेपूक्तं, यस्मादैश्वर्यात्मा अहंपरामर्श एवास्याः स्वभावो, यन्माहात्म्याद्विश्वात्मना इयं परिस्फुरेत्, यदाहुः

'चितिः प्रत्यवमर्शात्मा परावाक् स्वरसोदिता ।
स्वातन्त्र्यमेतन्मुख्यं तदैश्वर्यं परमात्मनः ॥
सा स्फुरत्ता महासत्ता देशकालाविशेषिणी ।
सैषा सारतया प्रोक्ता हृदयं परमेष्ठिनः ॥'

इति ॥ १८१ ॥

न केवलमयमहंपरामर्शः शास्त्रे हृदयतयैव उक्तो, यावत् स्पन्दादिरूपतयापि, इत्याह

हृदये स्वविमर्शोऽसौ द्रावितशेषविश्वकः ॥१८२॥
भावग्रहादिपर्यन्तभावी सामान्यसंज्ञकः ।
स्पन्दः स कथ्यते शास्त्रे स्वात्मन्युच्छलनात्मकः ॥१८३॥

हृदये

'हृदयं बोधपर्यायः........................ ।'

इत्युक्त्या बोधे--स्वात्मभूते योऽसौ विमर्शः, स द्रावितं--बहीरूपतया प्रसारितम्, अथ च गालितम्--अन्तःशान्तीकृतमशेषं विश्वं येनासौ, अत एव भावग्रहस्य--विश्वात्मतास्वीकारस्यादौ -निर्मितावसरे, पर्यन्ते--संजिहीर्षासमये च भवनशीलः, अत एव स्वात्मविकाससंकोचमयतयोच्छलत्तारूपः, अत एव विशेषरूपतया अनुल्लासात् प्रशमाच्च सामान्यशब्दवाच्यः स्पन्दशास्त्रादौ 'स्पन्दः' कथ्यते--किंचिच्चलनात्मकोच्छलत्तारूपानुगमात् स्पन्दशब्दाभिधेयतयोच्यते इत्यर्थः ॥१८२॥१८३॥

ननु यद्येव तद्बोधस्य किंचिच्चलनेन स्वस्वरूपप्रच्यावान्नित्यताहानिः स्यात् ? इत्याशङ्क्याह

किंचिच्चलनमेतावदनन्यस्फुरणं हि यत् ।
ऊर्मिरेषा विबोधाब्धेर्न संविदनया विना ॥१८४॥

किंचिच्चलनं हि नामैतदुच्यते--यद्बोधस्यानन्यापेक्षं स्फुरणं प्रकाशनं, परतोऽस्य न प्रकाशः अपि तु स्वप्रकाश एवेत्यर्थः, इदमेव हि नामास्य जडेभ्यो वैलक्षण्यं--यत् स्वयमेव तथा तथा प्रकाशते इति, एवमयमहंपरामर्शः स्पन्दशास्त्रादौ यथा स्पन्दत्वेनोक्तः तथैव श्रीमदूर्मिकौलावूर्मित्वेनापि इत्युक्तम् 'ऊर्मिरेषा विबोधाब्धेः' इति । ननु सर्वेषु शास्त्रेषु अत्रैव कस्मादूरः ? इत्याशङ्क्याह 'न संविदनया' विना इति, इदमेव हि संविदः संवित्त्वं, यत् -सर्वमामृशतीति, अन्यथा हि अस्यास्तत्तदर्थोपरागेऽपिस्फटिकादिभ्यो वैलक्षण्यं न स्यात्, यदुक्तम्

'स्वभावमवभासस्य विमर्शं विदुरन्यथा ।
प्रकाशोऽर्थोपरक्तोऽपि स्फटिकादिजडोपमः ॥'

इति एवं संविदः शुद्धत्वेपि तत्तदर्थोपरक्ततया परिस्फुरणं नाम मुख्यं रूपमित्युक्तं स्यात् ॥ १८४ ॥

ननु कथमेतद्युज्यते ? इत्याशङ्क्य दृष्टान्तयति

निस्तरङ्गतरङ्गादिवृत्तिरेव हि सिन्धुता ।

एतदेवोपसंहरति

सारमेतत्समस्तस्य यच्चित्सारं जडं जगत् ॥१८५॥
तदधीनप्रतिष्ठत्वात्तत्सारं हृदयं महत् ।

एतद्विमर्शलक्षणं वस्तु, समस्तस्य--चेतनाचेतनात्मनो विश्वस्य, सारं—जीवस्थानीयं, यतः

'संविन्निष्ठा हि विषयव्यवस्थितयः ।'

इत्यादिनीत्या रूपाद्यात्मनो जडस्य जगतस्तावत् संवेद्यत्वान्यथानुपपत्त्या संविदेव प्रतिष्ठास्थानमित्यविवादः तस्याश्च चितः समनन्तरोक्तस्वरूपं हृदयमेव स्वात्मचमत्कृतिनिबन्धनत्वात् महत्सारं, यतः तदधीनशेव अस्याः स्वात्मनि प्रतिष्ठानम्, अन्यथा हि जाड्यमेवापतेत्, इत्युक्तं बहुशः ॥१८५॥

एतदेव प्रमेयान्तरगर्भीकारेणापि उपपादयति

तथा हि सदिदं ब्रह्ममूलं मायाण्डसंज्ञितम् ॥१८६॥
इच्छाज्ञानक्रियारोहं विना नैव सदुच्यते ।
तच्छक्तित्रितयारोहाद्भैरवीये चिदात्मनि ॥१८७॥
विसृज्यते हि तत्तस्माद्बहिर्वाथ विसृज्यते ।

इदं हि ब्रह्ममूलं ब्रह्माण्डारम्भकम् अर्थाद्गर्भीकृतप्रकृत्यण्डेन मायाण्डेन प्राप्तसंज्ञं मायीयं विश्वं प्रतिभासमानत्वात् सत् विद्यमानमपि

'प्रतिभातोऽप्यर्थः परामर्शमन्तरेण
अप्रतिभात एव प्रमातर्यविश्रान्तेः ॥'

इत्याद्युक्तयुक्त्या जिज्ञासादिक्रमेण स्वातन्त्र्यात्मनो विमर्शशक्तेः पल्लवप्रायास्विच्छाज्ञानक्रियासु यावन्नारूढं तावत् तथात्वदार्ढ्याभावान्नैव सदुच्यते, इदमेतदिति व्यवहरणीयतां नैतीत्यर्थः । यतस्तद्विश्वमिच्छादिशक्ति-

यात्मनि विमर्शे लब्धप्ररोहं सत् परप्रमात्रात्मनि भैरवीये रूपे विसृज्यते तत्र विश्रान्ति यायात्,--इति संहारक्रमः अथवा सृष्टिक्रमेण—तस्माद्भैरवीयाद्रूपात् तद्विश्वं बहिर्विसृज्यते शक्तित्रयसोपानावरोहक्रमेण कलादिक्षितिपर्यन्तेन स्थूलेन रूपेणावभास्यत् इत्यर्थः। अनेन संवित्क्रमानतिवर्तितामभिद्योतयितुं श्रीपराबीजस्यापि उभयथा व्याप्तिगर्भीकारेणोदय उक्तः। तथाहि--'ब्रह्ममूलं सत्' इत्यनेन सकारस्योद्धारः, यदाशयेनागमे

'तृतीयं ब्रह्म सुश्रोणि············।' (परात्री० १० श्लो०)

इत्याद्युक्तम्। तस्यैव च 'मायाण्डसंज्ञितम्' इत्यनेन व्याप्तेः प्रदर्शनम्। स च स्वरं विनोच्चारयितुं न शक्यः, इति

'अस्मिंश्चतुर्दशे धाम्नि स्फुटीभूतत्रिशक्तिके।'

इत्याद्युक्तेः इच्छादिनौकारस्योद्धारः, तस्य चेच्छादीनां शक्तित्वात्तदण्डव्याप्तेरपि प्रदर्शनम्। 'विसृज्यते' इत्यनेन विसर्गस्योद्धारः, तस्यैव च 'भैरवीये चिदात्मनि' इत्यनेन व्याप्तिः यदुक्तम्

'सार्णेनाण्डत्रयं व्याप्तं त्रिशूलेन चतुर्थकम्।
सर्वातीतं विसर्गेण पराया व्याप्तिरिष्यते॥'

इति॥ १८७॥

एतदेवोपसंहरति

एवं सद्रूपतैवैषां सतां शक्तित्रयात्मताम्॥१८८॥
विसर्गं परबोधेन समाक्षिप्यैव वर्तते।

एवं यथोक्तयुक्त्या, एषां ब्रह्माण्डादीनां सतां विश्वरूपतया प्रतिभासमानानामेव, सद्रूपता परबोधेन सह शक्तित्रयात्मतां विसर्गं च समाक्षिप्यैव वर्तते विसर्गोपारोहक्रमेण परप्रमात्रैकात्म्येन प्रस्फुरतीत्यर्थः। अनेन च सकारस्यैव औकारविसर्गक्रोडीकारेणाभिधानात् प्राधान्येनोक्तेः श्रीपराबीजस्य संहारक्रमेणोदयेऽपि सृष्टिप्राधान्यं दर्शितम्। यद्वक्ष्यति

'·· ···· ··········प्राच्यं सृष्टौ च हृन्मतम्।'

इति॥१८८॥

एवं संवित्क्रमेण श्रीपराबीजस्योदयमभिधाय एतत्समानस्कन्धताभिधित्सया श्रीपिण्डनाथस्यापि उदयमभिधत्ते

तत्सदेव बहीरूपं प्राग्बोधाग्निविलापितम् ।।१८९।।
अन्तर्नदत्परामर्शशेषीभूतं ततोऽप्यलम् ।
स्वात्मत्वमेव संप्राप्तं शक्तित्रितयगोचरात् ।।१९०।।
वेदनात्मकतामेत्य संहारात्मनि लीयते ।

तत् विश्वं प्राग्बहीरूपतया प्रतिभासमानत्वेन सत् विद्यमानमेव, प्रतिभासमानत्वेन सत् विद्यमानमेव, प्रतिभासमानत्वान्यथानुपपत्त्या बोधः प्रमाणात्मा संकुचितः प्रतिभासः, स एवाग्निः, तेन विलापितं बहीरूपतया भस्मसात्कारेण स्वात्ममात्रपरमार्थतामापादितं सत्, अन्तः प्रमात्रैकात्म्येन नदन् इदन्तापरामर्शतिरस्कारेणोल्लसन् योऽसावहंपरामर्शः, तच्छेषीभूतं स्वस्वरूपपरिग्रहारेण तदेकात्मतामापन्नमपि, अनन्तरमलं मानमेयाद्यात्मभेदसंस्कारस्यापि शून्यतापादनेन अत्यर्थं, स्वात्मत्वमेव संप्राप्तं परप्रमातात्मप्रकाशमात्ररूपतया प्रस्फुरितं सत्, क्रमाक्रमं क्रियादिशक्तित्रयसोपानारोहेण वेदनात्मकतां विदिक्रियाकर्तृत्वात्मकस्वातन्त्र्यशक्तिरूपतामासाद्य, संहारात्मनि

'सर्वसंहारसंहारसंहारमपि संहरेत् ।
सा शक्तिर्देवदेवस्याभिन्नरूपा शिवात्मिका ।।'

इत्याद्युक्तस्वरूपे श्रीकालसंकर्षिणीधाम्नि लीयते तदैकात्म्येन प्रस्फुरतीत्यर्थः। अत्र च संवित्क्रमेणैव श्रीपिण्डनाथस्य व्याप्तिः,—इति तदनुसारेणैव तस्योद्धारः कृतः। तथा च—विश्वेन्धनदाहकत्वात् 'बोधाग्निना' इत्यनेन अग्निबीजस्य प्रमाणात्मनः संकुचितस्यापि बोधस्य मायाप्रमातरि लयः इति, 'नाद' त्यादिना संहारकुण्डलिन्यात्मकस्यं तद्रूपलिपेः कूटवर्णस्य परप्रमातरि च मायाप्रमातृत्वस्याप्यभावः इति, 'स्वात्मत्वम्' इत्यादिना व्योमात्मनः खवर्णस्य परस्यापि प्रमातुरिच्छाद्याः शक्तयः सतत्त्वम् इति, 'शक्तित्रितय' इत्यनेन तदात्मनो योनिबीजस्येच्छादीनां च शक्तीनां स्वातन्त्र्यशक्तौ पिण्डीभावः इति, 'वेदनात्मकताम्' इत्यनेन बिन्दोश्चोद्धारः। एवं च रेफादिबिन्द्वन्तवर्णपञ्चकरूपतया श्रीपञ्चपिण्डनाथोऽयम्—इत्यागमज्ञाः। अन्यत्र पुनरस्य

'शिवनभसि विगलिताक्षः कौण्डिल्युन्मेषविकसितानन्दः।
प्रज्वलितसकलरन्ध्रः कामिन्या हृदयकुहरमधिरूढः ।।

योगी शून्य इवास्ते तस्य स्वयमेव योगिनीहृदयम् ।
हृदयनभोमण्डलगं समुच्चरत्यनलकोटिशतदीप्तम् ॥'

इत्यादिना भङ्ग्यन्तरेणोदय उक्तः ॥ १९० ॥

एतदेवोपसंहरति

इदं संहारहृदयं प्राच्यं सृष्टौ च हृन्मतम् ॥१९१॥

इदमित्यनेन श्रीपिण्डनाथपरामर्शः । अस्य च श्रीपराबीजवत् सृष्टिक्रमेण संभवत्यपि उदये रेफादीनां वर्णानां भेदसंहारकत्वात् तत्प्राधान्येन निर्देशः 'संहारहृदयम्' इति । अत एव श्रीस्तोत्रभट्टारकेऽपि

'कालानलाद्व्योमकलावसानं चिन्त्य जगद्ग्रासकलालयेन ।
चक्रं महासहृतिरूपमुग्रं गतं चिदाकाशपदस्थमित्थम् ॥'

इत्यादिना संहारक्रमेणैव अस्योदय उक्तः । प्राच्यमिति प्रागुपात्तं जीवपराबीजम् । अस्य च संहारक्रमेणोदयेऽपि

'तत एव सकारेऽस्मिन् स्फुटं विश्वं प्रकाशते ।
अमृतं च परं धाम योगिनस्तत्प्रचक्षते ॥'

इत्यादिपूर्वोक्तयुक्त्या विश्वाप्यायकारितया सृष्ट्यात्मनोऽमृतबीजस्य प्राधान्यात् तथानिर्देशः 'सृष्टौ हृत्' इति ॥ १९१ ॥

एतदेवान्यत्रापि अतिदिशति

एतद्रूपपरामर्शमकृत्रिममनाविलम् ।
अहमित्याहुरेषैव प्रकाशस्य प्रकाशता ॥१९२॥
एतद्वीर्यं हि सर्वेषां मन्त्राणां हृदयात्मकम् ।
विनानेन जडास्ते स्युर्जीवा इव विना हृदा ॥१९३॥

एतद्रूपः—श्रीपराबीजादिविषयतया सृष्ट्यादिक्रमेणोदयमानः समनन्तरोक्तस्वभावो यः परामर्शस्तं स्वरसोदितत्वादकृत्रिमम्, अत एवेदन्तापरामर्शप्रतिपक्षभावात्मककालुष्याकलङ्कितत्वात् अनाविलम् 'अहमित्याहुः'—अहंपरामर्शात्मत्वेन कथयन्तीत्यर्थः अहंपरामर्शोऽपि हि—अनुत्तराद्धान्तं सृष्टिक्रमेण ततोऽपि अनुत्तरान्तं संहारक्रमेणोदेतीति भावः, यदुक्तं प्राक्

'अनुत्तराद्या प्रसृतिर्हान्ता विश्वस्वरूपिणी ।
प्रत्याहृताशेषविश्वानुत्तरे सा विलीयते ॥'

इति, एवं चास्य 'श्रीपराबीजपिण्डनाथाभ्यां समानकक्ष्यत्वम्' इत्युक्तं स्यात्, परस्याः हि संविदोऽनन्तविश्ववैचित्र्यलयोदयरूपतया परिस्फुरणं नाम परामर्शः, स चैषामविशिष्टः, इति किं नाम भिन्नकक्ष्यत्वे निमित्त स्यात्, ननु परा संवित् तत्तद्रूपतया किमिनि परिस्फुरति ? इत्याशङ्क्योक्तम् 'एषैव प्रकाशस्य प्रकाशता' इति, अन्यथा हि अस्य परस्य प्रकाशस्य जडाद्घटादेर्वैलक्षण्यं न स्यात्, यदुक्तं प्राक्

'अस्थास्यदेकरूपेण वपुषा चेन्महेश्वरः ।
महेश्वरत्वं संवित्त्वं तदत्यक्ष्यद्घटादिवत् ॥'

इति ननु मन्त्राणां वीर्यमभिधातुमुपक्रान्तं तत् किमिति अकाण्ड एव परस्याः संविदः स्वरूपमुक्तम् ? इत्याशङ्क्याह 'एतदित्यादि' एतदिति-- अहंपरामर्शानुस्यूतं संवित्तत्त्व, सर्वेषामिति--न केवलं श्रीपराबीजपिण्डनाथयोरेवेति भावः, अनेनेति--अहंपरामर्शात्मना वीर्येण, जडा इति-- स्फुरत्ताशून्यत्वादप्रयोजका इत्यर्थः, यदुक्तम्

'आदिमान्त्यविहीनास्तु मन्त्राः स्युः शरदभ्रवत् ।'

इति ॥ १९२ ॥ १९३ ॥

न केवलमनेन वीर्येण मन्त्रा एव वीर्यवन्तो, यावत्तदितरदपीत्याह

अकृत्रिमैतद्धृदयारूढो यत्किंचिदाचरेत् ।
प्राण्याद्वा मृशते वापि स सर्वोऽस्य जपो मतः ॥१९४॥

अकृतकाहंपरामर्शविश्रान्तो हि योगी तदनुवेधेन यत्किंचिद्बाह्यव्यवहारयोग्यं व्याहरेत् सोऽस्य सर्वो जपः--सर्वमेवास्य त्वात्मदेवताविमर्शनिवरतावर्तनात्मत्वेन मन्त्ररूपतया परिस्फुरेदित्यर्थः, यदुक्तम्

'श्लोकगाथादि यत्किंचिदादिमान्त्ययुतं यतः ।
तस्माद्विदंस्तथा सर्वं मन्त्रत्वेनैव पश्यति ॥'

इति, अत एव 'कथा जपः' (शिवसू० ३-२७) इत्याद्यन्यत्रोक्तम्, यदभिप्रायेणैव इतो बाह्यैरपि

'यो जल्पः स जपः.................. ।'

इत्याद्युक्तम्, अनेन च मन्त्रवीर्यानन्तर्येणानुजोद्देशोद्दिष्टं वास्तवं जपाद्युपक्रान्तम् ।। १९४ ।।

तत्र जपस्य वास्तवं स्वरूपं तावदुक्तम्, इदानीमादिशब्देन स्वीकृतं वास्तवध्यानाद्यभिधातुमाह

यदेव स्वेच्छया सृष्टिस्वाभाव्याद्बहिरन्तरा ।
निर्मीयते तदेवास्य ध्यानं स्यात्पारमार्थिकम् ।।१९५।।

एवं-विधः खलु योगी सृष्ट्यादिपञ्चविधकृत्यकारित्वलक्षणात् स्वभावाद्धेतोः, यदेव स्वेच्छया बहिरन्तर्वा नीलसुखादि अवभासयति, तदेव नामास्य संविन्मात्ररूपत्वात् पारमार्थिकं ध्यानं, न तु नियतं दशभुजादि अन्यत्किंचिदित्यर्थः ।। १९५ ।।

ननु यद्येवं तद्दशभुजादि नियताकारं ध्यानादि किमिति उक्तम् ? इत्याशङ्क्याह

निराकारे हि चिद्धाम्नि विश्वाकृतिमये सति ।
फलार्थिनां काचिदेव ध्येयत्वेनाकृतिः स्थिता ।।१९६।।

निराकार इति--नियताकाररहिते, इत्यर्थः ।।१९६।।

ननु विश्वाकृति चेच्चिद्धाम, तत् कथम् अस्याकारान्तराभासपरिहारेण नियताकारतयाभासः स्यात् ? इत्याशङ्क्याह

यथा ह्यभेदात्पूर्णेऽपि भावे जलमुपाहरन् ।
अन्याकृत्यपहानेन घटमर्थयते रसात् ।।१९७।।
तथैव परमेशाननियतिप्रविजृम्भणात् ।
काचिदेवाकृतिः कांचित् सूते फलविकल्पनाम् ।।१९८।।

यथाहि--अभेदात्--परस्पराविभागेनावभासात्, मृत्त्वकाञ्चनत्वघटत्वादिभिराभासैः, पूर्णे, अनेकाभाससंभिन्ने घटादौ भावे, जलमुपाहरन्--उदकाहरणात्मनियतार्थक्रियार्थी प्रमाता, काञ्चनत्वाद्याकारान्तराभासमपहाय अर्थितातारतम्यात्मकाद्रसात्, तत्तदर्थक्रियाक्षमं घटमर्थयते--तत्त्वेनास्य अवभासो जायते इत्यर्थः, तथैव विश्वाकृतित्वेऽपि चिद्धाम्नः पारमेश्वरनियति-

शक्तिमाहात्म्यादाकृत्यन्तरपरिहारेण काचिदेवाकृतिः--अर्थात् कस्यचित् एव कांचिदेव फलविकल्पनां सूते, इति युक्तमुक्तं 'फलार्थिनां काचिदेवाकृतिः ध्येयत्वेन स्थिति' इति ॥ १९७ ॥ १९८ ॥

यस्तु न नियतार्थक्रियार्थी तस्यानवच्छिन्नमेव रूपमवभासते, इत्याह

यस्तु संपूर्णहृदयो न फलं नाम वाञ्छति ।
तस्य विश्वाकृतिर्देवी सा चावच्छेदवर्जनात् ॥१९९॥

तेन बुभुक्षोर्नियताकारं ध्यानं, मुमुक्षोस्तु अनियताकारमिति विषय-विभागः, यद्वक्ष्यति

'साधकानां बुभुक्षूणां विधिर्नियतियन्त्रितः ।
मुमुक्षूणां तत्त्वविदां स एव तु निरर्गलः ॥'

इति ॥ १९९ ॥

एव ध्यानस्य वास्तवं स्वरूपमभिधाय, मुद्राया अप्यभिधत्ते

कुले योगिन उद्रिक्तभैरवीयपरासवात् ।
घूर्णितस्य स्थितिर्देहे मुद्रा या काचिदेव सा ॥२००॥

कुले – शरीरे सत्यपि, प्राप्तपरमेश्वरैकात्म्यस्य योगिनः, अत एव तत्रैव दार्ढ्याद्विस्मृतदेहभावस्य, या काचन--उत्थितत्वादिरूपा, देहे स्थितिः, सैव चिच्छक्तिप्रतिकृतिरूपा वास्तवी मुद्रा, न तु नियतकरादिनिर्वर्त्यसंनिवेशा-दिरूपा इत्यर्थः, यदुक्तम्

'नादो मन्त्रः स्थितिर्मुद्रा.................. ।'

इति, यदभिप्रायेणैवेतो बाह्यैरपि

'....... .... मुद्रा या काचिदास्थितिः ।'

इत्याद्युक्तम् ॥ २०० ॥

इदानीं होममपि वास्तवेन रूपेणाभिधातुमाह

अन्तरिन्धनसंभारमनपेक्ष्यैव नित्यशः ।
जाज्वलीत्यखिलाक्षौघप्रसृतोग्रशिखः शिखी ॥२०१॥
बोधाग्नौ तादृशे भावा विशन्तस्तस्य सन्महः ।
उद्रेचयन्तो गच्छन्ति होमकर्मनिमित्तताम् ॥२०२॥

यदुक्तम्

'सप्तेन्द्रियशिखाजालजटिले जातवेदसि ।
बोधाख्ये भाववर्गस्य भस्मीभावोऽग्नितर्पणम् ॥'

इति । यदभिप्रायेणैव अस्मद्गुरुभिरपि

'शश्वद्विश्वमनश्वरप्रकृतयो विश्वस्तचित्ता भृशं
ये विज्ञानतनूनपाति विततोन्मेषा वषट्कुर्वते ।
तेषां संततसर्वमेययजनक्रीडामहायज्वनां
नो मन्येऽवभृथक्षणः क्षणमपि क्षीणस्थितिर्लक्ष्यते ॥'

इत्याद्युक्तम् ॥ २०२ ॥

न केवलमेतत् परस्वरूपावेशकारित्वादात्मन्येवोपयोगि, यावत्परत्रापि, इत्याह

यं कंचित्परमेशानशक्तिपातपवित्रितम् ।
पुरोभाव्य स्वयं तिष्ठेदुक्तवद्दीक्षितस्तु सः ॥२०३॥

यं कंचित्

'न मे प्रियश्चतुर्वेदो मद्भक्तः श्वपचोऽपि वा ।
तस्मै देयं ततो ग्राह्यं स च पूज्यो यथा ह्यहम् ॥'

इत्याद्युक्तेरनियतं पारमेश्वरेणैव शक्तिपातेन पवित्रीकृतम्, अनुग्राह्यतया अग्रे भावयित्वा उक्तवत्-यथोक्तवास्तवजप्यादिनिष्ठतया, स्वयंस्वस्वरूप एव तिष्ठेत्, येनासौ दीक्षमः—

'.............................भुजङ्गवद्गरलसंक्रामः ।'

इत्याद्युक्त्या तत्स्वरूपसंक्रमात्

'.............................दीपाद्दीपमिवोदितम् ।'

इतिन्यायेन दीक्षितः,—पशुवासनाक्षैण्येन लब्धपरतत्त्वाधिगमो भवेदित्यर्थः ॥ २०३ ॥

नन्वेकैकस्मादेव वास्तवाज्जप्यादेः स्वरूप विश्रान्तिः सिद्ध्येत् इति किं जप्यादिभिर्बहुभिरेवमुपदिष्टैः ? इत्याशङ्क्याह

जप्यादौ होमपर्यन्ते यद्यप्येकैककर्मणि ।

उदेति रूढिः परमा तथापीत्थं निरूपितम् ॥२०४॥

इत्थमिति—जप्यादीनां बहुधात्वेन ॥२०४॥

ननु जप्यादीनां बहूनां कस्मान्निरूपणं कृतम्, इति प्रश्निते तदेवोत्तरीकृतम्, इति किमेतत् ? इत्याशङ्क्याह

यथाहि तत्र तत्राश्वः समनिम्नोन्नतादिषु ।
चित्रे देशे वाह्यमानो यातीच्छामात्रकल्पिताम् ॥२०५॥
तथा संविद्विचित्राभिः शान्तघोरतरादिभिः ।
भङ्गीभिरभितो द्वैतं त्याजिता भैरवायते ॥२०६॥

यथाहि तत्र तत्र समनिम्नोन्नतादिषु भूभागेषु वाहकेल्यात्मनि कर्कशपांसुलादौ चित्रे देशे कटकमण्डलादिना वाह्यमानोऽश्वो वाहकस्येच्छामात्रकल्पिताम्--इच्छामात्रविधेयतां याति, तथा सविदपि शान्तघोरतरात्मभिः--अघोरघोरतरात्मकपरादिशक्तित्रयैकात्म्येन निरूप्यमाणाभिः अत एव विचित्राभिर्जगदादिभिर्भङ्गीभिरभितः समन्ततः, तत्--द्वैतं त्याजिता, भैरवायते--भेदापहस्तनपूर्वमनुत्तरपरसंविद्रूपतया परिस्फुरतीत्यर्थः ॥२०५॥२०६॥

एतदेव हृदयङ्गमीकर्तुं दृष्टान्तान्तरप्रदर्शनेनाप्युपपादयितुमाह

यथा पुरःस्थे मुकुरे निजं वक्त्रं विभावयन् ।
भूयो भूयस्तदेकात्म वक्त्रं वेत्ति निजात्मनः ॥२०७॥
तथा विकल्पमुकुरे ध्यानपूजार्चनात्मनि ।
आत्मानं भैरवं पश्यन्नचिरात्तन्मयीभवेत् ॥२०८॥

यथाहि कश्चिन्निजं वक्त्रं पुरोवर्तिनि मुकुरे, भूयो भूयो विभावयन्--यत्नेन निरीक्षमाणो, निजात्मनः संबन्धि बिम्बभूतं तद्वक्त्रं तदेकात्म वेत्ति—मामकमेवेदं वक्त्रमिति निश्चयोत्पादात् प्रतिबिम्बाभेदेनैव मन्यते, तथैव पूजाद्यात्मन्यनेकस्मिन् विकल्पमुकुरे बहुशः स्वात्मानं भैरवतया पश्यन्, अचिरणैव कालेन तन्मयीभवेत्--तदैकात्म्यं प्राप्नुयादित्यर्थः ॥२०७॥२०८॥

तन्मयीभावो नाम किंस्वरूपः ? इत्याह

तन्मयीभवनं नाम प्राप्तिः सानुत्तरात्मनि ।

अनुत्तरात्मनि प्राप्त्यापि किं भवेत् ? इत्याशङ्क्याह

पूर्णत्वस्य परा काष्ठा सेत्यत्र न फलान्तरम् ।।२०९।।

सा--अनुत्तरात्मनि प्राप्तिः, सर्वतो नैराकङ्क्ष्यात् 'पूर्णत्वस्य परा काष्ठा' इति, नात्र अन्यत् किंचिन् फलं संभवेत्, नहि अत्र साकाङ्क्षत्वस्य नामाप्यवशिष्यते येन--फलान्तरमपि मृग्यं भवेदिति भावः, साकाङ्क्षो हि प्रमाता तत्फलमर्थयमानः प्रथमं तावत्साधनमन्विष्यति, यथोदकाहरणार्थी घटं तत्साधनं च प्राप्य तत्तत्फलमासादयेत्, इति नैराकाङ्क्ष्यस्योत्पादात् औदासीन्यमवलम्बमानः स्वात्मन्येव तिष्ठेत्, किं तु न तत् पूर्णं नैराकाङ्क्ष्यं--क्षणान्तरेणाकाङ्क्षान्तरस्यापि उल्लासात्, अत एव न तत् पारमार्थिकं साकाङ्क्षत्वेऽपि तस्य तथाकल्पनात्, अतश्च तत्रोत्पन्नेऽपि फले फलान्तरं संभाव्यम्—आकाङ्क्षान्तरस्यापि भावात, यत्पुनः पारमार्थिकं पूर्णत्वं, तत्र न फलान्तरं संभवेत्--सर्वत एव साकाङ्क्षत्वस्य संक्षयात् ।।२०९।।

तदाह

फलं सर्वमपूर्णत्वे तत्र तत्र प्रकल्पितम् ।
अकल्पिते हि पूर्णत्वे फलमन्यत्किमुच्यताम् ।।२१०।।

पूर्णत्व इति—पूर्णत्वनिमित्तम्, तत्रेति--सर्वस्मिन् फले ।। २११ ।।

एतदेव सप्रशंसमुपसंहरति

एष यागविधिः कोऽपि कस्यापि हृदि वर्तते ।
यस्य प्रसीदेच्चिच्चक्रं द्रागपश्चिमजन्मनः ।।२११।।

नन्वेवंविधस्य यागविधेरधिगममात्रादेव किं नामानन्यसामान्यत्वमस्य भवेत् यदेवमुक्तम् ? इत्याशङ्क्याह

अत्र यागे गतो रूढिं कैवल्यमधिगच्छति ।
लोकैरालोक्यमानो हि देहबन्धविधौ स्थितः ।।२१२।।

अत्र—एवं विधे यागे, लब्धप्ररोहः कश्चिदपश्चिमजन्मा देहबन्धविधौ स्थितोऽपि--जीवन्नपि, लोकैः--बद्धात्मभिरन्यैः

'ग्राह्यग्राहकभावो हि सामान्यः सर्वदेहिनाम् ।'

इत्याद्युक्त्या समानकक्ष्यतयैव व्यवहरन्नालोक्यमानः, कैवल्यमधिगच्छति—ग्राह्यग्राहकभावाद्यात्मकभेदापहस्तनेन प्रत्यभिज्ञातशिवस्वभावस्वात्ममात्ररूपतया प्रस्फुरतीत्यर्थः, अयमेव हि समानेऽपि व्यवहारे बद्धमुक्तयोर्विशेषो—यन्मुक्तस्य स्वाङ्गरूपतया भावा अवभासन्ते, बद्धस्य तु स्वरूपतः परस्परतश्चात्यन्तं भेदेनेति, यदुक्तम्

'मेयं साधारणं मुक्तः स्वात्माभेदेन मन्यते ।
महेश्वरो यथा बद्धः पुनरत्यन्तभेदवत् ॥'

इति ॥ २१२ ॥

अत एव जीवन्मुक्तविषयतया भगवानपि एवमभ्यधात्, इत्याह

अत्र नाथः समाचारं पटलेऽष्टादशेऽभ्यधात् ।

अष्टादशे पटले—प्रकृतत्वात् श्रीमालिनीविजयसत्के ॥

अत्रत्यमेव ग्रन्थं पठति

नात्र शुद्धिर्न चाशुद्धिर्न भक्ष्यादिविचारणम् ॥२१३॥
न द्वैतं नापि चाद्वैतं लिङ्गपूजादिकं न च ।
न चापि तत्परित्यागो निष्परिग्रहतापि वा ॥२१४॥
सपरिग्रहता वापि जटाभस्मादिसंग्रहः ।
तत्त्यागो न व्रतादीनां चरणाचरणं च यत् ॥२१५॥
क्षेत्रादिसंप्रवेशश्च समयादिप्रपालनम् ।
परस्वरूपलिङ्गादि नामगोत्रादिकं च यत् ॥२१६॥
नास्मिन्विधीयते किंचिन्न चापि प्रतिषिध्यते ।
विहितं सर्वमेवात्र प्रतिषिद्धमथापि च ॥२१७॥
किं त्वेतदत्र देवेशि नियमेन विधीयते ।
तत्त्वे चेतः स्थिरीकार्यं सुप्रसन्नेन योगिना ॥२१८॥
तच्च यस्य यथैव स्यात्स तथैव समाचरेत् ।
तत्त्वे निश्चलचित्तस्तु भुञ्जानो विषयानपि ॥२१९॥

न संस्पृश्येत दोषैः स पद्मपत्रमिवाम्भसा ।
विषापहारिमन्त्रादिसंनद्धो भक्षयन्नपि ।।२२०।।
विषं न मुह्यते तेन तद्वद्योगी महामतिः ।

अनेन च वास्तवजप्यादिसामनन्तर्येण अनुजोद्देशोद्दिष्टस्य विधिनिषेधतुल्यत्वस्याप्युपक्षेपः कृतः ॥ २१३-२२० ॥

एतच्च बहुक्षोदक्षमत्वेन वैषम्यात् स्वयमेव व्याचष्टे

अशुद्धं हि कथं नाम देहाद्यं पाञ्चभौतिकम् ।।२२१।।
प्रकाशतातिरिक्ते किं शुद्ध्यशुद्धी हि वस्तुनः ।

यन्नाम हि पाञ्चभौतिकं देहाद्यं

'रूपादिपञ्चवर्गोऽयं विश्वमेतावदेव हि ।'

इत्याद्युक्तयुक्त्या निखिलमेव जगदुदरवर्ति पदार्थजातं, तत् कथमिवाशुद्धम् अर्थात् शुद्धं वा, यतः--किं शुद्ध्यशुद्धी प्रकाशतातिरिक्ते बहिः सत्यपि वस्तुनि नीलानीलादिन्यायेन प्रतिभासविकारकारित्वाभावात् वस्तुधर्मतया न भवत इत्यर्थः, अतश्च यस्य यो न धर्मः स तथा न भवेदिति 'इदं शुद्धमिदमशुद्धम्' इति विभागो दुष्येत्, ननु अनुभवापह्नवोऽयं--लोके निर्बाधस्य शुद्ध्यशुद्धिव्यवहारस्य दर्शनात् ? नैतत्--नहि वयं शुद्ध्यशुद्धिव्यवहारमपह्नुमहे, किं तु 'ते वस्तुधर्मतया न भवतः' इत्युच्यते, प्रमाता हि व्यवस्यति--इदं शुद्धमिदमशुद्धमिति, वस्तुधर्मत्वे हि अनयोरशुद्धं न कदाचिदपि शुद्ध्येत् शुद्धमपि वा नाशुद्धं स्यात्, नहि नीलमनीलमपि कदाचिद्भवेत् --स्वभावस्यान्यथाकर्तुमशक्यत्वात्, तथात्वे च

'तैजसानां मणीनां च सर्वस्याश्ममयस्य च ।
भस्मनाद्भिर्मृदा चैव शुद्धिरुक्ता मनीषिभिः ।।'

इत्यादिश्रुतीनां युक्तिबाधितत्वं स्यात् ॥ २२१ ॥

एवं प्रमातृधर्मत्वेऽशुद्धं चेद्वस्त्वन्तरेण शोध्यते, तत् किं शुद्धेनाशुद्धेन वा ? इत्याह

अशुद्धस्य च भावस्य शुद्धिः स्यात्तादृशैव किम् ।।२२२।।
अन्योन्याश्रयवैयर्थ्यानवस्था इत्थमत्र हि ।

तत्राशुद्धस्य पृथिव्यादेर्भावस्य तादृशेनैवाशुद्धेन जलादिना भावान्तरेण शुद्धिः स्यात्--नैष पक्षो युज्यते इत्यर्थः अत्र हि इत्थं--वक्ष्यमाणेन प्रकारेण अन्योन्याश्रयतादिदूषणजालमापतेत् ॥ २२२ ॥

तदाह

पृथिवी जलतः शुद्ध्येज्जलं धरणितस्तथा ॥२२३॥
अन्योन्याश्रयता सेयमशुद्धत्वेऽप्ययं क्रमः ।
अशुद्धाज्जलतः शुद्ध्येद्धरेति व्यर्थता भवेत् ॥२२४॥
वायुतो वारिणो वायोस्तेजसस्तस्य वान्यतः ।

अशुद्धादेव हि जलादेरशुद्धस्य पृथिव्यादेः शुद्धावुभयोरप्यविशेषात् परस्परमपि स्यात्--इतीदमन्योन्याश्रयत्वम्, एवमशुद्धस्यापि अशुद्धेनैवाशुद्धिश्चेत् क्रियते तदुभयोरप्यविशेषात् अन्योन्याश्रयत्वम् इत्युक्तम् 'अशुद्धत्वेऽप्ययं क्रम' इति, एवं वैयर्थ्याद्यपि योज्यम्, अथाशुद्धस्य पृथिव्यादेरशुद्धादेव जलादेः शुद्धिः तत्तस्याशुद्धत्वाविशेषात् स्वयमेवास्तु, किमन्येनापि अशुद्धेन जलादिना–इति वैयर्थ्यम्, अथ पृथिवा जलाच्छुद्ध्येत्, जलमपि जलमपि वायोः, सोऽपि तेजसः, तदप्यन्यस्मादाकाशादेः, तदप्यन्यतः--इत्यनवस्थानम्, एवमशुद्धस्य पृथिव्यादेर्भावस्य अशुद्धादन्यतो जलादेः शुद्धिर्वा न घटते, इत्युक्तं स्यात् ॥२२३॥२२४॥

एवं तर्हि अन्यस्माच्छुद्धादेव शुद्धिः स्यात् इत्याह

बहुरूपादिका मन्त्राः पावनात्तेषु शुद्धता ॥२२५॥

पावनादिति—अर्थात् स्वभावतः ॥ २२५ ॥

नन्वाकाशादिभूतपञ्चकगुणभूतशब्दात्मका मन्त्रा यदि स्वभावत एव शुद्धाः, तत् किमिति स्वयमेव पृथिव्यादयोऽपि स्वभावत एव शुद्धा न स्युः ? इत्याह

मन्त्राः स्वभावतः शुद्धा यदि तेऽपि न किं तथा ।

ननु मन्त्राणां पावनत्वे शिवात्मतालक्षणं निमित्तान्तरमस्ति ? इत्याशङ्क्याह

शिवात्मता तेषु शुद्धिर्यदि तत्रापि सा न किम् ॥२२६॥

ननु यदि नाम मन्त्राणां शिवात्मता पावनत्वे निमित्तं तत् तत्रापि भूतपञ्चके सा न किं भवेत्, शिवात्मता हि प्रकाशरूपत्वमुच्यते, तेन विना च न किंचिदपि स्फुरेत्, इति प्रकाश मानत्वान्यथानुपपत्त्या अस्त्येवैषां तदात्मत्वम् ॥ २२६ ॥

अथ समानेऽपि शिवात्मत्वे मन्त्राणां मननत्राणधर्मकतया तथात्वेन परिज्ञानमस्ति, न धरादीनाम्, इति तद्वैलक्षण्येन मन्त्राणामेव शुद्धत्वमिति मतम्, इत्याह

शिवात्मत्वापरिज्ञानं न मन्त्रेषु धरादिवत् ।
ते तेन शुद्धा इति चेत्तज्ज्ञप्तिस्तर्हि शुद्धता ॥२२७॥

एवं तर्हि शिवात्मत्वेन ज्ञप्तिर्नाम शुद्धतोच्यते, इत्याह 'तज्ज्ञप्ति' इति ॥ २२७ ॥

सा च धरादिष्वपि समाना,--इत्याह

योगिनं प्रति सा चास्ति भावेष्विति विशुद्धता ।

पशुप्रायाणां हि मन्त्रेष्वपि शिवात्मत्वेन परिज्ञानं नास्ति,—इति तान् प्रति तेषां स्वकार्यकारित्वाभावात् संभावनीयमपि अशुद्धत्वम् । धरादीनां च योगिनं प्रति तत्परिज्ञानमस्ति,--इति तेषामपि विशुद्धत्वम् । एतदेव हि नाम योगिनो योगित्व, यत्--निखिलमिद विश्वं शिवात्मतया परिजानाति-इति । यथोक्तम्

'यः पुनः सर्वतत्त्वानि वेत्त्येतानि यथार्थतः ।
स गुरुर्मत्समः प्रोक्तो मन्त्रवीर्यप्रकाशकः ॥'

इति । अतश्च यथोक्तयुक्तिबलाद्भावानां स्वात्मनि शुद्ध्यशुद्धिविभागो न सिद्ध्येत्--इत्युक्तं स्यात् ॥

ननु केनोक्तं--यद्भावानां युक्तिबलेन शुद्ध्यशुद्धिविभाग--इति, स हि शास्त्रेण व्यवस्थाप्यते,--इत्याह

ननु चोदनया शुद्ध्यशुद्ध्यादिकविनिश्चयः ॥२२८॥

चोदना विधायकं वाक्यम्, यदाहुः

'चोदनेति क्रियायाः प्रवर्तकं वचनम् ।'

इति । तया यच्छुद्धतया विहितं तच्छुद्धम्, अन्यथा त्वन्यत् । यत् स्मृतिः

'ऊर्ध्वं नाभेर्यानि खानि तानि मेध्यानि सर्वशः ।
यान्यधःस्थान्यमेध्यानि देहाच्चैव मलाश्च्युताः ।।'

इति । आदिग्रहणेन भक्ष्याभक्ष्यादि ॥ २२८ ॥

ननु यदि नाम शुद्धयशुद्धिविभागे चोदनैव निमित्तं, तदस्तु को दोषः, किंतु तदविभागेऽपि एषा शिवोदिता चोदनैव निमित्तं 'नात्र शुद्धिर्न चाशुद्धिः' इति, तदाह

इत्थमस्तु तथाप्येषा चोदनैव शिवोदिता ।

नन्वेवमुभयोरपि चोदनात्वाविशेषे का नाम तावत् प्रमाणभूता भवेत्, यदाश्रयणेन शुद्धयाशुद्धयादिविनिश्चयं विधास्यामः ? इत्याशङ्क्याह

का स्यात्सतीति चेदेतदन्यत्र प्रवितानितम् ॥२२९॥

अन्यत्रेति, इह पुनर्ग्रन्थविस्तरभयान्न प्रवितानितमिति भावः । इह खलु समयोपस्कृतस्य शब्दस्यार्थविबोधमात्रे स्वातन्त्र्यम्, अर्थतथात्वेतरपरिनिश्चये पुरुषमुखप्रेक्षित्वात् पारतन्त्र्यमपरिहार्यम्; तेनाप्तोक्तत्वादेव असौ प्रमाणीभवति, अन्यथा पुनरप्रमाणमेव,—इति निश्चयः । ततश्च वैदिक्यामस्यां वा चोदनायां साक्षात्कृतनिखिलधर्मा सकलजगदुद्दिधीर्षापर एक एव परमेश्वरः प्रमाण्यनिबन्धनं, तदुपदिष्टत्वात् सर्वशास्त्राणाम् । नच वैदिक्यां चोदनायामकर्तृत्वं वक्तुं शक्यं रचनावत्त्वात्, सर्वरचनानां कर्तृपूर्वकत्वात्; अतश्चोभयोरपि चोदनयोः सत्त्वमविशिष्टम्,--इति किमाश्रयणेन तावच्छुद्धयादिविवेकं कुर्मः,--इति न जानीमः । न च अनयोः परस्परं बाध्यबाधकभावो युक्तः तुल्यबलत्वात्, एकतरत्र च दौर्बल्यनिमित्तानुपलम्भात् । ननु अस्त्येव एकतरत्र दौर्बल्यनिमित्तं यद्वेदबाह्यत्वं नाम श्रुत्यन्तराणाम्, यदाहुः

'वेदवर्त्मानुवर्ती च प्रायेण सकलो जनः ।
वेदबाह्यस्तु यः कश्चिदागमो वञ्चनैव सा ।।'

इति । अतश्च वेदकर्तृक एवागमान्तराणां बाधः--इति तदाश्रयेणैव युक्तः शुद्धयादिविभागः ॥ २२९ ॥

ननु यद्येवं तदितो बाह्यत्वाद्वैदिकीनां चोदनानामनयापि बाधः किं न

भवेत् समानन्यायत्वात्, नहि एकतरत्र बलवत् किंचित्कारणमुत्पश्यामो, येन अन्यत्र नियमेन बाधः स्यात् ? तदाह

वैदिक्या बाधितेयं चेद्विपरीतं न किं भवेत् ।

ननु यद्येवं तत्परस्परव्याहतत्वादुभयमपीदमप्रमाणम्,—इति न किंचित्सिद्ध्येत्, ? नैतत्—ईश्वरप्रणीतत्वाख्यस्य बलवतः प्रमाण्यकारणस्योभयत्रापि सद्भावात् । तर्हि सुतरामिदमप्रामाण्यकारणं—यदेकस्मिन्नपि उपदेष्टरि परस्परव्याहतत्वं नामेति, ? नैतत्—अधिकारिभेदेन तथोपदेशात् । भगवता हि शुद्ध्यादि सामान्येन सर्वपुरुषविषयतया चोदितं, विशिष्टविषयतयात्विदम्,—इति न कश्चिदनयोरप्रामाण्यपर्यवसायी दोषः; तत् उभयोरपि चोदनयोर्भिन्नविषयत्वेनावस्थिते- सत्त्वमविशिष्टमेव,—इति सिद्धम् ॥

ननु कथमनयोरविशिष्टं सत्त्व शुद्ध्यादिविधेः सर्वपुरुषविषयतया प्रवृत्तावपि क्वचिद्विषये बाधात् ? इत्याशङ्क्याह

सम्यक्चेन्मन्यसे बाधो विशिष्टविषयत्वतः ॥२३०॥

अपवादेन कर्तव्यः सामान्यविहिते विधौ ।

यदि नाम बाधावृत्तं सम्यगवबुद्ध्यसे, तन्न कस्या अपि चोदनायाः सत्त्वहानिः । तथाहि—निरवकाशत्वाद्विशेषात्मा अपवादविधिः सर्वत्र लब्धावकाशं सामान्यात्मकमुत्सर्गविधिं बाधते, इति वाक्यविदः । सर्वविषयावष्टम्भेन लब्धप्रतिष्ठोऽपि हि उत्सर्गविधिरपवादविधेर्विशिष्टं विषयं परिकल्प्य विषयान्तरे निर्बाधमभिनिविष्टो भवेत् । यदाह चूर्णिकाकारः

'प्रकल्प्यापवादविषयं तत उत्सर्गोऽभिनिविशते ।'

इति । अत एवास्य क्वचिद्बाध्यत्वेऽपि अप्रामाण्यं नाशङ्कनीयं विषयान्तरे प्रमाणरूपत्वेन प्रतिष्ठानात् । स च द्विधा बाधः समानकार्यकारित्वाद्विरोधाद्वा । तत्र

'चमसेनापः प्रणयेत् ।'

इति चमसेनापां प्रणयनं सामान्येन विहितम्

'गोदोहनेन पशुकामस्य प्रणयेत् ।'

इति पशुकामात्मविशिष्टविषयत्वेन अपवादात्मा गोदोहनविधिः अप्प्रणयनलक्षणसमानकार्यकारित्वाद्बाधते ।

'अष्टाश्रिर्यूपो भवति।'

इति सामान्येन सर्वक्रतुविषयतया विहितोऽपि अष्टाश्रिर्यूपः

'वाजपेयस्य चतुरश्रः।'

इत्यनेन अपवादविधिना विरोधाद्बाध्यते ॥ २३० ॥

ननु एवमपि प्रकृते किम्? इत्याशङ्क्याह

शुद्ध्यशुद्धी च सामान्यविहिते तत्त्वबोधिनी ॥२३१॥
पुंसि ते बाधिते एव तथा चात्रेति वर्णितम्।

वैदिक्या चोदनया सामान्येन सर्वपुरुषविषयतया विहिते अपि ते शुद्ध्यशुद्धी तत्त्वज्ञविषये अर्थाद्विरोधेन बाधिते एव, न न बाधिते भवत इत्यर्थः। अत्र हेतुः 'तथा चात्रेति वर्णितम्' इति,

'नात्र शुद्धिर्न चाशुद्धिः.................।'

इत्यपवादात्मतत्त्वज्ञविषयं विधिवाक्यमुक्तमित्यर्थः ॥ २३१ ॥

ननु नात्र विधिवाक्यत्वं वक्तुं युक्तं निर्बाधस्य शुद्ध्यशुद्धिविभागस्य लोके दर्शनात्, प्रत्यक्षादिप्रमाणान्तरविरुद्धत्वात्, तेनावश्यमनेन अर्थवादेन भाव्यं, तद्धि भूम्ना विध्येकवाक्यतयोच्यते; अतश्च तदर्थेनैव अस्यार्थवत्त्वं न स्वतः; अत एवास्य स्वरूपपरत्वाभावान्न प्रमाणान्तरविरोधः। अर्थवादवाक्याद्धि विधौ श्रद्धातिशयो जायते, येन तत्र सादरं प्रवर्तते लोकः। यदाहुः

'विधिशक्तिरवसीदति तां प्राशस्त्यज्ञानं समुत्तम्भाति।'

इति। तेन

'मृच्छैलधातुरत्नादिभवं लिङ्गं न पूजयेत्।
यजेदाध्यात्मिकं लिङ्गं यत्र लीनं चराचरम् ॥'

इत्यादेः श्रूयमाणस्य सर्वनिर्विकल्पेन योगिना भाव्यम्,—इत्यादेः परिकल्प्यमानस्य वा विधेः प्ररोचनाकारितया शेषभूतोऽयमर्थवाद एव? इत्याशङ्क्याह

नार्थवादादिशङ्का च वाक्ये माहेश्वरे भवेत् ॥२३२॥

यदुक्तम्

'विधिवाक्यमिदं तन्त्रं नार्थवादः कदाचन।
झगिति प्रत्यवायेषु सत्क्रियाणां फलेष्वपि ॥'

इति । तथा ।

'.......................नार्थवादः शिवागमः ।'

इति । माहेश्वर इति विशेषणद्वारेण महेश्वरप्रणीतत्वं हेतुरुक्तः; यन्नाम हि बुद्धिमान् प्रयुङ्क्ते तन्न कदाचिद्व्यर्थं भवेदिति भावः ॥ २३२ ॥

यत् पुनर्बुद्धिमता न प्रयुक्तं तत्रैवं संभावना भवेत्,—इत्याह

अबुद्धिपूर्वं हि तथा संस्थिते सततं भवेत् ।
व्योमादिरूपे निगमे शङ्का मिथ्यार्थतां प्रति ॥२३३॥

इह खलु निगमे वेदशास्त्रे, सततं विधिवाक्यानामर्थवादवाक्यानां वा श्रुतिकाले, मिथ्यार्थतां प्रति असदर्थत्वविषये प्रेक्षापूर्वकारिणां शङ्का भवति,— इति संभाव्यं; यतः स परमते घनगर्जितवदबुद्धिपूर्वम् अबुद्धिमत्कर्तृकत्वेन तथा विध्यर्थवादादिरूपतया संस्थितः; अत एवानर्थक्येन शून्यप्रायत्वात् 'व्योमादिरूपे' इत्युक्तम् यदभिप्रायेणैव

'आप्तं तमेव भगवन्तमनादिमीश-
माश्रित्य विश्वसिति वेदवचस्सु लोकः ।
तेषामकर्तृकतया तु न कश्चिदेव
विस्रम्भमेति मतिमानिति वर्णितं प्राक् ॥'

इत्याद्यन्यत्रोक्तम् ॥ २३३ ॥

यत्र पुनरनवच्छिन्नविज्ञानात्मा परमेश्वर एव शास्त्ररूपेणावस्थितः, तत्र का नाम मिथ्यार्थत्वं प्रति शङ्का भवेत् ? इत्याह

अनवच्छिन्नविज्ञानवैश्वरूप्यसुनिर्भरः ।
शास्त्रात्मना स्थितो देवो मिथ्यात्वं क्वापि नार्हति ॥२३४॥

'मिथ्यात्वं क्वापि नार्हति' इत्यत्र पूर्वार्धं हेतुः ॥ २३४ ॥

नन्वीश्वरः सर्वशास्त्राणां प्रणेता,—इत्यधिगतमस्माभिः, न तु स एव तदात्मनावस्थितः,——इत्यपूर्वमिदं किमुच्यते ? इत्याशङ्क्याह

इच्छावान्भावरूपेण यथा तिष्ठासुरीश्वरः ।
तत्स्वरूपाभिधानेन तिष्ठासुः स तथा स्थितः ॥२३५॥

यथा खलु परमेश्वरः स्वेच्छामाहात्म्याद्वाच्यात्मप्रमातृप्रमेयादिभाप-रूपेण स्थातुमिच्छुः सन्, तथा वाच्यात्मविश्वरूपतया स्थितः; तथाशब्दस्या-वृत्त्या तथा तद्वदेव तस्य प्रमातृप्रमेयात्मनो वाच्यस्य विश्वस्य यत् स्वम् अन्यापोढं रूपं, तस्याभिधानेन वाचकतया स्थातुमिच्छुः सन्, तथा वाचकात्म-शास्त्ररूपतया स्थित इत्यर्थः ॥ २३५ ॥

एवमपि यद्यस्य क्वचिन्मिथ्यार्थत्वं स्यात् तदपि न कश्चिद्दोषः,--इत्याह

अर्थवादोऽपि यत्रान्यविध्यादिमुखमीक्षते ।
तत्रास्त्वसत्यः स्वातन्त्र्ये स एव तु विधायकः ॥२३६॥

यत्र खलु स्तुतिनिन्दादिरूपोऽर्थवादोऽन्यस्य विधिनिषेधात्मनो विधि-वाक्यस्याङ्गभावमियात् तत्र स्वरूपपरत्वाभावादसावसत्योऽस्तु न कश्चि-द्दोषः; नहि अस्य यथाश्रुतोऽर्थः प्रतिपाद्यः, किंतु विधेयो निषेध्यो वा, यद-स्याङ्गभावेन प्रतिष्ठानम्; अत एव विधिवाक्यैकवाक्यतयैव अस्य प्रामाण्यम्--इति वाक्यविदः । यदाहुः

'इत्यर्थवादा विधिनैकवाक्यभावात्प्रमाणत्वममी भजन्ते ॥'

इति । तथाहि

'बर्हिषि रजतं न देयम् ।'

इत्यस्य विधेः शेषभूतस्य

'सोऽरोदीद्यदरोदीत् तद्रुद्रस्य रुद्रत्वम् ।'

इत्यादेरर्थवादस्य रुद्ररोदनादि प्रतिपाद्यं, किंतु

'बर्हिषि यो रजतं ददाति पुरास्य संवत्सराद्गृहे रोदनं भवति ।'

इति 'बर्हिषि रजतं न देयम्' इति । स एव पुनरर्थवादो यद्यन्याङ्गभावं न यायात् तदा विधायको यथाश्रुतार्थप्रतिपादको भवेदित्यर्थः । 'सोऽरोदीत्' इत्यादावर्थवादवाक्ये हि

'रुद्रो रुरोद तस्य यदश्रु अशीर्यत तद्रजतमभवत् ।'

इति-वृत्तप्रतिपादनं सत्यार्थमेवेदम्, एवं-प्रायाणां बहूनामितिवृत्तानां सत्यत्वे-नेष्टेः । तदुक्तम्

'यद्वा स्वरूपपरतामपि संस्पृशन्तः
प्रामाण्यवर्त्मन इमे न परिच्यवन्ते ।
नैयायिका हि पुरुषातिशयं वदन्तो
वृत्तान्तवर्णनमपीह यथार्थनाहुः ॥'

इति ॥ २३६ ॥

न केवलमस्य स्वातन्त्र्य एव सत्यार्थत्वं यावत्पारतन्त्र्येऽपि,--इत्याह

विधिवाक्यान्तरे गच्छन्नङ्गभावमथापि वा ।
न निरर्थक एवायं संनिधेर्गजडादिवत् ॥२३७॥

यद्वा विधिनिषेधात्मनो विधिवाक्यस्याङ्गभावं गच्छन्नपि अयमर्थवादः संनिहितत्वान्न निरर्थक एव भवेत् । अत्र दृष्टान्तः 'गजडादिवत्' इति । यथाहि पदाद्यङ्गत्वेन संनिहिता वर्णा न निरर्थकाः तथायमपीति । वर्णानामानार्थक्ये हि वर्णव्यत्ययेऽर्थान्तरगमनं न स्यात्, यथा गजः जडः षोडः (?) संघातस्यापि अर्थवत्त्वं न स्यात्--अवयवानामानर्थक्ये हि समुदायोऽप्यनर्थक एव भवेत्, तथा एकस्या अपि सिकतायास्तैलदानासामर्थ्ये सत्समुदायो राशिरप्यसमर्थः--इति । एवमर्थवादस्यापि आनर्थक्ये सत्संनिधानेन विधीयमाने निषिध्यमाने वार्थे सादरं प्रवृत्तिर्निवृत्तिर्वा न स्यात् । 'सोऽरोदीदीत्' इत्यादौ हि रोदनप्रभवं रजतं निन्दितुमेवमुक्तं, येन बर्हिषि तद्दानात् सादरं निवृत्तिर्भवेत् । लोकेऽपि खलु 'इयं गौः क्रेतव्या' इत्यतो न तथा क्रेतारः प्रवर्तन्ते, यथा 'एषा बहुस्निग्धक्षीरा सुशीला स्त्र्यपत्यानघप्रजा च' इत्येवमादिभ्यः स्तुतिपदेभ्यः,--इति स्वानुभवसाक्षिकोऽयमर्थः ॥ २३७ ॥

अत आह

स्वार्थप्रत्यायनं चास्य स्वसंवित्त्यैव भासते ।
तदपह्नवनं कर्तुं शक्यं विधिनिषेधयोः ॥२३८॥

अथ यद्येतत् बलात्कारेणापह्नूयते तत् विधिनिषेधात्मनो विधिवाक्यस्यापि अर्थापह्नवः कर्तुं शाक्यः,– इत्याह 'तदपह्नवनम्' इत्यादि ॥२३८॥

न केवलमत्र स्वसंवित्तिरेव साधकं प्रमाणमस्ति, यावद्युक्तिरपि—इत्याह

युक्तिश्चात्रास्ति वाक्येषु स्वसंविच्चाप्यबाधिता ।

या समग्रार्थमाणिक्यतत्त्वनिश्चयकारिणी ।।२३९।।

युक्तिरिति समनन्तरोक्ता ॥ २३९ ॥

ननु भवतु नामेदमर्थवादवाक्यं विधिवाक्यं वा किमनया नश्चिन्तया, तत्रापि वेदशास्त्रोक्तः शुद्ध्यादिविभागस्तावत् यथोक्तयुक्त्या बाधितः, अनेन च न किंचिच्छुद्धं विहितं नाप्यशुद्धं तृतीयश्च राशिर्नास्ति,—इति शुद्ध्यशुद्धिविधानमेव न सिद्ध्येत् ? इत्याशङ्क्याह

मृतदेहेऽथ देहोत्थे या चाशुद्धिः प्रकीर्तिता ।
अन्यत्र नेति बुद्ध्यन्तामशुद्धं संविदश्च्युतम् ।।२४०।।
संवित्तादात्म्यमापन्नं सर्वं शुद्धमतः स्थितम् ।

वेदशास्त्रे हि मृतदेहे देहाच्चयुते मलादौ च यदशुद्धिरुक्ता अन्यत्र जीवद्देहेहस्थ एव मलादौ च न,—इत्यतः संवित्सहभावासहभावनिबन्धनाद्धेतोः संविदः सकाशात् यत् च्युतं भिन्नं तदशुद्धं बुद्ध्यन्तां विशेषानुपानानात् सर्व एवावगच्छन्त्वित्यर्थः । अत एव च यत्किंचित् स वदैक्यमापन्नं तत् सर्वं शुद्धमिति; तेन संविदैकात्म्यानैकात्म्याभ्यां सर्वत्र शुद्ध्यशुद्धिविभागः,—इति स्थितं सिद्धम् ॥ २४० ॥

नच एतद्युक्तिमात्रेणैव सिद्धं यावदागमेनापि,—इत्याह

श्रीमद्वीरावलौ चोक्तं शुद्ध्यशुद्धिनिरूपणे ।।२४१।।

तदेव शब्दद्वारेण पठति

सर्वेषां वाहको जीवो नास्ति किंचिदजीवकम् ।
यत्किंचिज्जीवरहितमशुद्धं तद्विजानत ।।२४२।।

जीवयति निखिलमिदं भूतजातं ज्ञानक्रियोत्तेजनेन प्राणयति—इति जीवः परप्रकाशः, स सर्वेषां प्रमातृप्रमेयात्मनो विश्वस्य वाहयति संधारयति—इति वाहकः स्वात्मसंलग्नतयावभासक इत्यर्थः । अत्र हेतुः 'नास्ति किंचिदजीवकम्' इति, नहि प्रकाशातिरिक्तं किंचिदपि भायादिति भावः । यत् पुनः किंचिज्जीवरहितं तदैकात्म्येनासंवेद्यमानं, तदशुद्धं विजानत अनुपत्त्यवस्करदूषितत्वात् परिहरणीयतयावगच्छतेत्यर्थः । एवं संविदतिरिक्तस्याशुद्धत्वेनाभिधानात् इतरत् पुनः शुद्धमेव,—इत्यर्थसिद्धम् ॥ २४२ ॥

तदाह

तस्माद्यत्संविदो नातिदूरे तच्छुद्धिमावहेत् ।

तदुक्तं तत्रैव

'अशुद्धं नास्ति तत्किंचित्सर्वं तत्र व्यवस्थितम् ।
यत्तेन रहितं किंचिदशुद्धं तेन जायते ॥'

इति ॥

नन्वेवं शुद्धयशुद्धिविभागो न कैश्चिन्महात्मभिः परिगृहीतः,–इति कथमत्र सतां समाश्वासः स्यात् ? इत्याशङ्क्याह

अविकल्पेन भावेन मुनयोऽपि तथाभवम् ॥२४३॥

तथेति संविदैकात्म्यानैकात्म्याभ्यां शुद्धयशुद्धिविभागभाज इत्यर्थः । तदुक्तं तत्र

'ऋषिभिर्भक्षितं पूर्वं गोमांस च नरोद्भवम् ।'

इति । यदि नाम हि ते—द्रव्याणां संविदैकात्म्यमेव शुद्धिः–इति न जानीयुः, तत् कथं शास्त्रबहिष्कृतं लोकविरुद्धं गोमांसादि भक्षयेयुः; अत एव हि बाह्यचर्यायाम्

'यद्द्रव्यं लोकविद्विष्टं यच्च शास्त्रबहिष्कृतम् ।
यज्जुगुप्स्यं च निन्द्यं च वीरैराहार्यमेव तत् ॥'

इत्याद्युक्त्या विकल्पप्रहाणाय लोकशास्त्रविरुद्धं द्रव्यजातमभिहितम् । यन्नाम सर्वद्रव्याणां लोकविरुद्धत्वादि न वास्तवं रूपं, किंतु परा संविदव,—इति किं नाम जुगुप्स्यं निन्द्यं वा सर्वत्रैव संविद्रूपत्वाविशेषात्; अत एव तत्र चित्त-प्रत्यवेक्षामात्रमेव प्रयोजनं—किं सविदेकाग्रीभूतं चित्तं न वा--इति । यदुक्तम्

'न चर्या भोगतः प्रोक्ता या ख्याता भीमरूपिणी ।
स्वचित्तप्रत्यवेक्षातः स्थिरं किं वा चलं मनः ॥'

इति ॥ २४३ ॥

ननु यद्येवं तन्मुनिभिर्गोमांसादि कथमभक्ष्यतयोपदिष्टम् ? इत्या-शङ्क्याह

लोकसंरक्षणार्थं तु तत्तत्त्वं तैः प्रगोपितम् ।

एवमुपदिष्टे हि अलब्धसंविदैकात्म्योऽपि लोको लोभलौल्याभ्यां यत्तत् कुर्वाणो लोकयात्रामुच्छिन्द्यात्—इति, तत् तत्त्वं सविदद्वैतात्म पारमार्थिकं रूपं तैः प्रकर्षेण तत्तद्द्रव्यदूषणादिद्वारेण गोपितं न प्रकाशितमित्यर्थः । यदुक्तं तत्रैव

'ज्ञात्वा समरसं सर्वं दूषणादि पुनः कृतम् ।'

इति यदभिप्रायेणैव

'यत्ते कुर्युर्न तत्कुर्याद्यद्ब्रूयुस्तत्समाचरेत् ।'

इत्यादि अन्यत्रोक्तम् ॥

नन्विदं भावजातं बहिरूपतया चेन्न संभवति तत् कस्य शुद्धयशुद्धी स्यातां, यदधिकारेणायं अयं विचार आरभ्येत; अथ यदि संभवति, तद्यथैव संभवति तथैव भवेत्, किं तस्य प्रमातृसंबन्धिना परिज्ञानेन ? इत्याशङ्कयाह

बहिः सत्स्वपि भावेषु शुद्धयशुद्धी न नीलवत् ॥२४४॥
प्रमातृधर्म एवायं चिदैक्यानैक्यवेदनात् ।

बहीरूपतयाभ्युपगम्यमानेष्वपि भावेषु नीलादिन्यायेन प्रतिभासविकारकारित्वाभावात् शुद्धयशुद्धी न वस्तुनो धर्मः, किंतु प्रमातुः; प्रमाता हि चिदैक्यानैक्यवेदकतया सातिशयः संस्तथा व्यवस्यति 'इदं शुद्धमिदमशुद्धम्' इति; अत एव शुद्धयशुद्धी न नियते, कस्यचिद्धि यदशुद्धं तन्नान्यस्येति । वस्तुधर्मत्वे हि भवेन्नाम अयं नियमो—यदिदं शुद्धमिदमशुद्धम्—इति, नहि कस्यचित् नीलमप्यनीलं भवेत् ॥ २४४ ॥

ननु प्रमातुस्तत्तद्वस्तुदर्शनेनैव हि मनः प्रसीदेद्विचिकित्स्याच्च,—इति कथं न शुद्धयशुद्धी वस्तुनो धर्मः ? इत्याशङ्कयाह

यदि वा वस्तुधर्मोऽपि मात्रपेक्षानिबन्धनः ॥२४५॥
सौत्रामण्यां सुरा होतुः शुद्धान्यस्य विपर्ययः ।

यदि नाम शुद्धयशुद्धयोर्वस्तुधर्मत्वमभ्युपेयते, तदपि प्रमातृपारतन्त्र्यमेव अत्र निबन्धनं भवेत् । यथाहि—यमेव प्रमातारमपेक्ष्य द्वित्वबुद्धिरुपजायते तस्यैव तद्ग्रहो भवेत् नेतरस्य, तत्र तस्यैकत्वादिबुद्धयुत्पजननस्यापि संभाव्यमानत्वात्; एवं येनैव प्रमात्रा यच्छुद्धतया गृहीतं तस्यैव तच्छुद्धं नापरस्य ।

तथाहि—एकैव सुरा सौत्रामण्यां होतुर्याजकस्य शुद्धा अवघ्राणभक्षणादौ योग्येत्यर्थः ।

'सुराया अवघ्राणः कर्तव्यः ।'

इति । अन्यस्य सौत्रामण्यामयाजकस्य पुनरशुद्धा अवघ्राणादावयोग्येत्यर्थः । यत्स्मृतिः

'ब्राह्मणस्य रुजः कृत्या घ्रातिरघ्रेयमद्ययोः ।
जैह्म्यं च मैथुनं पुंसि जातिभ्रंशकरं स्मृतम् ॥'

इति । तस्मात् वस्तुधर्मत्वेऽपि अनयोर्मात्रपेक्षानिबन्धनत्वं यदि न स्यात्, तत् सर्वानेव प्रति सुरायाः शुद्धत्वमेव भवेदशुद्धत्वमेव वेति । एवं सुरायाः सामान्येनाशुद्धत्वं विहितं, सौत्रामणीहोतृविषयत्वेन विशेषश्रुत्या विरोधाद्बाधितमित्यवगन्तव्यम् ॥ २४५ ॥

ननु उक्तवच्छैव्या चोदनया यदि वैदिकी चोदना बाधिता तद्यावदास्तां, वैदिक्या पुनश्चोदनया स्वेनैव स्वं बाध्यते, —इत्येतन्न यौक्तिकमिव नः प्रतिभासते ? इत्याशङ्क्याह

अनेन चोदनानां च स्ववाक्यैरपि बाधनम् ॥२४६॥
क्वचित्संदर्शितं ब्रह्महत्याविधिनिषेधवत् ।

'स्ववाक्यैः' इति अपवादरूपैः । 'क्वचित्' इति उत्सर्गविषये । 'संदर्शितम्' इत्यनेन यथोक्तयुक्त्या नैवमयौक्तिकत्वपर्यवसायी कश्चिद्दोषः,—इति प्रकाशितम् । अपिशब्देन न केवलं शास्त्रान्तरीयैर्वाक्यैः,—इत्युक्तम् । अतश्च नास्माभिरपूर्वं किंचिदुत्प्रेक्षितं—यन्नामोक्तं 'शैव्या विशेषचोदनया सामान्यात्मिका वदिकी चोदना बाधिता' इति । न च एतत् प्रमादिकम् अपितु भूम्ना, —इति दर्शयितुं 'ब्रह्महत्याविधिनिषेधवत्' इति दृष्टान्तितम् । एवं यथा

'ब्राह्मणो न हन्तव्यः ।'

इति सामान्येन ब्रह्महत्यानिषेधो विहितः

'ब्राह्मणो ब्राह्मणमालभेत ।'

इति विशेषश्रुत्या बाधितः तथा सुराया अपि अशुद्धत्वमित्यर्थः ॥ २४६ ॥

एवं शुद्ध्यशुद्धिविषये कृतं विचारमन्यत्रापि अतिदिशति

भक्ष्यादिविधयोऽप्येनं न्यायमाश्रित्य चर्चिताः ॥२४७॥

'न भक्ष्यादिविचारणम्' इत्यत्र 'नात्र भक्ष्यं न चाभक्ष्यम्' इत्यादयोऽर्थ-सामर्थ्यलभ्या विधयोऽपि अनेनैव न्यायेन गतार्थाः,--इत्यर्थः ॥ २४७ ॥

ननु यथा शैव्या विशेषचोदनया सामान्यात्मिका वैदिकी चोदना बाध्यते तथा वैदिक्यापि शैवी चोदना किं न वा ? इत्याशङ्कां गर्भीकृत्य आगमार्थमेव दर्शयितुमुपक्रमते

सर्वज्ञानोत्तरादौ च भाषते स्म महेश्वरः ।

तदेवार्थद्वारेण पठति

नरर्षिदेवद्रुहिणविष्णुरुद्राद्युदीरितम् ॥२४८॥
उत्तरोत्तरवैशिष्ट्यात् पूर्वपूर्वप्रबाधकम् ।

नरोक्तस्य ऋष्युक्तं बाधकं यावद्विष्णूक्तस्य रुद्रोक्तम्, तदाह 'पूर्वपूर्व-प्रबाधकम्' इति । अत्र उत्तरोत्तरवैशिष्ट्यं हेतुः । सामान्यस्य हि विशेषेण बाधो न्याय्यः, इति भावः ॥ २४८ ॥

अत एव विपर्ययेण बाधो न भवेदित्याह

न शैवं वैष्णवैर्वाक्यैर्बाधनीयं कदाचन ॥२४९॥
वैष्णवं ब्रह्मसंभूतैर्नेत्यादि परिचर्चयेत् ।

'ब्रह्मसंभूतैः 'वेदवाक्यैरित्यर्थः । यच्छ्रुतिः

'प्रजापतिना चत्वारो वेदा असृज्यन्त ।'

इति । यत्र च वैष्णवं वेदवाक्यैर्न बाध्यते तत्र शैवबाधने का वार्ता,—इत्यर्थ-सिद्धम् । आदिशब्दाद्ब्रह्मसंभूतानामपि देववाक्यैर्न बाधः,—इत्यादि ग्राह्यम् यदुक्तं तत्र

'न पुंभिरार्षवाक्यं च वैदिकं चर्षिभिस्तथा ।
न देवैर्ब्रह्मणो वाक्यं वैष्णवं पद्मजन्मजैः ॥
न शैवं विष्णुवचनैर्बाध्यते तु कदाचन ।'

इति ॥ २४९ ॥

ननु विपर्ययेणापि बाधे को दोषः ? इत्याशङ्क्याह

बाधतो यो वैपरीत्यात्समूढः पापभाग्यभवेत् ॥२५०॥

वैपरीत्यं पूर्वेणोत्तरस्य बाधः। यदुक्तं तत्र

'यो हि बाधयते पापः स मूढो नष्टचेतनः।
उत्तरोत्तरवैशिष्ट्यं सर्वेषां परिकीर्तितम् ॥'

इति ॥ २५० ॥

एवं सर्वोत्कृष्टत्वाच्छैव एव शास्त्रे मुख्यतया वृत्त्या निष्ठा कार्या, नान्यत्रेत्याह

तस्मान्मुख्यतया स्कन्द लोकधर्मान्न चाचरेत्।

निष्ठाशून्यतया तु गौण्या वृत्त्या लोकसंरक्षणार्थं लोकधर्मानाचरतो न कश्चिद्दोषः,--इति भावः। तदुक्तं तत्र

'ये तु वर्णाश्रमाचाराः प्रायश्चिताश्च लौकिकाः।
संबन्धान्देशधर्मांश्च प्रसिद्धान्न विचारयेत् ॥
गर्भाधानादितः कृत्वा यावदुद्वाहमेव च।
तावत्तु वैदिकं कर्म पश्चाच्छैवे ह्यनन्यभाक्।
न मुख्यवृत्त्या वै स्कन्द लोकधर्मान्समाचरेत् ॥'

इति। अत एव

'अन्तः कौलो बहिः शैवो लोकाचारे तु वैदिकः।
सारमादाय तिष्ठेत नारिकेलफलं यथा ॥'

इत्यादि अन्यत्रोक्तम् ॥

ननु मुख्यया वृत्त्या यदि लोकधर्मान्नानुतिष्ठेत् तच्छैवशास्त्राङ्गभावेन किं न वा? इत्याशङ्क्याह

नान्यशास्त्रसमुद्दिष्टं स्रोतस्युक्तं निजे चरेत् ॥२५१॥

'निजे स्रोतसि' आत्मीये शास्त्रे

'आ कण्ठतः पिबन्मद्यम्.................।'

इत्याद्युमेवार्थं 'चरेत्' अनुतिष्ठेत्, न पुनस्तमपास्य

'सुरा न पेया।'

इत्यादि शास्त्रान्तरोद्दिष्टम्। भगवता हि पृथगधिकारिभेदेन परस्पर-

विलक्षणानि शास्त्राण्युपदिष्टानि,--इत्यन्यं प्रति उपदिष्टं कथमन्यस्यानुष्ठेयं स्यात्। तदुक्तं तत्र

'नान्यशास्त्रसमुद्दिष्टं न चान्यां देवतां स्मरेत्।
विशुद्धभावनायुक्तः शिवैकगतमानसः ॥'

इति। एतच्च समानतन्त्रापेक्षयापि योज्यं; यतस्तान्यपि क्रियादिभेदाद्भिन्नान्येव,--इत्यागमविदः। यदाहुः

'क्रियादिभेदभेदेन तन्त्रभेदो यतः स्मृतः।
तस्माद्यत्र यदेवोक्तं तत्कार्यं नान्यतन्त्रतः ॥'

इति। अपेक्षायां पुनरुत्पन्नायां शास्त्रान्तरादपेक्षणीयम्, अन्यथा हि तत्तदितिकर्तव्यताकलापस्यापरिपूर्तिः स्यात्। तथाहि श्रीपूर्वशास्त्रे

'तत्र द्वारपतीनिष्ट्वा महास्त्रेणाभिमन्त्रितम्।
पुष्पं विनिक्षिपेद्ध्यात्वा ज्वलद्विघ्नप्रशान्तये ॥'

इत्यादौ द्वारपतीनां कथमिष्टिः,--इत्यपेक्षायां समानतन्त्रात् श्रीत्रिशिरोभैरवात्

'ततो मूले उत्तरतो नन्दिरुद्रं च जाह्नवीम्।
महाकालं सदंष्ट्रं च यमुनां चैव दक्षिणे ॥'

इत्याद्यपेक्षणीयम्। अत्रैव च 'ज्वलत्पुष्पं कथं विनिक्षिपेत्' इत्यपेक्षायां समानतन्त्रे तत्क्षेपस्य सुस्पष्टमनभिधानात् समानकल्पाच्छ्रीस्वच्छन्दशास्त्रात्

'भैरवास्त्रं समुच्चार्य पुष्पं संगृह्य भावितः।
सप्ताभिमन्त्रितं कृत्वा ज्वलदग्निशिखाकुलम् ॥
नाराचास्त्रप्रयोगेण प्रविशेद्गृहमध्यतः।'

इत्याद्यपेक्षणीयम्। नाराचास्त्रस्य च प्रयोगः कीदृक्? इत्यपेक्षायां समानकल्पेऽपि शास्त्रे तदनुपलम्भात् अत्यन्तमसमानात् अनन्तविजयाख्यात्सिद्धान्तशास्त्रात्

'उत्तानं तु करं कृत्वा तिस्रोऽङ्गुल्यः प्रसारयेत्।
मध्यमाङ्गुष्ठकौ लग्नौ चालयेत मुहुर्मुहुः ॥
नाराचः कीर्तितो ह्येवम्........................।'

इत्याद्यपेक्षणीयम् । अपेक्षानिवृत्तिर्हि नः फलं, सा च यत एव भवेत् तदेवापेक्षणीयं, किं समानत्वासमानत्वदुर्ग्रहेण । एवमपेक्षायां सत्यांसमानादसमानाद्वा शास्त्रान्तरात् तावदपेक्षणीयं यावदपेक्षाया निवृत्तिः स्यात्, तदभावे पुनर्निर्निबन्धनमेव शास्त्रान्तरोक्तस्यापेक्षणीयत्वे सर्वस्यैव तत्प्रसङ्गादनवस्थितमेव शास्त्रार्थानुष्ठानं स्यात् । यदाहुः

'सापेक्षत्वेऽप्यपेक्षैव मानं यावदपेक्षते ।
तावदेवान्यतः कार्यं नान्यत्स्यादनवस्थितेः ॥'

इति ॥ २५१ ॥

ननु निखिलमिदं शास्त्रजातं भगवतैव सकलजगदुद्दिधीर्षयोपदिष्टं, तत्तदुक्तार्थानुष्ठानमवश्यकार्यं, येन संसारमोहः शाम्येत्,--इति तद्यथास्तु, किमनेन विचारेण ? इत्याशङ्क्याह

यतो यद्यपि देवेन वेदाद्यपि निरूपितम् ।
तथापि किल संकोचभावाभावविकल्पतः ॥२५२॥

वेदादीनां सर्वशास्त्राणां परमेश्वर एवापदेष्टा,--इति नास्ति विवादः, किंतु तेन संकोचभावाभावभेदेन द्विधा शास्त्राण्युपदिष्टानि--कानिचिद्भेदप्रधानानि कानिचिदभेदप्रधानानि--इति । तत्र भेदप्रधानानि वेदादीनि शास्त्राणि, अभेदप्रधानानि च शैवादीनि ॥ २५२ ॥

तदाह

संकोचतारतम्येन पाशवं ज्ञानमीरितम् ।
विकासतारतम्येन पतिज्ञानं तु बाधकम् ॥२५३॥

'संकोचो' भेदप्रथा । पशूनामिदं 'पाशवं' वेदादि । 'विकासः' संकोचाभावादभेदप्रथा, अत एव भेदप्रथाया बाध्यत्वादिदं बाधकम् । भेदो हि संसारः, स च सर्वेषामेवोच्छेद्यः,--इत्यविवादः । एवं च,बाध्यबाधकयोः सांकर्येणानुष्ठानं दुष्येत्,--इति यथोक्तमेव युक्तम् । अत एवान्यत्र

'पाशवं ज्ञानमुज्झित्वा पतिशास्त्रं समाश्रयेत् ।'

इत्याद्युक्तम् ॥ २५३ ॥

इदानीं 'न द्वैतं न नापि चाद्वैतम्' इति व्याचष्टे

इदं द्वैतमिदं नेति परस्परनिषेधतः ।
मायीयभेदक्लृप्तं तत्स्यादकाल्पनिके कथम् ॥२५४॥

यन्नाम किंचनेदं द्वैतं नानारूपत्वं तदपास्य ऐकात्म्यलक्षणमद्वैतमाश्रयेत्,-इत्यादि यदन्यत्रोक्त, तदकाल्पनिके कवलीकृततत्तत्कल्पनाकलापे स्वात्ममात्रस्फुरत्तारूपे परे तत्त्वे कथं स्यात्, न युज्यते इत्यर्थः। यतस्तत् अन्यापोहरूपत्वेन परस्परप्रतिक्षेपात् 'माया' स्वरूपगोपनात्मिका पारमेश्वरी इच्छाशक्तिः, तत आगतो योऽसौ 'भेदः' तेन 'क्लृप्तम्' अनुप्राणितं कल्पनामात्रसतत्त्वमित्यर्थः ॥ २५४ ॥

किं चात्र प्रमाणम् ? इत्याशङ्क्याह

उक्तं भर्गशिखायां च मृत्युकालकलादिकम् ।
द्वैताद्वैतविकल्पोत्थं ग्रसते कृतधीरिति ॥२५५॥

इह खलु अविकल्पकपरसंविदावेशवशात् कृतार्था 'धीः' ज्ञानं यस्यासौ प्राप्तपरसंविदकात्म्यो योगी, 'द्वैताद्वैतविकल्पात्' उत्थितं भेदानुप्राणनयोल्लसितं 'मृत्युकालकलादिकं ग्रसते' स्वात्मसात्करोति, नात्र काचिज्जन्ममरणादिका मानमेयादिरूपा च कल्पनास्तीत्यर्थः। यदुक्तं तत्र

'मृत्युं च कालं च कलाकलाप विकारजातं प्रतिपत्तिजालम् ।
ऐकात्म्यनानात्मवितर्कजातं तदा स सर्वं कवलीकरोति ॥'

इति ॥ २५५ ॥

अथ 'लिङ्गपूजादिकं न च' इति व्याकुरुते

सिद्धान्ते लिङ्गपूजोक्ता विश्वाध्वमयतावित्रिदे ।
कुलादिषु निषिद्धासौ देहे विश्वात्मतावित्रिदे ॥२५६॥
इह सर्वात्मके कस्मात्तद्विधिप्रतिषेधने ।

'विश्वः' षट्त्रिंशत्तत्त्वात्मको योऽसौ 'अध्वा' तद्रूपतां वेत्तुं, सिद्धान्ते' भेददर्शने लिङ्गपूजाविधिर्विहितः। पारमेश्वरं हि लिङ्गं गर्भीकृतनिखिलाध्वप्रपञ्चम्,--इति तत्पूजनेन समग्रमेवेदं जगत्साक्षात्कृतं भवेदिति भावः। यदाहुः

'लिङ्गे परमशिवान्तां व्याप्तिं पीठे सदाशिवप्रान्ताम् ।
ब्रह्मशिलायां मायापर्यन्ता भावयद्भिरिमैः ॥'

इति,

'इष्टेन शिवलिङ्गेन विश्वं संतर्पितं भवेत् ।'

इति च । 'कुलादौ' अद्वयदर्शने पुनरसौ लिङ्गपूजा 'निषिद्धा' यतो देह एव सर्वाध्वमयः,—इति तत्रैव तत्साक्षात्कारः सुलभः,—इति किमनुपपत्तिना बाह्येय लिङ्गादिना फलम् । यदुक्तम्

'यजेदाध्यात्मिक लिङ्गं बाह्यं लिङ्गं न पूजयेत् ।'

इति । तथा

'हृदयगुहागेहगतं सर्वज्ञं सर्वगं परित्यज्य ।
प्रणमति मितमतिरशिवं शिवाशयाश्मादिमश्लाघ्यम् ॥'

इति । इह पुनः परमाद्वयरूपे त्रिकदर्शने तद्विधिना तन्निषेधेन वा न किंचित्प्रयोजनम्,—इत्युक्तं 'नात्र लिङ्गपूजा नापि तत्परित्यागः' इति । यत इदं सर्वात्मकं, यावता हि पारमेश्वरसंवित्स्फाररूपतया इदं जगत्परिज्ञेयं, तच्च सर्वस्यैव संवित्स्फाररूपत्वात् देहनिष्ठतया अस्तु, अन्यथा वा, किं नाम सार्वात्म्यप्रतिपत्तिविघ्नभूतेन देहबाह्याद्यभिमानेन भवेत्,—इति भावः । यदाहुः

'न क्वापि गत्वा हित्वा वा न किंचिदिदमेव ये ।
भव त्वद्धाम पश्यन्ति भव्यास्तेभ्यो नमो नमः ॥'

इति ॥ २५६ ॥

इदानीं जटाभस्मादिसंग्रहादि आचष्टे

नियमानुप्रवेशेन तादात्म्यप्रतिपत्तये ॥२५७॥
जटादि कौले त्यागोऽस्य सुखोपायोपदेशतः ।

'नियमाः'

'जटी मुण्डी शिखी दण्डी पञ्चमुद्राविभूषितः ।
प्रमादान्मैथुनं कृत्वा मम द्रोही महेश्वरि ॥'

इत्याद्युक्त्या भैराग्यादयः, तत्र 'अनुप्रवेशो' ऽभ्यासः, तेन या 'तादात्म्यप्रतिपत्तिः' पारमेश्वरस्वरूपसमावेशः, तन्निमित्तं सिद्धान्ते बहुक्लेशसाध्यं जटाभस्मादि विहितम् । यदुक्तम्

'कलातत्त्वपवित्राणुशक्तिमन्त्रेशसंख्यया ।
विभज्य केशान्संपात्य प्रत्यंशं संहिताणुभिः ॥
व्रतेश्वरस्य पुरतो बध्नीयाच्छिवतेजसा ।'

इति तथा ।

'व्रतिनो जटिनो मुण्डास्तेष्वग्र्या भस्मपाण्डुराः ।
तिलकैः पुण्ड्रकैः पट्टैर्भूषिता भूमिपादयः ॥'

इति । 'कौले' कुलदर्शने पुनः 'अस्य' जटाभस्मादेः 'त्यागो' निषेधो विहितः,—इत्यर्थः । यदुक्तम्

'जटाभस्मादिचिह्नं च ध्वजं कापालिकं व्रतम् ।
शूलं खट्वाङ्गमत्युग्रं धारयेद्यस्तु भूतले ॥
न तस्य संगमं कुर्यात्कर्मणा मनसा गिरा ।'

इति । यतोऽत्र

'यत्र यत्र मिलिता मरीचयस्तत्र तत्र विभुरेव जृम्भते ।'

इत्याद्युक्त्या विषयासङ्गेऽपि पारमेश्वरस्वरूपापत्तेः, 'सुखेन' अयत्नेन 'उपायस्योपदेशः' यदुक्तम्

'पूर्वैर्निरोधः कथितो वैराग्याभ्यासयोगतः ।
अस्माभिस्तु निरोधोऽयमयत्नेनोपदिश्यते ॥'

इति । निष्परिग्रहतादि पुनः पृथङ्न व्याख्यातम् अनेनैव गतार्थत्वात्, प्रथमतुर्यपादाभ्यामेव हि एतदर्थोऽभिहितः,—इति भावः । इह पुनः सार्वात्म्यात् तद्विधिप्रतिषेधने न भवतः,—इति प्राच्येन संबन्धः । इह हि संविदैकात्म्ययं नामोपेयम्, तत्र च यदेव यदा संनिकृष्टं तदेव तदा ग्राह्यम्, इतरत् तु त्याज्यम्,—इति जटादेर्विधिरस्तु निषेधो वा किमनेन नः प्रयोजनम् । यद्वक्ष्यति

'परतत्त्वप्रवेशे तु यमेव निकटं यदा ।
उपायं वेत्ति स ग्राह्यस्तदा त्याज्योऽथ वा क्वचित् ॥' (४।२७९)

इति ॥ २५७ ॥

अथ व्रतादीनां चरणाचरणं व्याचष्टे

व्रतचर्या च मन्त्रार्थतादात्म्यप्रतिपत्तये ॥२५८॥

तन्निषेधस्तु मन्त्रार्थसार्वात्म्यप्रतिपत्तये ।

चशब्दात् सिद्धान्ते उक्ता,--इत्यनुवर्तनीयम् । 'मन्त्रार्थो' नियतो वाच्यदेवतादिः, 'तन्निषेधः' अर्थात्कौले । 'सार्वात्म्यं' विश्वासभेदः । इह पुनस्तया न विधिर्निषेधो वा,--इत्येतत् सर्वं पूर्वमेव व्याख्यातम्,--इति न पुनरायस्तम् ॥ २५८ ॥

अथ क्षेत्रादिसंप्रवेशं व्याख्यातुमाह

क्षेत्रपीठोपपीठेषु प्रवेशो विघ्नशान्तये ॥२५९॥
मन्त्राद्याराधकस्याथ तल्लाभायोपदिश्यते ।

'क्षेत्रं' मेलापस्थानं, 'पीठं' कामरूपादि 'उपपीठं' देवीकोट्टादि । 'तल्लाभाय' इति तस्य मन्त्रादेः प्रियमेलापादिक्रमेण सिद्धादेर्लाभः, तन्निमित्तं वा । यदुक्तम्

'क्षेत्रोपक्षेत्रसंदोहाद्याश्रयान्निर्मलो भवेत् ॥'

इति ॥ २५९ ॥

अन्यत्र चात्र निषेधः कृतः,—इत्याह

क्षेत्रादिगमनाभावविधिस्तु स्वात्मनस्तथा ॥२६०॥
वैश्वरूप्येण पूर्णत्वं ज्ञातुमित्यपि वर्णितम् ।

आदिशब्दात् पीठादेर्ग्रहणम् । 'तथा' इति प्रागुक्तेन प्रकारेण । तदुक्तम्

'नातः किंचिदपास्यं प्रक्षेप्तव्यं च नात्र किंचिदपि ।
परिपूर्णे सत्यात्मनि किं नु क्षेत्रादिपर्यटनैः ॥'

इति । इह पुनरेतदुभयमपि नास्तीति प्रागेवोक्तम्,--इत्याह 'इत्यपि वर्णितम्' इति । तदुक्तम्

'इह सर्वात्मके कस्मात्तद्विधिप्रतिषेधने ।' (४।२५७)

इति ॥ २६० ॥

अथ समयादिप्रपालनमाचष्टे

समयाचारसद्भावः पाल्यत्वेनोपदिश्यते ॥२६१॥
भेदप्राणतया तत्तत्त्यागात्तत्त्वविशुद्धये ।

समयादिनिषेधस्तु मतशास्त्रेषु कथ्यते ॥२६२॥
निर्मर्यादं स्वसंबोधं संपूर्णं बुद्ध्यतामिति ।

इदं कुर्यादिदं न कुर्यात्,—इत्येवमात्मा समयाचारः । 'भेदप्राणतया' इति किंचित् हि त्यक्त्वा किंचिदुपादीयते, इत्येवमात्मा भेदः, यथा शास्त्रान्तरत्यागेन स्वशास्त्रे प्ररोहः । यद्वक्ष्यति

'अन्यस्तमन्त्रो नासीत् सेव्यं शास्त्रान्तरं च नो ।
अप्ररूढं हि विज्ञानं कम्पेतेतरभावनात् ॥' (२५।५६३)

इति । समविषमलक्षणेषु 'मतशास्त्रेषु' पुनः 'समयादेर्निषेधो' विहितः । तथा च तत्रत्यो ग्रन्थः,—इत्याह 'निर्मर्यादमित्यादि । तद्धि परं तत्त्वं 'स्वसंबोधं' स्वप्रकाशम्, अत एवानन्यापेक्षत्वात् 'संपूर्णम्,' अत एव चानियतरूपत्वात् 'निर्मर्यादं' निर्यन्त्रणं 'बुध्यताम्' अनुभूयतामित्यर्थः । तदेवम् एवंविधे परे तत्त्वे कथं नाम हानोपादानाद्यपेक्षासहस्रसंभिन्नः समयाचारः शुद्धिनिमित्तम्,—इति भावः ॥ २६२ ॥

अथ 'परस्वरूपलिङ्गादि नामगोत्रादिकं च यत्' इति व्याख्यातुकामः क्रमेण परकीयं स्वकीयं च रूपाद्याचष्टे

परकीयमिदं रूपं ध्येयमेतत्तु मे निजम् ॥२६३॥
ज्वालादिलिङ्गं चान्यस्य कपालादि तु मे निजम् ।

'एतत्' इति ध्यातृस्वभावम् । 'ज्वालादि' इति बाह्यैषणादिसमुत्थत्वात् परकीयम् । 'निजम्' इति स्वशरीरावस्थितम् ॥ २६३ ॥

'लिङ्गादि' इत्यादिशब्दार्थमाह

आदिशब्दात्तपश्चर्यावेलातिथ्यादि कथ्यते ॥२६४॥

'तपः' चान्द्रायणादि, 'चर्या' चर्यापादोक्त आचारः, 'वेला' मध्याह्नार्धरात्रादिरूपा, 'तिथिः' प्रतिपदादिरूपा ॥ २६४ ॥

नाम शक्तिशिवाद्यन्तमेतस्य मम नान्यथा ।

'एतस्य' सैद्धान्तिकस्य साधकस्य, व्रतपरिग्रहादौ पुष्पपातादिक्रमेण क्रियमाणं नाम शक्तिशिवाद्यन्तं स्यात् । तेन शिखाशक्तिः, ईशानशिवः; आदिशब्दाद्गणाद्यन्तं, यथा कवचगणः । तदुक्तम्

'स्रजं विमोचयेन्नाम दीक्षितानां तदादिकम् ।
शिवान्तकं द्विजेन्द्राणामितरेषां गणान्तकम् ॥'

इति । तथा

'शिशुना क्षिप्तमकामान्निपतेत्तद्यत्र नाम तत्पूर्वम् ।
शक्त्यन्तं नारीणां शिवशब्दान्तं नृणां कुर्यात् ॥
एवं विप्रक्षत्रियविशां शूद्राणां तु भवेद्गणप्रान्तम् ॥'

इति । 'अन्यथा' इति बोध्याद्यन्तम्, स्वस्वसंततिक्रमेणावल्ल्यन्तं हि पूजानाम भवेत्,--इति रहस्यशास्त्रविदः,--तदुक्तम्

'बोधिः प्रभुस्तथा योगी आनन्दः पाद आवलिः ।
वीराणां वीरपत्नीनां कल्प्यं नामैतदन्तकम् ॥'

इति । तेन सत्यबोधिः विश्वप्रभुरित्यादि ॥

गोत्रं च गुरुसंतानो मठिकाकुलशब्दितः ॥२६५॥

तस्य मठिकेति कुलमिति चाभिधानद्वयम् ॥ २६५ ॥

तत्र का मठिका ? इत्याह

श्रीसंततिस्त्र्यम्बकाख्या　तदर्धामर्दसंज्ञिता ।
इत्थमर्धचतस्रोऽत्र मठिकाः शांकरे क्रमे ॥२६६॥
युगक्रमेण कूर्माद्या मीनान्ता सिद्धसंततिः ।

न केवलमर्धचतस्र एव मठिका यावदन्या अपीत्याह 'युगेत्यादि' । आद्य-शब्दस्तन्त्रेण व्याख्येयः; तेन कूर्मस्य त्रेतायुगावतारकस्य श्रीकूर्मनाथस्याद्यः कृतयुगावतारकः श्रीखगेन्द्रनाथः स आद्यो यस्याः सा तथेति । कुलशब्दस्य गुरुकुलमित्यादौ लोकप्रसिद्धेः पृथग्व्याख्यानं न कृतम् ॥ २६६ ॥

'गोत्रादि' इत्यादिशब्दार्थमाह

आदिशब्देन च घरं पल्ली पीठोपपीठकम् ॥२६७॥
मुद्रा छुम्मेति तेषां च विधानं स्वपरस्थितम् ।

'घरम्' इति षण्णां साधिकाराणां राजपुत्राणां भिन्नं भिन्नमाश्रम-स्थानम् 'पल्ली' भिक्षास्थानम् । यद्वक्ष्यति

'एते हि साधिकाराः पूज्या येषामियं बहुविभेदा।
संततिरनवच्छिन्ना चित्रा शिष्यप्रशिष्यमयी॥
आनन्दावलिबोधिप्रभुपादान्ताथ योगिशब्दान्ता।
एता ओवल्ल्यः स्युर्मुद्राषट्कं क्रमात्त्वेतत्॥
दक्षाङ्गुष्ठादिकनिष्ठान्तमथ सा कनीयसी वामात्।
द्विदशान्तोर्ध्वगकुण्डलिबैन्दवहृन्नाभिकन्दनिति छुम्माः॥
शवराडबिल्लखट्टिल्लाः करबिल्लाम्बिलशरबिल्लाः।
अडवी-डोम्बी-दक्षिणपल्ली कुम्भारभिल्लिकाक्षरपल्ली॥
देवीकोट्टकुलाद्रित्रिपुरीकामाख्यमट्टहासश्च।
दक्षिणपीठं चैतत्षट्कं घरपल्लिपीठगं क्रमशः॥'

(२९।३९)

इति। 'स्वपरस्थितम' इति स्वस्वसंततिक्रमेण भिन्नं भिन्नमित्यर्थः॥२६७॥

ननु गुरुसंतानादेरेवमुपदेशे किं प्रयोजनम्? इत्याशङ्क्याह

तादात्म्यप्रतिपत्त्यै हि स्वं संतानं समाश्रयेत्॥२६८॥
भुञ्जीत पूजयेच्चक्रं परसंतानिना नहि।

'स्वं संतानम्' इति श्रीमदमरनाथादिक्रमेण यस्य यथा संभवेत्। 'परः' श्रीवरदेवादिः 'सतानो' ऽस्यास्तीति॥ २६८॥

एतच्च अन्यत्र निषिद्धमित्याह

एतच्च मतशास्त्रेषु निषिद्धं खण्डना यतः॥२६९॥
अखण्डेऽपि परे तत्त्वे भेदेनानेन जायते।

'अनेन' इति समनन्तरोक्तेन हेयोपादेयरूपेण स्वपरसंतानादिनेत्यर्थः। नहि अखण्डे परे तत्त्वे काचन एवंविधा हेयोपादेयरूपा खण्डना युज्यते,— इत्याशयः॥ २६९॥

एवमर्थमुखेन ग्रन्थं व्याख्याय समन्वयसगत्यापि योजयति

एवं क्षेत्रप्रवेशादि संतानानियमान्ततः॥२७०॥
नास्मिन्विधीयते तद्धि साक्षान्नौपयिकं शिवे।

'एवं' पूर्वोक्तनीत्या 'क्षेत्रप्रवेशादि' गोत्रशब्दोक्तसंताननियमान्तम्

'अस्मिन्' प्रस्तुते शास्त्रे 'न किंचिद्विधीयते' क्षेत्रादि प्रवेष्टव्यमित्यादिविधिर्न क्रियते,—इत्यर्थः। यतस्तत् न शिवे साक्षादुपायः। एतच्च बहुशः प्राङ्निर्णीतम्,—इति न पुनरायस्तम् ॥

ननु यदि नामात्र क्षेत्रप्रवेशोदेर्न विधिःतर्हि तस्य निषेध एव पर्यवस्येत्? इत्याशङ्क्याह

न तस्य च निषेधो यन्न तत्तत्त्वस्य खण्डनम् ॥२७१॥

'यत्' यस्मात्, 'तत्' क्षेत्रप्रवेशादि, विश्वात्मनः परस्य 'तत्त्वस्य न खण्डनं' तदपेक्षया हि बहिः क्षेत्रायेव नास्ति,—इति कुत्र प्रवेशाद्यपि भवेत्,—इति तद्विषयोऽयं विधिर्निषेधो वा क्रियमाणो विकल्पमात्रवृत्तत्वात् नास्य स्वरूपखण्डनायालम्,—इति भावः ॥ २७१ ॥

अत आह

विश्वात्मनो हि नाथस्य स्वस्मिन्रूपे विकल्पितौ ॥
विधिर्निषेधो वा शक्तौ न स्वरूपस्य खण्डने ॥२७२॥

अत एव चात्र सर्वमेव विहितं प्रतिषिद्धं च,—इत्यर्थगर्भीकारात् नैकनैव ग्रहः कार्यः,—इति तात्पर्यार्थः ॥ २७२ ॥

ननु यद्येवं तत् परतत्त्वविविक्षायाम् 'इदमुपादेयमिदं हेयम्' इत्यवश्याश्रयणीयो विभागः कथं सिद्ध्येत्? इत्याशङ्क्याह

परतत्त्वप्रवेशे तु यमेव निकटं यदा ।
उपायं वेत्ति स ग्राह्यस्तदा त्याज्योऽथ वा क्वचित् ॥२७३॥
न यन्त्रणात्र कार्येति प्रोक्तं श्रीत्रिकशासने ।

इह परं तत्त्वं प्रविविक्षुणा योगिना तत्र तावच्चेतः स्थिरीकार्यम्,—इति नास्ति विमतिः। तत्र पुनर्य एव यदा क्वचित् 'निकटो' हठपाकक्रमेण सहसैव परस्वरूपापत्तिनिमित्ततया संनिकृष्ट उपायः परिज्ञायते, स एव तदा ग्राह्योऽथवा अन्यथा त्याज्यो: न पुनर् इदमुपादेयमेव इदं त्याज्यमेव,—इत्येवमात्मा यन्त्रणा अत्र कार्या। तेन विषयासङ्गेऽपि कदाचित् परतत्त्वानुप्रवेशो भवेत्। क्वचिदित्यनेन च 'संनिकृष्टत्वमसंनिकृष्टत्वं च उपायानां न प्रतिनियतम्' इति प्रकाशितम्। अनेन च 'किंत्वेतत्' इत्यादिको ग्रन्थस्तात्पर्यतो व्याख्यातः।

नन्वेवमपूर्वार्थकथने किं प्रमाणाम् ? इत्याशङ्क्योक्तम् 'इति प्रोक्तं श्रीत्रिक-शासने' इति ॥ २७३ ॥

तत्रत्यमेव ग्रन्थं पठति

समता सर्वदेवानामोवल्लीमन्त्रवर्णयोः ॥२७४॥
आगमानां गतीनां च सर्वं शिवमयं यतः ।

'ओवल्ल्यो' बोध्यादयः षट् ज्येष्ठादिभेदभिन्ना ज्ञानसंततयः । 'गतीनां' भाववृत्तिद्रव्यभूमिकादिरूपाणां प्रकारामित्यर्थः । अत्र हेतुः 'सर्वं शिवमयं यतः' इति । यदुक्तम्

'समता सर्वभावानां वृत्तीनां चैव सर्वशः ।
समता सर्वदृष्टीनां द्रव्याणां चैव सर्वशः ॥
भूमिकानां च सर्वासामोवल्लीनां तथैव च ।
समता सर्वदेवीनां वर्णानां चैव सर्वशः ॥'

इति ॥ २७४ ॥

ननु को नाम सर्वं शिवमय जानाति, यस्यैवमुपदेशः प्ररोहमियात् ? इत्याशङ्क्याह

स ह्यखण्डितसद्भावं शिवतत्त्वं प्रपश्यति ॥२७५॥
यो ह्यखण्डितसद्भावमात्मतत्त्वं प्रपद्यते ।

आत्मज्ञानमेव शिवतत्त्वसाक्षात्कारे निमित्तम्,--इत्यभिदधता नात्र दर्शनान्तरवत् व्यतिरिक्तोपायान्वेषणाद्यायाससाध्यत्वम्,--इत्यावेदितम् ॥ २७५ ॥

न च अत्र सर्व एव पात्रं, किं तु कश्चिदेव तीव्रतमशक्तिपातपवित्रितः,-इत्याह

केतकीकुसुमसौरभे भृशं भृङ्ग एव रसिको न मक्षिका ।
भैरवीयपरमाद्वयार्चने कोऽपि रज्यति महेशचोदितः ॥२७६॥

नन्वत्रासवत्या किं स्यात् ? इत्याशङ्क्याह

अस्मिंश्च यागे विश्रान्तिं कुर्वतां भवडम्बरः ।

हिमानीव महाग्रीष्मे स्वयमेव विलीयते ॥२७७॥

अत्र च सामान्येनोपक्रान्तमधिकारिणमुपसंहारभङ्ग्या विशेषेण निर्देष्टुमाह

अलं वातिप्रसङ्गेन भूयसातिप्रपञ्चिते ।
योग्योऽभिनवगुप्तोऽस्मिन्कोऽपि यागविधौ बुधः ॥२७८॥

अथ वा याज्ययाजकादावेवं बहुशाखम् 'अतिप्रपञ्चिते' पौनःपुन्यपरीक्षणलक्षणेन 'अतिप्रसङ्गेनालम्'; यतो'ऽस्मिन्' समनन्तरोक्तस्वरूपे 'यागविधौ' अभितो ग्राह्यग्राहकाद्यनन्तभेदसंभिन्ने जडाजडवर्गे, यो 'नवः' अनवच्छिन्नज्ञत्वकर्तृत्वात्मकगुणपरामर्शनरूपः स्वात्मस्तवः, तेन 'गुप्तो' मायाव्यामोहमुषितत्वेऽपि परिरक्षितसार्वात्म्यमयनिजवैभवः, अत एव च 'कोऽपि' अलौकिकः; अच च एवंविधोऽयमेव ग्रन्थकारोऽत्र योग्य इत्यर्थः ॥ २७८ ॥

एतदेव श्लोकस्य प्रथमार्धेनोपसंहरति

इत्यनुत्तरपदप्रविकासे शाक्तमौपयिकमद्य विविक्तम् ॥

'अद्य' इत्यनेन आह्निकशब्दार्थस्तात्त्विकः,--इति प्रकाशितम्, इति शिवम् ॥

शाक्तसमावेशवशप्रोन्मीलितसद्विकल्पविश्वेन ।
निरणायि जयरथेन प्रस्फुटमिदमाह्निकं तुर्यम् ॥

इति श्रीमन्महामाहेश्वराचार्यवर्य-श्रीमदभिनवगुप्तविरचिते तन्त्रालोके

श्रीजयरथविरचितविवेकाभिख्यव्याख्योपेते शाक्तोपायप्रकाशनं
नाम चतुर्थमाह्निकं समाप्तम् ॥ ४ ॥

अथ

श्रीतन्त्रालोके

श्रीमन्महामाहेश्वराचार्याभिनवगुप्तविरचिते

श्रीजयरथकृतविवेकाख्यटीकोपेते

पञ्चममाह्निकम्

यो नाम घोरनिनदोच्चारवशाद्भीषयत्यशेषजगत् ।
स्वस्थानध्यानरतः स जयत्यपराजितो रुद्रः ॥१॥

इदानीं प्राप्तावसरमाणवोपायमपरार्धेन निरूपयितुमुपक्रमते

आणवेन विधिना परधाम प्रेप्सतामथ निरूप्यत एतत् ॥१॥

'विधिना' इत्युच्चारादिरूपेण । 'एतत्' इति वक्ष्यमाणमाणवोपायलक्षणम् ॥ १ ॥

ननु, शाक्तोपायेनैव सर्वं सिद्ध्येदिति किमर्थम् एतन्निरूप्यते ? इत्याशङ्कां गर्भीकृत्याह

विकल्पस्यैव संस्कारे जाते निष्प्रतियोगिनि ।
अभीष्टे वस्तुनि प्राप्तिर्निश्चिता भोगमोक्षयोः ॥२॥

विरुद्धविकल्पान्तरोदयाभावात् 'विकल्पस्य' शाक्तोपायनिरूपितनीत्या 'जात' एव स्फुटतमविकल्पस्वरूपासादनात्मनि 'संस्कारे' भोगमोक्षयोर्मध्यादेकतरत्र 'अभीष्टे वस्तुनि निश्चिता' नियमवती 'प्राप्ति' भवेत्---इत्याह्निकान्तरम् इदमनारम्भणीयमेव,—इति तात्पर्यार्थः ॥ २ ॥

ननु यद्यप्येवं तथापि विकल्पस्य द्वयी गतिः, स हि कस्यचिदुपायान्तरनिरपेक्षतया स्वस्वातन्त्र्यादेव संस्कृतः स्यात्, कस्यचित्तु अन्यथा । तत्र पूर्वः प्रकारः शाक्तोपाये निरूपितः; इतरः पुनराणवोपाये निरूपयिष्यते;—इति युक्त एवाह्निकान्तरारम्भः, तदाह

विकल्पः कस्यचित्स्वात्मस्वातन्त्र्यादेव सुस्थिरः ।
उपायान्तरसापेक्ष्यवियोगेनैव जायते ॥३॥
कस्यचित्तु विकल्पोऽसौ स्वात्मसंस्करणं प्रति ।
उपायान्तरसापेक्षस्तत्रोक्तः पूर्वको विधिः ॥४॥

'पूर्वको विधिरुक्त' इत्युपादानादपरो वक्ष्यते,--इत्यर्थसिद्धम् ॥३॥४॥

ननु विकल्पोऽपि अर्थावभासरूपत्वात् निर्विकल्पवच्चिदात्मैवेति को नाम तत्र संस्कारः। संस्कारो हि अतिशयः, स च न संविदि युज्यते,--इति कस्य नामोपायान्तरं प्रति सापेक्षत्वमनपेक्षत्वं च स्यात् ?--इत्याशङ्क्याह

विकल्पो नाम चिन्मात्रस्वभावो यद्यपि स्थितः ।
तथापि निश्चयात्मासावणोः स्वातन्त्र्ययोजकः ॥५॥

'यद्यप्येवं तथापि असौ विकल्पो' नायमघटो भवतीत्यन्यापोहेन घटोऽयमिति निश्चयात्मकत्वात् 'अणोः' संकुचितस्य प्रमातुः स्वातन्त्र्यं योधयति, विकल्प्यमानेऽर्थे तस्यैव स्वातन्त्र्योपपत्तेः। अत एव क्षेत्रज्ञव्यापारो विकल्पः,--इत्युक्तम्। तथाहि घटावभासेऽनवभातमपि घटविपर्ययं व्यवहारोपयोग्यतया स्वस्वातन्त्र्यादेव प्रमाता प्रतिपद्यतेः, अन्यथा हि मायापदे परस्परपरिहारप्रतीतिं विना ग्राह्यग्राहकभावाद्यात्मा व्यवहार एव न सिद्ध्येत्। अतश्च चिदेकरूपत्वेऽपि विकल्पोऽन्यापोहरूपत्वात् भेदमयः--इति तदपसारणाय स्वात्मनि संस्कारमपेक्षते, यदाधानायापि क्वचिदुपायमुखप्रेक्षित्वमस्य,--इति युक्तमुक्तं 'विकल्पोऽसौ स्वात्मसंस्करणं प्रति। उपायान्तरसापेक्ष' इति। संस्कारश्चास्य अस्फुटत्वादिक्रमेण स्फुटतमत्वापत्तिपर्यन्तं पारमार्थिकस्वात्मप्रत्ययरूपनिर्विकल्पकज्ञानात्मत्वासादनम्। यदुक्तं प्राक्

'ततः स्फुटतमोदारताद्रूप्यपरिबृंहिता ।
संविदभ्येति विमलामविकल्पस्वरूपताम् ॥'
(तं० ४ अ० ६ श्लो०)

इति ॥ ५ ॥

तत्संस्काराधाने च वक्ष्यमाणनीत्या ध्यानादयो बहव उपायाः,—इति तद्भेदात् तस्याप्यनैक्यम्,--इत्याह

निश्चयो बहुधा चैष तत्रोपायाश्च भेदिनः।
अणुशब्देन ते चोक्ता दूरान्तिकविभेदतः ॥६॥

बहुधात्वे हेतुः 'तत्रोपायाश्च भेदिन' इति तद्भेदेऽपि हेतुः 'दूरान्तिकविभेदत' इति। केचिद्धि उपायाः संविदि संनिकृष्टाः, केचिच्च विप्रकृष्टाः। तथा च

'प्राक् संवित् प्राणे परिणता।'

इति नित्या बुद्ध्याद्यपेक्षया तत्र प्राणस्यान्तरङ्गत्वात् तद्गमुच्चारादि संनिकृष्टं, तदपेक्षया च बुद्धिगं ध्यानादि विप्रकृष्टं, ततोऽपि देहगतं करणादि,—इति एते चोपाया अत्रैव संभवन्ति न पुनः शाक्ते,—इति कुतोऽत्रगम्यते,—इत्याशङ्क्योक्तम् 'अणुशब्देन ते चोक्ता' इति। तेनाणुषु भेदिषूपायेषु भवः, इत्याणवः ॥ ६ ॥

ननु प्राणादयो जाड्यादपारमार्थिकाः, तत्कथं गद्गतमुच्चारादि पारमार्थिकस्वरूपलाभनिमित्तं स्यात् ?—इत्याशङ्क्याह

तत्र बुद्धौ तथा प्राणे देहे चापि प्रमातरि।
अपारमार्थिकेऽप्यस्मिन् परमार्थः प्रकाशते ॥७॥

'प्रमातरि' इति बुद्ध्यादौ सर्वत्रैव योज्यम्। 'अपारमार्थिक' इति बुद्ध्यादेर्वस्तुतो वेद्यरूपत्वेऽपि तथा परिकल्पनात् ॥ ७ ॥

ननु यदेव प्रश्नितं तदेवोत्तरीकृतम्,—इति किमेतत् ? इत्याशङ्क्याह

यतः प्रकाशाच्चिन्मात्रात् प्राणाद्यव्यतिरेकवत्।

एवं चिदव्यतिरेकात्प्राणादीनामपि पारमार्थिकत्वमेव,—इति भावः। यदभिप्रायेणैव

'यद्यप्यर्थस्थितिः प्राणपुर्यष्टकनियन्त्रिते।
जीवे निरुद्धा तत्रापि परमात्मनि सा स्थिता ॥'
(अजडप्रमातृसिद्धौ २० श्लो०)

इत्यादि अन्यत्रोक्तम् ॥

ननु प्राणादेर्नीलादेश्च चिदव्यतिरेकात् तुल्यमनेन पारमार्थिकत्वं,

नास्त्यत्र काचिदस्माकं विमतिः; किंतु मायापदे प्राणादेर्जाड्येऽपि कथं चित्त्वं संगच्छते ? इत्याशङ्क्याह

तस्यैव तु स्वतन्त्रत्वाद्द्विगुणं जडचिद्वपुः ॥८॥

तु-शब्दो हेतौ। यतस्तस्यैव चिदात्मनः प्रकाशस्य स्वान्त्र्यात्, अर्थात् तत् प्राणादि जडचिद्रूपत्वात् 'द्विगुण' जडत्वचित्त्वलक्षणगुणद्वययोगि,--इत्यर्थः। परमेश्वर एव हि मायीयसर्गचिकीर्षायां स्वस्वातन्त्र्येण बहिरवभासितभावराशिमध्यात् कांश्चिज्जडानपि प्राणादीन् स्वगताहन्तात्मककर्तृत्वाभिषेकेण ग्राहकीभावयति, कांश्चिदपि शब्दादीन् इदन्तापात्रतया चिद्रूपतातिक्रमेण ग्राह्यतामापादयति; तेन प्राणादीनां जाड्येऽपि परमेश्वरस्वातन्त्र्यादेव चित्त्वम्—इति ॥ ८ ॥

न केवलमेतद्युक्तित एव सिद्धं यावदागमतोऽपि,--इत्याह

उक्तं त्रैशिरसे चैतद्देव्यै चन्द्रार्धमौलिना।

तदेव पठति

जीवः शक्तिः शिवस्यैव सर्वत्रैव स्थितापि सा ॥९॥
स्वरूपप्रत्यये रूढा ज्ञानस्योन्मीलनात्परा।

यद्यपि 'शिवस्यैव' चिन्मात्रात्मनः परस्य प्रकाशस्य सबन्धिनी 'परा' विश्वस्फाररूपा 'शक्तिः' 'सर्वत्र' जडे प्राणघटादाववस्थिता तद्रूपतया परिस्फुरिता तथापि 'सा' अर्थात् प्राणदिरूपाहन्तात्मककर्तृतारूपस्य 'ज्ञानस्योन्मीलनात्' स्वस्यात्मनो रूपस्य च नीलादेः 'अहमिदं जानामि' इत्येवंरूपः संकुचितप्रमातृव्यापारस्वभावो विकल्पात्मा यः 'प्रत्ययः' तत्र 'रूढा' प्ररोहं व्याप्ता सती 'जीवः' प्राणबुद्ध्यादिप्रमातृरूपतया व्यपदिश्यते,--इत्यर्थः ॥ ९ ॥

तथापि अत्र परमार्थप्रकाशनं कथम् ? इत्याशङ्क्याह

तस्य चिद्रूपतां सत्यां स्वातन्त्र्योल्लासकल्पनात् ॥१०॥
पश्यञ्जडात्मताभागं तिरोधायाद्वयो भवेत्।

'तस्य' जडस्य चिद्वपुषः प्राणादेर्जडरूपमेकं 'भागं तिरोधाय' तत्राहन्ताभिमानमभिभूय ? स्वातन्त्र्योल्लासनाद्धेतोश्चिद्रूपतामेव पारमार्थिकीं 'पश्यन्'

अकृत्रिमपराहन्तास्पदत्वेनानुभवन् 'अद्वयो भवेत्' संविन्मात्ररूपतया परिस्फुरेत्,--इत्यर्थः । तदुक्तम्

'बुद्धौ प्राणे तथा देहे देशे या जडता स्थिता ।
तां तिरोधाय मेधावी संविद्रश्मिमयो भवेत् ॥'

इति । एवमत्र प्राणदेर्जाड्येऽपि चिद्रूपतैव परमार्थः--इत्येषां पारमार्थिकस्वरूपलामे निमित्तत्वम्,--इत्युक्तं स्यात् ॥ १० ॥

एतदेव पक्षान्तरेणाप्याह

तत्र स्वातन्त्र्यदृष्ट्या वा दर्पणे मुखबिम्बवत् ॥११॥
विशुद्धं निजचैतन्यं निश्चिनोत्यतदात्मकम् ।

अथवा यथायं लोकः स्वमुखप्रतिविम्बमागमापायित्वात् दर्पणातिरिक्तं निश्चिनोति, एवमसौ योगी 'तत्र' प्राणादौ स्वस्वातन्त्र्यमाहात्म्यात् 'विशुद्धं' वेद्यताद्यकलङ्कितम्, अत एव

'नाहं प्राणो नैव शरीरं न मनोऽहम् ।'
(हरिमीडे स्तो० श्लो० ३६)

इत्याद्युक्तेः 'अतदात्मकम्' अप्राणादिरूपं ततोऽतिरिक्तं निजं स्वाभाविकमेव चिद्रूपत्वम्' इत्यमेव अस्य पारमार्थिकस्वरूपलाभो भवेत्,--इति ॥ ११ ॥

ननु यथा दर्पणादतिरेकेण प्रतिबिम्बस्य सत्ता नास्ति, एवं संविदतिरेकेणापि प्रमातृप्रमेयाद्यात्मनो विश्ववैचित्र्यस्यास्य,--इति प्राङ्निर्णीतं, तत् कथमिह अन्यथोच्यते ? इत्याशङ्क्याह

बुद्धिप्राणादितो भिन्नं चैतन्यं निश्चितं बलात् ॥१२॥
सत्यतस्तदभिन्नं स्यात्तस्यान्योन्यविभेदतः ।

बुद्ध्यादिभ्यो वलादनुपपन्नेव क्रमेण 'भिन्नम्' अतिरिक्तं 'निश्चितमपि चैतन्यं' वस्तुतस्तदनतिरिक्तमेव भवेत; यतस्तस्य बुद्ध्यादेरेव परस्परमस्ति भेदः, प्रातिस्विकेन प्रतिनियतेन रूपेण चेत्यमानत्वात्; चैतन्यं पुनर्बुद्ध्याद्यनुस्यूतमेव भायात् अन्यथा हि बुद्ध्यादीनां चेत्यमानत्वमेव न स्यात् ॥ १२ ॥

नन्वेकमेव चैतन्यं कथमनन्तबुद्ध्यादिरूपाविभिन्नं भवेत् ? इत्याशङ्क्याह

विश्वरूपाविभेदित्वं शुद्धत्वादेव जायते ॥१३॥

निष्ठितैकस्फुरन्मूर्तेर्मूर्त्यन्तरविरोधतः ।

इह खलु परप्रकाशात्मनश्चैतन्यस्य 'शुद्धत्वात्' प्रतिनियतस्वीकारकलङ्कितत्वेन अनवभास्यत्वात् स्वप्रकाशत्वलक्षणात् नैर्मल्यातिशयात् 'विश्वैः' निखिलैर्बुद्ध्यादिभिराकारैः अविभेदित्वं जायत एव' न न जायते,—इत्यर्थः। एतदेव हि नामास्य शुद्धत्वं यत् दर्पणादिवत् तत्तदनेकाकारधारितया प्रस्फुरति,—इति। न च एवं विरोधः कश्चित्; यतो 'निष्ठिता' देशकालादिसंकोचान्नैयत्येन प्राप्तप्रतिष्ठाना, अत एव 'एका' सर्वतो व्यावृत्तत्वात् निःसहाया 'स्फुरन्ती' तथात्वेन भासमाना मूर्तिः' यस्य तस्य बुद्ध्यादेः 'मूर्त्यन्तरेण' प्राणादिसंबन्धिना 'विरोधो' मूर्तस्य मूर्त्यन्तरानुप्रवेशायोगात् ॥ १३ ॥

ननु

'वर्तमानावभासानां भावानामवभासनम्।
अन्तःस्थितवतामेव घटते बहिरात्मना ॥'
(ई० १ अ० ५ आ० १ का०)

इत्यादिनीत्या प्रमात्रैकात्म्येनावस्थितानामेव भावानां बहिरवभासनं भवेत्,—इति सर्वत्रैव उपपादितं, तत् बुद्ध्यादेरपि प्रमातुरन्तरवस्थितानामेव अर्थानां किं बहिरवभासनं भवेन्न वा ? इत्याशङ्क्याह

अन्तः संविदि सत्सर्वं यद्यप्यपरथा धियि ॥१४॥
प्राणे देहेऽथवा कस्मात्संक्रामेत्केन वा कथम्।
तथापि निर्विकल्पेऽस्मिन्विकल्पो नास्ति तं विना ॥१५॥
दृष्टेऽप्यदृष्टकल्पत्वं विकल्पेन तु निश्चयः।

'यद्यपि संविद्यन्तर्' ऐकात्म्येन 'सर्वम्' इदं भावजातं संभवेत्, अन्यथा बुद्ध्यादौ प्रमातरि सर्वमिदं 'कस्मात्' संविदतिरिक्तात्मकात् 'केन वा' स्वातन्त्र्यव्यतिरिक्तेन हेतुना 'कथं' केन वा अहन्तेदन्तादिपरामर्शातिरिक्तेन प्रकारेण 'संक्रामे' प्रतिबिम्बकल्पतयावभासेत,—इत्यर्थः। अन्यथा हि बुद्ध्यादेरपि तत्तदर्थावभासो न भवेत्—इति भावः। 'तथापि अस्मिन्' बुद्ध्यादौ प्रमातरि

'तस्यां निर्विकल्पकदशायामैश्वरो भावः पशोरपि।'

इत्याद्युक्तयुक्त्या सर्वभावाविभेदावभासात्मनि 'निर्विकल्पे'ऽन्तरतथात्वेन निश्चायको विकल्पो नास्ति' येन सर्वमेवेदम् अविभेदेनावभासमानं स्यात्; यतो

'दृष्टमपि अविमृष्टमदृष्टमेव ।'

इत्याद्युक्त्या विकल्पमन्तरेण 'दृष्टेऽपि अदृष्टकल्पत्वं' यथैव दृष्टं तथैव न प्ररूढम्,—इत्यर्थः । तु-शब्दो हेतौ; यतो 'विकल्पेनैव' इदमित्थमित्येवमात्मा 'निश्चयः' स्यात् । स च विकल्पः संकुचितस्य प्रमातुर्व्यापारः,—इत्यंशांशिकया भेदेनैव निश्चिनुयात्, न तु अभेदन,—इति नास्ति बुद्ध्यादीनां सर्वभावाविभेदेनावभासः,—इति युक्तमुक्तं 'तस्यान्योन्यविभेदतः' इति ॥ १५ ॥

नन्वेवं बुद्ध्यादेरपारमार्थिकत्वेऽपि ध्यानादिद्वारेण यथा परमार्थप्रकाशने निमित्तत्वमुक्तं, तथा शून्यस्यापि कथं न ? इत्याशङ्क्याह

बुद्धिप्राणशरीरेषु पारमेश्वर्यमञ्जसा ॥१६॥
विकल्प्यं शून्यरूपे न प्रमातरि विकल्पनम् ।

इह खलु बुद्ध्यादौ प्रमातरि अहन्तास्पदत्वात् ज्ञत्वकर्तृत्वलक्षणं 'पारमेश्वर्यमञ्जसा विकल्प्यं तत्तदवच्छेदमुखेन स्फुटं कृत्वा निश्चेयं, येन तद्गतं ध्यानादि पारमार्थिकस्वरूपलाभनिमित्तं स्यात् । 'शून्यरूपे' पुनः 'प्रमातरि' वस्तुतः संभवेऽपि पारमेश्व[र्य]स्य नियतावच्छेदायोगात् तद्विकल्पयितुमेव न शक्यम्,—इति कथं नामास्य परमार्थप्रकाशने निमित्तत्वं भवेत् । एवं बुद्ध्यादीनां त्रयाणामेव अत्र निमित्तत्वम्,—इत्युक्तं स्यात् ॥ १६ ॥

नन्वेषां बुद्ध्यादीनां किं नाम तदस्ति, यदवलम्बनेनापि पारमार्थिकस्वरूपलाभो भवेत् ? इत्याशङ्क्याह

बुद्धिर्ध्यानमयी तत्र प्राण उच्चारणात्मकः ॥१७॥

'ध्यानमयी' इति अनुसंधानप्राधान्यात् ॥ १७ ॥

उच्चारणं लक्षयति

उच्चारणं च प्राणाद्या व्यानान्ताः पञ्च वृत्तयः ।

पञ्चेति । यदुक्तम्

'प्राणोऽपानः समानश्च उदानो व्यान एव च ।'

इति ॥

ननु द्विधा प्राणीया वृत्तिरस्ति--यदेका पञ्चानामपि प्राणादीनां भित्तिभूता सामान्यप्राणीया, अपरा च विशिष्टप्राणात्मिका,--इति; तत् पञ्च वृत्तय उच्चारणम्,--इति कथमुक्तम् ? इत्याशङ्क्याह

आद्या तु प्राणनाभिख्यापरोच्चारात्मिका भवेत् ॥१८॥

'प्राणनाभिख्या' इत्यान्तरोद्योगरूपा जीवनापरपर्याया प्राणनामात्रस्वभावा,--इत्यर्थः । यद्वक्ष्यति

'इयं सा प्राणना शक्तिरान्तरोद्योगदोहदा ।
स्पन्दः स्फुरत्ता विश्रान्तिर्जीवो हृत्प्रतिभा मतिः ॥
सा प्राणवृत्तिः प्राणाद्यैः रूपैः पञ्चभिरात्मसात् ।
देहं यत्कुरुते संवित्पूर्णस्तेनैष भासते ॥'
(६ आ० १२ श्लो०)

इति । तदत्र विशिष्टा एव प्राणादिवृत्तयो विवक्षिताः,--इति युक्तमुक्तं--पञ्च वृत्तय उच्चारणम्--इति । एतत्स्वरूपं च पुरस्ताद्भविष्यति,--इति नेहायस्तम् ॥ १८ ॥

एवं बुद्धिप्राणयोरसाधारणं रूपमभिधाय शरीरस्याप्यभिधत्ते

शरीरस्याक्षविषयैतत्पिण्डत्वेन संस्थितिः ।

'अक्षाणि' इन्द्रियाणि 'विषयाः' कार्याणि 'एते' प्राणादयः तेषां पिण्डत्वेन' एकीभावेन 'संस्थितिः' नाम देहप्रमातुरसाधारणं रूपम्,--इत्यर्थः ॥

इदानीमधिकारिनिरूपणान्तरं ध्यानादेः स्वरूपं वक्तुमुपक्रमते

तत्र ध्यानमयं तावदनुत्तरमिहोच्यते ॥१९॥

तदेवं बहूपायसाध्यत्वेऽपि 'ध्यानं' प्रकृतं मूलकारणं यस्यैवंविधम् 'अनुत्तरं' पारमार्थिकं रूपम् 'इह उच्यते' सांप्रतं प्राप्तावसरमभिधीयते,--इत्यर्थः । अत एव तावच्छब्दः क्रमद्योतकः, अनुजोद्देशे हि बुद्धिध्यानमित्याद्युपक्रमः ॥ १९ ॥

तदाह

यः प्रकाशः स्वतन्त्रोऽयं चित्स्वभावो हृदि स्थितः ।
सर्वतत्त्वमयः प्रोक्तमेतच्च त्रिशिरोमते ॥२०॥

'योऽयं चित्स्वभावो'ऽर्कादिप्रकाशविलक्षणोऽत एव स्वप्रकाशत्वात् 'स्वोतन्त्रो' ऽत एव च 'सर्वतत्त्वमयः' तत्तद्रूपतया परिस्फुरन् 'प्रकाशो हृदि' स्वपरामर्शे

'साक्षं सर्वमिदं देहं यद्यपि व्याप्य संस्थितः ।
तथाप्यस्य परं स्थानं हृत्पङ्कजसमुद्गकम् ॥'

इत्यादिनीत्या हृदयेऽवस्थितः, तत्रैव तत्त्वविदा साक्षात्कार्यः,—इत्यर्थः । नन्वत्र किं प्रमाणम्—इत्युक्तम् 'एतच्च त्रिशिरोमते प्रोक्तम्' इति ॥ २० ॥

तत्रत्यमेव ग्रन्थं पठति

कदलीसंपुटाकारं सबाह्याभ्यन्तरान्तरम् ।
ईक्षते हृदयान्तःस्थं तत्पुष्पमिव तत्त्ववित् ॥२१॥

इह खलु आत्मज्ञः 'तत्' स्वतन्त्रप्रकाशात्म परं ब्रह्म आनन्दातिशयदायितया परमोपादेयत्वेन 'पुष्पमिव'

'......................हृदि ध्येयो मनीषिणाम् ।'

इत्याद्युक्त्या 'हृदयान्तःस्थमीक्षते' साक्षात्कुर्यात्,—इत्यर्थः । यतस्तत् 'कदल्या' योऽसौ 'संपुटः' परस्परमन्तर्बहीरूपतया मिलितानां दलानां संनिवेशः तद्वदोतप्रोतत्वेनावस्थितैर्भूततन्मात्रेन्द्रियादिभिस्तत्त्वैः संवलित 'आकारो' यस्य तत्; अत एव 'बाह्यं' साधारणं तत्त्वजातम् 'आभ्यान्तरम्' असाधारणं तयोः साकल्यं 'सबाह्याभ्यन्तरं' तस्य 'आन्तरं' परप्रमात्रेकरूपम्,—इत्यर्थः । इदमुक्तं भवति—यथा कश्चित् कदल्या बाह्यं निःसारं दलमपास्य, शनैः शनैरान्तरमान्तरमाददानः पर्यन्ते परमोपादेयं पुष्पमादत्ते, तथैव तत्त्वविद्बाह्यं बाह्यं शारीरं तत्त्वजातं परित्यज्य, हृदयान्तः परिस्फुरन्तं स्वात्मानं साक्षात्कुर्यात्,—इत्यर्थः ॥ २१ ॥

नन्वात्मनः सर्वदेहव्यापकत्वेऽपि कथं हृदय एव साक्षात्कारो भवेत् ? इत्याशङ्क्याह

सोमसूर्याग्निसंघट्टं तत्र ध्यायेदनन्यधीः ।

यतः 'तत्र' हृदये सावधानो योगी प्राणापानोदानात्मनां 'सोमसूर्याग्नीनां संघट्टं ध्यायेत्' कुम्भकवृत्त्योन्मीलनामनुसंदध्यात्,--इत्यर्थः ॥

ननु तत्रैवमनुध्यायतः किं फलम् ? इत्याशङ्क्याह

तद्ध्यानारणिसंक्षोभान्महाभैरवहव्यभुक् ॥२२॥

हृदयाख्ये महाकुण्डे जाज्वलन् स्फीततां व्रजेत् ।

'तत्' समनन्तरोक्तं सोमसूर्याग्निसंघट्टात्मयत् 'ध्यानं' तदेव 'अरणिः' तस्याः सम्यक् प्राणापानगतित्रोटनेन निर्विकल्पतया मध्यधामानुप्रवेशात्मा यः 'क्षोभः' ततो हेतोः हृत्कुण्डे पारिमित्यतिरस्कारेणात्यर्थं ज्वलम् महाभैरवाग्नि 'स्फीततां व्रजेत्' पूर्णप्रमातृरूपतया स्वात्मसाक्षात्कारो भवेदित्यर्थः । तदुक्तम्

> 'न व्रजेन्न विशेच्छक्तिर्मरुद्रूपा विकासिते ।
> निर्विकल्पतया मध्ये तथा भैरवरूपधृत् ॥'
>
> (विज्ञा० २६ श्लो०)

इति ॥ २२ ॥

नन्वेतावतैव कथमेवं स्यात् ? इत्याशङ्क्याह

तस्य शक्तिमतः स्फीतशक्तेर्भैरवतेजसः ॥२३॥

मातृमानप्रमेयाख्यं धामाभेदेन भावयेत् ।

यतः 'तस्य' स्वातन्त्र्यशालिनो भैरवात्मनः परस्य प्रकाशस्य मितप्रमात्रादिधामत्रयम् 'अभेदेन भावयेत्' तस्सादभूतमनुसंदध्यात् । येन पारिमित्यतिरस्कारेण परप्रमात्रैकात्म्यमुदियात् ॥ २३ ॥

ननु सोमसूर्याग्निसंघट्टात्म ध्यानं परप्रमातृतापत्तो निमित्तम्,--इत्युक्तं तत्कथमिदानीमेव तदभेदेन मितमात्रादेर्भावनमप्युच्यते,--इत्याशङ्क्याह

वह्न्यर्कसोमशक्तीनां तदेव त्रितयं भवेत् ॥२४॥

'तत्' प्रमात्रादि त्रितयं वह्न्यादिशक्तीनामेव संबन्धि तद्रूपमेवेत्यर्थः ॥ २४ ॥

न केवलमेतत् वह्न्यादिशक्तिरूपमेव यावत् परादिरूपमपि,--इत्याह

परा परापरा चेयमपरा च सदोदिता ।

'सदा सृष्टिस्थितिसंहाराख्यदशासु 'उदिता' इति प्रत्येकमभिसंबन्धः ॥

अत आह

सृष्टिसंस्थितिसंहारैस्तासां प्रत्येकतस्त्रिधा ॥२५॥

ननु आसां सदोदितत्वादनाख्यदशायामपि उदयः संभवेत्,—इति कथं सृष्टयादिरूपतया प्रत्येकं त्रित्वमेवोक्तम् ? इत्याशङ्कयाह

चतुर्थं चानवच्छिन्नं रूपमासामकल्पितम् ।

'अनवच्छिन्नं' सृष्टाद्यवच्छेदशून्यम्, अत एव 'अकल्पितं तात्त्विक-मित्यर्थः ॥

एतदेव संकलयति

एवं द्वादश ता देव्यः सूर्यबिम्बवदास्थिताः ॥२६॥
एकैकमासां वह्न्यर्कसोमतच्छान्तिभासनम् ।

'ताः' पराद्याः । अत्रैव हृदयङ्गमीकरणाय पुनः 'एकैकम्' इत्यादिः हेतुः । एतच्च अनन्तराह्निक एव वितत्य निर्णीतम्,—इति न पुनरिहायस्तम् ॥ २६ ॥

सर्वस्व चैतदनुभवसिद्धं न तु अपूर्वं किंचित्,—इति दर्शयितुमाह

एतदानुत्तरं चक्रं हृदयाच्चक्षुरादिभिः ॥२७॥
व्योमभिर्निःसरत्येव तत्तद्विषयगोचरे ।

'एतत्' समनन्तरोक्तं द्वादशात्मकम् आनुत्तरं चक्रं हृदयात्' तत्स्थात्परमेश्वररूपात् आत्मनश्चक्षुरादीन्द्रियव्योमवर्त्मना तत्तद्रूपादिविषयस्वीकार-निमित्तं तत्तद्वृत्तिरूपतया निःसरत्येव,' नतु न कदाचिन्निःसरतीत्यर्थः । इदमुक्तं भवति—यन्नाम प्रबुद्धस्याप्रबुद्धस्य वा स्वरसत एव चक्षुरादीन्द्रिय-वृत्तिद्वादशकं रूपाद्यर्थालोचनाय द्रसरद्वर्तते, तदेव इदमानुत्तरं चक्रम्,—इति, किंतु अप्रबुद्धस्य तथात्वेनापरिज्ञायमानत्वात् बन्धकं, प्रबुद्धस्य तु मोचकम्, इति विशेषः । यथोक्तम्

'सेयं क्रियात्मिका शक्तिः शिवस्य पशुवर्तिनी ।
बन्धयित्री स्वमार्गस्था ज्ञाता सिद्ध्युपपादिका ॥' (स्प० ४।१८)

इति । तथा

'येन येन निबध्यन्ते जन्तवो रौद्रकर्मणा ।
सोपायेन तु तेनैव मुच्यन्ते भवबन्धनात् ॥'

इति ॥ २७ ॥

न केवलमेतत् अत्रैव यावदर्थेऽपि,—इत्याह

तच्चक्रभाभिस्तत्रार्थे सृष्टिस्थितिलयक्रमात् ॥२८॥
सोमसूर्याग्निभासात्म रूपं समवतिष्ठते ।

'तस्य' समनन्तरोक्तस्य दृगादिदेवीद्वादशकात्मनः 'चक्रस्य' तत्तद्वृत्तिरूपाभिः 'भाभिः, तत्रार्थे' तत्र तत्र विषये सृष्टिस्थितिसंहाराख्यरूपतामवलम्ब्य सोमाद्यात्ममेयमानमातृस्फारलक्षणं 'रूपं' सम्यक् स्वस्वरूपाविभेदेन 'अवतिष्ठते' किंचित्संकुचत्तया बहिर्मुखत्वेन प्रस्फुरतीत्यर्थः । प्रमाता हि प्रथममवभास्यमानतया अर्थं सृजति, तदनु तत्रैव प्रशान्तनिमेषं कंचित्कालमनुरज्यन् परिस्थापयति, पश्चात् 'ज्ञातोऽयं मयार्थः' इति संतोषाभिमानात् स्वात्मनि विमृशन्नुपसंहरति, अनन्तरं हठपाकक्रमेण अलंग्रासयुक्त्या पूर्णत्वापादनेन चिदग्निसाद्भावमापादयति,—इति अर्थोऽपि दृगादिदेवीवच्चातूरूप्यमश्नुवानः सर्वस्य सर्वात्मकत्वात् तत्तादात्म्यमेवोपलभते इति ॥२८॥

अतश्च यत्र क्वापि एतच्चक्षुरादिमरीचिचक्रं निपतेत्, तत्रैतद्रूपतामेव विमृशेत् येन स्वात्मध्यानं सिद्ध्येत्, तदाह

एवं शब्दादिविषये श्रोत्रादिव्योमवर्त्मना ॥२९॥
चक्रेणानेन पतता तादात्म्यं परिभावयेत् ।

ननु शब्दादि श्रोत्रादिनियतवृत्तिवेदनीयम्,—इति कथमेकैकत्र तत्र निखिलमेव श्रोत्रादिवृत्तिचक्रं निपतेत्,—इति किमेतदुक्तम् ? इत्याशङ्क्याह

अनेन क्रमयोगेन यत्र यत्र पतत्यदः ॥३०॥
चक्रं सर्वात्मकं तत्तत्सार्वभौममहीशवत् ।

तत्तदेतत् 'चक्रं'

'समुदायवृत्ताः शब्दा अवयवेष्वपि वर्तन्ते ।'

इति नीत्या श्रोत्रादिलक्षणमेकैकं चक्रावयवं 'यत्र यत्र' शब्दादौ विषये

'पतति' अर्थात् तत्र तत्र 'अनेन' समनन्तरोक्तेन सृष्ट्यादिक्रमसम्बन्धेन सर्वस्य सर्वात्मकत्वात् चक्रात्मकम् अशेषवृत्त्यन्तरागुणेन स्वस्वविषयोपभोगं करोतीत्यर्थः। अत्रैव दृष्टान्तः 'सार्वभौममहीशवत्' इति। तथा सार्वभौमो राजा यत्र कुत्रचन परराष्ट्रे निपतति तत्रास्त राजान्तराणि साहायकार्थमवश्यमनुपतन्ति; एवमेकैकापि चिद्वृत्तिर्यत्र क्वाप्यर्थे प्रसरति तत्रैव वृत्त्यन्तराण्यपि अनुधावन्तीति। यदुक्तम्

'एकैकापि च चिद्वृत्तिर्यत्र प्रसरति क्षणात्।
सर्वास्तत्रैव धावन्ति ताः पुर्यष्टकदेवताः॥'

इति॥ ३०॥

नन्वेवं सर्वस्य सर्वात्मकत्वोपदेशेन किम् इत्याशङ्क्याह

इत्थं विश्वाध्वपटलमयत्नेनैव लीयते॥३१॥
भैरवीमहाचक्रे संवित्तिपरिवारिते।

'इत्थम्' उक्तेन प्रकारेण ध्यायतश्चक्षुरादिसंवित्तिदेवीचक्रपरिवार्यमाणे 'भैरवीये' परप्रमात्रात्मनि चक्रेश्वरे 'विश्वं' षड्विधम् 'अध्वपटलम् आयत्नेनैव लीयते' तत्साद्भवतीत्यर्थः। एकैकशो हि भावनामानन्त्यात् युगसहस्रैरपि संविदि विलयनं न सिद्ध्येत्,—इति सर्वस्य सर्वात्मकत्वात् एकस्मिन्नेव भावे संविदि लीने विश्वमेवाक्रमेण सुखोपायं लीनं स्यात्,—इत्ययत्नशब्दार्थः॥ ३१॥

नन्वेवमपि किम्? इत्याशङ्क्याह

ततः संस्कारमात्रेण विश्वस्यापि परिक्षये॥३२॥
स्वात्मोच्छलत्तया भ्राम्यच्चक्रं संचिन्तयेन्महत्।

'ततो'ऽनन्तरं 'संस्कारमात्रेणापि' अवस्थितस्य 'विश्वस्य' परितः समन्तात् बहीरूपतया 'क्षये' जाते सति व्यतिरिक्तवस्तुग्रासीकारात् 'स्वात्मोच्छलत्तया' स्वात्मनैव [उल्लसत्तया] 'महत्' कृत्वा 'भ्राम्यत्' सर्वतः प्रविजृम्भमाणं चक्षुरादीन्द्रियसंवित्तिरूपं 'चक्रं' सम्यक् विश्वक्रोडीकारेण 'चिन्तयेदित्यर्थः॥ ३२॥

ननु संनिहितेऽपि बाह्येऽर्थजाते चक्षुरादीन्द्रियवृत्त्यात्म संविच्चक्रमु-

दियात्,--इत्याविवादः। तदेव चेत् परिक्षीणं तत् कथमेतत् चक्रमपि स्वात्मन्युल्लसेत्,--इति किमेतदुक्तम् ? इत्याशङ्क्याह

ततस्तद्बाह्यविलयात्　तत्संस्कारपरिक्षयात् ॥३३॥
प्रशाम्यद्भावयेच्चक्रं ततः शान्तं ततः शमम् ।

'ततः' तस्मात् समनन्तरोक्तात् 'बाह्यस्य' बाह्यस्यार्थजातस्य संक्षयात् हेतोः तच्चक्रं प्रशाम्यदवस्थं ध्यायेत्; ततोऽनन्तरं 'तत्संस्कारस्यापि परिक्षयात् शान्तं' यावदन्ते 'शमं' तच्चक्रप्रशान्त्या शुद्धमेव संविन्मात्रमनुसंदध्या दित्यर्थः ॥ ३३ ॥

एतदेव संकलयति

अनेन ध्यानयोगेन विश्वं चक्रे विलीयते ॥३४॥
तत्संविदि ततः संविद्विलीनार्थैव भासते ।

ननु यद्येवं विलीनार्था संविदेवावभासते तत् विद्युदुद्योतन्यायेन प्रमातृप्रमेयात्म विश्वं भायात्,--इति सर्वदैव प्रलयोदयः स्यात् ? इत्याशङ्क्याह

चित्स्वाभाव्यात् ततो भूयः सृष्टिर्यच्चिन्महेश्वरी ॥३५॥

ननु चितः को नाम अयमेवंविधः स्वभावो येनास्या भूयोऽपि सृष्ट्यादौ कर्तृत्वम्,--इत्याशङ्क्योक्तं 'यच्चिन्महेश्वरीति' ॥ ३५ ॥

नन्वेवं विश्वस्य प्रलयोदयचिन्तनेन ध्यायतः कोऽर्थः ? इत्याशङ्क्याह

एवं प्रतिक्षणं विश्वं स्वसंविदि विलापयन् ।
विसृजंश्च ततो भूयः शश्वद्भैरवतां व्रजेत् ॥३६॥

न केवलमेतदेव चक्रं योगिना ध्येयं यावच्चक्रान्तराण्यपि,--इत्याह

एवं त्रिशूलात् प्रभृति चतुष्पञ्चारकक्रमात् ।
पञ्चाशदरपर्यन्तं चक्रं योगी विभावयेत् ॥३७॥
चतुष्षष्टिशतारं वा सहस्रारमथापि वा ।
असंख्यारसहस्रं वा चक्रं ध्यायेदनन्यधीः ॥३८॥

एतच्च पुरस्तादेव गतार्थम्,--इति न पुनरिहायस्तम् ॥ ३७ ॥ ३८ ॥

नन्वसंख्यारत्वे किं निमित्तम् ? इत्याशङ्क्याह

संविन्नाथस्य महतो देवस्योल्लासिसंविदः ।
नैवास्ति काचित्कलना विश्वशक्तेर्महेशितुः ॥३९॥

नन्वत्र किं प्रमाणम् ? इत्याशङ्क्याह

शक्तयोऽस्य जगत् कृत्स्नं शक्तिमांस्तु महेश्वरः ।
इति माङ्गलशास्त्रे तु श्रीश्रीकण्ठो न्यरूपयत् ॥४०॥

यदुक्तं तत्र

'शक्तिश्च शक्तिमांश्चैव पदार्थद्वयमुच्यते ।
शक्तयश्च जगत्सर्वं शक्तिमांश्च महेश्वरः ॥'

इति ॥ ४० ॥

न चैतत् स्वोपज्ञमेवास्माभिरुक्तम्,--इत्याह

इत्येतत् प्रथमोपायरूपं ध्यानं न्यरूपयत् ।
श्रीशंभुनाथो मे तुष्टस्तस्मै श्रीसुमतिप्रभुः ॥४१॥

एतदेव अन्यत्राप्यतिदिशति

अनयैव दिशान्यानि ध्यानान्यपि समाश्रयेत् ।
अनुत्तरोपायधुरां यान्यायान्ति क्रमं विना ॥४२॥

'अन्यानि' इति शास्त्रान्तरोक्ततत्तच्चक्ररूपाणि ॥ ४२ ॥

एवं ध्यानस्वरूपं निरूप्य तदनन्तरोद्दिष्टं प्राणतत्त्वसमुच्चारं वक्तुमुपक्रमते

अथ प्राणस्य या वृत्तिः प्राणनाद्या निरूपिता ।
तदुपायतया ब्रूमोऽनुत्तरप्रविकासनम् ॥४३॥

तदेवाह

निजानन्दे प्रमात्रंशमात्रे हृदि पुरा स्थितः ।
शून्यतामात्रविश्रान्तेर्निरानन्दं विभावयेत् ॥४४॥

प्राणोदये प्रमेये तु परानन्दं विभावयेत् ।
तत्रानन्तप्रमेयांशपूरणापाननिर्वृतः ।।४५।।
परानन्दगतस्तिष्ठेदपानशशिशोभितः ।
ततोऽनन्तस्फुरन्मेयसंघट्टैकान्तनिर्वृतः ।।४६।।
समानभूमिमागत्य ब्रह्मानन्दमयो भवेत् ।
ततोऽपि मानमेयौघकलनाग्रासतत्परः ।।४७।।
उदानवह्नौ विश्रान्तो महानन्दं विभावयेत् ।

इह खलु योगी 'पुरा' प्रथमं

'अशून्यं शून्यमित्युक्तं शून्यं चाभाव उच्यते ।
अभावः स समुद्दिष्टो यत्र भावाः क्षयं गताः ।।' (स्व० ४।२९१)

इत्यादिना निरूपितस्वरूपे संविदेकात्मनि 'शून्यतामात्रे' विश्रान्तिमाश्रित्य प्राणाद्युदयविश्रामधामनि 'हृदि' विषये 'निजो' निरुपाधित्वात् स्वभावभूत 'आनन्दो' यस्यैवंविधे प्रमेयाद्यंशान्तरापेक्षया 'प्रमात्रंशमात्रे स्थितः' स्वात्मानमेव केवलतया साक्षात्कुर्वन्नवस्थितः सन्, अनन्तरं

'प्राक्संवित् प्राणे परिणता ।'

इति नीत्या प्रमाणात्मनः 'प्राणस्य' हृदयात् द्वादशान्तं रेचकक्रमेण 'उदये' कथंचिद्बहिरौन्मुख्यात् 'निरानन्दं' निजात्प्रमातृसंमतादानन्दात् निष्क्रान्तं दशाविशेषं 'विभावयेत्' लक्षयेदित्यर्थः । अपानात्मनि 'प्रमेये' पुनरुदयति 'परेण' प्रमेयेण कृतम् 'आनन्दं विभावयेत्'; यतः 'तत्र' तस्यां प्रमेयोदयदशायाम् असौ परानन्दनिष्ठस्तिष्ठेत्; यतो 'ऽनन्ता ये प्रमात्राद्यपेक्षया प्रमेयलक्षणा 'अंशाः' तत्कर्तृका येयं 'पूरणा' तत्तदर्थग्रहणेन नैराकाङ्क्ष्यं सैव 'पानं' पीतिः तेन 'निर्वृतः' स्वात्ममात्रविश्रान्तो, यस्मात् 'अपान' एवाप्यायकारितया 'शशी' तेन 'शोभितः' पूरकक्रमेण द्वादशान्ताद्धृदयं यावत् तद्दशामधिशयान इत्यर्थः । ततोऽपि हृदये कुम्भकवृत्त्या क्षणं विश्रम्य तेषां समनन्तरोक्तानां नीलसुखादिरूपतया 'अनन्तानां' प्रतिभासमानां 'मेयानाम्' अन्योन्यमेलनात्मा योऽसौ 'संघट्टः' तेन 'एकान्तेन' अव्यभिचारेण 'निर्वृतः' सन्, सममेव समग्रमेयस्वीकारात् समानभूमिमासाद्य मेयेन संभूय कृतत्वाद्बृंहितेन ब्रह्मरूणे योऽसावानन्दः, तन्मयो भवेत्, परमानन्ददशातोऽपि

विशिष्टामानन्ददशामनुभवेदित्यर्थः । तदनन्तरमपि 'मानमेययोः' सूर्यसोमात्मनोः प्राणापानयोर्य 'ओघः' प्रवाहस्तस्य याः

'षट् शतानि वरारोहे सहस्राण्येकविंशतिः ।'

(वि० भै० १५६ श्लो०)

इत्यादिना निरूपितस्वरूपाः 'कलनाः' तासां 'ग्रासतत्परः' तद्धट्टनपरायणो योगी मध्यमार्गेणोर्ध्वगामिनि 'उदानवह्नौ' उत्कर्षकक्रमेण परिहृतप्राणाद्यवान्तरक्षोभतया 'विश्रान्तो महान्तं' प्रमाणादिदशाधिशायिनिरानन्दादिवैलक्षण्यादुत्कृष्टं प्रमातृसंमतम् 'आनन्दं विभावयेत्' स्वात्ममात्रविश्रान्तिरूपतया विमृशेदित्यर्थः ॥४७॥

नन्वेवं परामर्शेनास्य किं स्यात् ? इत्याशङ्क्याह

तत्र विश्रान्तिमभ्येत्य शाम्यत्यस्मिन्महार्चिषि ॥४८॥

'तत्र' महानन्दे विश्रान्तिमागत्य 'अस्मिन् महार्चिषि' प्रमात्रात्मन्युदानवह्नौ 'शाम्यति' तदेकसाद्भवतीत्यर्थः ॥ ४८ ॥

ननु तत्र का नामास्य शान्तिरुच्यत ? इत्याशङ्क्याह

निरुपाधिर्महाव्याप्तिर्व्यानाख्योपाधिवर्जिता ।
तदा खलु चिदानन्दो यो जडानुपबृंहितः ॥४९॥

सा च शान्तिः 'निरुपाधिः' निष्क्रान्ता भेदेन स्फुरिता मातृमानमेयात्मान 'उपाधयो' यस्याः सा तथा, अत एव कलादिक्षित्यन्तं व्याप्यावस्थानात् 'महाव्याप्तिः' अत एव सर्वत्र व्यापकतयाननात् 'व्यानाख्या' व्यानदशामधिशयानेत्यर्थः । एवं सर्वमयत्वेऽपि सर्वोत्तीर्णेत्युक्तम् 'उपाधिवर्जिता' इति । अत एव 'तदा' तस्यां दशायां चिद्रूप एवानन्दः । नहि तदानीं मेयाद्यात्मनामचिताम् अवकाशोऽस्तीत्युक्तं 'यो जडानुपबृंहित' इति ॥ ४९ ॥

अत्रैव हेतूपन्यासः

नह्यत्र संस्थितिः कापि विभक्ता जडरूपिणः ।

'विभक्ता' इति अविभागेन पुनरेषामस्त्येव सद्भावः,--इति भावः यदुक्तम्

'स्वात्मेव स्वात्मना पूर्णा भावा भान्त्यमितस्य तु ।'

(ई० प्र० २।१।७)

इति ॥

ननु निरुपाधित्वादनवच्छिन्नं प्रमात्रात्म परंतत्त्वम्,--इत्युक्तं, तत् कथमत्र अविभागेनापि व्यवच्छेदका भावाः संस्युः ? इत्याशङ्क्याह

यत्र कोऽपि व्यवच्छेदो नास्ति यद्विश्वतः स्फुरत् ॥५०॥
यदनाहतसंवित्ति परमामृतबृंहितम् ।
यत्रास्ति भावनादीनां न मुख्या कापि संगतिः ॥५१॥
तदेव जगदानन्दमस्मभ्यं शंभुरूचिवान् ।

'यत्र न कोऽपि' न कश्चिदपि 'व्यवच्छेदोऽस्ति'; यत एतत् 'विश्वतः' सर्वेण रूपेण 'स्फुरत,' नहि एतदतिरिक्तमन्यत् किंचित् सभवेत्; यतोऽस्य व्यवच्छेदोऽपि भवेदिति भावः । अत एव 'यत्, अनाहता' प्रमातृ मेयाद्यात्मना सर्वतः प्रस्फुरन्ती 'संवित्तिः' यस्य तत्, अत एव स्वातन्त्र्यलक्षणेन परमेणामृतेन बृंहितं' पूर्णमनन्यापेक्षम्,--इति यावत् । अत एव प्रतिनियतरूपत्वाभावात् 'यत्र भावनादीनां न मुख्या' काचित् 'संगतिः' साक्षादुपायता नास्तीत्यर्थः । यदुक्तम्

'तेनावधानप्राणस्य भावनादेः परे पथि ।
भैरवीये कथंकारं भवेत् साक्षादुपायता ॥' (त० २।१३)

तदेतत् प्रमात्रात्म चिदेकरूपं परं तत्त्वं जगता निजानन्दाद्यात्मना विश्वेन रूपेणानन्दो यत्र यतश्चेति जगदानन्दशब्दवाच्यम् अस्मभ्यं श्रीशंभुनाथ आदिशत्, न पुनरेतदस्माभिः स्वोपज्ञमेवोक्तमित्यर्थः ॥ ५१ ॥

नचैतदुपदेशमात्रादेव विरन्तव्यम्,—इत्याह

तत्र विश्रान्तिराधेया हृदयोच्चारयोगतः ॥५२॥

'हृदयानाम्' उक्तवक्ष्यमाणानां सृष्टयाद्यात्मनां हृदयाच्चोच्चारः ॥

नन्वत्र विश्रान्त्या किं स्यात् ? इत्याशङ्क्याह

या तत्र सम्यग्विश्रान्तिः सानुत्तरमयी स्थितिः ।

एतदेवोपसंरति

इत्येतद्धृदयाद्येकस्वभावेऽपि स्वधामनि ॥५३॥
दृष्प्राणोच्चारजं रूपमथ व्याप्त्या तदुच्यते ।

यद्यपि स्वात्मतेजसो हृदादावेक एव स्वभावः, नहि हृदयाद्द्वादशान्तं ततोऽपि वा हृदयमपक्रान्तस्य कश्चिद्विशेषः। यदुक्तम्

'चलित्वा यास्यते कुत्र सर्वं शिवमयं यतः।' (स्व० ४।३१०)

इति। यदभिप्रायेणैव

'चक्राधाराटव्यां भ्रमन्त्यसत्यां परिच्युतविवेकाः।'

इत्याद्यन्यैरुक्तम्, तथापि संकोचतारतम्येन भेदोल्लासात् सामान्यविशेषरूपतया षट्प्रकारस्य प्राणस्य यः प्राणनापाननाद्यात्मोच्चारः, ततो जातं निरानन्दाद्यात्मकम् एतद्रूपम् 'इति' अनन्तरोक्तेन प्रकारेणोक्तमिति शेषः। इदानीमेतदेव मन्त्रव्याप्तिमुखेनाप्यभिधीयते, इत्याह 'अथ' इत्यादि ॥५३॥

तदेवाह

प्राणदण्डप्रयोगेन पूर्वापरसमीकृतेः ॥५४॥
चतुष्किकाम्बुजालम्बिलम्बिकासौधमाश्रयेत्।
त्रिशूलभूमिं क्रान्त्वातो नाडित्रितयसङ्गताम् ॥५५॥
इच्छाज्ञानक्रियाशक्तिसमत्वे प्रविशेत् सुधीः।

इह खलु योगी मत्तगन्धसंकोचादिक्रमेण प्राणस्य तिर्यक्प्रवाहनिरोधात् कुण्डलतापरिहारेण यो 'दण्डप्रयोगः'

'यथा दण्डाहतः सर्पो दण्डाकारः प्रजायते।
सा तथैव विबुद्धचेत गुरुणा प्रतिबोधिता ॥'

इत्यादिनीत्या प्रबुद्धभावेन दण्डाकारतासादनं, तेन 'पूर्वापरयोः' प्राणापानवाहयोः 'समीकृतेः' विषुवद्रूपावलम्बनेन मध्यधामानुप्रवेशात् 'चतुष्किका' ब्रह्मरन्ध्राधोवर्ती चतुष्पथरूपश्चिन्तामण्यभिमान आधारः 'अम्बुजं' भ्रूमध्यवर्ती विद्याकमलनामाधारः, ते 'आलम्बते' ऊर्ध्वाधोवर्तितया स्वीकरोति तच्छीला पेयं 'लम्बिका' तदूर्ध्वे सुधाया आधारः, 'सौधः' तं सुधाधारम्। अथच सुधाया इदं 'सौधं' सकारम् 'आश्रयेत् तत्र विश्रान्तिं कुर्यादित्यर्थः। 'अतो'ऽनन्तरमपि 'सुधीः' योगी नाडीत्रयसंघट्टात्मकत्वात् त्रिशूललक्षणं ब्रह्मरन्ध्रोर्ध्ववर्तिनीं नाड्याधाराभिधां 'भूमिम्' आक्रम्य

'तच्छक्तित्रितयारोहात् भैरवीये चिदात्मनि।
विसृज्यते हि तत्…………………॥' (४।१८७)

इत्याद्युक्तयुक्त्या 'इच्छाज्ञानक्रियाशक्तीनां समत्वे' तन्निर्भरे विसर्गादिशब्दव्यपदेश्ये भैरवीये रूपे प्रकर्षेण शूलवर्णपरामर्शगर्भीकारेण 'विशेत्' तत्समावेशभाग्भवेदित्यर्थः ॥ ५५ ॥

ननु कथमेतावतैवात्रानुप्रवेशः सिद्ध्येत् ? इत्याशङ्क्याह

एकां विकासिनीं भूयस्त्वसंकोचां विकस्वराम् ॥५६॥
श्रयेद्भ्रूबिन्दुनादान्तशक्तिसोपानमालिकाम् ।

तु—शब्दो भिन्नक्रमो हेतौ । यतः प्रथमम् 'एकां' दुर्भेद्यत्वात् प्रधानां भ्रुवि बिन्दुः 'भ्रूबिन्दुः' इत्यनेन भ्रूपृष्ठादारभ्य बिन्दुनादनादान्तशक्तिव्यापिनीसमना एव ऊर्ध्वोर्ध्वपदारोहोपायत्वात् 'सोपानानि' तेषां 'मालिकां श्रयेत्' ऊर्ध्वकुण्डलिनीपदसमासादनौत्सुक्यात् उद्घातक्रमेणाक्रामेदित्यर्थः । ननु

'समनान्तं वरारोहे पाशजालमनन्तकम् ।' (स्व० ४।२७)

इत्यादिनीत्या बिन्द्वादीनां संकुचितमेव रूपं संभवेत्, तत् कथं नामैतत् नित्योदितत्वात् सततमेव विकस्वरमानन्दसंपदमवाप्तुमुपायतां यायात्,—इत्याशङ्क्योक्तं 'विकासिनीम्' इत्यादि । अनेन हि एषां यथायथं विकासतारतम्यसद्भावात् नित्यविकस्वरेऽपि पदे युक्तमुपायत्वम्,—इत्युक्तम् स्यात् ॥ ५६ ॥

ननूर्ध्वकुण्डलिनीपदसमासादनेनापि किं स्यात् ? इत्याशङ्क्याह

तत्रोर्ध्वकुण्डलीभूमौ स्पन्दनोदरसुन्दरः ॥५७॥
विसर्गस्तत्र विश्राम्येन्मत्स्योदरदशाजुषि ।

यतस्तत्र औन्मनसे पदे 'स्पन्दनस्य' स्वात्मोच्छलत्ताया 'उदरम्' अनन्यस्फुरणात्मा सारस्तेन 'सुन्दरः' स्पृहणीयो 'विसर्गो' विसिसृक्षात्मकं परं पारमेश्वरं रूपं बिन्दुद्वयं चास्तीति, 'तत्र' विसर्गे 'विश्राम्येत्' तदैकात्म्येन प्रस्फुरेदित्यर्थः । 'स्पन्दनोदरसुन्दरः' इत्यनेनैव अस्योक्तेऽपि स्वरूपे 'मत्स्योदरदशाजुषि' इत्यनेन सर्वदैव अयं स्पन्ददशाधिशायी न तु कदाचिदेव,—इत्युक्तं स्यात् ॥ ५७ ॥

ननु तत्रापि विश्रान्त्या किं स्यात् ? इत्याशङ्कां दृष्टान्तप्रदर्शनेन उपशमयति

रासभी वडवा यद्वत्स्वधामानन्दमन्दिरम् ॥५८॥
विकाससंकोचमयं प्रविश्य हृदि हृष्यति ।
तद्वन्मुहुर्लीनसृष्टभावव्रातसुनिर्भराम् ॥५९॥
श्रयेद्विकाससंकोचरूढभैरवयामलाम् ।

यथा रासभी वडवा वा मूत्रादिकाले 'विकाससंकोचमयं' बहिरन्तर्मुखतयानवरतं स्पन्दमानं वराङ्गलक्षणं 'स्वमानन्दमन्दिरं धाम प्रविश्य' तदेकमना भूत्वा 'हृदि हृष्यति' स्वात्मन्यानन्दातिशयमनुभवति, तथा 'मुहुर्लीनाः' स्वात्मन्युपसंहृताः 'सृष्टा' बहिरुल्लासिताश्च प्रमातृप्रमेयाद्यात्मानः सर्वे 'भावाः' तैः सुष्टु 'निर्भराम्' अनन्याकाङ्क्षाम्, अत एव यथाभोगं 'विकाससंकोचयोः' सृष्टिसंहारयोः 'रूढं' तथात्वेन स्फुरितं 'पुमान् स्त्रिया' (पा० सू० १।२।६७) इत्येकशेषे 'भैरवस्य भैरव्याश्च यामलं' द्वन्द्वं यस्यामेवंविधां विसर्गभुवं 'श्रयेत्' स्वानन्दसंवित्तिनिमित्तं समाविशेदित्यर्थः। तदेव हि नाम अस्य परस्य प्रकाशस्यानन्यसाधारणं रूपं, यत् सदैव सृष्टिसंहारकारित्वम्,—इति अन्यथा हि अस्य जडेभ्यो वैलक्षण्यं न स्यात्,—इत्युपपादितं बहुशः। एवं सृष्टौ शक्तेः प्ररोहः, संहारे तु शक्तिमतः। यदुक्तम्

'स्वशक्तिप्रचयोऽस्य विश्वम्। (शि० सू० ३।३०)

इति।

त्रितयभोक्ता वीरेशः। (शि सू० १।११)

इति च॥ ५९॥

एतदेव संकलयति

एकीकृतमहामूलशूलवैसर्गिके हृदि ॥६०॥
परस्मिन्नेति विश्रान्ति सर्वापूरणयोगतः ।

'एकीकृतं' संविन्मात्रात्मनावस्थापितं पिण्डीभूतं च महामूलं' परमकारणत्वात् माया

'तत एव सकारेऽस्मिन् स्फुटं विश्वं प्रकाशते।' (त० ३।१६५)

इत्याद्युक्त्या विश्वप्रतिष्ठास्थानत्वात् सकारश्च 'शूलम्' इच्छादिशक्तित्रयमौकारश्च 'वैसर्गिकम्' ऊर्ध्वकुण्डलिनीस्थानं बिन्दुद्वयं च यत्रैवंविधे 'परस्मिन्'

परप्रमात्रात्मनि संहारहृदादिविलक्षणे च 'हृदि' बोधे पराबीजे च सर्वस्यान्तर्बहिर्वा यत् 'आपूरणं' स्वात्मसात्कारो भेदोल्लासश्च, तस्य 'योगो' युक्तिस्तस्मात् 'विश्रान्तिमेति' पराहंभावरूपतया स्वात्ममात्रनिष्ठस्तिष्ठेदित्यर्थः। अहंपरामर्शमात्ररूपत्वमेव हि गर्भीकृताशेषविश्वतया परं विश्रान्तिधाम,—इति न सिद्धान्तः ॥ ६० ॥

अत आह

अत्र तत्पूर्णवृत्त्यैव विश्वावेशमयं स्थितम् ॥६१॥
प्रकाशस्यात्मविश्रान्तावहमित्येव दृश्यताम् ।

'अत्र' ऊर्ध्वकुण्डलिनीभूमावशेषविश्वक्रोडिकारेण पूर्णया वृत्त्या 'तदेव' अहंपरामर्शात्म परं हृदयं विश्रान्तिधामतयावस्थितं, यतः प्रकाशस्यात्मनि न तु प्रकाश्ये देहादौ विश्रान्तावहमित्येव परामर्शो दृश्यतां निरूप्यतामित्यर्थः। नहि अत्र प्रकाशातिरिक्तमन्यत् किंचिदपोह्यमपि संभवेत्,—इति का कथा परामर्शान्तरस्येति भावः ॥ ६१ ॥

नन्वनुत्तरं शान्तं परं ब्रह्मैवास्ति,—इति तत्र को नामायम् अहंपरामर्शो यस्यापि विश्रान्तिधामता स्यात् ? इत्याशङ्कां शमयितुं प्राणतत्त्वसमुच्चारानन्तर्येणानुजोद्देशोद्दिष्टं चिदात्मनोच्चारमवतारयति

अनुत्तरविमर्शे प्राग्व्यापारादिविवर्जिते ॥६२॥
चिद्विमर्शपराहंकृत् प्रथमोल्लासिनी स्फुरेत् ।

'प्राक्' पूर्वकोटौ उल्लिलसिषाद्यात्मभिर्व्यापारैरनुपहिते निस्तरङ्गजलधिप्रख्ये 'अनुत्तरात्मनि विमर्शे' परस्मिन् प्रकाशे प्रथममुल्लसनशीला, अत एव व्यतिरिक्त विमृश्याभावात् 'चिद्विमर्शपरा' स्वात्ममात्रपरामर्शनतत्परा 'अहंकृत्' अहं परामर्शः स्फुरेत् येनास्य सर्वत्रैव स्वातन्त्र्यमुदियात्; स्वस्वातन्त्र्यमाहात्म्यादेव हि अनुत्तरप्रकाशात्मा परमेश्वरः स्वं स्वरूपं गोपयित्वा प्रमाणादिदशामधिशयानः पृथग्भावजातमाभासयेत् ॥ ६२ ॥

तदाह

तत उद्योगसक्तेन स द्वादशकलात्मना ॥६३॥
सूर्येणाभासयेद्भावं पूरयेदथ चर्चयेत् ।

'ततो' ऽहंपरामर्शस्फुरणाद्धेतोः स परः प्रकाशः संकुचितप्रमातृभूमिकाव-

भासनपुरस्सरम् 'उद्योगः' अर्थात्रविभासयिषा, तत्र 'सक्तेन' सदैव बहिर्मुखेन 'द्वादश' षण्ठवर्जमकारादिविसर्गान्ता याः 'कलाः' परामर्शास्तत्स्वभावेन प्राप्तपरिपूर्णस्वरूपेण प्रमाणात्मना 'सूर्येण' एकैकं भावम् आ ईषत्संकुचितेन नीलसुखादिना रूपेण 'भासयेत्' बहिः सृजेत्, 'पूरयेत्' तथात्वेनैव कंचित्कालं स्थापयेत्, 'चर्चयेत्' स्वात्मसात्कारेण संहरेदित्यर्थः। यः कश्चनार्थक्रियार्थी हि प्रमाता प्रमाणोपारूढमेवार्थजतं प्रथममालोचयेत्, अनन्तरम् 'इदमित्यम्' इति विकल्पयेत्, तदनु 'ज्ञातोऽयंमयार्थः' इति संतोषाभिमानाद्बहीरूपताविलापनेन स्वात्मन्येव विश्रमयत्,—इत्यनुभवसाक्षिकोऽयमर्थः ॥ ६३ ॥

नन्वेवमवभासनादिरूपतामापन्नं भावजातं किं कुर्यात्? इत्याशङ्क्याह

अथेन्दुः षोडशकलो विसर्गग्रासमन्थरः ॥६४॥
संजीवन्यमृतं बोधवह्नौ विसृजति स्फुरन्।
इच्छाज्ञानक्रियाशक्तिसूक्ष्मरन्ध्रस्रुगग्रगम् ॥६५॥
तदेवम[तद]मृतं दिव्यं संविद्देवीषु तर्पकम्।

'अथ' प्रमोपारोहानन्तरं 'स्फुरन्' स्वेन रूपेणावभासमानोऽत एव 'षोडश' अकाराद्या बुद्धीन्द्रियाद्याश्च 'कला' यस्यासौ प्राप्तनिजपूर्णस्वरूपोऽत एव उच्छूनरूपतापत्त्या 'विसर्गस्य ग्रासः' तद्रूपतिरस्कारात्मान्तः, तेन 'मन्थरो' विस्रब्धो देहादिमयरूप इन्दुः, संजीवनी'

'पुरुषे षोडशकले तामाहुरमृतां कलाम्।'

इत्याद्युक्त्या विश्वसंजीवनहेतुरमाख्या सप्तदशी कला कलाषोडशकाप्यायकारिधातुविशेषात्मकम् 'अमृतं बोधवह्नौ' परिमिते प्रमातरि 'विसृजति' प्रमातृप्रमेयाद्यात्मना स्थूलेन रूपेण समुल्लसतीत्यर्थः यदुक्तेन प्रकारेणोल्लसितम् एतन्नीलसुखाद्यात्मना चिरस्य लब्धप्ररोहममृतम्, इच्छादय एव स्रुक्, तदग्रगं दिव्यं कृत्वा 'संविद्देवीषु तर्पकं' रूपादिविषयरसास्वादेन दृगादिदेवीः स्वात्ममात्रविश्रान्ता विदध्यादित्यर्थः। सूक्ष्माणि रन्ध्राणि गोलकरूपाणीन्द्रियद्वाराणि। इदमुक्तं भवति—यत्किंचिद्भावजातं तदेषणीयतासमासादनपुरस्सरम् इन्द्रियद्वारोपारोहेण ज्ञेयतामासाद्य तत्तदर्थक्रियाकारितया स्वात्ममात्रविश्रान्त्युपजननेन संविदः पूर्णतामावहतीति ॥ ६५ ॥

नन्वेवं संविद्दे वीतर्पणेन कोऽर्थः,—इत्याशङ्क्याह

विसर्गामृतमेतावद् बोधाख्ये हुतभोजिनि ॥६६॥
विसृष्टं चेद्भवेत्सर्वं हुतं षोढाध्वमण्डलम् ।

यद्गुरुवरः

'सर्वभावमयभावमण्डलं विश्वशक्तिमयशक्तिबर्हिषि ।
जुह्वतो मम समोऽस्ति कोऽपरो विश्वमेधमययज्ञयाजिनः ॥'

इति । अत्रामृतबीजाद्युद्धारः प्राग्व्याख्यैव गतार्थः,—इत्यतिरहस्यत्वात् नेह पुनरायस्तम् ॥ ६६ ॥

ननु यदि नामैतावत् विसर्गामृतं परप्रमात्रात्मना परामृष्टं, तावता षड्विधस्याध्वमण्डलस्य किमायातं तदेवमुक्तम् ? इत्याशङ्क्याह

यतोऽनुत्तरनाथस्य विसर्गः कुलनायिका ।
तत्क्षोभः कादिहान्तं तत्प्रसरस्तत्त्वपद्धतिः ॥६७॥

'कुलनायिका' इति कौलिकी शक्तिः । यदुक्तं प्राक्

'अनुत्तरं परं धाम तदेवाकुलमुच्यते ।
विसर्गस्तस्य नाथस्य कौलिकी शक्तिरुच्यते ॥ (३।१४४)

इति । 'तत्क्षोभ' इति तस्य विसर्गस्व क्षोभः, क्षोभाधार इत्यर्थः यदुक्तम्

'कादिहान्तमिदं प्राहुः क्षोभाधारतया बुधाः ।' (३।१८०)

इति । 'तत्प्रसर' इति तस्य कादिहान्तस्य क्षोभाधारस्य 'प्रसरः' प्रपञ्च इत्यर्थः । यदुक्तम्

'पृथिव्यादीनि तत्त्वानि पुरुषान्तानि पञ्चसु ।
क्रमात् कादिषु वर्गेषु मकारान्तेषु सुव्रते ॥
वाय्वग्निसलिलेन्द्राणां धारणानां चतुष्टयम् ।
तदूर्ध्वं शादिविख्यातं पुरस्ताद्ब्रह्मपञ्चकम् ॥
अमूला तत्क्रमाज्ज्ञेया क्षान्ता सृष्टिरुदाहृता ।'

(परात्री० ७ श्लो०)

इति ॥ ६७ ॥

ननु यदि नामानुत्तरनाथस्य विसर्गः कौलिकी शक्तिः, तन्मातृकोदये किमेवं प्रदर्शितं न वा ? इत्याशङ्क्याह

अंअ इति कुलेश्वर्या सहितो हिं कुलेशिता ।

यदुक्तम्

'अत्र प्रकाशमात्रं यत्स्थितं धामत्रये सति ।
उक्तं बिन्दुतया शास्त्रे शिवबिन्दुरसौ मतः ॥' (तं० ३।१३४)

इति ।

'अस्यान्तर्विसिसृक्षासौ या प्रोक्ता कौलिकी परा ।
सैव क्षोभवशादेति विसर्गात्मकतां ध्रुवम् ॥'
(तं० ३।१३७)

इति च ॥

ननु 'शक्तिमतः खलु शक्तिरनन्या' इत्याद्युक्तयुक्त्या शक्तिमतः शक्तेश्च विश्लेषो नास्ति,--इति कथमनयाभेदेनोदयः प्रदर्शितः ? इत्याशयाह

परो विसर्गविश्लेषस्तन्मयं विश्वमुच्यते ॥६८॥

विसर्गस्य 'विश्लेषो' विश्लिष्टो विसर्ग इत्यर्थः अत एव शक्तिमतो भेदित्वात् परः,—इत्युक्तम्। तत्स्फार एव च विश्वमित्युक्तं 'तन्मयं विश्वमुच्यते' इति । तदुक्तम्

'शक्तिश्च शक्तिमांश्चेति पदार्थद्वयमुच्यते ।
शक्तयोऽस्य जगत् कृत्स्नं शक्तिमांस्तु महेश्वरः ॥'

इति । एवं विसर्गामृते परप्रमात्रात्मतया परामृष्टे षड्विधोऽपि अध्वा तत्सादेव भवेत्,—इति युक्तमुक्तं 'हुतं षोढाध्वमण्डलं भवेत्' इति ॥ ६८ ॥

अतश्च तदधिकारेणैव सर्वामिदं बाह्यमर्चनादि विधेयम् ? इत्याह

चित्प्राणगुणदेहान्तर्बहिर्द्रव्यमयीमिमाम् ।
अर्चयेज्जुहुयाद्ध्यायेदित्थं संजीवनीं कलाम् ॥६९॥

'इत्थम्' उक्तेन प्रकारेणेमामेव निखिलजगदाप्यायकारिणीममाख्यां संजीवनीं कलामाश्रित्य सार्वात्म्यप्रतिपत्तितत्त्वमर्चनादि विदध्यात्; यतो विद्याज्या परा संवित्, प्राणबुद्धिदेहात्मानः प्रमातनारश्च याजकाः

तदपेक्षया अन्तर्बहीरूपाणि रत्नपञ्चकतत्प्रतिनिधिरूपकुङ्कुमाद्यात्मकानि यागसाधनभूतानि द्रव्याणि च प्रकृतिर्यस्यास्तां तत्स्फारसारामित्यर्थः ॥६९॥

नन्वेवमर्चनादि सिद्ध्येत् यद्येषा विसर्गभूरासाद्येत, तदासादन एव हि महान् संरम्भो यो युगसहस्रैरपि पारं न यायात्,—इत्यपर्यवसितमेव शास्त्रार्थानुष्ठानं स्यात् ? इत्याशङ्क्याह

आनन्दनाडीयुगलस्पन्दनावहितौ स्थितः ।
एनां विसर्गनिःष्यन्दसौधभूमिं प्रपद्यते ॥७०॥

आनन्दप्रधानं यत् सिद्धयोगिनीसंबन्धि वराङ्गलक्षणं 'नाडीयुगलं' तस्य यत् 'स्पन्दनं' रिरसया परस्परौन्मुख्यं तत्र 'अवहितिः' षडरमुद्राप्रवेशादिक्रमेण तदेकाग्रता तत्र 'स्थितः' प्ररोहं प्राप्तः सन् एनां संजीवनीं कलां 'विसर्गस्य' विसिसृक्षात्मकस्य पारमेश्वरस्य रूपस्य चरमधातोस्य 'निःष्यन्दः' प्रसरतस्य 'सौधभूमिं' विश्रान्तिस्थानं स एव आनन्दातिशयकारित्वात् 'सौधं' सुधासमूहस्तस्य 'भूमिम्' आकरस्थानं प्रपद्यते, तदैकात्म्यमासादयेदित्यर्थः । एतदुक्तं भवति--इह खलु सर्वेषां ग्राम्यधर्मसेवनं तावदनुक्तसिद्धं, तत्रैव युक्तिलेशमाश्रित्य अवधानमात्रमेव चेत् कृतं यदयत्नेनैव विसर्गभूः समासादिता भवेत्,—इति को नामात्र सरंम्भो यदसिद्ध्या शास्त्रार्थानुष्ठानमप्यपर्यवसितं स्यादिति ॥ ७० ॥

नन्वस्तु नाम अस्योपायस्य सुखसाधनत्वं, किंतु यत्रोपायजालमपि भग्नशक्ति संवृत्तं, तत्र किमनेनैककेनैव कार्यम् ? इत्याशङ्क्याह

शाक्ते क्षोभे कुलावेशे सर्वनाड्यग्रगोचरे ।
व्याप्तौ सर्वात्मसंकोचे हृदयं प्रविशेत्सुधीः ॥७१॥

'शाक्ते क्षोभ' इति बाह्यशक्तिसंभोगे । यदुक्तं

'शक्तिसंगमसंक्षुब्धशक्त्यावेशावसानिकम् ।
यत्सुखं ब्रह्मतत्त्वस्य तत्सुखं स्वाक्यमुच्यते ॥'
(वि० भै० ६९ श्लो०)

इति । 'कुलावेश' इति बाह्यशक्त्यभावेऽपि 'कुलस्य' शाक्तस्य स्वरूपस्य 'आवेशे' स्मरणपुरस्सरं भावनातिशयात् तन्मयीभावे इत्यर्थः । तदुक्तम्

'लेहनामन्थनाकोटैः स्त्रीसुखस्य भरात् स्मृतेः ॥
शक्त्यभावेऽपि देवेशि भवेदानन्दसंप्लवः ॥'

(वि० भै० ७० श्लो०)

इति । 'सर्वनाडीनामग्रगोचरे' प्रधाने पार्यन्तिके वा विषये द्वादशान्ते यदुक्तम्

'यथा तथा यत्र तत्र द्वादशान्ते मनः क्षिपेत् ।
प्रतिक्षणं क्षीणवृत्तेर्वैलक्षण्यं दिनैर्भवेत् ॥'

(वि० भै० ५१ श्लो०)

इति यद्वा 'अग्रगोचरे' प्रान्तदेशे यत्र कक्षादाविवाङ्गलीभिर्मृदुप्रचोदनेन महानानन्दो जायते । यदुक्तम्

'कुहनेन प्रयोगेन सद्य एव मृगेक्षणे ।
समुदेति महानन्दो येन तत्त्वं विभाव्यते ॥'

(वि० भै० ६६ श्लो०)

इति । 'व्याप्तौ' इति सार्वात्म्यप्रतिपत्त्या सर्वाक्षेपकारिणी विकाससमाधावित्यर्थः । यदुक्तम्

'सर्वज्ञः सर्वकर्ता च व्यापकः परमेश्वरः ।
स एवाहं शैवधर्मा इति दार्ढ्याच्छिवो भवेत् ॥'

(वि० भै० १०९ श्लो०)

इति,

'जलस्येवोर्मयो वह्नेर्ज्वालाभङ्गाः प्रभा रवेः ।
ममैव भैरवस्यैता विश्वभङ्ग्यो विभेदिताः ॥'

(वि० भै० ११० श्लो०)

इति च । सर्वात्मसंकोच' इति सर्वेणात्मना बाह्यस्य संकोचे 'नैतद्वस्तु सत् किंचित्' इति भावनायामित्यर्थः । यदुक्तम्

'निराधारं भवेज्ज्ञानं निर्निमित्तं भ्रमात्मकम् ।
तत्त्वतः कस्यचिन्नैतदेवं-भावी शिवः प्रिये ॥'

(वि२ भै० ९९ श्लो०)

इति । तथा

'इन्द्रजालमयं विश्वं व्यस्तं वा चित्रकर्मवत् ।
भ्रमाद्वा ध्यायतः सर्वं पश्यतश्च सुखोद्गमः ॥'

(वि० भै० १०२ श्लो०)

इति। एवमादौ विषये 'सुधीः' पूर्णज्ञानो यः कश्चिदपश्चिमजन्मा स 'हृदयं प्रविशेत्' विसर्गभुवमधिशेत इत्यर्थः ॥ ७१ ॥

ननु यद्येवमत्रानेके उपायाः संभवन्ति तत् कथं शाक्तस्यैव क्षोभस्य प्राधान्येन निर्देशः कृतः ? इत्याशङ्क्याह

सोमसूर्यकलाजालपरस्परनिघर्षतः ।
अग्नीषामात्मके धाम्न विसर्गानन्द उन्मिषेत् ॥७२॥

'सोमसूर्ययोः' मेयमानयोर्यच्छब्दाद्यात्म श्रोत्रादिरूपं च 'कलाजालं' तस्य योऽसौ ग्राह्यग्राहकभावात्मा परस्परं संघट्टः ततस्तदुभयक्रोडीकारात् चक्रानुचक्रदेवीरूप 'कलाजालं' तस्य परस्परं मेलनात्मा संघषः, ततः

'शुचिर्नामाग्निरुद्भूतः संघर्षात् सोमसूर्ययोः ।'

इत्याद्युक्त्या अग्नीषोमात्मके मध्यमे धाम्नि अनुप्रवेशेन "विसर्गानन्द उन्मिषेत्' मुख्यया वृत्त्या चरमधातुप्रक्षेपात्म परं सामरस्यमुदियात्. यदनुकल्पतथा पुनरन्यत्रानन्द उपचर्यते येन तदपि परसंविदनुप्रवेशे निमित्ततां यायात् ॥ ७२ ॥

एतदेवोपसंहरति

अलं रहस्यकथया गुप्तमेतत्स्वभावतः ।
योगिनीहृदयं तत्र विश्रान्तः स्यात्कृती बुधः ॥७३॥

यत एतद्योगिनीनां 'हृदयं' परमं विश्रान्तिस्थानम्, अत एव स्वभावतो गुप्तमित्याभिहितम्, यदभिप्रायेणैव

'एतन्नायोगिनीजातो नारुद्रश्चापि विन्दति ।'
(परात्री० १० श्लो०)

इत्याद्यन्यत्रोक्तम्। 'तत्र' इति योगिनीहृदयात्मनि विसर्गोन्मेषे, 'बुध' इत्यनेनात्र ज्ञानित्वस्यैव प्राधान्यम्,—इति कटाक्षितम् ॥ ७३ ॥

नन्वत्र विश्रान्तस्य किं नामाभिज्ञानम् ? इत्याशङ्क्याह

हानादानतिरस्कारवृत्तौ रूढिमुपागतः ।
अभेदवृत्तितः पश्येद्विश्वं चितिचमत्कृतेः ॥७४॥

हेयोपादेयविषययोर्हानादानयोः

'मा किंचित्त्यज मा गृहाण।' (अनुत्तरा० ७ श्लो०)

इत्याद्युक्तिवशात् यस्तिरस्कारः, तत्र येयं निर्विकल्पात्मिका वृत्तिः, तत्र 'चितिचमत्कृतेः' चिदैकात्म्यविमर्शात् प्ररोहं प्राप्त सन् विश्वमभेदवृत्तितः 'पश्येत्' स्वात्मैकात्म्येन जानीयादित्यर्थः। तेनेदमेवास्य मुख्यं लक्षणं परतत्त्वान्तःप्रवेशे—यत् हानादानतिरस्कारेण स्वात्ममात्र एवावस्थानमिति। अत एवानेन चिदात्मोच्चारानन्तर्येणानुजोद्देशोद्दिष्टः परतत्त्वान्तःप्रवेशोऽपि निर्णेतुमुपक्रान्तः। भेदेऽपि हि सति हेयोपादेयविभागः, स एव यस्य विगलितस्तस्य किं नाम हेयं किं वोपादेयम्,—इति पूर्णवास्य परा संविदुल्लसेत् ॥ ७४ ॥

तदाह

अर्थक्रियार्थितादैन्यं त्यक्त्वा बाह्यान्तरात्मनि।
स्वरूपे निर्वृतिं प्राप्य फुल्लां नाददशां श्रयेत् ॥७५॥

इह खलु तत्त्वान्तरनुप्रविष्टो योगी बाह्यान्तरस्वभावे नीलसुखादावर्थजाते हेयोपादेयविभागाभावात् तत्तत्प्रतिनियतार्थक्रियाकाङ्क्षादैन्यमपहाय सर्वभावानां संह्रियमाणत्वात् आकाशबीजस्योद्धारः। तदनु तस्यैव प्ररोहाद्विकस्वरां 'नाददशां श्रयेत्' इति विमर्शात्मिकां विश्वोत्तीर्णां संविदमासादयेदित्यर्थः एवं च प्रथमं विश्वसंहारस्योपक्रान्तत्वात् आकाशबीजस्योदयः, तदनु तस्यैव प्ररोहात् संहारकुण्डलिनीबीजस्य,–इति श्रीपिण्डनाथसंबन्ध्याद्यवर्णद्वयमपि अनेनोद्धृतम् ॥ ७५ ॥

नन्वेवमासादितयापि अनया कोऽर्थः स्यात् ? इत्याशङ्क्याह

वक्त्रमन्तस्तया सम्यक् संविदः प्रविकासयेत्।
संविदक्षमरुच्चक्रं ज्ञेयाभिन्नं ततो भवेत् ॥७६॥

'तया' विश्वोत्तीर्णसंविद्रूपया नाददशया सम्यक् विश्वोपसंहारपुरस्सरं भेदतिरस्कारेण मार्गशुद्धिमादधानया विश्वोत्तीर्णत्वेऽपि विश्वमय्याः परस्याः संविदो 'ऽन्तर्वक्त्रम्' अन्तर्मुखं रूपम् एवंविधो योगी 'प्रविकासयेत्' विकासयोग्यं विदधातीत्यर्थः। 'ततः' संविदो विकासयोग्यताधानाद्धेतोः 'संविदां' नीलादिज्ञानानाम् 'अक्षाणां' तदुत्पत्तिनिमित्तभूतानामिन्द्रियाणां 'मरुतां'

तत्सामान्यवृत्त्यात्मनां प्राणादिरूपाणां यत् मातृमानमेयस्वभावं चक्रं, तत् शून्यप्रमात्रपेक्षया विश्वाभावरूपं यज्ज्ञेयं, तदभिन्नमकिंचिद्रूपं भवेत् ॥७६॥

नन्वेवमपि भावसंस्कारस्य विद्यमानत्वात् एकान्ततो भेदविगलनं न वृत्तम्,--इति कथं संविन्मात्रात्मन्यनुप्रवेशः सिद्धचेत् ? इत्याशङ्क्याह

तज्ज्ञेयं संविदाख्येन वह्निना प्रविलीयते ।
विलीनं तत् त्रिकोणेऽस्मिञ्शक्तिवह्नौ विलीयते ॥७७॥

'तत्' अभावात्म ज्ञेयं परप्रमात्रात्मना संविदाख्येन वह्निना प्रकर्षेण निःसंस्कारं 'विलीयते' विगलति, संविदग्निरेवावशिष्यत इत्यर्थः। अनेनाभावस्यापि विलापनादग्निबीजस्योद्धारः कृतः । एवं 'विलीनं' संविन्मात्रात्मतामापन्नमति तज्ज्ञेयं संवित्त्वान्यथानुपपत्त्या अस्मिन् इच्छादिशक्तित्रयात्मनि 'त्रिकोणे शक्तिवह्नौ' सर्वशक्तिक्रोडीकारिण्यां स्वातन्त्र्यशक्तौ 'विलीयते' तन्मात्रसारतया प्रस्फुरतीत्यर्थः । एवमनेन संविन्मात्र एव विश्रान्तेः शक्तिबीजस्याप्युद्धारः कृतः । इह खलु इदमेव संविदः संवित्त्वं यत् परामृष्टृत्वं नाम, यस्य विमर्शः स्पन्दो हृदयं विसर्गः,--इत्यादयः सहस्रशो व्यपदेशाः । यदुक्तम्

'तस्य देवातिदेवस्य परबोधस्वरूपिणः ।
विमर्शः परमा शक्तिः सर्वज्ञा ज्ञानशालिनी ॥'

इति ॥ ७७ ॥

अतश्च मुख्यया वृत्त्या तत्रैव विश्रमणीयं येन साक्षात् परतत्त्वान्तरनुप्रवेशः सिद्धचेत् ? इत्याह

तत्र संवेदनोदारबिन्दुसत्तासुनिर्वृतः ।
संहारबीजविश्रान्तो योगी परमयो भवेत् ॥७८॥

तत्रैवं स्थिते सति परप्रमात्रात्मनः 'संवेदनस्य' संवेदकत्वाधानात् 'उदारा' महती येयं 'बिन्दुसत्ता' विदिक्रियाकर्तृत्वात्मिका परा परामर्शदशा, तया सुष्टु नैराकाङ्क्षयेण 'निर्वृतः' स्वात्मचमत्कारातिशयशाली, अत एव 'संहारबीजे' परप्रमात्रात्मनि बिन्दोरपि उदयात् श्रीपिण्डनाथे च 'विश्रान्तः' तदैकात्म्यमापन्नोऽत एव 'परमयो योगी भवेत्' परतत्त्वैक्यभाक् भवतीत्यर्थः ॥ ७८ ॥

ननु संविदपेक्षयापि विमर्शस्यैव विश्रान्ति स्थानत्वं प्राधान्येन कस्मा-दुक्तम् ? इत्याशङ्क्याह

अन्तर्बाह्ये द्वये वापि सामान्येतरसुन्दरः ।
संवित्स्पन्दस्त्रिशक्त्यात्मा संकोचप्रविकासवान् ॥७९॥

स एव हि संवित्स्पन्दो 'ऽन्तः' परप्रमात्रात्मनि शिवतत्त्वे सर्वविशेष-स्वीकारात् सामान्यात्मा, अत एव प्रविकासवान् अहमिति; 'बाह्ये' मायातः क्षित्यन्तं भेदोल्लासाद्विशेषात्मा, अत एवान्योन्यव्यावृत्त्या संकोचवान् इद-मिति; 'द्वये' ऽन्तर्बहीरूपे विद्यापदे समधृततुलापुटन्यायेन 'अहमिदम्' इति सामान्यविशेषात्मा, अत एव संकोचप्रविकासवान्, अत एवाशेषविश्वोल्लास-कारित्वात् इच्छादिशक्तित्रयात्मा,--इति स एव परं विश्रान्तिस्थानम्,--इति तत्रैवावधेयम् । ७९ ॥

ननु यद्येवं तर्ह्यस्य संकोचविकासवत्त्वेन नानात्वात् जाड्यमापतेत,--इति समाप्तं विश्रान्तिस्थानत्वम् ? इत्याशङ्क्याह

असंकोचविकासोऽपि तदाभासनतस्तथा ।

वस्तुतः संविदेकस्वभावत्वात् असंकोचविकासोऽपि असौ संवित्स्पन्दः स्वस्वातन्त्र्येण तथा संकोचादिरूपतया अवभासते,—इति तथा 'संकोच-विकासवान्' इत्युच्यते न तु व स्तुतस्तथा समस्तीति भावः ॥

ननु यदि नाम संकोचविकासाद्यस्य व स्तुतो नास्ति, तत् तदवभासने किं निमित्तम् ? इत्याशङ्क्याह

अन्तर्लक्ष्यो बहिर्दृष्टिः परमं पदमश्नुते ॥८०॥

इह हि 'बहिः' इदन्तापरामृश्ये देहघटादौ

'तत्तद्रूपतया ज्ञानं बहिरन्तः प्रकाशते ।
ज्ञानादृते नार्थसत्ता ज्ञानरूप ततो जगत् ॥
नहि ज्ञानादृते भावाः केनचिद्विषयीकृताः ।
ज्ञानं तदात्मतां यातमेतस्मादवसीयते ॥'

इत्यादिश्रीकालिकाक्रमोक्त्या संवित्स्फारसारा एवैते,—इत्येवमात्मदृष्टिः, अत एव 'अन्तः' अहंपरामर्शात्मनि संवित्तत्वे सावधानो बाह्यविषयासङ्गेऽपि स्वरूपपरामर्शपरत्वात् भैरवमुद्रानुप्रविष्टो योगी 'परमं पदमश्नुते' विमर्श-

दशामधिशते इत्यर्थः । तेन 'अविद्यैव विद्योपाय' इत्यादिन्यायेन संकुचितमपि बाह्यं रूपं विकस्वरस्वरूपापत्तौ निमित्ततां यायात्,--इत्युक्तं स्यात् । तत्र चोचितेन विमर्शेन भाव्यम्,--इति विशेषात्मन इदमिति परामर्शस्यापि उल्लासः,--इति युक्तमुक्तं 'तथाभासनतस्तथा' इति ॥ ८० ॥

अत आह

ततः स्वातन्त्र्यनिर्मेये विचित्रार्थक्रियाकृति ।
विमर्शनं विशेषाख्यः स्पन्द औन्मुख्यसंज्ञितः ॥८१॥

'ततः' समनन्तरोक्ताद्धेतोः स्वस्वातन्त्र्योस्थापिते तत्तदर्थक्रियाकारिणि भावजाते यदिदमिति विमर्शनं स विशेषाख्यः स्पन्दस्तत्तदर्थक्रियार्थिताता-रतम्येन प्रवृत्तेः 'औन्मुख्यसंज्ञित' औन्मुख्यशब्दव्यपदेश्यः स्यादित्यर्थः ॥८१॥

न च अत्रैव विश्रमणीयम्,--इत्याह

तत्र विश्रान्तिमागच्छेद्यद्वीर्यं मन्त्रमण्डले ।
शान्त्यादिसिद्धयस्तत्तद्रूपतादात्म्यतो यतः ॥८२॥

तत्र

'इदमित्यस्य विच्छिन्नविमर्शस्य कृतार्थता ।
या स्वस्वरूपे विश्रान्तिर्विमर्शः सोऽहमित्ययम् ॥'
(अजडप्र० सि० १५ श्लो०)

इत्याद्युक्तया इदंविमर्शविश्रान्तिधामनि अहंपरामर्शे विश्रान्ति कुर्यात्, यत् न केवलमत्र यावन्मन्त्रमण्डलेऽपि वीर्यः यतोऽहंपरामर्शानुविद्धमन्त्र-मण्डलैकात्म्यादेव तत्फलभूता विचित्रेतिकर्तव्यताकाः शान्त्यादिसिद्धयो भवेयुरित्यर्थः संविद्विश्रान्तिमन्तरेण हि न किंचिदेव भवेदिति भावः । यद्वक्ष्यति

'यत्तत्र नहि विश्रान्तं तन्नभःकुसुमायते । (तं० ८।२)

इति ॥ ८२ ॥

न केवल मेतदेवं यावदिन्द्रियाण्यपि,--इत्याह

दिव्यो यश्चाक्षसंघोऽयं बोधस्वातन्त्र्यसंज्ञकः ।
सोऽनिमीलित एवैतत् कुर्यात्स्वात्ममयं जगत् ॥८३॥

इह खलु बाह्यार्थौन्मुख्येऽपि अन्तर्लक्ष्यत्वाद्व्योऽत्त शुद्धबोधैकरूपत्वात् बोधस्वातन्त्र्यशब्दाभ्यां न तु बुद्धीन्द्रियकर्मेन्द्रियशब्दाभ्यां व्यपदेश्यो योऽयमिन्द्रियसमूहः स बहिः 'अनिमीलितो' व्यापृत एव सन् भैरवमुद्रानुप्रवेशक्रणेत एतज्जगत् 'स्वात्ममयं कुर्यात्' संविन्मात्रसारतया परामृशेदित्यर्थः ॥ ८३ ॥

ननु कथमेवं भवेत् ? इत्याशङ्क्याह

महासाहससंयोगविलीनाखिलवृत्तिकः ।
पुञ्जीभूते स्वरश्म्योघे निर्भरीभूय तिष्ठति ॥८४॥
अकिंचिच्चिन्तकस्तत्र स्पष्टदृग्याति संविदम् ।
यद्विस्फुलिङ्गाः संसारभस्मदाहैकहेतवः ॥८५॥

महासाहसशब्दाभिधेयचकितमुद्रानुप्रवेशेने 'विलीना' बाह्याद्विगलिताः प्रत्यावृत्ता निखिला इन्द्रियवृत्तयो यस्य स तथा, अत एव 'अकिंचिच्चिन्तको' बहिरौन्मुख्याभावात् निरवधानोऽत एव 'स्वरश्म्योघे' तत्तमदिन्द्रियरीचिचक्रे 'पुञ्जीभूते' भेदविगलनात् स्वात्मन्येव संघटितेऽत एव 'निर्भरीभूय' पूर्णतामासाद्य तिष्ठति सति, तत्र अन्तरहंपरामर्शात्मनि प्रमातृतत्त्वे 'स्पष्टदृक्' प्रस्फुटावबोधः 'संविदं याति' परतत्त्वान्तरनुप्रविशेत् यत्स्फारमात्रादयत्नत एव संसारापक्तिः सिद्धचेत् ॥ ८४-८५ ॥

न चैवमस्माभिः स्वोत्प्रेक्षितमेवोक्तमित्याह

तदुक्तं परमेशेन त्रिशिरोभैरवागमे ।

तदेव पठति

शृणु देवि प्रवक्ष्यामि मन्त्रभूम्यां प्रवेशनम् ॥८६॥

'मन्त्रभूम्याम्' इति परतत्त्वान्तः ॥ ८६ ॥

किं तत् ? इत्याशङ्क्याह

मध्यनाड्योर्ध्वगमनं तद्धर्मप्राप्तिलक्षणम् ।
विसर्गान्तपदातीतं प्रान्तकोटिनिरूपितम् ॥८७॥

यन्नाम 'विसर्गान्तपदं' द्वादशान्तपदमतिशयेन इतं प्राप्तं तदवधिकं

'मध्यनाड्या' उदानवाहक्रमेण 'ऊर्ध्वं गमनं' तन्मन्त्रभूम्यां प्रवेशनमुच्यते,—इत्यर्थाक्षिप्तम् । यतस्तस्याः संवित्तत्त्वात्मिकाया मन्त्रभूमेर्ये निरावरणत्वनिर्विकल्पत्वादयो 'धर्माः' तेषां 'प्राप्ति' तदैकात्म्येन स्फुरत्ता तद्रूपम्, अत एव प्रान्तकोटित्वेन निरूपितं सर्वत्रैव परा काष्ठा,—इत्युद्घोष्यते इत्यर्थः । यदुक्तम्:

'यन्निरावरणं संवित्सतत्त्वं कल्पनोज्झितम् ।
तत् परं पुत्रि कथितं सा काष्ठा सा परा गतिः ॥'

इति ॥ ८७ ॥

तच्च कथं स्यात् ? इत्याशङ्क्याह

अधःप्रवाहसंरोधादूर्ध्वक्षेपविवर्जनात् ।
महाप्रकाशमुदयज्ञानव्यक्तिप्रदायकम् ॥८८॥
अनुभूय परे धाम्नि मात्रावृत्त्या पुरं विशेत् ।

'अधःप्रवाहस्य' अपानस्य 'ऊर्ध्वक्षेपस्य' प्राणस्य चापहरतनात् तदुभयघट्टनेन परे मध्यमे धाम्नि

'पीत्वा कुलामृतं दिव्यं पुनरेव विशेत् कुले ।
पुनरेवाकुलं गच्छेन्मात्रायोगेन पर्वति ॥
सा च प्राणवहा ख्याता तन्त्रेऽस्मिन् पारमेश्वरे ।'

इत्यादिना निरूपितस्वरूपा या मात्रा तस्या 'आवृत्त्या' आवर्तनेन पुनःपुनर्गणनया

'उद्गच्छन्तीं तडिद्रूपा प्रतिचक्रं क्रमात्क्रमम् ।
ऊर्ध्वं मुष्टित्रयं यावत्तावदन्ते महोदयः ॥'
(वि० भै० २९ श्लो०)

इत्याद्युक्तयुक्त्या तत्तच्चक्रोल्लङ्घनक्रमेण द्वादशान्तभुवि 'सकृद्विभातोऽयमात्मा' इति न्यायेन अवभासनक्रियाविच्छेदाभावात् उदयप्रधानं नित्योदितं यदात्मज्ञानं तस्य 'व्यक्तिप्रदायकं' तद्रूपतयावभासमानं परप्रमातृरूपं 'महाप्रकाशमनुभूय पुरं विशेत्' मन्त्रभूमिरूपां पूर्णां स्वात्मवृत्तिमासादयेदित्यर्थः ॥८८॥

सा च किंविधा ? इत्याशङ्क्याह

निस्तरङ्गावतीर्णा सा वृत्तिरेका शिवात्मिका ॥८९॥

चतुष्षड्द्विर्द्विगुणितचक्रषट्कसमुज्ज्वला ।
तत्स्थं[त्स्थो] विचारयेत् खं खं
खस्थं खस्थेन संविशेत् ॥९०॥
खं खं त्यक्त्वा खमारुह्य खस्थं खं चोच्चरेदिति ।
खमध्यास्याधिकारेण पदस्थाश्चिन्मरीचयः ॥९१॥

सा च स्वात्मरूपा वृत्तिर्निःशेषविश्वोपशमात् 'निस्तरङ्गा' स्वात्ममात्रविश्रान्त्या शान्तरूपेत्यर्थः। अत एवैकेत्युक्तम्। न चैवमस्या विश्वोत्तीर्णमेव मेव रूपं संभवति, अपितु तथात्वेऽपि विश्वमयीत्याह 'अवतीर्णा' इति, तत्तद्रूपतया बहिरुल्लसितेत्यर्थः। अत एव तत्रत्यबहुग्रन्थार्थगर्भीकारेणाह 'चतुष्षड्द्विर्द्विगुणितचक्रषट्कसमुज्ज्वला' इति। यदुक्तं प्राक्

'चतुष्षड्द्विर्द्विगणनायोगात् त्रैशिरसे मते ।
षट्चक्रेश्वरता नाथस्योक्ता चित्रनिजाकृते ॥' (१।११४)

इति। एवमपि नास्याः स्वस्वरूपात् प्रच्यावः,—इत्युक्तं 'शिवात्मिका' इति। तेनास्या बहीरूपतया स्फुरत्तायामपि परप्रमात्रात्मनि स्वस्वरूपे एव विश्रान्तिः,--इत्युक्तं स्यात्, यदभिप्रायेणैव भैरवमुद्राया अभिधानम्। एतच्च अतिरहस्यत्वात् गोपनीयम्,--इत्याशयेन भगवान्निगूढार्थतयाभिधत्ते 'खस्थम्' इत्यादिना। इह खलु यागी भूतिशब्दवाच्यमैश्वर्यात्मस्वातन्त्र्यलक्षणं 'खमारुह्य' अवलम्ब्य स्वस्वरूपं गोपयित्वा दिक्कालादिना सकुचत्तामवभास्य अणुशब्दव्यपदेश्ये खे स्थितं संकुचितात्मतया स्फुरितं 'खम्'

'परमात्मस्वरूपं तु सर्वोपाधिविवर्जितम् ।
चैतन्यमात्मनो रूपं सर्वशास्त्रेषु पठ्यते ॥' (ने० तं० ८।२८

इत्याद्युक्त्या पूर्णप्रथात्मकमवश्यज्ञेयमात्मानं 'विचारयेत्' किमस्य) संकुचितमेव तात्त्विकं रूपं न वेति विमर्शपदवीं नयेदित्यर्थः। एवं हि पारमार्थिकस्य रूपस्य लाभो भवेदिति भावः। तदुक्तं तत्रैव

'खं हि यद्भैरवं ज्ञेयं सर्वमार्गान्तमन्तगम् ।
विचारयेत्तु यो धीमान् करणव्याप्तिमध्यगः ॥
भूमिकास्थो हि चक्रस्थो विन्दते परमार्थतः ।'

इति। तच्च कथम्? इत्याशङ्क्योक्तं 'खस्थेन खस्थं खं चोच्चरेदिति' चशब्दो

हेतौ। यतः 'खे' रतावतिष्ठमानेन तदासक्तेन सावधानेन चेतसा 'खे' कुलमूले शक्त्युत्पत्त्यात्मनि जन्माधारे स्थितं 'खं' प्राणरूपां शक्तिमुच्चरेत्

'आमूलात् किरणाभासां सूक्ष्मसूक्ष्मपरात्मिकाम् ।
'चिन्तयेत्तां द्विषट्कान्ते शाम्यन्तीं भैरवोदयः ॥'

(वि० भै० २८ श्लो०)

इत्याद्युक्त्या मध्यधामप्रवेशक्रमेण ऊर्ध्वं द्वादशान्तं नयेत् येन क्रियाशक्त्यात्मनि 'खे' गतं दृश्यं तदुपरक्तां क्रियाशक्तिं प्रमेयभुवं, तथा 'खे' ज्ञानशक्ताववस्थितं द्रष्टारं तदुपरक्तां ज्ञानशक्तिं प्रमाणभुवं त्यक्त्वा प्रमाणप्रमेयात्मव्यवहारपरत्वेऽपि तदासङ्गमपहायेत्यर्थः। यद्यपि अत्रोभयत्रापि द्रष्टृदृश्योपरागः संभवति तथापि प्राधान्यादेवमुक्तम्। तथा 'खं' द्रष्टृदृश्याद्युपाधिवर्जितां स्वविमर्शमात्ररूपामिच्छाशक्तिम्, 'अधिकारेण अभ्यास्य' स्वावष्टम्भबलेनाक्रम्य चितिशब्दाभिधेयं 'खं'

'विमर्शधाम तुर्यं च व्यापकं चोर्ध्वमध्यतः ।
सुशिरं तत्त्वराजानं पराकाशं प्रकीर्तितम् ॥'

इत्यादिनीत्या श्रीत्रिशिरोभैरवोक्त्या निरूपितस्वरूपं परतत्त्वलक्षणं तुर्यातीतपदं सम्यग्भैरवमुद्रानुप्रवेशक्रमेण 'विशेत्' समावेशभाक् भवेदित्यर्थः। एवं च 'चिन्मरीचयः' तत्तदिन्द्रियवृत्तयो बहिरौन्मुख्याभावात् 'पदस्थाः' तुर्यातीतदशामधिशयाना एव भवन्तीत्यर्थं ॥ ९१ ॥

एवमप्यत्राप्रमत्तेन भाव्यम्,—इत्याह

भावयेद्भावमन्तःस्थं भावस्थो भावनिःस्पृहः ।
भावाभावगती रुद्ध्वा भावाभावावरोधदृक् ॥९२॥

एवमपि 'भावाभावगती रुद्ध्वा' प्राणापानक्षोभमपहाय 'अन्तःस्थं भावम्' आन्तरीं सत्तां योगी 'भावयेत्' मध्यधामानुप्रवेशक्रमेण पौनःपुन्येन तत्रैव आसक्तिं कुर्यात् येन व्युत्थानेऽपि अतः प्रच्यावो न स्यात्, अत एव स 'भावस्थो' ग्राह्यग्राहकसंक्षोभेऽपि बाह्यान्तःकरणवर्गेणालुप्तसंवित्तिः स्वात्ममात्रपरिनिष्ठित एवेत्यर्थः। यदुक्तं तत्रैव

'उर्ध्वाधोगमविक्षेपरहितः करणेच्छया ।
रूपं यस्य न हीयेत भावस्थो भावभासकः ॥
स्वरूपप्रतिपन्नोऽसावन्तःकरणवर्जितः ।
भावस्थं तं विजानीयाद्ग्राह्यग्राहकविप्लवे ॥'

इति। अत एव 'भावाभावयोः' प्राणापानयोर्मध्यधामानुप्रवेशेन निस्तरङ्ग-तया साम्यात्मा योऽसौ 'अवरोधः' तं पश्यति साक्षात्करोतीत्यर्थः। यदुक्तं तत्रैव

'प्राणापानौ समौ यस्य साम्यावस्थानमागतौ।
निस्तरङ्गप्रकारेण भावाभावावरोधदृक् ॥'

इति। अत एव बहिरौन्मुख्याभावात् 'भावनिःस्पृहः' स्वस्वरूपनिष्ठ एवेत्यर्थः। यदुक्तं तत्रैव

'स्वरूपस्थितिसंयोगलक्षवृत्तिरतस्य च।
भावनिःस्पृहमेतद्धि तत्पदत्यागवर्तिनः ॥'

इति ॥ ९२ ॥

ननु खशब्दस्य स्वरूपाविशेषेऽपि कुतस्त्योऽयं दशधा भिन्नोऽर्थः? इत्याशङ्कचाह

आत्माणुकुलमूलानि शक्तिर्भूतिश्चिती रतिः।
शक्तित्रयं द्रष्टृदृश्योपरक्तं तद्विवर्जितम् ॥९३॥
एतत्खं दशधा प्रोक्तमुच्चारोच्चारलक्षणम्।

आत्मा परमात्मा, अणुः संकुचित आत्मा, कुलमूलं प्राणशक्तेः प्रभवस्थानं जन्माधारः, शक्तिर्मध्यमप्राणवाहिनी, भूतिः स्वातन्त्र्यलक्षणमैश्वर्यम्, चितिस्तुर्यातीतपदात्मिका परा संवित्, रतिराशक्तिः, शक्तित्रयं द्रष्टृपरक्ता ज्ञानशक्तिर्दृश्योपरक्ता क्रियाशक्तिस्तद्विवर्जितेच्छाशक्तिः, प्रोक्तमिति श्रीत्रिशिरोभैरवे। यदुक्तम्

'खमात्मा केवलं विद्यात् खमणुः सर्वदिक्कतः।
कुलमूलं तु खं ज्ञेयं खं शक्तिः परिपठ्यते ॥
एकं तु खमिहोद्भाव्यं खद्वयं भूतिचिद्रतिः।
द्रष्टृदृश्योपरक्तं च शक्तित्रितयं खं विदुः ॥
निष्पन्नपरिणामेन खमभूत्तत्त्वलक्षणम्।'

इति। उच्चारोच्चारलक्षणमिति यथायथं भावनाप्रकर्षेण परसंविदासादकमित्यर्थः ॥ ९३–९४ ॥

न केवलमत्र खशब्देनैव दशधा भिन्नोऽयमर्थ उच्यते यावच्छब्दान्तरेणापि,—इत्याह

धामस्थं धाममध्यस्थं धामोदरपुटीकृतम् ॥९४॥
धाम्ना तु बोधयेद्धाम धाम धामान्तगं कुरु ।
तद्धाम धामगत्या तु भेद्यं धामान्तमान्तरम् ॥९५॥

इह खलु योगी 'धाम्नो' भूतेः स्वातन्त्र्यस्य यत् 'उदरं' सतत्त्वं तेन 'पुटीकृतं' सर्वतः संवलितं नित्यावियुक्तम्, अत एव 'धाम्नि' अणौ स्थितं संकुचितात्मतया स्फुरितं 'धाम' आत्मानं बोधयेत् तद्बोधे समर्थमाचरेदित्यर्थः। तत्समर्थाचरणमेवाह 'धाममध्यस्थं धाम धाम्ना धामान्तगं कुरु' इति। 'धाम्नं' कुलमूलस्य जन्माधारस्य मध्ये स्थितं 'धाम' प्राणशक्ति 'धाम्ना' रत्या तदासक्त्या 'धाम्नः' चितेस्तुर्यातीतपदस्य 'अन्तः' परा काष्ठा तद्गतं कुरु तदेकरूपतया साक्षात्कुर्यादित्यर्थः। 'तत्' तस्मात् परतत्त्वसाक्षात्काराद्धेतोः 'धाम्नो' दृश्योपरक्तायाः क्रियाशक्तेः प्रमेयभुवो गत्या 'धाम' दृष्ट्रुपरक्ता ज्ञानशक्तिः 'भेद्यं' भेदनीयं त्याज्यमित्यर्थः। यथाहि प्रमेयभूः सर्ववादिषु त्याज्यत्वेन सिद्धा तथा प्रमाणभूतमपि ज्ञानं त्याज्यमेवेति भावः। तुशब्दो भिन्नक्रमो हेतौ। ततश्च 'आन्तरं' प्रमात्रैकात्म्यमापन्नं 'धामान्तम्' अन्त्यं धाम द्रष्टृदृश्याद्युपाधिशून्यां स्वविमर्शमात्ररूपामिच्छाशक्तिम् अर्थात् आश्रयेत् येन तत्रैव प्ररोहमियात्,—इति शब्दार्थसंगतिः। वाक्यार्थस्तु प्राग्वत् स्वयमेवाभ्यूह्यः ॥ ९५ ॥

नन्वन्येऽपि परतत्त्वान्तःप्रवेशे बहव उपायाः संभवन्ति तत्कथमस्यैव रहस्यत्वं येन गोपनीयत्वेन निगूढार्थतयैवमुपदेशः ? इत्याशङ्क्याह

भेदोपभेदभेदेन भेदः कार्यस्तु मध्यतः ।

यः पुनरन्यो भेदोपभेदात्मोपायवेदः संभवति स मध्यतः कार्यो मध्यमो नैवं-विध उत्तम इत्यर्थः ॥

एतदेवोपसंहरति

इति प्रवेशोपायोऽयमाणवः परिकीर्तितः ॥९६॥
श्रीमहेश्वरनाथेन यो हृत्स्थेन ममोदितः ।

न केवलमेतदिहैवोक्तं यावदन्यत्रापि,—इत्याह

श्रीब्रह्मयामले चोक्तं श्रीमान् रावो दशात्मकः ॥९७॥
स्थूलः सूक्ष्मः परो हृद्यः कण्ठ्यस्तालव्य एव च।
सर्वतश्च विभुर्योऽसौ विभुत्वपददायकः ॥९८॥

श्रीमानिति विमर्शरूपतया प्रकाशस्यापि जीवितभूतत्वात्। इहास्य परवाग्रूपस्य अहं विमर्शात्मनो रावस्य प्रथमं तावद्धृदादिभवत्वात् पश्यन्तीमध्यमावैखरीरूपतया त्रैविध्यं प्रत्येकं च स्थूलसूक्ष्मपरत्वेन त्रैविध्ये नवधात्वम्, एषां नवानामपि भित्तिभूतः परवागात्मा दशमः स एव हि स्वस्वातन्त्र्यादेवमवभासयेत्, अत उक्तं 'सर्वतश्च विभुः' इति। स एव च विश्रान्तिस्थानम्,—इत्युक्तं 'विभुत्वपददायक' इति। एतच्च प्राक्

'तस्य प्रत्यवमर्शो यः परिपूर्णोऽहमात्मकः।
स स्वात्मनि स्वतन्त्रत्वाद्विभागमवभासयेत्॥
विभागाभासने चास्य त्रिधा वपुरुदाहृतम्।
पश्यन्ती मध्यमा स्थूला वैखरीत्यभिशब्दितम्॥
तासामपि त्रिधा रूपं स्थूलसूक्ष्मपरत्वतः।' (३।२३७)

इत्यादिना

'तत्परं त्रितयं तत्र शिवः परचिदात्मकः।' (३।२४८)

इत्यन्तेन निर्णीतप्रायम्,—इति तत एवैतत्सतत्त्वमवधारणीयम् ॥९८॥

तदेवमत्रैव परमवधातव्यं येन पारमार्थिक स्वरूपलाभो भवेत्,—इत्याह

जितरावो महायोगी संक्रामेत्परदेहगः।
परां च विन्दति व्याप्तिं प्रत्यहं ह्यभ्यसेत तम् ॥९९॥
तावद्यावदरावे सा रावाल्लीयेत शांवरी।

'जित' आक्रान्तो वशीकृत उत्तरोत्तरो रावो येनासावेवंविधो महायोगी अर्थादुत्तरोत्तरत्यागेनोर्ध्वमूर्ध्वं रावं संक्रामेत् येन 'परदेहगो' यथायथमुत्कृष्टोत्कृष्टरावस्वरूपनिष्ठः 'परां व्याप्तिं विन्दति' पारमार्थिकं स्वरूपं लभते इत्यर्थः। यदुक्तम्

'नदते दशधा सा तु दिव्यानन्दप्रदायिका।
चिनीति प्रथमः शब्दश्चिञ्चिनीति द्वितीयकः॥

चीरवाकी तृतीयस्तु शङ्खशब्दश्चतुर्थकः ।
तन्त्रीघोषः पञ्चमश्च षष्ठो वशरवस्तथा ॥
सप्तमः कांस्यतालस्तु मेघशब्दरवस्तथा ।
नवमो दावनिर्घोषो दशमो दुन्दुभिस्वनः ॥
नव शब्दान् परित्यज्य दशमो मोक्षदायकः ।
अनेन विधिना येन व्याहरेद्दशधा रवम् ॥'

इति । अतश्च तावदत्र प्रतिदिनमभ्यासः कार्योयावत् सा परवागात्मा विमर्शशक्तिस्तत्तद्रावरूपतया प्रस्फुरणात् राविणी रावादेकमेकं रावं विलाप्य विभागविगलनात् 'आरावे'ऽहंपरामर्शरूपे स्वात्मनि 'लीयेत' विश्राम्यतीत्यर्थः ॥ ९९ ॥

एवं परतत्त्वान्तःप्रवेशं निर्णीय तदानन्तर्योद्दिष्टानि तत्पथलक्षणान्यपि लक्षयितुमाह

अत्र भावनया देहगतोपायैः परे पथि ॥१००॥
विविक्षोः पूर्णतास्पर्शात्प्रागानन्दः प्रजायते ।
ततोऽपि विद्युदापातसदृशे देवहर्जिते ॥१०१॥
धाम्नि क्षणं समावेशादुद्भवः प्रस्फुटं प्लुतिः ।
जलपांसुवदभ्यस्तसंविदेहैक्यहानितः ॥१०२॥
स्वबलाक्रमणाद्देहशैथिल्यात् कम्पमाप्नुयात् ।
गलिते देहतादात्म्यनिश्चयेऽन्तर्मुखत्वतः ॥१०३॥
निद्रायते पुरा यावन्न रूढः संविदात्मनि ।

अत्र समनन्तरोक्ते उपायविशेषे या 'भावना' अभ्यासस्तया तथोक्तवक्ष्यमाणैरुच्चारकरणादिभिः 'देहगतैरुपायैः परे पथि' परतत्त्वान्तर्वेष्टुमिच्छोर्न तु तत्र प्रविष्टस्य, तस्य हि पूर्णतैव भवेदिति भावः, पूर्णतायाः 'स्पर्शात्' औन्मुख्यमात्रात् न तु तदावेशात् प्रथमम् 'आनन्दः' चमत्कारविशेषः प्रकर्षेण स्वात्मविषयीकारेण 'जायते' अनुभवपदवीमासादयेदित्यर्थः । तत आनन्दादप्यनन्तरं 'विद्युदापातसदृशे' यथा विद्युति पतितायां सर्वं स्वरूपत्यागेन तन्मयीभवति, एवं 'धाम्नि' परेतत्त्वे समावेशात् प्रस्फुटं कृत्वा देहादावात्मग्रहविगलनेनाधस्तनदशाविश्लेषात् परधामाधिरोहात्मक 'उद्भवः

प्लुतिः' ऊर्ध्व गमनं भवेदित्यर्थः। अत एव 'देहवर्जिते' इत्युक्तम्। क्षणमिति, चिरस्य हि समावेशे पारिपूर्ण्यमेव भवेदिति भावः। एवं पांसूदकवदनेकजन्माभ्यस्तस्य संविद्देहैक्यस्य या 'हानि' विभागेन ज्ञप्तिः, ततः क्षणं संविदात्मनः स्वस्य यत् 'बलम्' अहन्तालक्षणं वीर्यं तस्य 'आक्रमणात्' आत्मन्येवाभिमानोदयात् अनात्मन्यात्माभिमानः शिथिलो भवेत्,—इति देहादीनां भङ्गुरायमाणत्वात् 'कम्पमाप्नुयात्' तत्र दार्ढ्यं जह्यादित्यर्थः। एवं 'पुरा' पूर्वं प्रथमं देहस्य संविदैक्याभिनिवेशे निवृत्ते सति संविदौन्मुख्यमात्रात् 'निद्रायते' बाह्यवृत्तिव्युपरमात् आन्तरस्य च कस्यचिदनुभवस्य स्फुटमनुदयात् निद्रायमाण आस्ते इत्यर्थः। कियत्कालमेवमास्ते ? इत्याह 'यावन्न रूढः संविदात्मनि' इति। तत्रास्य प्ररोहे हि लक्षणान्तरमुदियादिति भावः ॥१०३॥

तदाह

ततः सत्यपदे रूढो विश्वात्मत्वेन संविदम् ॥१०४॥
संविदन् घूर्णते घूर्णिर्महाव्याप्तिर्यतः स्मृता।

'ततो' ऽनन्तर परसंविदात्मनि 'सत्यपदे' प्राप्तप्ररोहः सन् निखिलस्यास्य देहघटाद्यात्मनो जगतः संविदेव सतत्त्वं न पुनस्तदतिरिक्तं नामैतत् किंचित,—इति साक्षात्कुर्वन् 'घूर्णते' भ्रमति, चलति स्पन्ददशाधिशायी भवेदित्यर्थः। एतद्दशाधिशायिनो हि योगिनः सदैव सृष्टिसंहारकारित्वेन परं पारमैश्वर्यमुदियात्,—इत्युक्तं 'घूर्णिर्महाव्याप्तिर्यतः स्मृता' इति ॥ १०४ ॥

ननु

'दशावस्थाश्विनोत्यन्तः शक्तितेजोपबृंहितः।
कम्पो भ्रमस्तथा घूर्णिः प्लवनं स्थिरतापि च ॥
चित्प्रकाशस्तथानन्दो दिव्यदृष्टिश्चमत्कृतिः।
अवाच्यो दशमो भावः शिवतत्त्वे प्रवेशनात् ॥
संस्पर्शः प्राप्यते यावत्तावन्मुक्तो भवार्णवात्।'

इत्याद्युक्त्या परतत्त्वान्तर्विविक्षोर्लक्षणान्तराण्यपि संभवन्ति,—इति यावत् तानि नोदितानि तावत्कथमेतावतैव प्रदनुप्रभेशो भवेत् ? इत्याशङ्क्याह

आत्मन्यनात्माभिमतौ सत्यामेव ह्यनात्मनि ॥१०५॥
आत्माभिमानो देहादौ बन्धो मुक्तिस्तु तल्लयः।

इह खलु द्विधा बन्ध आत्मन्यनात्माभिमानोऽनात्मन्यात्माभिमानश्च,—इति तदेव चाणवं मलमुच्यते । यदाहुः

'स्वातन्त्र्यहानिर्बोधस्य स्वातन्त्र्यस्याप्यबोधता ।
द्विधाणवं मलमिदं स्वस्वरूपापहानितः ॥'
(ई० प्र० ३।२।४)

इति । तदेव च कार्ममायीयहेतुत्वात् इयतः संसारस्य मूलभूतम् । यदुक्तम्

'मलः कर्म निमित्तं तु नैमित्तिकमतः परम् ।'
(स्व० ३।१७६)

इति अतश्च 'स एष मूले निहितः कुठारः' इतिवत् तत्रैव यतितव्यं येनाशेषबन्धव्युपरमो भवेदिति भावः । तदेवेह प्राधान्येनोक्तम्, अतश्च मुख्यया वृत्त्या स एव बन्धस्तल्लय एव च मुक्तिरिति संक्षेपार्थः ॥ १०५ ॥

तल्लयश्च किमक्रमेणैव भवेदुतान्यथा ? इत्याशङ्क्याह

आदावनात्मन्यात्मत्वे लीने लब्धे निजात्मनि ॥१०६॥
आत्मन्यनात्मतानाशे महाव्याप्तिः प्रवर्तते ।

प्रथमं हि 'अनात्मनि' देहादावात्माभिमानस्य विलये सति आत्मन्यनात्मत्वाभिमानस्य नाशो भवेत् येन संविल्लक्षणे स्वस्मिन्नेवात्मन्यभिमानोदये सति महाव्याप्तिः प्रवर्तते, परं पारमेश्वर्यमुदियादित्यर्थः ॥ १०६ ॥

एवं प्रथमं विशिष्टापूर्वस्पर्शोदयात् आनन्दमात्रानुभवो न तु द्विविधस्यापि बन्धस्य व्युपरमः । तदनु देहादावात्माभिमानविगलेन आत्मन्येवात्माभिमान उदेति किं तु क्षणमात्रं पुनरपि व्युत्थानादौ तादवस्थ्यादनन्तरं देहादावात्माभिमानस्य साक्षाद्विलयः, तदनु सत्संकारस्यापि यावदन्ते यथायथमात्मन्येवात्माभिमानस्य प्ररोहान्महती व्याप्तिः प्रवर्तते,—इति पञ्चभिरेव लक्षणैः पर्याप्तम्,—इति तान्येवोपात्तानि न पुनरन्यानि तेषामत्रैवान्तर्भावात् ॥ १०६ ॥

यदभिप्रायेणैवागमोऽपि,—इत्याह

आनन्द उद्भवः कम्पो निद्रा घूर्णिश्च पञ्चकम् ॥१०७॥
इत्युक्तमत एव श्रीमालिनीविजयोत्तरे ।

यदुक्तं तत्र

'अनया शोध्यमानस्य शिष्यस्यास्य महामतिः ।
लक्षयेच्चिह्नसंघातमानन्दादिकमादरात् ॥
आनन्द उद्भवः कम्पो निद्रा घूर्णिश्च पञ्चकम् ।'
(मा० वि० ११।३५।)

इति ॥ १०७ ॥

ननु योगिनः समग्रलक्षणोदये महाव्याप्तिर्भवेत्,--इत्युक्तं, यदा पुनरेकैकमेव लक्षणमुदियात् तदास्य किं भवेत् ? इत्याशङ्क्याह

प्रदर्शितेऽस्मिन्नानन्दप्रभृतौ पञ्चके यदा ॥१०८॥
योगी विशेत्तदा तत्तच्चक्रेशत्वं हठाद्व्रजेत् ।

यदा पुनरानन्दप्रभृतौ समनन्तरोक्ते पञ्चके योगी 'विशेत्' युगपत्तत्प्रवेशविरोधात् एकैकमेव लक्षणमनुभवेत् तदास्य हठात् स्वरसत एव तत्र तत्र नियते चक्रे त्रिकोणादावीशत्वं भवेत्, तत्तच्चक्रजयो जायते इत्यर्थः ॥ १०८ ॥

ननु पूर्णतास्पर्शादिवमनुभवोदयः,--इति पूर्णे सर्वस्य भावात् कथं नैयत्येनैवं भवेत् ? इत्याशङ्क्याह

यथा सर्वेशिना बोधेनाक्रान्तापि तनुः क्वचित् ॥१०९॥
किंचित्कर्तुं प्रभवति चक्षुषा रूपसंविदम् ।
तथैव चक्रे कुत्रापि प्रवेशात्कोऽपि संभवेत् ॥११०॥

यद्वत् सर्वव्यापिना बोधेन 'आक्रान्ता' तदभेदमापन्नापि तनुः क्वचिदेव किंचिदेव कर्तुं प्रभवति चक्षुषा रूपस्यैव न तु गन्धादेः, अर्थात् संनिकृष्ट एव देशे न तु विप्रकृष्टे संविदम्; एवं कुत्रापि त्रिकोणादौ प्रतिनियते चक्रे प्रवेशात् कोऽपि आनन्दादिरेकैक एवानुभवविशेषः संभवेत् न तु सर्वः,—इति युक्तमुक्तं 'तत्तच्चक्रेशत्वं हठाद्व्रजेत्' इति ॥ ११० ॥

ननु किं कस्य चक्रम् ? इत्याशङ्क्याह

आनन्दचक्रं वह्न्यश्रि कन्द उद्भव उच्यते ।
कम्पो हृत्तालु निद्रा च घूर्णिः स्यादूर्ध्वकुण्डली ॥१११॥

'वह्न्यश्रि' इति त्रिकोणं योगिनीवक्त्रमित्यर्थः । 'ऊर्ध्वकुण्डली' इति द्वादशान्तः । एषां चाभेदोपचारात् सामानाधिकरण्येन निर्देशः ॥ १११ ॥

नन्वेषामेवं प्रतिनियमे किं प्रमाणम् ? इत्याशङ्क्याह

एतच्च स्फुटमेवोक्तं श्रीमन्त्रैशिरसे मते ।

तत्र चैतत् षष्ठसप्तमयोरेवानन्तप्रमेयपुरःसरीकारेण बहुना ग्रन्थेन कटाक्षितम्,—इति ग्रन्थविस्तरभयात् न संवादितम्,—इति तत एवावधार्यम् ॥

तदेवमियतोपायजातेन समासादनीयस्य परस्य तत्त्वस्य नैमित्तिकं व्यपदेशान्तरमप्यस्ति,—इत्याह

एवं प्रदर्शितोच्चारविश्रान्तिहृदयं परम् ॥११२॥
यत्तदव्यक्तलिङ्गं नृशिवशक्त्यविभागवत् ।

'एवम्' उक्तेन प्रकारेण प्रदर्शिता येयमुच्चारादीनां विश्रान्तिः, तस्याः यत् 'परं हृदय' योगिनीहृदयादिशब्दव्यपदेश्यमहंपरामर्शमयं संवित्स्पन्दात्मकं प्रकृष्टं सतत्त्वं तन्नरशक्तिशिवाविभागवत्त्वादव्यक्तलिङ्गमुच्यते, इत्यर्थः ॥ ११२ ॥

नन्वेवं व्यपदेशस्य किं निमित्तम् ? इत्याशङ्क्याह

अत्र विश्वमिदं लीनमत्रान्तःस्थं च गम्यते ॥११३॥
इदं तल्लक्षणं पूर्णशक्तिभैरवसंविदः ।

चशब्दो भिन्नक्रमो हेतौ । यतो 'ऽत्र' अहंपरामर्शमये परस्मिन् हृदये नरशक्तिशिवात्मकम् 'इदं विश्वं लीनम्' अविभागेनावस्थितम्,—इति यावत् । न चैतज्जतुकाष्ठवत् अपि तु क्षीरनीरवदित्युक्तम् 'अत्रान्तःस्थं च गम्यते' इति, ऐकात्म्यमापन्नं सत् प्रतीयते इत्यर्थः । इदमेव हि तन्निरूपितस्वरूपायाः परस्याः संविदो लक्षणं यत् तत एव विश्वमुदेति तत्रैव च विलीयते इति । यदुक्तम्

'लिङ्गशब्देन विद्वांसः सृष्टिसंहारकारणम् ।
लयादागमनाच्चाहुर्भावानां पदमव्ययम् ॥'

इति ॥ ११३ ॥

नन्विह त्रिविधं लिङ्गमुक्तं व्यक्तं व्यक्ताव्यक्तमव्यक्तं च,—इति,

तत्राव्यक्तं परैव संवित्,—इत्युक्तम्। अन्यद्द्वयं पुनः किं तस्या एव स्फारो न वा? इत्याशङ्क्याह

देहगाध्वसमुन्मेषे समावेशस्तु यः स्फुटः ॥११४॥
अहन्ताच्छादितोन्मेषिभावेदंभावयुक् स च।
व्यक्ताव्यक्तमिदं लिङ्गं मन्त्रवीर्यं परापरम् ॥११५॥
नरशक्तिसमुन्मेषि शिवरूपाद्विभेदितम्।

देहगाध्वसमुन्मेषे' देहादावात्माभिमाने सत्यपि यः पुनरपरिम्लानः परतत्त्वान्तःसमावेशः तदिदं व्यक्ताव्यक्तं लिङ्गम्,—इति संबन्धः। ननु यद्येवं तदव्यक्तादस्य को विशेष? इत्याशङ्क्याह अहन्तेत्यादि। अहन्ताच्छादित 'उन्मेषिषु' बहिरुल्लसत्सु भावेषु योऽसौ 'इदंभाव' इदन्ता तेन युज्यते, इदमहमिति-प्रतितिरूप इत्यर्थः। अत एवास्य विद्यादशावदहन्तेदन्तयोः सामानाधिकरण्यात् व्यक्ताव्यक्तत्वम्, अत एव शुद्धाहंपरामर्शरूपत्वाभावात् शिवरूपाद्विभेदित सत् नरशक्तिभ्यां समुन्मेषणशीलं, नरशक्तिरूपमिति यावत्। एवमपि परापरं शक्तिप्रधानमित्यर्थः। नरप्रधानं हि व्यक्तं लिङ्गं भविष्यतीत्याशयः। अत एव मन्त्रवीर्यम्। एतद्दशामधिशयानो हि मन्त्रः स्वोचितफलदानसामर्थ्यभाग्भवतीति भावः। यदुक्तम्

'न पुंसि न परे तत्त्वे शक्तौ मन्त्रं नियोजयेत्।
पुंस्तत्त्वे जडतामेति परे तत्त्वे तु निष्फलः॥
शक्तौ मन्त्रो नियुक्तस्तु सर्वकर्मफलप्रदः।'

इति॥ ११५॥

न केवलं व्यक्ताव्यक्तमेव लिङ्गमस्याः स्फारो यावत् व्यक्तमपि,—इत्याह

यन्न्यक्कृतशिवाहन्तासमावेशं विभेदवत् ॥११६॥
विशेषस्पन्दरूपं तद् व्यक्तं लिङ्गं चिदात्मकम्।

यन्नाम गुणीकृतपराद्वयरूपाहन्तापरामर्शम्, अत एव 'विभेदवत्' बहीरूपतया स्फुरत् विशेषस्पन्दरूपम्,—इति विमर्शनं तदव्यक्तं लिङ्गमुच्यत इत्यर्थः। एवमपि चिदात्मकम्, अन्यथा हि एतन्न किंचिद्भवेदिति भावः॥ ११६॥

न केवलमेषां स्वरूपत एव भेदो यावत् फलतोऽपि,--इत्याह

व्यक्तात्सिद्धिप्रसवौ व्यक्ताव्यक्ताद्द्वयं विमोक्षश्च ।
अव्यक्तादुबलमाद्यं परस्य नानुत्तरे त्वियं चर्चा ॥११७॥

यदुक्तम्

'प्रतिमापूजनाद्भुक्तिर्मुक्तिर्लिङ्गार्चनात् सदा ।
मुखलिङ्गार्चनात्पुंसां भुक्तिमुक्ती प्रसिद्ध्यतः ॥'

इति । 'बलमाद्यं परस्य' इति अव्यक्तं व्यक्ताव्यक्तस्य तदव्यक्तस्य । ननु यद्येवं तदेतद्व्रित्तिभूते सर्वसर्वात्मकेऽनुत्तरे धाम्नि पुनः का वार्ता ? इत्याशङ्क्याह 'नानुत्तरे त्वियं चर्चा' इति तत्र हि पारिपूर्ण्येन नैराकाङ्क्ष्योत्पादात् को नाम सिद्ध्यादिप्रविभाग,--इति भावः ॥ ११७ ॥

नन्वाद्यमेव परस्य विश्रान्तिस्थानं न त विपर्ययः,--इत्यत्र किं निबन्धनम् ? इत्याशङ्क्याह

आत्माख्यं यदव्यक्तं नरलिङ्गं तत्र विश्वमर्पयतः ।
व्यक्ताव्यक्तं तस्माद्गलिते यस्मिंस्तदव्यक्तम् ॥११८॥

यन्नाम समनन्तरोक्तस्वरूपं नरप्रधानत्वात् आत्माख्यमिदविमर्शास्पदं व्यक्तं लिङ्गं तत्र आत्माख्ये लिङ्गे 'यदिदं तदहमेव' इत्येवंरूपतया विश्वं विलापयतो योगिनोऽहन्तेदन्तयोः सामानाधिकरण्येन स्फुरणात् व्यक्ताव्यक्तं लिङ्गं, तस्मादव्यक्ताव्यक्तादपि लिङ्गात् तस्मिन् विश्वस्मिन् 'गलिते' ऽहंपरामर्शशेषतामापन्ने तदव्यक्तं लिङ्गं भवेदित्यर्थः ॥ ११८ ॥

नन्वनेन किमुक्तम् ? इत्याशङ्क्याह

तेनात्मलिङ्गमेतत् परमे शिवशक्त्यणुस्वभावमये ।
अव्यक्ते विश्राम्यति नानुत्तरधामगा त्वियं चर्चा । ११९॥

इत्थम् 'एतत्' नरप्रधानं व्यक्तमात्मलिङ्गम् अर्थात् नरशक्तिप्रधाने व्यक्ताव्यक्ते लिङ्गे विश्रान्तिमासाद्य, शिवप्राधान्येऽपि गर्भीकृतावान्तररूपत्वात् नरशक्तिशिवात्मनि, अत एव 'परमे' लिङ्गान्तरवैलक्षण्यादुत्कर्षभाजि अव्यक्ते लिङ्गे 'विश्राम्यति' तत्तादात्म्येन प्रस्फुरतीत्यर्थः । ननु यथा व्यक्तादिलिङ्गद्वयमव्यक्ते विश्राम्यति तथैव तदप्यनुत्तरे धाम्नि,--इति कस्मा-

न्नोक्तम् ? इत्याशङ्क्याह 'नानुत्तरधामगा त्वियं चर्चा'— इति । तद्धि अनुत्तरमेव धामाव्यक्तादिलिङ्गत्रयात्मना प्रस्फुरति,—इति सदैव तत्र तद्विश्रान्तमन्यथा ह्यस्य भवनमेव न स्यात् ॥ ११९ ॥

अत एवाह

एकस्य स्पन्दनस्यैषा त्रैधं भेदव्यवस्थितिः ।

इह खलु 'एकस्य' प्रधानस्यानुत्तरात्मनो योगिनीहृदयादिशब्दव्यपदेश्यस्य 'स्पन्दनस्यैषा' व्यक्तादिलिङ्गात्मिका त्रिविधेन भेदेन 'व्यवस्थितः' परिस्फुरणं न तु तदतिरिक्तमेतत् किंचिदित्यर्थः ॥

अतश्च व्यक्तादिलिङ्गपरिहारेणात्रैव विश्रान्तिः कार्या,—इत्याह

अत्र लिङ्गे सदा तिष्ठेत् पूजाविश्रान्तितत्परः ॥१२०॥

यदुक्तम्

'मृच्छैलधातुरत्नादिभवं लिङ्गं न पूजयेत् ।
यजेदाध्यात्मिकं लिङ्गं यत्र लीनं चराचरम् ॥
बहिर्लिङ्गस्य लिङ्गत्वमनेनाधिष्ठितं यतः ।'
(मा० वि० १८।४२)

इति ॥ १२० ॥

नन्वत्र विश्रान्त्या किं स्यात् ? इत्याशङ्क्याह

योगिनीहृदयं लिङ्गमिदमानन्दसुन्दरम् ।
बीजयोनिसमापत्त्या सूते कामपि संविदम् ॥१२१॥

इदं स्पन्दनात्म योगिनीहृदयाभिधेयमानन्दमयं लिङ्गं बीजयोन्यात्मकशिवशक्त्यैकात्म्येन 'कामपि संविद सूते' परसंविदावेशमाविष्कुर्यादित्यर्थः । अथ च चर्याक्रमेणाप्येवं परसंविदनुप्रवेशो भवेदित्यपि कटाक्षितम् । यदुक्तम्

'त्रिकोणमण्डलं पूज्यं शक्तित्रयसमन्वितम् ।
तन्मध्ये चेतनं चिन्त्यं लिङ्गं वै पश्चिमामुखम् ॥'

इति । तथा

'आनन्दस्यन्दि यद्गीतं सर्वप्रसवकारणम् ।
उपस्थाख्येयमेतत्तु सौषुम्नं रूपमुच्यते ॥'

इति ॥ १२१ ॥

तन्वत्रैव विश्रान्त्या कथमेवं स्यात् ? इत्याशङ्क्याह

अत्र प्रयासविरहात्सर्वोऽसौ देवतागणः ।
आनन्दपूर्णे धाम्न्यास्ते नित्योदितचिदात्मकः ॥१२२॥

यदुक्तम्

'त्रिकोणे देवताः सर्वा ब्रह्मविष्णुमहेश्वराः ।'

इति ॥ १२२ ॥

न केवलमत्र सर्व एव देवतागण आस्ते यावत् पारमेश्वरी शक्तिरपि,—इत्याह

अत्र भैरवनाथस्य ससंकोचविकासिका ।
भासते दुर्घटा शक्तिरसंकोचविकासिनः ॥१२३॥

अत्रानन्दपूर्णे धाम्नि 'असंकोचविकासिनो' निस्तरङ्गजलधिप्रख्यस्य प्रकाशस्य 'ससंकोचविकासिका' सदैव सृष्टिसंहारमयी, अत एव दुर्घटकारिणी स्वातन्त्र्याख्या शक्तिः 'भासते स्वात्मैकात्म्येन प्रथते, यन्माहात्म्यादियान् विश्वस्फारः सदैव सृष्टिसंहारदशाधिशायितामेतीत्यर्थः ॥ १२३॥

तदाह

एतल्लिङ्गसमापत्तिविसर्गानन्दधारया ।
सिक्तं तदेव सद्विश्वं शश्वन्नवनवायते ॥१२४॥

एतस्मिन्ननुत्तरधामात्मनि समनन्तरोक्ते 'लिङ्गे समापत्तिः' ऐकात्म्यं यस्यैवंविधो यो 'विसर्गः' स्वातन्त्र्याख्या कौलिकी शक्तिस्तस्य या 'आनन्दधारा'

'विसर्गता च सैवास्या यदानन्दोदयक्रमात् ।
स्पष्टीभूतक्रियाशक्तिपर्यन्ता प्रोच्छलत्स्थितिः ॥'

(तं० ३।१४४)

इत्याद्युक्त्यानन्दोदयक्रमेणोच्छलत्ता तया 'सिक्तं' बहिरुच्छूनतामापादितं सत् तत्कालमेव शश्वद्विश्वं 'नवनवायते' सदैव सृष्टिसंहारपात्रतामासादयतीत्यर्थः । अथ च चर्याक्रमेण एतयोर्वज्रपद्मादिशब्दव्यपदेश्योर्लिङ्गयोः

'समापत्त्या' संभोगेन विसर्गरूपा येयमानन्दधारा तया 'सिक्तं' दत्तबीजं सत् स्त्रीपुमाद्यात्म विश्वमनवरतमुत्पद्यत इत्यर्थः ॥ १२४ ॥

ननु भेदप्राणविकल्पसंस्काराधायित्वाद्बुद्धिध्यानादीनां स्पष्टमेवाणवोपायत्वम्,—इति युक्तमत्र तदभिधानं, परतत्त्वान्तःप्रवेशलक्षणः पुनरयमुपायो निर्विकल्पस्वरूपत्वान्न तथा,—इति कथमस्यात्राभिधानम्? इत्याशङ्क्याह

अनुत्तरेऽभ्युपायोऽत्र ताद्रूप्यादेव वर्णितः ।
ज्वलितेष्वपि दीपेषु धर्मांशुः किं न भासते ॥१२५॥

'अत्र' आणवोपायप्रकाशनपरेऽप्याह्निके साक्षादनुत्तरनिमित्तं परतत्त्वान्तःप्रवेशात्मायम् 'अभ्युपायस्ताद्रूप्यात्' अनुत्तराभ्युपायरूपत्वादेवोक्तः । अत्र दृष्टान्तः, यथा तत्तदर्थप्रकाशनाय परिमितप्रकाशेषु दीपादिषु सत्स्वपि महाप्रकाशस्य धर्मांशोरवस्थाने न कश्चिद्दोषः, एवमत्रापीति तात्पर्यार्थः ॥ १२५ ॥

नन्वेवं त्रयाणामप्याणवादीनामुपायानां सांकर्येणैवोपदेशः कार्यः—इति किं पृथक् पृथगाह्निकपरिकल्पनेन? इत्याशङ्क्याह

अर्थेषु तद्भोगविधौ तदुत्थे
दुःखे सुखे वा गलिताभिशङ्कम् ।
अनाविशन्तोऽपि निमग्नचित्ता
जानन्ति वृत्तिक्षयसौख्यमन्तः ॥१२६॥

'अर्थेषु' नीलादिषु 'तद्भोगविधौ' नीलादिबुद्धौ 'तदुत्थे' नीलादिकृते दुःखे सुखे वेत्येवमर्थक्रियापर्यन्तं प्राप्तप्रतिष्ठाने बाह्येऽर्थजाते 'निमग्नचित्ताः' तत्तद्धानादानादि कुर्वाणा अपि तत्र 'गलिताभिशङ्कमनाविशन्तः' स्वप्नार्थवदसदेवेदमिति निःसंदेहं तद्वैवश्यमभजमाना योगिनो वृत्तिक्षयसौख्यमन्तर्जानन्ति

'अन्तर्लक्ष्यो बहिर्दृष्टिः परमं पदमश्नुते ।'

इत्याद्युक्तयुक्त्या बहिस्तत्तद्व्यवहारपरत्वेऽपि स्वात्ममात्रविश्रान्त्या परं चमत्कारातिशयमनुभवन्तीत्यर्थः । अतश्च भेदमयत्वेऽप्यभेदरूपत्वमस्य,—इत्या-

मुखे भेदस्यावस्थानादिहैतदभिधानम,--इति न कश्चिद्दोषः। एतदेव हि योगिनः परं विस्फूर्जितं यद्भेदमयत्वेऽप्यभेदरूपतयावस्थानमिति ॥१२६॥

तदाह

सत्येवात्मनि चित्स्वभावमहसि स्वान्ते तथोपक्रियां
तस्मै कुर्वति तत्प्रचारविवशे सत्यक्षवर्गेऽपि च।
सत्स्वर्थेषु सुखादिषु स्फुटतरं यद्भेदवन्ध्योदयं
योगी तिष्ठति पूर्णरश्मिविभवस्तत्तत्त्वमाचीयताम् ॥१२७॥

इह खलु चित्स्वभावत्वार्कादिप्रकाशविलक्षणे परप्रमातृरूपे पूर्णे आत्मन्येव सति स्वात्मसाक्षात्कारावसरे चिदेकरूपत्वादविभागतया तथा 'तस्मै' निरूपितस्वरूपायात्मने संकुचत्तावभासनेन नियतज्ञत्वकर्तृत्वलक्षणाम् 'उपक्रियां' कुर्वति 'स्वान्ते'ऽन्तःकरणवर्गे सति बुद्धिप्रमातृदशायामासूत्रितविभागतया तथा 'तस्य' स्वान्तस्य योऽसौ 'प्रचार' इत्यहमिदं वेद्मीत्याद्यात्म प्रकृष्टं चरणं 'तद्विवशे' तदायत्ते इत्यर्थः। यन्नाम न हि बुद्ध्यादावुपारूढं तत्र बाह्येन्द्रियाणि किं विदध्युरित्यभिप्रायः। एवंरूपे चक्षुरादीन्द्रियकलापे सति देहादिप्रमातृदशायां विभक्ततया विद्यमानेषु सुखादिषु इष्टानिष्टरूपेष्वर्थेषु,—इत्येवमभेदभेदाभेदभेदात्मनि कक्ष्यात्रयेऽपि स्फुटतरं कृत्वा 'भेदवन्ध्योकयं' निर्विशेषं यद्योगी तिष्ठति तदेव नाम भैरवमुद्रानुप्रवेशात्म 'तत्त्वं' पारमार्थिकं रूपमाचीयतां ग्राह्यग्राहकाद्यात्मकबाह्यक्षोभमयत्वेऽपि तदासङ्गमपहाय स्वात्ममात्रनिष्ठ एवावतिष्ठेतेत्यर्थः। अत एव बाह्याकाङ्क्षासंक्षयात् सदैव प्रक्षीणनिखिलेन्द्रियवृत्तितया 'पूर्णरश्मिविभव' इत्युक्तम्। यद्गीतम्

'बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत्सुखम्।
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षयमश्नुते ॥' (गी० ५।२१)

इति ॥ १२७ ॥

एवमेतदुपसंहृत्य तदानन्तर्येणोद्दिष्टस्य करणस्य प्रविवेचनं प्रतिजानीते

इत्युच्चारविधिः प्रोक्तः करणं प्रविविच्यते।

उच्चार एव हि प्राणचिदात्मना प्रथमं द्विविधः। तत्र चिदात्मापि चित्प्राधान्येन विमर्शप्राधान्येन च भवन् द्विधा भवति,--इति स एव

त्रिविधः। तत् परतत्त्वान्तःप्रवेशात्मनोऽप्युपायस्य तद्भेदत्वादुच्चारात्मकत्व-मेव,--इति युक्तमुपसंहृतम् 'उच्चारविधिः प्रोक्त' इति ॥

तच्च करणं न स्वोपज्ञमेवास्माभिः क्रियते,--इत्याह

तच्चेत्थं त्रिशिरःशास्त्रे परमेशेन भाषितम् ॥१२८॥
ग्राह्यग्राहकचिद्व्याप्तित्यागाक्षेपनिवेशनैः ।
करणं सप्तधा प्राहुरभ्यासं बोधपूर्वकम् ॥१२९॥
तद्व्याप्तिपूर्वमाक्षेपे करणं स्वप्रतिष्ठता ।

'चित्' संवित्तिः 'निवेशनं' संनिवेशः। इह ग्राह्यादिभिः सप्तभिः प्रकारै-र्भिन्नं करणं नाम बोधपूर्वकमभ्यासं प्राहुः, बोध्यस्यन्यग्भावेन स्वात्मैकतानता-मापन्नं बोधमेव कथितवन्त इत्यर्थः। तद्धि करणं

'सोऽहं ममायं विभव इत्येवं परिजानतः।
विश्वात्मनो विकल्पानां प्रसरेऽपि महेशता ॥'

(ई० प्र० ४।३।१२)

इत्याद्युक्तनीत्या व्याप्तिपूर्वं विश्वस्याक्षेपे 'स्वप्रतिष्ठता' स्वात्मन्येव विश्रान्तिरित्यर्थः। यदुक्तं तत्र

'ग्राह्यं च ग्राहकं चैव संवित्तिं च तृतीयिकाम्।
सनिवेशं तथा व्याप्तिमाक्षेपं त्यागमेव च ॥
करणं सप्तधा ख्यातमभ्यासं बोधपूर्वकम्।
तद्व्याप्तिपूर्वमाक्षेपे करणं स्वप्रतिष्ठता ॥'

इति। ग्राह्यादीनां च तत्रैव

'ग्राह्यस्वरूपविज्ञानं द्रव्यत्वे यदव्यवस्थितम्।
व्यक्तिनिष्ठं तु मन्तव्यं ग्राहकं तु स्फुटार्थकम् ॥
ग्राहयेच्चित्स्वरूपं तु व्यक्ताव्यक्तविचारकम्।
प्रत्यक्षादिप्रमाणैश्च ग्रहीता गोलकस्थितिः ॥
गोलकं द्वारमित्युक्तं मनसा बाह्यतां ततः।
न जहाति न गृह्णाति ग्रहीता ग्राहकः स्मृतः ॥
लक्ष्यलक्षसमायोगात् प्रतिज्ञावस्तुयोगतः।
उभयोर्नान्यविश्लेषं यथैवानुभवं स्मृतम् ॥

विचार्यमाणं यत्किंचित्स्वरूपविभवात्मकम् ।
संनिवेशं तु यज्ज्ञेयं तदव्याप्तिरभिधीयते ।।
स्वरूपस्थितिभावस्य एकदेशगतस्य च ।
घोणार्चिःप्रविकासं तु स्थानात्स्थानपदक्रमात् ।।
ज्ञायते वस्तुबोधज्ञस्त्रिप्रकारेण वस्तुनि ।
व्याप्तिस्तु कथिता सा तु सर्वज्ञा सर्वगा परा ।।
अनुभूय स्वरूपं तु निवृत्तिं नैव गच्छति ।
ज्ञानभेदपदप्राप्त्या अत्याक्षेपगमात्मनः ।।
स्वरूपं चिन्त्यमानोऽपि ग्राह्यप्राकारधर्मधीः ।
त्यजेत्पूर्वपदाद्भेदात् त्यागं तु परिकीर्कितम् ।।
पदस्थस्त्यागभागी च संवृतात्मपरस्य च ।
आक्षेपं तं विजानीयात्सर्वत्रावस्थितं प्रिये ।।'

इत्यादिना स्वरूपमुक्तम् ।। १२९ ।।

नन्विहैतन्निभज्य कस्मान्नोक्तं किमागमपाठमात्रेण ? इत्याशङ्क्याह

गुरुवक्त्राच्च बोद्धव्यं करणं यद्यपि स्फुटम् ।।१३०।।
तथाप्यागमरक्षार्थं तदग्रे वर्णयिष्यते ।

इह यद्यप्यनुभवैकगोचरत्वात् करणस्वरूपं गुरुमुखादेव स्फुटमवगन्तव्यं तथाप्यागमार्थो मा विच्छेदीत्येतदग्रे 'वर्णायिष्यते' अन्तरान्तरा पुरस्ताच्चर्चयिष्यते इत्यर्थः । तथाहि

'अर्थस्य प्रतिपत्तिर्या ग्राह्यग्राहकरूपिणी ।
सा एव मन्त्रशक्तिस्तु वितता मन्त्रसंततौ ।।'
(तं १६।२५३)

इत्यादिना षोडशाह्निके ग्राह्यग्राहकयोः ।

'यत्तु सर्वाविभागात्म स्वतंत्र बोधसुन्दरम् ।
सप्तत्रिंशं तु तत्प्राहुस्तत्त्वं परशिवाभिधम् ।।'
(तं० ११।२१)

इत्यादिनैकादशाह्निके संवित्तेः ।

'इह किल दशकमच्छाः शिव उक्तास्तास्तु वेद्य-
खण्डलके ।' (तं० १५।३३८)

इत्यादिना पञ्चदशाह्निके व्याप्तेः।

'एवं त्रिविधविसर्गविशवमापत्तिधाम्नि य उदेति।
संवित्परिमर्शात्मा ध्वनिस्तदेव मन्त्रवीर्यं स्यात् ॥'
(तं० २९।१४०)

इत्यादिना

'तत्र सर्वे लयं यान्ति दह्यन्ते तत्त्वसंचयाः।
तां चितिं पश्य कायस्थां कालानलसमप्रभाम् ॥'
(तं २५।१७२)

इत्यादिना चैकान्नत्रिंशाह्निके त्यागस्याक्षेपस्य च तत्तन्मुद्रास्वरूपनिरूपणद्वारेण द्वात्रिंशाह्निके संनिवेशस्य स्वरूपं वक्ष्यति, - इति तत एवैतत्सतत्त्वं स्वयमेवावधारणीयम्। एवं च व्यायवर्णनेऽस्यायमभिप्रायो यदेकप्रघट्टकेनैव रहस्यार्थोपदेशा न न्याय इति। यदुक्तमनेनैवान्यत्र

'नातिरहस्यमेकत्र ख्याप्यं न च सर्वथा गोप्यम्
इति हि अस्मद्गुरवः।'

इति। तदस्माकमपि एवं-व्याख्याने श्रीमदभिनवगुप्तपादा एव प्रमाणम्,—इति नात्र विद्वद्भिरस्मभ्यमसूयितव्यम् ॥ १३० ॥

एवं करणस्वरूपमुट्टङ्क्य तदनन्तरोद्दिष्टं वर्णतत्त्वं वक्तुमुपक्रमते

उक्तो य एष उच्चारस्तत्र योऽसौ स्फुरन् स्थितः ॥१३१॥
अव्यक्तानुकृतिप्रायो ध्वनिर्वर्णः स कथ्यते।

य एष प्राणात्मा प्रागुच्चार उक्तस्तत्र स्फुरन् स्थितः

'नास्योच्चारयिता कश्चित्प्रतिहन्ता न विद्यते।
स्वयमुच्चरते देवः प्राणिनामुरसि स्थितः' ॥' (स्व० ७।५७)

इत्याद्युक्त्या स्वरसत एवोच्चरन्। तथा

'एको नादात्मको वर्णः सर्ववर्णाविभागवान्।
सोऽनस्तमितरूपत्वादनाहत इहोदितः ॥' (तं ६।२१६)

इत्यादिवक्ष्यमाणयुक्त्या सर्ववर्णाविभागस्वभावत्वादव्यक्तप्रायो योऽसावनाहतरूपो नादः स वर्णोत्पत्तिनिमित्तत्वाद्वर्ण उच्यते वर्णशब्दाभिधेयो भवेदित्यर्थः ॥ १३१ ॥

नन्वेवं-विधोऽयं वर्णः कुत्रोपलभ्यते ? इत्याशङ्क्याह

सृष्टिसंहारबीजं च तस्य मुख्यं वपुर्विदुः ॥१३२॥

तस्य च सृष्टिबीजं संहारबीजं चेति बीजद्वयं 'मुख्यं वपुः' प्रधानमभिव्यक्तिस्थानमित्यर्थः ॥ १३२ ॥

नन्वेवमस्य परिज्ञानेन किं स्यात् ? इत्याशङ्क्याह

तदभ्यासवशाद्याति क्रमाद्योगी चिदात्मताम् ।

तच्छब्देन सृष्टिबीजादावभिव्यज्यमानो नादः परामृष्टः ॥

तदेवोपपादयति

तथा ह्यनच्के साच्के वा कादौ सान्ते पुनःपुन ॥१३३॥
स्मृते प्रोच्चारिते वापि सा सा संवित्प्रसूयते ।

इह हि

'..........द्विजमाद्यमजीवकम् । (मा० वि० १७।२९)

इत्याद्युक्तेः 'अनच्के' स्वरर हते

'वामजङ्घान्वितो जीवः..........' (मा० वि० ३।५४)

इत्याद्युक्त्या 'साच्के' स्वरसहिते च ककारादिसकारान्ते वर्णकलापे पुनःपुनरुच्चारिते स्मृतेऽपि वा सासा मर्मनिकृन्तनाप्यायनादिरूपा परस्परविलक्षणा 'सवित्' अनुभवो जायते । तेन सृष्टिबीजादावभिव्यज्यमानं नादं पौनःपुन्येनोच्चारयन् स्मरन् वापि योगी चिदैकात्म्यमनुभवेत्,--इति युक्तमुक्तं 'तदभ्यासवशाद्यापि क्रमाद्योगी चिदात्मताम्' इति ॥ १३३ ॥

न केवलं वाच्यार्थव्यतिरेकिणो लोकोत्तरा मान्त्रा वर्णा एवं आवल्लौकिका अपि,--इत्याह

बाह्यार्थसमयापेक्षा घटाद्याध्वनयोऽपि ये ॥१३४॥
तेऽप्यर्थभावनां कुर्युर्मनोराज्यवदात्मनि ।

वस्तुवृत्तेनासंभाविनं बाह्यं पृथुबुध्नोदरादिरूपम् 'अर्थम्' उत्तमवृद्धादिना कल्पितमिदमस्याभिधेयमित्येवमात्मकं 'समयं' चापेक्षमाणा अपि ये घटाद्याः शब्दास्ते स्ववाच्यार्थवार्तामात्रानभिज्ञा अपि आत्ममन्यर्थादुच्चा-

रिताः स्मृता वा पृथुबुध्नोदरादेरर्थस्य 'भावनां' साक्षात्कारं मनोराज्यवतीति, यथा स्वोत्प्रेक्षाविकल्पादौ कान्तादिशब्दाः कामशोकादिना भाव्यमानास्तत्रासंनिहितस्यापि कान्तादेरर्थस्य कुर्युः, एवं संभाव्यते इत्यर्थः। एवं समयादिनिरपेक्षाणां संविदैकात्म्येन वर्तमानानां मान्त्राणां वर्णानां पुनरेवंसंभावने का नाम शङ्का भवेदिति भावः ॥ १३४ ॥

आगमोऽप्येवमित्यर्थद्वारेणाह

तदुक्तं परमेशेन भैरवो व्यापकोऽखिले ॥१३५॥
इति भैरवशब्दस्य संततोच्चारणाच्छिवः।

'भैरवो' इति निरुक्तदृष्टचा सर्वं भ्रियाद्धारयति पुष्णाति रचयति अन्तर्बहिर्वा करोति सृष्टिस्थितिसंहारकृत् अखिले व्यापकः सकलजगत्क्रोडीकारेण भरितत्वात् पूर्ण,--इत्येवमात्मव्याप्तिगर्भीकारेण भैरवशब्दस्य पौनःपुन्येन 'उच्चारणात्' मध्यधाम्नि हृदयात् द्वादशान्तं यावत्परामर्शनाच्छिवो भवेत्, भैरवैकात्म्यमनुभवेदित्यर्थः। उक्तमिति श्रीविज्ञानभैरवे। यदुक्तं तत्र

'भ्रियात्सर्वं रचयति सर्वदो व्यापकोऽखिले।
इति भैरवशब्दस्य संततोच्चारणाच्छिवः॥'
(वि० भै० ११३ श्लो०)

इति ॥ १३५ ॥

ननु यदि नामैवमुच्चारणाद्भवेत् तदस्तु, स्मरणात् पुनरेतत् कथम्? इत्याशङ्क्याह

श्रीमत्त्रैशिरसेऽप्युक्तं मन्त्रोद्धारस्य पूर्वतः ॥१३६॥

मन्त्रोद्धारस्य पूर्वत इति,

'अधुना श्रोतुमिच्छामि मन्त्रोद्धारस्य लक्षणम्।'

इति भगवत्या प्रश्ने कृते हि तत्समाधानमारभमाणेन भगवतैतत्स्मरणस्वरूपं प्रथमतरमेवोक्तमित्यर्थः। एतदेव हि विचार्यमाणं मन्त्राणां परं वीर्यमिति भावः। यदुक्तमनेनैव सूत्रविमर्शिन्याम्

'तत एव सकलसिद्धिवितरणचतुरचिन्तामणिप्रख्यमागमिकाः स्मरणमेव मन्त्रादिप्राणितं मन्यन्ते।'
(ई० प्र० वि० १।४।१)

इति १३६ ॥

तदेव पठति

स्मृतिश्च स्मरणं पूर्वं सर्वभावेषु वस्तुतः ।
मन्त्रस्वरूपं तद्भाव्यस्वरूपापत्तियोजकम् ॥१३७॥

इह अनुभवप्रत्यभिज्ञादिप्रत्ययान्तरवैलक्षण्येनोज्जृम्भमाणं 'स' इति प्रत्यवमर्शनात्मकमनुभूतार्थप्रकाशासंप्रमोषणरूपं 'स्मरणं स्मृतिः' तद्रूपा पारमेश्वरी शक्तिरित्यर्थः। तच्च वाच्यवाचकात्मकेषु स्फुरत्सु भावेषु 'पूर्वम्' उपादित्सादिपूर्वकोटाववश्यभावि, अन्यथा हि

'स्मरणादभिलाषेण (पेन) व्यवहारः प्रवर्तते ।'

इत्यादिनीत्या तन्मूलः समग्र एव व्यवहार उत्सीदेत् । पूर्वमनुभूतोऽर्थ इदानीं नास्तीति निर्विषयत्वात् स्मृतिरेव नोल्लसेत्; अस्तित्वे वा तस्यानुभव एव भवेत्,--इति कथं तन्मूलोऽयं व्यवहारः सिद्ध्येदित्याशङ्क्योक्तं 'वस्तुतो मन्त्रस्वरूपम्' इति । तद्धि स्मरणं वस्तुवृत्तेन मन्त्रयति स्वाभेदेन विश्वं परामृशति,--इयि 'मन्त्रः' परः प्रमाता तस्य स्वरूपं तदेकविश्रान्तमित्यर्थः। नन्वेमपि किं स्यात् ? इत्याशङ्क्याह 'तद्भाव्यस्वरूपापत्तियोजकम्' इति । यतस्तत्परप्रमात्रात्म मन्त्रस्वरूपं 'भाव्यस्य' अनुभवनीयस्य घटादेरथस्य 'स्वरूपापत्तिः' स्वात्मसात्कारस्तत्र योजयति, तथात्वेन व्यवस्थापयतीत्यर्थः । यदि नाम हि तदविभागेन निखिलमिदमनुभूतं वस्तु न संभवेत् तत् स्मरणमेव न भवेदिति भावः । यदुक्तम्

'सर्वेऽनुभूता यदि नान्तरर्थास्त्वदात्मसात्कारसुरक्षिताः स्युः ।
विज्ञातवस्त्वप्रतिमोषरूपा काचित् स्मृतिर्नाम न संभवेत्तत् ॥'

इति ॥ १३७ ॥

तामेव विशिनष्टि

स्मृतिः स्वरूपजनिका सर्वभावेषु रञ्जिका ।
अनेकाकाररूपेण सर्वत्रावस्थितेन तु ॥१३८॥
स्वस्वभावस्य संप्राप्तिः संवित्तिः परमार्थतः ।
व्यक्तिनिष्ठां ततो विद्धि सत्ता सा कीर्तिता परा ॥१३९॥

यतः सा स्मृतिः 'व्यक्तिः' अर्थप्रकटनात्मा प्राच्योऽनुभवः 'तन्निष्ठा' तदभेदमापन्ना सती स्वस्येदानीन्तनकालावच्छिन्नस्य रूपस्य 'जनिका' स्मर्यमाणार्थावभासिकेत्यर्थः। प्राच्यस्यैव ह्यनुभवस्येदानीन्तनकालावच्छेदेन पुनरुन्मेषो नाम स्मरणम्, अत एव पूर्वापरोभयकालावलम्बनेनौचित्योपनतः 'स' इति परामर्शोऽस्य परमार्थः। नन्वेवमति स्मृतेर्विकल्पविशेषत्वात् निर्विषयत्वेन कथमर्थावभासकत्वमित्युक्तं 'सर्वभावेषु रञ्जिका' इति 'अनेकाकाररूपेण सर्वत्रावस्थितेन तु' इति। सा हि 'सर्वत्र' सर्वेषु पूर्वावभातेषु घटादिषु भावेष्वर्थितादिवशाद्घटकाञ्चनद्रव्यत्वाद्यात्मकेन 'अनेकेनैवाकारेण' कदाचिदपि स्वालक्षण्यात् स्वस्वरूप एवावस्थितेन घटाभासमात्राद्यात्मना 'रञ्जिका' स्वकाले स्फुटमेवावभासिकेत्यर्थः। यदुक्तम्

'भासयेच्च स्वकालेऽर्थान्पूर्वाभासितमामृशन्।
स्वलक्षणं घटाभासमात्रेणाथाखिलात्मना॥'
(ई० प्र० १।४।२)

इति। एवं प्राच्यस्यानुभवस्य स्मृत्यभेदेनैवावभासात् स्मृत्यनुभवयोरैक्यं सिद्धम्,--इति सा स्मृतिरेव स्वात्मनः संप्राप्तिः, पारमार्थिकी च सवित्तिरित्युक्तं 'स्वस्वभावस्य संप्राप्तिः संवित्तिः परमार्थतः' इति। यदुक्तम्

'न च युक्तं स्मृतेर्भेदे स्मर्यमाणस्य भासनम्।
तेनैक्यं भिन्नकालानां संविदां वेदितैष सः॥'
(ई० प्र० १।४।३)

इति। अत एव च

'सा स्फुरत्ता महासत्ता देशकालाविशेषिणी।
सैषा सारतया प्रोक्ता हृदयं परमेष्ठिनः॥'
(ई० प्र० १।५।१४)

इत्यादिना निरूपितस्वरूपा पराकृत्त्रिमाहन्तापरामर्शात्मिका मान्त्री वीर्यभूमिरियम्, अत्रैवावधातव्यमित्युक्तं 'विद्धि सत्ता सा कीर्तिता परा' इति। विद्धीत्यत्र वाक्यार्थस्य कर्मत्वम्॥ १८९॥

तदेवं लौकिकानां घटादीनां शब्दानामेवमुच्चारणात् स्मरणाद्वा यत्र संविदेकात्म्यावाप्तावुपायत्वं तत्र सृष्टिबीजादीनां का वार्ता ? इत्याह

किं पुनः समपेक्षां विना ये बीजपिण्डकाः।

संविदं स्पन्दयन्त्येते नेयुः संविदुपायताम् ॥१४०॥

एते संविदुपायतां नेयुरिति काक्वा व्याख्येयम् ॥ १४० ॥

ननु समयानपेक्षमेव कथमेवमेते कुर्वन्ति ? इत्याशङ्क्याह

वाच्याभावादुदासीनसंवित्स्पन्दात्स्वधामतः ।
प्राणोल्लासनिरोधाभ्यां बीजपिण्डेषु पूर्णता ॥१४१॥

संविदैकात्म्येन स्फुरणात् व्यतिरिक्तस्य वाच्यस्याभावात्, तथा 'उदासीनः' स्वात्ममात्रविश्रान्तेरबहिर्मुखो योऽसौ संवित्स्पन्दस्तद्रूपात् 'स्वधामतः' स्वस्फारात्, तथा प्रमाणात्मनः 'प्राणस्योल्लासात्' प्रमेयोन्मुखं प्रसरणात्ः तथा 'निरोधात्' अन्तर्मुखरूपे विश्रमात् सृष्टिसंहारकारित्वात् सृष्टिबीजादिरूपेषु 'बीजपिण्डेषु पूर्णता' अनन्योन्मुखत्वात् नैराकाङ्क्षयमित्यर्थः । घटादिषु लौकिकेषु पुनः शब्देषु वाच्यसद्भावादेरपूर्णत्वात् समयाद्यपेक्षत्वमित्यर्थसिद्धम् ॥ १४१ ॥

एवमेतत् सामान्येनाभिधाय विशेषमुखेनापि दर्शयति

सुखसीत्कारसत्सम्यक्साम्यप्रथमसंविदः ।
संवेदनं हि प्रथमं स्पर्शोऽनुत्तरसंविदः ॥१४२॥
हृत्कण्ठचोष्ठ्यत्रिधामान्तर्नितरां प्रविकासिनि ।
चतुर्दशः प्रवेशो य एकीकृततदात्मकः ॥१४३॥
ततो विसर्गोच्चारांशे द्वादशान्तपथावुभौ ।
हृदयेन सहैकध्यं नयते जपतत्परः ॥१४४॥

सुखादिसंबन्धिन्याः 'प्रथमाया' आद्यायाः संविदो यत् 'प्रथमम्' आद्यमेव संवेदनम्, अनन्तरं हि संवेद्याद्यारूषितत्वमपि भवेदिति भावः । स नाम अनुत्तरसंविदः 'स्पर्शः' परसंवित्साक्षात्कार इत्यर्थः । 'सुखं' चमत्कारातिशयः, 'सीत्कारः' तत्कारणं 'सत्' रमणीयं बाह्यं स्त्र्यादिवस्तु, सम्यगरमणीयमपि स्वोचितेन संनिवेशेनावस्थितं, 'साम्यं' रागद्वेषादिद्वन्द्वपरिहारः । अथ च सुखादीनामाद्या सकारमात्ररूपा या संवित् तस्याः संवेदनादप्येवम्,– इति परावीजगतस्यामृतवर्णस्यापि तत्त्वं प्रदर्शितम् । यदुक्तं प्राक्

'क्षोभाद्यन्तविरामेषु तदेव परमामृतम् ।
सीत्कारसुखसङ्भावसमावेशसमाधिषु ॥' (तं० ३।१६७)

इति अस्य च दन्त्यत्वेऽपि कन्दे विश्रान्तिरिति

'कन्दहृत्कण्ठताल्वग्र………।' (तं० ५।१४५)

इत्यादिवक्ष्यमाणार्थबलादवगन्तव्यम् । ततोऽपि 'अन्तः' मध्यधाम्नि नाडीत्रयस्यापि संमिलिततयात्यन्तं विकस्वरे ब्रह्मरन्ध्रोर्ध्ववर्तिनि नाड्याधाराभिधे परस्मिन्नाधारे यः प्रवेशः स चतुर्दशः, तस्येदं विश्रान्तिस्थानमित्यर्थः । नन्वत्र किमसौ केवलतयैव विश्राम्यत्युतान्यथा ? इत्याशङ्क्योक्तम् 'एकीकृततदात्मक' इति । 'एकीकृतः' स्वाभेदेनावस्थापितः

'ओंतत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः ।'

(गी० १७।२३)

इत्यादिनीत्या तस्य परस्य ब्रह्मण आत्मा येनासावमृतवर्णसंभिन्न इत्यर्थः । ननु यद्येतदस्य विश्रान्तिस्थानमुदयस्थानं पुनः किम् ? इत्याशङ्क्याह 'हृत्कण्ठचोष्ठ्यत्रिधामा' इति तात्स्थ्यात् हृदयकारः कण्ठ्योष्ठ्यश्च औकारस्तयोः संहतत्वात् हृत्कण्ठोष्ठानि त्रीणि 'धामानि' उदयस्थानानि यस्यासावेवंविधः, तेन हृदयाद्युदयक्रमेण त्रिशूलभूमौ विश्राम्यति—इति शूलवर्णतत्त्वम् । तदनन्तरमपि विसर्गोच्चारांशे सावधानो जपतत्परो योगी उभौ 'द्वादशान्तपथौ' नासिक्यशिवद्वादशान्तौ सृष्ट्यात्मना 'हृदयेन सहैक्यं नयते' शक्त्यादिसामरस्येन द्वादशान्तपर्यन्तं परावीजमुच्चारयेदित्यर्थः ॥ १४४ ॥

एतदेव संकलयति

कन्दहृत्कण्ठताल्वग्रकौण्डिलीप्रक्रियान्ततः ।
आनन्दमध्यनाड्यन्तः स्पन्दनं बीजमावहेत् ॥१४५॥

'कौण्डली' शक्तिद्वादशान्तः 'प्रक्रियान्तः' शिवद्वादशान्तः । एवं कन्दात् प्रभृति तत्तदाधारोल्लङ्घनक्रमेण द्वादशान्तपर्यन्तं मध्यधामान्तरिदं सृष्टिबीजं 'स्पन्दनमावहेत्' अनुत्तरसंविदामर्शात्मना प्रस्फुरेदित्यर्थः ॥१४५॥

एवमेतद्वर्णतत्त्वं संहारबीजानुसारेणापि अभिधत्ते

संहारबीजं खं हृत्स्थमोष्ठ्यं फुल्लं स्वमूर्धनि ।

तेजस्त्र्यश्रं तालुकण्ठे बिन्दुरूर्ध्वपदे स्थितः ॥१४६॥

तत्र खस्य कण्ठ्यत्वेऽप्युरस्यतोद्रेकेण हृत्स्थत्वं, 'फुल्लं' फकारस्तचोष्ठ्यमोष्ठत एवोच्चारात्, 'तेजो' रेफस्तस्य मूर्धन्यत्वान्मूर्धन्येवावस्थानम्। त्र्यश्रमेकारस्तस्यापि कण्ठतालव्यत्वात् तालुकण्ठ एवावस्थितिः। 'ऊर्ध्वपद' इति शक्तिशिवद्वादशान्तरूपे। एवं हृदादिस्थानविश्रान्तिपुरस्सरमेवोच्चारो भवेदिति भावः। यस्तु

'स्वरूपे निर्वृतिं प्राप्य ………।' (तं ५।७५)

इत्यादिना संवित्क्रमेण प्रागुच्चार उक्तः सोऽप्यत्रानुसंधेयः, संवित्क्रमस्य सर्वत्रैव भावात् ॥ १४६ ॥

नन्वेवमुक्तेन वर्णतत्त्वेन किं भवेत् ? इत्याशङ्क्याह

इत्येनवा बुधो युक्त्या वर्णजप्यपरायणः ।
अनुत्तरं परं धाम प्रविशेदचिरात् सुधीः ॥१४७॥

बुधः सुधीरित्यत्र 'ज्ञानित्वस्यात्र प्राधान्यमुक्तम्' इति दर्शितम् ।।१४७॥

तदेवं वर्णतत्त्वमभिधाय भङ्ग्यन्तरेणाप्याह

वर्णशब्देन नीलादि यद्वा दीक्षोत्तरे यथा ।

ननु किमेतत् स्वमनीषिकयैवोक्तमुत निबन्धान्तरं किंचिदत्रास्ति ? इत्याशङ्क्याह 'दीक्षोत्तरे यथा' इति। अर्थाद्दीक्षोत्तराख्ये ग्रन्थे यथोक्तमिति ॥

तदेवाह

संहारन्त्रग्निमरुतो रुद्रबिन्दुयुतान्स्मरेत् ॥१४८॥
हृदये तन्मयो लक्ष्यं पश्येत्सप्तदिनादथ ।
त्रिस्फुलिङ्गाग्निवन्नीलपीतरक्तादिचित्रितम् ॥१४९॥
जाज्वलीति हृदम्भोजे बीजदीपप्रबोधितम् ।
दीपवज्ज्वलितो बिन्दुर्भासते त्रिघनार्कवत् ॥१५०॥

'संहारः' क्षकारो 'ना' पुमान् मकारः 'अग्नि' रेफः 'मरुत्' यकारः, एतान् पिण्डीभूतान् रुद्रेणै (णो) कारेण बिन्द्वर्धचन्द्रादिना च युतान् तावद्धृदयु स्मरेत् यावत्तदेकतानः सन् सप्तदिनादूर्ध्वं 'लक्ष्यं पश्येत्' ध्येयं किंचित्

प्रकटीभवेदित्यर्थः। तद्धि अस्य लक्ष्यमुक्तस्वरूपं, यद्बीजं तदेव प्रकाशतादात्म्यात् दीपस्तेन 'प्रबोधितम्' अभिव्यञ्जितं सत् विस्फुलिङ्गप्रधानाग्निन्यायेन नीलपीताद्यनेकवर्णाचित्रीकृतं हृदम्भोजे 'जाज्वलीति' स्पष्टनिरीक्षणीयतामेतीत्यर्थः। एवमत्राप्येकतानस्य सतोऽस्य भावनातारतम्येन दीपवद्ग्रैष्मार्कवच्च यथायथं दीप्तो 'बिन्दुः' वेदयिता स्वात्मा भासते,

'आत्मानमत एवायं ज्ञेयीकुर्यात्।' (ई० प्र० १।५।१५)

इत्याद्युक्तयुक्त्या लक्ष्यतामेतीत्यर्थः॥ १५०॥

नन्वेवं लक्ष्यतामाप्तेनात्मनास्य किं स्यात्? इत्याशङ्क्याह

स्वयंभासात्मनानेन तादात्म्यं यात्यनन्यधीः।
शिवेन हेमतां यद्वत्ताम्रं सूतेन वेधितम्॥१५१॥

अनेनेति आत्मना। शिवेनेति, स्वात्मैव हि परमेश्वरः शिवः,—इति न, सिद्धान्तः, इत्यभिप्रायः॥ १५१॥

न चैवमस्यैव मन्त्रस्य वीर्यं यन्नीलपीताद्यनेकवर्णोदयद्वारेण स्वात्मसाक्षात्कारोऽपि तु सर्वेषाम्,—इत्याह

उपलक्षणमेतच्च सर्वमन्त्रेषु लक्षयेत्।

ननु सर्वेषां मन्त्राणां प्रतिनियतमेव फलं संभवेत्,—इत्यविवादः। न हि अमृतबीजं मारणादि कर्तुमुत्सहते क्रूरबीजं वाप्यायनादि,—इति कथं मन्त्रान्तरनिर्वर्त्यं कर्म मन्त्रान्तरेष्वपि भवेत्? इत्याशङ्क्याह

यद्यत्संकल्पसंभूतं वर्णजालं हि भौतिकम्॥१५२॥
तत् संविदाधिक्यवशादभौतिकमिव स्थितम्।

यद्यन्नाम हि

विकल्पयोनयः शब्दा..............................।'

इत्यादिनित्या संकल्पसंभूतत्वात् 'भौतिकं' भेदानुप्राणितं मायीयं वर्णजातं तत्सर्वमेव संविदाधिक्यवशात् भौतिकत्वन्यग्भावनेन संविद एवोद्रेकादभौतिकमिव स्थितं, भेदरूपत्वेऽपि संविदद्वैतपरमार्थमेवेत्यर्थः। इदमुक्तं भवति—यद्यपि संविद एवायं सकलः स्फारः, तथापि तस्या आधिक्येनाप्रतीतौ भेदमयत्वात् एषां प्रतिनियतार्थक्रियाकारित्वम्; आधिक्येन प्रतीतौ पुनः सर्वेषां स्वात्मसाक्षात्कारलक्षणमविशिष्टमेव फलमिति। यदुक्तम्

'एवमेषां स्वरूपांशस्पर्शे शिवमयी स्थितिः ।
तदनाच्छुरणे भिन्नसंसारस्थितिवर्तनम् ॥'

इति ॥ १५२ ॥

अतश्च सर्वेषामेव मन्त्राणां संविदात्मन्यनुपाधौ रूपे विश्रान्तस्ताद्रूप्यमेवासादयेत्,—इत्याह

अतस्तथाविधे रूपे रूढो रोहति संविदि ॥१५३॥
अनाच्छादितरूपायामनुपाधौ प्रसन्नधीः ।

नन्विह सर्वमन्त्राणां स्वरूपे तावदविवादसिद्ध एव भेदः,—इति स फलेऽप्यवश्यमापतेत् कारणभेदाधीनत्वात् तस्य, तत् कथमेवमुक्तम् ? इत्याशङ्क्याह

नीले पीते सुखे दुःखे संविद्रूपमखण्डितम् ॥१५४॥
गुरुभिर्भाषितं तस्मादुपायेषु विचित्रता ।

'गुरुभिः' वामनदत्ताचार्येण, भाषितमिति संवित्प्रकाशे । अनेनेदमुक्तं भवति--नीलादेर्वाच्यवाचकात्मनो विश्वस्य संविद्रूपत्वाविशेषात् न कश्चिद्वास्तवो भेदः संभवेदिति । ननु यद्येवं तत् कथमिदं वाच्यवाचकात्मवैचित्र्यमपह्नूयतां नहि भातमभातं भवेत्, तदत्र किं प्रतिपत्तव्यम् ? इत्याशङ्क्याह 'तस्मादुपायेषु विचित्रता' इति । एवं संवित्स्वातन्त्र्योल्लसितं यन्नामेदं वैचित्र्यं तदुपायमात्रविषयमेव पर्यवस्येत्, न तूपेयविषयमपीत्यर्थः यदभिप्रायेणैव

'संवित्तिफलभेदोऽत्र न प्रकल्प्यो मनीषिभिः
(मा० वि० (२।२५)

इत्याद्युक्तम् ॥ १५४ ॥

एवमेकस्मिन्नेवोपेये प्राप्तव्ये परमियदुपायजातमुपदिष्टम्,--इत्याह

उच्चारकरणध्यानवर्णैरेभिः प्रदर्शितः ॥१५५॥
अनुत्तरपदप्राप्तावभ्युपायविधिक्रमः ।

ननूच्चारादीनामागमेऽप्यनेनैव क्रमेण पाठः,-इति कथमिह तदुल्लङ्घनेन ध्यानोपक्रममेषां निर्देशः कृत ? इत्याशङ्क्याह

अकिंचिच्चिन्तनं वीर्यं भावनायां च सा पुनः ॥१५६॥
ध्याने तदपि चोच्चारे करणे सोऽपि तद्ध्वनौ ।

स स्थानकल्पने बाह्यमिति क्रममुपाश्रयेत् ॥१५७॥

'अकिंचिच्चिन्तनं' शांभवः । 'भावना' शाक्तः । सेति भावना । तदिति करणं । स्थानकल्पन इति षष्ठादाह्निकात् प्रभृति वक्ष्यमाणे । एवं पूर्वं पूर्वमुत्तरत्रोत्तरत्र वीर्यमिति पाठ्यक्रममपहाय

'यो हि यस्माद्गुणोत्कृष्टः स तस्मादूर्ध्वमिष्यते ।

(मा० वि० २।६०)

इत्यादिनीत्यार्थक्रमावलम्बनेनान्यथैवं निर्देशः, कृतः,--इति बलीयस्त्वादयमेव क्रमः समाश्रयणीय इत्यर्थः ॥ १५७ ॥

ननु यद्येवं तत् किमनेनैव क्रमेणोपेयप्राप्तिर्भवेदुतान्यथापि ? इत्याशङ्क्याह

लङ्घनेन परो योगी मन्दबुद्धिः क्रमेण तु ।

'पर' इति तीव्रशक्तिपातानुविद्धः । योगीति, परतत्त्वैक्यभाग्भवेदित्यर्थः । ननु पूर्वं पूर्वमुत्तरस्योत्तरस्य वीर्यमित्युक्तेन किं स्यात् ? इत्याशङ्क्याह

वीर्यं विना यथा षण्ठस्तस्याप्यस्त्यथ वा बलम् ।

मृतदेह इवेयं स्याद्बाह्यान्तःपरिकल्पना ॥१५८॥

यथा पंस्त्वापादकं वीर्यं विना पुरुषोऽपि 'षण्ठः' स्वकर्मण्यकिंचित्कारः, अथवा तस्यापि चेष्टाद्यन्यथानुपपत्त्या किंचिद्वीर्यमस्ति,--इत्यत्यन्तं जडप्रायत्वात् यथा शवशरीरमकिंचित्करम्, एवं स्थानकल्पनादिरूपा बाह्यान्तरुपायकल्पनापि निर्वीर्या सत्यकिंचित्कर्येव भवेदित्यर्थः ॥ १५८ ॥

इदानीमाह्निकार्थमेव श्लोकस्य प्रथमार्धेनोपसंहरति

इत्याणवेऽनुत्तरताभ्युपायः प्रोक्तो नयः स्पष्टपथेन बाह्यः ।

बाह्यो नय इति उच्चारादिः, इति शिवम् ॥

गुरुवरचरणप्रसादप्रध्वस्तसमस्तदुर्विकल्पौघः ।

विवरणमेतदरचयज्जयरथ इति पञ्चमाह्निके कश्चित् ॥

इति श्रीमहामाहेश्वराचार्य-श्रीमदभिनवगुप्ताचार्य विरचिते तन्त्रालोके श्रीजयरथविरचितविवेकाभिख्यव्याख्योपेते आणवोपायप्रकाशनं नाम पञ्चममाह्निकम् ॥ ५ ॥

अथ

श्रीतन्त्रालोके

श्रीमन्महामाहेश्वराचार्याभिनवगुप्तविरचिते

श्रीजयरथकृतविवेकाख्यटीकोपेते

षष्ठमाह्निकम्

कवलयितुं किल कालं कलयति यो व्यायतास्यतां सततम् ।
जयति स सुजयः साक्षात्संसारपराकृतौ सजयः ॥

इदानीमाणवोपायस्यैवाङ्गभूतमुच्चारादिप्रमेयचतुष्टयानन्तरोद्दिष्टं स्थानकल्पनाख्यं परमं प्रमेयं द्वितीयार्धेनावतारयितुमुपक्रमते

स्थानप्रकल्पाख्यतया स्फुटस्तु
बाह्योऽभ्युपायः प्रविविच्यतेऽथ ॥१॥

अथशब्दोऽधिकारे । तेनेतः प्रभृत्याद्वादशाह्निकं यत्किंचिदुच्यते तत्सर्वं स्थानकल्पनाधिकारेण, इति पञ्चदशाह्निकात्प्रभृति पुनरेतदेव बाह्यस्थण्डिलमण्डलाद्यधिकृत्याभिधीयते,—इत्याग्रन्थपरिसमाप्तेः प्राधान्यात् स्थानकल्पनस्यैव सकलोऽयं प्रपञ्च, इति ॥१॥

तदेवाह

स्थानभेदस्त्रिधा प्रोक्तः प्राणे देहे बहिस्तथा ।

एषामपि भेदान्तराणि सन्ति,—इत्याह

प्राणश्च पञ्चधा देहे द्विधा बाह्यान्तरत्वतः ॥२॥
मण्डलं स्थण्डिलं पात्रमक्षसूत्रं सपुस्तकम् ।
लिङ्गं तूरं पटः पुस्तं प्रतिमा मूर्तिरेव च ॥३॥
इत्येकादशधा बाह्य पुनस्तद्बहुधा भवेत् ।

'पुस्तं' लेपादिनिर्मिताकृतिः। मूर्तिर्गुर्वादिसंबन्धिनी। तदित्यानन्तर्याद्बाह्यं, पुनरित्येकादशविधत्वेऽपि, बहुधेति मण्डलादीनामप्येकशूलत्रित्रिशूलादिक्रमेण नानात्वात् ॥३॥

एवं स्वरूपतः स्थानभेदमभिधाय तद्गतं विधिमभ्युपदेष्टुं प्रतिजानीते

तत्र प्राणाश्रयं तावद्विधानमुपदिश्यते ॥४॥

तदेवाह

अध्वा समस्त एवायं षड्विधोऽप्यतिविस्तृतः।
यो वक्ष्यते स एकत्र प्राणे तावत्प्रतिष्ठितः ॥५॥

वक्ष्यत इति भुवनाध्वप्रकाशनादौ। 'प्राण' इति सामान्यस्पन्दनात्मनि। यदुक्तम्

'षड्विधाध्वविभागस्तु प्राणैकत्र यथा स्थितः।' (स्व० ४।२३२)

इति। विशिष्टे पुनः पदमन्त्रवर्णात्मा त्रिविध एव। यद्वक्ष्यति

'षड्विधादध्वनः प्राच्यं यदेतत्त्रितयं पुनः।
'एष एव स कालाध्वा प्राणे स्पष्टं प्रतिष्ठितः ॥' (त० ६।३७)

इति ॥५॥

तदेवोपपादयति

अध्वनः कलनं यत्तत्क्रमाक्रमतया स्थितम्।
क्रमाक्रमौ हि चित्रैककलना भावगोचरे ॥६॥

नन्वेतत्क्रमाक्रमात्मतयैव कस्मात्स्थितमित्याशङ्क्याह 'क्रमेत्यादि'। इह द्विधैव भावानामवभासः क्रमेणाक्रमेण च; तत्र क्रमेण यथा कार्यकारणादौ, अक्रमेण यथा चित्रज्ञानादौ। स च चित्रे यदैकस्यैवंकदैव च कंचित्पूर्वकालभाविनं समानकालभाविनं च भावमपेक्ष्य क्रमेणाक्रमेण चावभासः,—इति। तद्या नाम भावनामेवं 'कलना' परिच्छित्तिः स एव क्रमाक्रमात्मा काल इति ॥६॥

ननु सर्वमिदं जगत्संविल्लग्नमेवावभासतेऽन्यथा ह्यस्य भानमेव न भवेत्, संविदि च नित्यत्वात्कालयोगो नास्ति, इति कथमसौ तदनुपक्तस्य भावजातस्यापि स्यात् ? इत्याशङ्क्याह

क्रमाक्रमात्मा कालश्च परः संविदि वर्तते ।

नन्वेवं 'क्रमाक्रमकथातीतं संवित्तत्त्वं सुनिर्मलम्' इत्याद्युक्तं व्याहन्येत, सौगतमतान्तःपातश्च स्यात्,—इत्याशङ्क्याह

काली नाम परा शक्तिः सैव देवस्य गीयते ॥७॥

यन्नाम परस्य प्रकाशस्य कालेन योगः सास्य 'शक्तिः' स्वेच्छावभासितस्य प्रमातृप्रमेयाद्यात्मनो जगतस्तत्तद्रूपतया कलने सामर्थ्यं न पुनः स्वात्मनि कश्चिदक्रमः क्रमो वा,—इति, न ह्यग्नेर्दाहशक्तियोगे स्वात्मनि स्फोटाद्याविर्भावः ॥७॥

तदाह

सैव संविद्बहिः स्वात्मगर्भीभूतौ क्रमाक्रमौ ।
स्फुटयन्ती प्ररोहेण प्राणवृत्तिरिति स्थिता ॥८॥

सैव कालशक्तियोगिनी संवित्स्वाविभागेनावस्थितौ क्रमाक्रमौ बहिः प्ररूढतयावभासयन्ती प्राणवृत्तिरिति स्थिता, प्राणनात्मतया प्रस्फुरितेत्यर्थः ॥८॥

ननु कथं नामेयं प्राणवृत्त्यात्मना प्रस्फुरिता,—इत्याशङ्क्याह

संविन्मात्रं हि यच्छुद्धं प्रकाशपरमार्थकम् ।
तन्मेयमात्मनः प्रोज्झ्य विविक्तं भासते नभः ॥९॥

यन्नाम हीदं प्रमातृप्रमेयात्मनो विश्वस्य स्वाविभागेनैवावभासनात्प्रकाशपरमार्थकम्, अत एव तदारूषणाया अभावाच्छुद्धं संविन्मात्रं तत्स्वस्वातन्त्र्यात् स्वात्मन्यपूर्णत्वावविभासयिषया स्वाविभागेनावस्थितं विश्वात्म 'मेयं' आत्मनः सकाशात् 'प्रोज्झ्य' पृथक्कृत्य 'विश्वस्मादुत्तीर्णोऽहम्' इत्यामृश्य विविक्तं नभोऽवभासते' सकलभावशून्यत्वान्निरावरणरूपतया प्रस्फुरतीत्यर्थः ॥९॥

अत एवाह

तदेव शून्यरूपत्वं संविदः परिगीयते ।

'शून्यरूपत्वम्' इति शून्यप्रमातृत्वमित्यर्थः । शून्यत्वं चास्य सर्वस्य

संवेद्यस्य संक्षयात् न तु संविदोऽपि, तथात्वे हि निखिलमिदमनेलमूकप्रायं स्यात्। यदुक्तम्

'अशून्यं शून्यमित्युक्तं शून्यं चाभाव उच्यते।
अभावः स समुद्दिष्टो यत्र भावाः क्षयं गताः॥'
(स्व० ४। २९१)

इति।

'सर्वालम्बनधर्मैश्च सर्वसत्त्वैरशेषतः।
सर्वक्लेशाशयैः शून्यं न शून्यं परमार्थतः॥'

इति च॥

एतच्च परमुपेयमितो बाह्यानामित्याह

नेति नेति विमर्शेन योगिनां सा परा दशा॥१०॥

सेयं

'न भावो नापि चाभावो मध्यमाप्रतिपत्तितः।'

इत्याद्युक्तयुक्त्या भावाभावविषयेण नेति नेति परामर्शद्वयेन मध्यमपदावेशशालिनां 'योगिनां परा' शून्यातिशून्यरूपा 'दशा' विश्रान्तिस्थानमित्यर्थः। यदाहुः

'शून्यतावस्थितः पश्चात्संवेदनविवर्जितः।
निर्वाणः कृष्णवर्त्मेव निरुपाख्यो भवत्यसौ॥'

इति॥१०॥

स एव च शून्यप्रमाता बहिर्मुखीभवन्प्राणप्रमातृतामासादयति,—इत्याह

स एव खात्मा मेयेऽस्मिन्भेदिते स्वीक्रियोन्मुखः।
पतन्समुच्छलत्त्वेन प्राणस्पन्दोर्मिसंज्ञितः॥११॥

स एव च 'खात्मा' शून्यप्रमाता

'............ अभिलाषो मलोऽत्र तु।' (स्व० ४-१०४)

इत्याद्युक्तेरपूर्णम्मन्यतात्मकाणवमलयोगात्साकाङ्क्षतया पुनस्तत्स्वीकरणोन्मुखः सन् स्वस्मात् 'भेदिते' पृथक्कृतेऽस्मिन् नीलसुखादिरूपे 'मेये समुच्छलत्त्वेन पतन्' बहिर्मुखीभवन् प्राणादिशब्दव्यपदेश्यो भवेदित्यर्थः। किंचिच्-

त्मनः स्वविमर्शरूपस्य स्पन्दनस्यैवायमाद्यः प्रसरः,—इत्युपचारात्तच्छब्दव्यपदेशयो न तु स एवाय तस्य शून्यप्रमातृल्लासादप्यूर्ध्वं भावात् । एवमूर्मिशब्दादावुत्तरत्रापि ज्ञेयम् ॥११॥

यदभिप्रायेणैव भट्टश्रीकल्लटादयोऽप्येवमूचुः,—इत्याह

तेनाहुः किल संवित्प्राक्प्राणे परिणता तथा ।
अन्तःकरणतत्त्वस्य वायुराश्रयतां गतः ॥१२॥

यद्यपि शून्यतावभासनपुरःसरं संवित्प्राणरूपतया परिस्फुरिता तथापि तदवभासनेऽस्या न कश्चिद्रूपान्तरोपग्रहः,—इत्युक्तं 'प्राक्संवित्प्राणे परिणता' इति । तैरप्येतन्निर्मूलमेव नोक्तम्,—इत्यागमोऽपि संवादितः 'अन्तःकरणेत्यादिना' । अन्तःकरणानां 'तत्त्वं' सारभूता बुद्धिस्तस्य बुद्धिप्रमातुरित्यर्थः । तेन बुद्धिप्रमातुः पूर्वं प्राणोल्लासः,—इति सिद्धम् । अन्यथा कथं स तस्याश्रयः स्यात् ॥१२॥

एवमयमेव परस्याः संविदः प्रथमः परिस्पन्दः,—इति तदभेदवृत्त्यैव सर्वत्रास्य व्यवहारः,—इत्याह

इयं सा प्राणनाशक्तिरान्तरोद्योगदोहदा ।
स्पन्दः स्फुरत्ता विश्रान्तिर्जीवो हृत्प्रतिभा मता ॥१३॥

'आन्तर' आद्यो योऽसौ 'उद्योग' उद्यन्तृतात्मा परिस्पन्दस्तत्र 'दोहदो' ऽभिलाषो यस्याः सा तदेकनिष्ठेत्यर्थः ॥१३॥

नन्वेवमुल्लसिताया अस्याः किं प्रयोजनम् ? इत्याशङ्क्याह

सा प्राणवृत्तिः प्राणाद्यै रूपैः पञ्चभिरात्मसात् ।
देहं यत्कुरुते संवित्पूर्णस्तेनैष भासते ॥१४॥

सेयं सामान्यपरिस्पन्दात्मा प्राणवृत्तिः पञ्चभिः प्रणापानाद्यै रूपैर्यत्तदन्तर्बहिष्करणाद्याक्रान्तं पाञ्चभौतिकं 'देहमात्मसात्कुरुते' व्याप्यावतिष्ठते तेनैष देहो घटादिवत्संवेद्यत्वेऽपि संवित्पूर्णो भासते संवेत्तृतया प्रथत इत्यर्थः । अत एव मूढानामयं भ्रमो यच्चैतन्यविशिष्टात्कायादन्यः कश्चिन्नास्ति इति । यदुक्तम्

'चैतन्यखचितात्कायान्नात्मान्योऽस्तीति मन्वते ।'

इति ॥१४॥

तदाह

प्राणनावृत्तितादात्म्यसंवित्खचितदेहजाम् ।
चेष्टां पश्यन्त्यतो मुग्धा नास्त्यन्यदिति मन्वते ॥१५॥

'मुग्धा' इति देहात्मनोर्विवेकमजानानाः। अयमेषां भावः--भूतान्येव हि मृदाद्यवस्थायामचेतनान्यपि सुराकारतया परिणता गुडपिष्टादय इव मदशक्तिं, शरीराकारपरिणतानि चैतन्यं प्रतिपद्यन्ते, कालान्तरे च परिणामविशेषभाक्त्वाच्च तच्छून्यतामुपगच्छन्ति, तावन्तं च कालं चैतन्यानपायात्स्मृत्यनुसन्धानादिव्यवहारनिपुणतया चेष्टन्ते,--इति किमन्येन तदतिरिक्तेनात्मनेति ॥१५॥

एतदधिशयाना एव 'चार्वाका' इत्युच्यन्ते,--इत्याह

तामेव बालमूर्खस्त्रीप्रायवेदितृसंश्रिताम् ।
मतिं प्रमाणीकुर्वन्तश्चार्वाकास्तत्त्वदर्शिनः ॥१६॥

तामेव मतिमिति, 'चैतन्यविशिष्टः कायः पुरुषः' इत्याद्युक्त्या चैतन्यखचितो देह एवात्मा न पुनस्तदतिरिक्तः कश्चित्,--इत्येवंरूपाम्। बालादिसंश्रयेणास्या महाजनानुपसेव्यत्वं दर्शितम्। प्रमाणीकुर्वन्त इति, देहादूर्ध्वमपि यदि कश्चित्तदतिरिक्त आत्मा संभवेत्तत्तस्य पूर्वशरीरमपहाय शरीरान्तरमधितिष्ठत एतच्छरीरशैशवादिदशानुभूतार्थस्मरणवत् पूर्वपूर्वशरीरानुभूतार्थस्मरणमपि भवेत्। न हि तस्य शरीरभेदेऽपि नित्यत्वात्स्मरणविशेषे कारणं किंचिदुत्पश्यामो येनेह जन्मन्येवानुभूतं स्मरति नान्यजन्मानुभूतम्,--इति तस्मादूर्ध्वमन्यः कश्चिन्नात्मास्तीत्येव युक्तम्। यच्छ्रुतिरपि

'विज्ञानघन एवैतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानुविनश्यति न प्रेत्य संज्ञास्ति' (बृ० उ०४-५-१३)

इति। अतश्च परलोकादिचिन्तामपास्य यावज्जीवं सुखमेवासितव्यम्,--इत्येषां तत्त्वमित्युक्तं 'तत्त्वदर्शिन' इति। यदाहुः

'यावज्जीवं सुखं जीवेन्नास्ति मृत्युरगोचरः।
भस्मीभूतस्य शान्तस्य पुनरागमनं कुतः॥'

इति ॥१६॥

नन्वेवं तत्त्वमनुशीलयतामेषां किं स्यात् ? इत्याशङ्क्याह

तेषां तथा भावना चद्दाढ्यमेति निरन्तरम् ।
तद्देहभङ्गे सुप्ताः स्युरातातद्वासनाक्षयात् ॥१७॥

'सुप्ता' इत्यपवेद्यप्रलयाकलप्राया इत्यर्थः ॥१७॥

तद्वासनाक्षये त्वेषां किं भवेत् ? इत्याशङ्क्याह

तद्वासनाक्षये त्वेषामक्षीणं वासनान्तरम् ।
बुद्धं कुतश्चित्संभूते विचित्रां फलसम्पदम् ॥१८॥

नन्वेषां सांख्यादिभिरपि साम्यं यत्तेषामप्येवंप्रायैव मुक्तिः, पुनरपि तत्तद्वासनानुसारं विचित्रफलोपभोगस्योदयात् । यद्वक्ष्यति,

'सांख्यवेदादिसंसिद्धाञ्छ्रीकण्ठस्तदहर्मुखे ।
सृजत्येव पुनस्तेन न सम्यङ्मुक्तिरीदृशी ॥' (तं० ६-१५३)

इति । तत्सर्वत्रास्यैव कथमवरतया निर्देशः । यदाहुः 'चार्वाकास्तु वराकाः प्रतिक्षेप्तव्या एव कः क्षुद्रतर्कस्य तदीयस्येह गणनावसर' इति । तत्किमेतत् ? इत्याशङ्क्याह

अदार्ढ्यशङ्कनात्प्राच्यवासनातादवस्थ्यतः ।
अन्यकर्तव्यशैथिल्यात्संभाव्यानुशयत्वतः ॥१९॥
अतद्दृढान्यजनताकर्तव्यपरिलोपनात् ।
नास्तिक्यवासनामाहुः पापात्पापीयसीमिमाम् ॥२०॥

यद्यप्यस्मदपेक्षया दर्शनान्तराणां तुल्यमेव पापत्वं तथापि नास्तिक्यवासनायास्ततोऽप्यतिशयेन पापत्वं, यतः 'प्राच्या' अनिषेध्यत्वात्पूर्वभाविनी येयमास्तिक्यवासना तस्यास्तादवस्थ्यं; नहि नास्तिक्यवासनाया दाढर्येन प्ररोहोऽस्ति येनैतदुपरमो भवेन्निर्मूलत्वेनादाढर्यस्यात्राशङ्क्यमानत्वात् । यथा परं ब्रह्म मूलत्वेनावलम्ब्य प्रपञ्चो मिथ्या,--इत्याद्युच्यमानं दाढर्येन प्ररोहमियान्नैवमेतत्; आत्मनो हि नास्तित्वे किमन्यदवशिष्यते यन्नामाजडं मूलभूतमधिकृत्य सर्वमिदं सुव्यवस्थितं स्यात्; जडानामेव च परिणामो भवेदिति न चेतनत्वेनासौ युज्यते,--इत्यन्यैर्बहूक्तमिति तत एवावधार्यम् । अत एवास्तिक्यवासनायास्तादवस्थ्येन 'अन्येषां' दर्शनान्तरस्थानाम् 'अग्निहोत्रं

जुहुयात्, न हिंस्यात्सर्वभूतानि' इत्याद्यात्मना विधिनिषेधरूपेण 'कर्तव्येन' शौथिल्यमस्या जायते। यदात्मनोऽस्तित्वे यदि कैश्चित्पारलौकिकं किंचिदनुष्ठीयते तद्यावद्दूरे आस्ताम्; आत्मनः पुनर्नास्तित्वेऽप्यन्यैः कुशलप्रवृत्तिरकुशलविरतिश्च क्रियते,—इत्यत्र निमित्तं किंचित्संभवेत्, अन्यथा सर्व एव किमेवं कुर्युः। अस्माकं च किंचिदपि कर्तव्यं नास्ति,—इत्यस्थान एवास्माभिर्भ्रान्तं, किमिदं व्यामूढैरिवासितम्,—इत्येवमात्मा पश्चात्तापोऽप्यत्र संभावनीयस्तस्मिन्नुत्पन्ने सति सुखमेव न्यायोपन्यासकदर्थनां परिहृत्य

'सन्दिग्धेऽपि परे लोके त्याज्यमेवाशुभं बुधैः।
यदि नास्ति ततः किं स्यादस्ति चेन्नास्तिको हतः॥'

इत्यादिना मित्रसंमतेनाप्युपदेशेन तस्यामास्तिक्यवासनायां रूढयान्यया दर्शनान्तरस्थया जनतयावश्यमेवास्याः परिलोपः कार्यः,—इति ॥२०॥

तदेवमत्र प्रसक्तानुप्रसक्तिकया परदर्शनकथा मा प्रसाङ्क्षीत्,—इति प्रकृतमेवानुसरति

अलमप्रस्तुतेनाथ प्रकृतं प्रविविच्यते।

तदेवाह

यावान्समस्त एवायमध्वा प्राणे प्रतिष्ठितः ॥२१॥
द्विधा च सोऽध्वा क्रियया मूर्त्या च प्रविभज्यते।

द्विधेति देशकालभेदेन। तत्र क्रियया कालाध्वा प्रविभज्यते मूर्त्या च देशाध्वा। यदुक्तम्

'मूर्तिवैचित्र्यतो देशक्रममाभासयत्यसौ।
क्रियावैचित्र्यनिर्भासात्कालक्रममपीश्वरः॥' (ई० प्र० २।१।५)

इति ॥२१॥

ननु

'अध्वा समस्त एवायं चिन्मात्रे संप्रतिष्ठितः।
यत्तत्र नहि विश्रान्तं तन्नभःकुसुमायते॥' (तं० ८।३)

इत्यादिवक्ष्यमाणनीत्यास्य संविदि प्रतिष्ठितत्वं युक्तं न जडात्मनि प्राणे,—इत्याशङ्क्याह

प्राण एव शिखा श्रीमत्त्रिशिरस्युदिता हि सा ॥२२॥
बद्धा यागादिकाले तु निष्कलत्वाच्छिवात्मिका ।

'शिखा परिमिता शक्तिर्भैरवस्य तु कथ्यते ।
क्रियाशक्तिरिति ख्याता.......................... ॥'

इति ॥२२॥

ननु को नामास्या बन्धो येन यागादौ निष्कलत्वाच्छिवात्मिकेयं स्यात् ? इत्याशङ्क्याह

यतोऽहोरात्रमध्येऽस्याश्चतुर्विंशतिधा गतिः ॥२३॥
प्राणविक्षेपरन्ध्राख्यशतैश्चित्रफलप्रदा ।

यत्षष्टिघटिकासंख्याकस्य बाह्यस्याहोरात्रस्य मध्येऽस्याः प्राणरूपायाः पारमेश्वर्याः क्रियाशक्ते प्राणचाराणां रन्ध्राख्यैर्द्वारसंख्याकैर्नवभिः शतैरुपलक्षिता, अत एव चतुर्विंशतिभिः संक्रान्तिलक्षणैः प्रकारैरैहिकामुत्रिकभेदाच्चित्रफलप्रदा गतिरूर्ध्वाधरवाहलक्षणश्चारो भवेदित्यर्थः । अयमत्राभिप्रायः—इह खलु सर्वप्राणिनां

'मनोऽप्यन्यत्र निक्षिप्तं चक्षुरन्यत्र पातितम् ।
तथा प्रवर्तते प्राणस्त्वयत्नादेव सर्वदा ॥' (स्व० ७।५७)

इत्याद्युक्त्या स्वरसत एव मध्यमः प्राणो वहति,—इति बाह्येनाहोरात्रेण

'षट् शतानि वरारोहे सहस्राण्येकविंशतिः ।
अहोरात्रेण बाह्येन अध्यात्मं तु सुराधिपे ॥' (स्व० ७।५३)

इत्याद्युक्त्यान्तः सषट्शता सहस्रैकविंशतिः प्राणचाराणां भवेत् । तत्र प्रतिघटिकं

'शतानि त्रीण्यहोरात्राः षष्टिरेव तथाधिकाः ।
वर्षमेतत्समाख्यातं बाह्ये वै घटिका च सा ॥' (स्व० ७।५१)

इत्याद्युक्त्या प्राणचाराणां सषष्टिस्त्रिशती,—इति सार्धेन घटिकाद्वयेन नवशतानि भवन्ति, स एव च संक्रान्तीनां प्रत्येकमुदयः । यदुक्तम्

'चतुर्विंशतिसंक्रान्त्यः समधातोः स्वभावतः ।
शतानि नव वै हंस एकामेकां वहेत्सदा ॥' (स्व० ७।१६८)

इति। सार्धं च घटिकाद्वयं चतुर्विंशतिधा गुणितं षष्टिर्घटिका भवन्ति,—इत्यहोरात्रमध्ये तत्संख्याकानामुदयः। यदुक्तम्

'बाह्ये चैव त्वहोरात्रे अध्यात्मं तु वरानने।
चतुर्विंशतिसंक्रान्तीः प्राणहंसस्तु संक्रमेत् ॥
अहनि द्वादश प्रोक्ता रात्रौ वै द्वादश स्मृताः।' (स्व० ७।१६६)

इति। यद्यपीयन्तः प्राणचारा अहोरात्रमध्ये भवन्ति,—इत्येतावदत्र वक्तव्यं, तथापि तथात्वे तेषां गणनामात्रं प्रदर्शितं भवेत् न तु तत्तद्विचित्रफलोदयनिमित्तत्वमपीत्येवमुक्तम् ॥२३॥

नन्वेवंविधः शिखाया बन्धः,—इति वक्तुं प्रस्तुते किमिदमप्रस्तुतमभिधीयते यत्प्राणचाराणामियती गतिरिति। नैतत्, अयमेव हि शिखाबन्धो यत्प्राणशक्तेः प्रतिचारमादिमध्यान्तेष्ववधानेन पुनः पुनः परामर्शनं नाम। यदभिप्रायेणैव

'षट् शतानि दिवा रात्रौ सहस्राण्येकविंशतिः।
जपो देव्याः समुद्दिष्टः सुलभो दुर्लभो जडैः ॥' (वि० भै० १५६)

इत्याद्यन्यत्रोक्तं, तदाह

क्षपा शशी तथापानो नाद एकत्र तिष्ठति ॥२४॥
जीवादित्यो न चोद्गच्छेत्तुट्यर्धं सान्ध्यमीदृशम्।
ऊर्ध्ववक्त्रो रविश्चन्द्रोऽधोमुखो वह्निरन्तरे ॥२५॥
माध्याह्निकी मोक्षदा स्याद्व्योममध्यस्थितो रविः।
अनस्तमितसारो हि जन्तुचक्रप्रबोधकः ॥२६॥
बिन्दुः प्राणो ह्यहश्चैव रविरेकत्र तिष्ठति।
महासन्ध्या तृतीया तु सुप्रशान्तात्मिका स्थिता ॥२७॥

यदात्रैकत्र वामपार्श्वे द्वादशान्ताद्धृदन्तं चरन्क्षपाशशी तिष्ठति हृदये निवृत्तगतिर्भवतिप्राणादित्यश्च ततो नोद्गच्छति तदेदृशमपानीयमन्त्यं तुट्यर्धं सान्ध्यं वक्ष्यमाणनीत्योद्गच्छत्प्राणार्काद्यतुट्यर्धसंमीलनया सचतुर्भागाङ्गुलद्वयप्रमाणप्राणचाररूपा प्राभातिकी सन्ध्या भवेदित्यर्थः। यदुक्तं तत्र

'स चन्द्रो विद्यमानोऽपि अपानो हृदि मध्यतः।
यदा तूत्सन्नतां याति जीवादित्यो न चोद्गमेत् ॥

प्राभातिकीति विज्ञेया आत्मतत्त्वप्रबोधिनी ।
क्षपा शशी तथापानो नाद एकत्र तिष्ठति ॥
तुटचर्धं ज्ञानमहसा सन्ध्या वै समुदाहृता ।'

इति । तदनन्तरं च यदा प्राणात्मा रविरूर्ध्वमुखत्वेन चरंस्ताल्वाद्यात्मन्यन्तरे स्थितश्चन्द्रश्चापानात्माधोमुखत्वेन,--इति तयोः प्रमाणप्रमेयात्मनोः संघट्टात्प्रमातृरूपो वह्निरुदियात्तदेयं माध्याह्निकी सन्ध्या मोक्षदा स्यात्; यतो मध्यनाडीसंबन्धितो 'व्योम्नः' सुषिरस्य 'मध्ये' तालुस्थाने स्थितो बहिर्मुखत्वेन प्रमाणत्वेऽपि प्रमातृरूपस्यानपायादनस्तमितसारो रविर्जन्तुचक्रस्य प्रकर्षेण 'बोधकः' प्रमाणप्रमेयमयत्वेऽपि प्रमातृरूपतयावभासक इत्यर्थः । यदुक्तं तत्र

'ऊर्ध्ववक्त्रः स्थितो भानुश्चन्द्रश्चाधोमुखः स्थितः ।'

इत्युपक्रम्य

'तदन्तराले उदितस्ताल्वाकाशान्तगोचरे ।
प्रमाणरहितो भाव्यः सुशान्तः शान्तबोधनात् ॥
व्योमवव्द्यमवह्निस्तु तुटचर्धं कालकल्पनात् ।
माध्याह्निकी तु विज्ञेया संध्या मोक्षप्रदायिका ॥
व्योममध्यस्थितः सूर्यः परादित्येति कथ्यते ।
अनस्तमितसारो हि जन्तुचक्रप्रबोधकः ॥'

इति । तदनन्तरं च बिन्द्वाद्यात्मना रविर्यदैकत्र द्वादशान्ते 'तिष्ठति' निवृत्तगतिर्भवति, अर्थाच्चापानचन्द्रश्च नोद्गच्छति तदा निःशेषविश्वोपशमात्स्वप्रशान्तात्मिका, अत एवेयं महती सन्ध्या तृतोया 'स्थिता' स्वरसोदितत्वेन वर्तमानेत्यर्थः । यदुक्तं तत्र

'बिन्दुः प्राणोऽप्यहश्चैव रविरेकत्र तिष्ठति ।
सुप्रशान्तं तु संतिष्ठेन्मनोव्यावृत्तिवर्जितः ॥
कृत्वा प्रशान्तभूमौ च स्वरूपं सन्धिदेशतः ।
महासन्ध्या तु विज्ञेया तृतीया परिकीर्तिता ॥'

इति ॥२७॥

एतच्चोपसंहारद्वारेण प्रकृते योजयति

एवं बद्धा शिखा यत्र तत्तत्फलनियोजिका ।

एवमुक्तेन प्रकारेण क्रमेण यत्र यागादौ प्राणशक्त्यात्मिका शिखा बद्धा मार्गान्तरखिलीकारेण मध्यधामन्येव निश्चलत्वमापादिता तत्र तस्य तस्य मन्त्रसंनिधानादेः फलस्य नियोजिका भवेदित्यर्थः । तदुक्तं तत्र

'तया निबद्धया देहे संनिधानं गुणेश्वराः ।
विदध्युः साधकेन्द्राणां देवि नास्त्यत्र संशयः ॥'

इति ॥

एवं प्राणः पारमेश्वरी शक्तिरिति तत्र यदध्वनः प्रतिष्ठानमुक्तं तत्संविद्येव पर्यवस्येत्,--इत्याह

अतः संविदि सर्वोऽयमध्वा विश्रम्य तिष्ठति ॥२८॥

नन्वमूर्तायां निष्क्रियायां च संविदि मूर्तः क्रमिकश्चाध्वा कथमास्ते ? इत्याशङ्क्याह

अमूर्तायाः सर्वगत्वान्निष्क्रियायाश्च संविदः ।
मूर्तिक्रियाभासनं यत्स एवाध्वा महेशितुः ॥२९॥

एवमेवंविधायाः संविदो यन्नाम मूर्तिक्रियात्मनावभासनं स एव भुवनादिरूपो मन्त्रादिरूपो वाध्वा न त्वतिरिक्तः कश्चिदाधेयो येनेवमाशङ्का स्यात् ॥२९॥

नन्वत्राध्वशब्दस्य प्रवृत्तौ किं निमित्तम् ? इत्याशङ्क्याह

अध्वा क्रमेण यातव्ये पदे संप्राप्तिकारणम् ।
द्वैतिनां भोग्यभावात्तु प्रबुद्धानां यतोऽद्यते ॥३०॥

'यातव्ये पदे' इति शिवतत्त्वात्मनि । भेददशायां हि तत्तत्तत्त्वोल्लङ्घनक्रमेण षट्त्रिंशं शिवतत्त्वं प्राप्यत्वेनोक्तम् । भोग्यभावादित्यदनीयत्वात्; अधिगतसंवित्तत्त्वा हि सर्वं स्वात्मसात्कुर्वन्तीति भावः । तेनाध्वैवाध्वा, अद्यत इत्यध्वा चेति ॥३०॥

ननु सर्वशब्दानां समयमात्रादेवार्थप्रतिपादनं सिद्ध्येत्,--इति किमत्रानु-[न्वर्थं]स्मरणेन नहि सर्वत्रैवैतत्संभवेत् ? इत्याशङ्क्याह

इह सर्वत्र शब्दानामन्वर्थं चर्चयेद्यतः ।

यद्यप्यर्थाभिधाने शब्दानां त्रयी गतिर्यौगिकी रूढा योगरूढा च । तत्रापि यौगिक्या एव प्राधान्यं सनिमित्तं तत्र तस्याः प्रवृत्तेः, अत एवान्यद्द्वयमत्रैव यथाकथंचिदन्तर्भावनीयं येन सर्वत्रैवान्वर्थचर्चा पारं यायात् ॥

तदाह

उक्तं श्रीमन्निशाचारे संज्ञात्र त्रिविधा मता ॥३१॥
नैमित्तिकी प्रसिद्धा च तथान्या पारिभाषिकी ॥
पूर्वत्वे वा प्रधानं स्यात्तत्रान्तर्भावयेत्ततः ॥३२॥
अतोऽध्वशब्दस्योक्तेयं निरुक्तिर्नोदितापि चेत् ।
क्वचित्स्वबुद्ध्या साप्यूह्या कियल्लेख्यं हि पुस्तके ॥३३॥

प्रसिद्धेति, सनिमित्तत्वेऽपि क्वचिदेव रूढेः । यदुक्तं तत्र

'संज्ञा हि त्रिविधा ज्ञेया शिवशास्त्रेषु सर्वदा ।
पारिभाषिकनैमित्ती सिद्धा चासौ प्रसिद्धिभाक् ॥
इह नैमित्तिकी संज्ञा निमित्तात्तु समागता ।'

इति । एवमिह सर्वसंज्ञानां निमित्ततापयवश्यं वाच्येत्यत्रैवमुक्तमित्याह 'अत' इति । ननु यद्येवं तत्सर्वत्रैव कस्मादेवं नोक्तमित्याशङ्क्याह नोदितेत्यादि । कियदिति, नह्यत्र शब्दव्युत्पादनं प्रस्तुतमिति भावः ॥ ३३ ॥

ननु परस्याः संविदो मूर्तिक्रियाभासनमध्वेतयुक्तं तत्र क्रियावभासने कतरोऽध्वा मूर्त्यवभासने च कतर ? इत्याशङ्क्याह

तत्र क्रियाभासनं यत्सोऽध्वा कालाह्व उच्यते ।
वर्णमन्त्रपदाभिख्यमत्रास्तेऽध्वत्रतं स्फुटम् ॥३४॥
यस्तु मूर्त्यवभासांशः स देशाध्वा निगद्यते ।
कलातत्त्वपुराभिख्यमन्तर्भूतमिह त्रयम् ॥३५॥

ननु यदि नाम मूर्तिक्रिययोर्वैचित्र्यावभसाद्देशकालभेदेनाध्वनो द्वैविध्यमुच्यते तदास्तां, तत्रापि प्रत्येकं त्रैविध्ये किं निमित्तम् ? इत्याशङ्क्याह ।

त्रिकद्वयेऽत्र प्रत्येकं स्थूलं सूक्ष्मं परं वपुः ।
यतोऽस्ति तेन सर्वोऽयमध्वा षड्विध उच्यते ॥३६॥

तेनेति, स्थूलसूक्ष्मपरत्वेन पदवर्णमन्त्रात्मतया भुवनतत्त्वकलात्मतया च प्रत्येकं त्रैविध्येन हेतुनेत्यर्थः। यदुक्तम्

'पदानि मन्त्रारब्धानि मान्त्रा वर्णैकविग्रहाः।
वर्णाः स्वनिष्ठा इत्येषां स्थूलसूक्ष्मपरात्मता ॥'

इति। तथा

'भुवनव्यापिता तत्त्वेष्वनन्तादिशिवान्तके।' (स्व० ४।९६)

इति। तथा।

कलान्तर्भाविनस्ते वै निवृत्त्याद्यास्तु ताः कलाः ॥ (स्व० ४।९७)

इति ॥ ३६ ॥

तत्र प्रस्तुतं कालाध्वानं तावदवतारयति

षड्विधादध्वनः प्राच्यं यदेतत्त्रितयं पुनः।
एष एव स कालाध्वा प्राणे स्पष्टं प्रतिष्ठितः ॥३७॥

प्राच्यमिति पूर्वोद्दिष्टं पदमन्त्रवर्णाख्यम्। 'प्राण' इत्युपलक्षणं, तेनापानादावप्येवमव ॥ ३७ ॥

नन्वेवं क्रमाक्रमात्मा काल उक्तः स एव किं तत्त्वानामन्तःपरिगणितो न वा ? इत्याशङ्क्याह

तत्त्वमध्यस्थितात्कालादन्योऽयं काल उच्यते।

अन्यस्तद्वैलक्षण्यात् ॥

तदेवाह

एष कालो हि देवस्य विश्वाभासनकारिणी ॥३८॥
क्रियाशक्तिः समस्तानां तत्त्वानां च परं वपुः।

'परं वपुः' इत्युत्पत्तिस्थानम्, अत एव 'विश्वावभासनकारिणी' इत्युक्तम् ॥ ३८ ॥

ननु परस्याः संविदो विश्वावभासकारित्वं नाम बहिरुन्मेष उच्यते तदेवमस्येश्वररूपत्वमुक्तं स्यादित्याह

एतदीश्वरतत्त्वं तच्छिवस्य वपुरुच्यते ॥३९॥

उद्रिक्ताभोगकार्यात्मविश्वैकात्म्यमिदं यतः ।

'तत्' तस्माद्बहिरुन्मेषलक्षणाद्विश्वावभासकारित्वाद्धेतोरेतदीश्वरतत्त्वमुच्यते, कालात्मनः क्रियाशक्तेरेवैतद्वि श्वकलनात्मकत्वं बहिर्मुखं रूपमित्यर्थः । ननु मायादीनामप्येवं रूपं संभाव्यते, इत्येतदेव कथमुक्तमित्याशङ्क्याह 'शिवस्य वपुः' इति । बहिरौन्मुख्येऽपि स्वात्मन्येव विश्रान्तं, यत इदं बहिर्मुखत्वस्य धाराधिरूढत्वादुद्रिक्ताभोगम्, अत एव कार्यात्म यद्विश्वं तस्य 'इदमहम्' इति प्रतीतेः 'ऐकात्म्यं' स्वात्मसात्कार इत्यर्थः । अत एव भेदाभेददशेयमिति सर्वैरुद्घोष्यते ।। ३९ ।।

नन्वेवमनेनैव विश्वकलनात्कालतत्त्वस्य पृथक्परिगणनं न प्राप्तमिति,

एवं कालः प्रसर्तव्यस्तच्च तत्त्वमनिन्दितम् ।'

इत्यादिश्रुतिविरोध आपतेदिति किमेतत् ? इत्याशङ्क्याह

एतदीश्वररूपत्वं परमात्मनि यत्किल ।।४०।।
तत्प्रमातरि मायीये कालतत्त्वं निगद्यते ।

ननु मायाप्रमातरि किमेवं कालतत्त्वमेवोत तत्त्वान्तराण्यपि,—इत्याशङ्क्याह

शिवादिशुद्धविद्यान्तं यच्छिवस्य स्वकं वपुः ।।४१।।
तदेव पुंसो मायादिरागान्तं कञ्चुकीभवेत् ।

शिवादीत्यनेन शिवशब्देनानाश्रितभट्टारक उक्तः । स्वकं वपुरित्यानन्दादिशक्तिरूपत्वात् । 'पुंस' इति शिवस्यैव स्वस्वातन्त्र्याद्गृहीतपशुभावस्येत्यर्थः ।। ४१ ।।

एतदेव विभजते

अनाश्रितं यतो माया कलाविद्ये सदाशिवः ।।४२।।
ईश्वरः कालनियती सद्विद्या राग उच्यते ।

यदुक्तं

'शक्त्यादिस्तत्त्ववर्गस्तु कञ्चुकत्वेन वै पशोः ।
शक्तिर्माया कला विद्या कालो नियतिरेव च ।।
सदाशिवेश्वरौ विद्या रागस्तु वरवर्णिनि ।'

इति ॥४२॥

न केवलमेषामेवंरूपत्वमेव यावत्प्रमातृत्वमपि,—इत्याह

अनाश्रितः शून्यमाता बुद्धिमाता सदाशिवः ॥४३॥
ईश्वरः प्राणमाता च विद्या देहप्रमातृता ।

नन्वेषां शून्यादिप्रमातृत्वे किं निमित्तम् ? इत्याशङ्क्याह

अनाश्रयो हि शून्यत्वं ज्ञानमेव हि बुद्धिता ॥४४॥
विश्वात्मता च प्राणत्वं देहे वेद्यैकतानता ।

शून्यमिति, विश्वोच्छेदात् । ज्ञानमिति, सदाशिवस्य ज्ञानशक्तिप्राधान्यात् । 'विश्वात्मता' इति बहिरुन्मेषरूपत्वात् । वेद्यैकतानतेति, तत्रैवाभिष्वङ्गात् ॥ ४४ ॥

एवं प्राणे विश्वात्मत्वमस्ति,–इति तदेवात्र संप्रत्यभिधीयते,–इत्याह

तेन प्राणपथे विश्वाकलनेयं विराजते ॥४५॥
येन रूपेण तद्‌ब्रह्मः सद्भस्तदवधीयताम् ।

येन रूपेणेति, कालात्मना ॥ ४५ ॥

ननु प्राणस्य सर्वशरीरव्यापकत्वेनावश्यमवस्थानमस्ति, अन्यथा हि कानिचिदङ्गानि स्तम्भादिवत्स्तब्धान्येव भवेयुः, तदस्य श्रीस्वच्छन्दशास्त्रादौ हृदयादारभ्यैव चारः कस्मादुक्त ? इत्याशङ्क्याह

द्वादशान्तावधावस्मिन्देहे यद्यपि सर्वतः ॥४६॥
ओतप्रोतात्मकः प्राणस्तथापीत्थं न सुस्फुटः ।

इत्थमिति, ओतप्रोतत्वेन । न सुस्फुट इति, सर्वत्रैव देहे; क्वचिद्धि शरीरे सुस्फुटत्वेन प्राणोऽवभासते क्वचिच्चास्फुटत्वेनेति ॥ ४६ ॥

अत एवाह

यत्नो जीवनमात्रात्मा तत्परश्च द्विधा मतः ॥४७॥
संवेद्यश्चाप्यसंवेद्यो द्विधेत्थं भिद्यते पुनः ।
स्फुटास्फुटत्वाद्‌द्वैविध्यं प्रत्येकं परिभावयेत् ॥४८॥

'यत्न' इति प्राणीयः स्पन्दः। जीवनमात्रात्मेति, स्वारसिको येनावयवानां स्तब्धतैव न स्यात्। तत्पर इच्छापूर्वकः। प्रत्येकमिति, चतुर्णां द्वैविध्येऽष्टधा प्राणीयो यत्न इति सिद्धम् ॥ ४८ ॥

तत्र स्वारसिकः प्राणीयो यत्नः कन्दात्प्रभृत्येव संवेद्यते किंत्वस्फुटत्वेन,—इत्याह

संवेद्यजीवनाभिख्यप्रयत्नस्पन्दसुन्दरः ।
प्राणः कन्दात्प्रभृत्येव तथाप्यत्र न सुस्फुटः ॥४९॥

यदभिप्रायेणैव श्रीस्वच्छन्दशास्त्रे ततः प्रभृति प्राणादेरवस्थानमुक्तम्,—इत्याह

कन्दाधारात्प्रभृत्येव व्यवस्था तेन कथ्यते ।
स्वच्छन्दशास्त्रे नाडीनां वाय्वाधारतया स्फुटम् ॥५०॥

तेनेति, प्राणस्य संवेद्यत्वेन हेतुनेत्यर्थः। यदुक्तं तत्र

'नाभ्यधो मेढ्रकन्दे च स्थिता वै नाभिमध्यतः ।
तस्माद्विनिर्गता नाड्यस्तिर्यगूर्ध्वमधः प्रिये ॥' (स्व० ७।८)

इति ॥ ५० ॥

ननु यद्येवं तत्तत्रैव

'हृच्चक्रे तु समाख्याताः साधकानां हितावहाः ।
प्राणो वै चरते तासु अहोरात्रविभागतः ॥
तथा ते कथयिष्यामि प्रविभज्य यथा स्फुटम् ।' (स्व० ७।२१)

इत्यादिना हृदयात्प्रभृति वितत्य पुनः प्राणचारः कस्मादुक्तः ?' इत्याशङ्क्याह

तत्रापि तु प्रयत्नोऽसौ न संवेद्यतया स्थितः ।

'तत्र' कन्दाधारे ह्यसावपीच्छापूर्वकः प्रयत्नो न स्फुटं संवेद्यते,—इति न तत्र वितत्य प्राणचार उक्तः। न हि स्वारसिकेन प्राणचारेणोक्तेन किंचित्फलं, स्वेच्छया हि चारितः प्राणस्तत्तत्सिद्धिनिमित्तं योगिनां स्यात् यदर्थमेवमुपदेशः। तच्च हृदयात्प्रभृत्येव भवेत्,—इति तत्रैवासौ तथा निर्दिष्टः ॥

एतच्चास्माभिरप्येवमेवोच्यत,—इत्याह

वेद्ययत्नात्तु हृदयात्प्राणचारो विभज्यते ॥५१॥

वेद्ययत्नादिति, अर्थादिच्छापूर्वकस्य। 'विभज्यत' इति तुट्याद्यात्मना विभागेनोच्यत इत्यर्थः॥ ५१॥

ननु व्यापकत्वात्सर्वत्राविशेषेऽपि प्राणनस्य क्वचित्स्फुटं तदीयो यत्नः संवेद्यते, क्वचिच्चान्यथेत्यत्र किं निमित्तम्? इत्याशङ्क्याह

प्रभोः शिवस्य या शक्तिर्वामा ज्येष्ठा च रौद्रिका।
सतदन्यतमावात्मप्राणौ यत्नविधायिनौ ॥५२॥

इह खलु परमेश्वरसंबन्धिन्या तासां वामादीनां मध्यादन्यतमया शक्त्या सहभूतावात्मप्राणौ यत्नविधायिनौ, प्रभुशक्तिरात्मा प्राणश्चेति त्रयः संमिलिताः प्राणस्पन्दं विदधतीत्यर्थः।

यदुक्तं

'तत्रात्मा प्रभुशक्तिश्च वायुर्वै नाडिभिश्चरम्।' (स्व० ७।७)

इति॥ ५२॥

एवमेषां समानेऽपि यत्नविधायित्वे क्वचित्कस्यचिन्मुख्यत्वम्,—इत्याह

प्रभुशक्तिः क्वचिन्मुख्या यथाङ्गमरुदीरणे।
आत्मशक्तिः क्वचित्कन्दसंकोचस्पन्दने यथा ॥५३॥
प्राणशक्तिः क्वचित्प्राणचारे हार्दे यथा स्फुटम्।
त्रयं द्वयं वा मुख्यं स्याद्योगिनामवधानिनाम् ॥५४॥

'अङ्गमरुदीरणे' चक्षुःस्फुरणादौ। अत्र हि भाविशकुनाशकुनप्रकाशनाद्यर्थं प्रभुशक्तेरेव प्राधान्येन प्राणस्पन्दने कर्तृत्वम्। 'कन्दस्य' आनन्देन्द्रियस्य संकोचे विकासात्मनि स्पन्दने चात्मन एव प्राधान्यं, तत्र हि तदिच्छैव निबन्धनम्। हृदि च प्राधान्येन प्राणस्यैव स्वरसवाहित्वात्स्पन्दने कर्तृत्वम्, इतरद्द्वयं पुनः सर्वत्रैव गुणभावेन स्थितमन्यथैवंभावाभावात्। एवमेषां स्वारसिकत्वेन गौणमुख्यभावमुक्त्वा प्रायत्निकत्वेनाप्यभिधत्ते 'त्रयम्'

इत्यादिना । योगिनो हि तत्तत्फलेप्सवो यत्रैवावधानातिशयात्प्राणं योजयन्ति, तत्रैवात्मानं प्रभुशक्तिं तदन्यतमं वेति ॥ ५४ ॥

न केवलमेषां गौणमुख्यभावो भवेद्यावदन्यथापि,––इत्याह

अवधानाददृष्टांशाद्बलवत्त्वाद्थेरणात् ।
विपर्ययोऽपि प्राणात्मशक्तीनां मुख्यतां प्रति ॥५५॥

अवधानाद्यथा योग्यपि स्वावधानेनैव चक्षुः स्फारयेत्,—इत्यत्रात्मनः प्राधान्यम् । अदृष्टांशाद्यथा गवामपि जन्मान्तरीयसंस्कारवशात् स्वारसिक्यैव प्राणशक्त्या नियतमङ्गं स्फुरेत् येनात्र तस्या एव प्राधान्यम् । बलवत्त्वाद्यथा मल्लादीनां श्रमाद्यभ्यासादायत्तीकृतया प्राणशक्त्यैव तत्तत्प्लुत्यादिसिद्धिः । ईरणाद्यथा वाताभिभूतानां प्राणस्य बलवत्त्वेऽपि प्रभुशक्त्यैव तत्तदङ्गपरिस्पन्दो भवेत्,—इति तस्या एव मुख्यत्वम् । एवमेषां यत्रैवोद्रिक्तत्वेनावस्थानं तत्रैव प्राणीयस्यापि यत्नस्य स्फुटतया संवेद्यत्वमन्यथा पुनरतथात्वमिति सिद्धम् ॥५५॥

ननु प्रभुशक्तिर्यद्यात्मप्राणाभ्यां सह प्राणीयं यत्नं विदधाति तदस्तु. तस्यास्तु त्रैविध्यं किमर्थमुक्तम् ? इत्याशङ्क्याह

वामा संसारिणामीशा प्रभुशक्तिर्विधायिनी ।
ज्येष्ठा तु सुप्रबुद्धानां बुभुत्सूनां च रौद्रिका ॥५६॥

'विधायिनी' इत्यर्थात्प्राणीयं यत्नं विदधातीति ॥५६॥

अत्र किं निमित्तम् ? इत्याशङ्क्याह

वामा संसारवमना ज्येष्ठा शिवमयी यतः ।
द्रावयित्री रुजां रौद्री रोद्ध्री चाखिलकर्मणाम् ॥५७॥

वामाद्या हि प्राभव्यः शक्तयः सृष्टिसंहारस्थित्यात्मिकाः,––इति तथैषां प्राणीयं यत्नं विदधति यथा संसारिणामधोधःपातो भवेत्, सुप्रबुद्धानां शिवीभावापत्तिर्बुभुत्सूनां च शिवीभावोन्मुख्येन संसार एवावस्थानमिति । तदुक्तम्

'अणुं स्वरूपदृश्वानं वामाधो विनिपातयेत् ।
रौद्री सांसारिकानन्दं कदाचिद्वितरेदपि ॥
ज्येष्ठा स्वातन्त्र्यलेशं तु तनुते ज्ञानकर्मणोः ।'

इति ॥५७॥

नन्वेतत्स्वरसत एव सिद्ध्येदिति किमनेनैवमुपदिष्टेन ? इत्याशङ्क्याह

सृष्ट्यादितत्त्वमज्ञात्वा न मुक्तो नापि मोचयेत् ।

नन्वत्र किं प्रमाणम् ? इत्याशङ्क्याह

उक्तं च श्रीयोगचारे मोक्षः सर्वप्रकाशनात् ॥५८॥

सर्वप्रकाशनादिति, सर्वस्य सृष्टयादेर्यथातत्त्वं परिज्ञानादित्यर्थः । नहि तदतिरिक्तमन्यत्किंचित्संभवेदिति भावः ॥५८॥

अत एवाह

उत्पत्तिस्थितिसंहारान् ये न जानन्ति योगिनः ।
न मुक्तास्ते तदज्ञानबन्धनैकाधिवासिताः ॥५९॥

'तदज्ञानं' सृष्टयादितत्त्वासंवित्तिः ॥५९॥

ततश्च प्रकृते किम् ? इत्याशङ्क्याह

सृष्ट्यादयश्च ते सर्वे कालाधीना न संशयः ।
स च प्राणात्मकस्तस्मादुच्चारः कथ्यते स्फुटः ॥६०॥

कालाधीना इति, सृष्टिः स्थितिः संहारश्चेति क्रमात्मकत्वात् । 'उच्चार' इति प्राणचारः, तत्कथनेन हि सृष्टयादीनां यथातत्त्वं परिज्ञानं भवेदिति भावः ॥६०॥

हृदयात्प्राणचारश्च नासिक्यद्वादशान्ततः ।
षट्त्रिंशदङ्गुलो जन्तोः सर्वस्य स्वाङ्गुलक्रमात् ॥६१॥

नसते कुटिलं गच्छतीति नासिका शक्तिः, तस्या इदं (अयं) 'नासिक्यः' शाक्तो द्वादशान्तः । तदुक्तम्

'षट्त्रिंशदङ्गुलश्चारो हृत्पद्माद्यावशक्तितः ।' (स्व० ४।२३५)

इति ॥६१॥

ननु यद्येवं तदतिक्षुद्रे मशकादिसंबन्धिन्यतिमहति वा हस्त्यादिसत्के देहे कथमेतत्संगच्छते ? इत्याशङ्क्याह

क्षोदिष्ठे वा महिष्ठे वा देहे तादृश एव हि ।

'तादृशः' षट्त्रिंशदङ्गुल एव किंतु स्वाङ्गुलापेक्षया ॥

न च सर्वस्य जन्तोः प्राणचार एव समो यावद्वीर्यादियोऽपि,--इत्याह

वीर्यमोजो बलं स्पन्दः प्राणचारः समं ततः ॥६२॥

अयमत्राशयः—संविद एव ह्ययं स्फारो यत्क्षोदिष्ठो महिष्ठो वा जन्तुवर्गः समुज्जृम्भते, न च तस्याः क्वचित्कश्चिद्विशेषः । यदुक्तम्

'यैव चिद्गगनाभोगभूषणे भाति भास्वति ।
धराविवरकोशस्थे सैव चित्कीटकोदरे ॥' (वासिष्ठे)

इति । तदाहिताश्च वीर्यादयः--इति तेषामपि विशेषे न किंचिन्निमित्तमुत्पश्यामः । यत्पुनरेषां तारतम्यमभिलक्ष्यते तत्र कर्मवैचित्र्यमपराध्यति, यत्पुंसामप्यन्योन्यापेक्षया वीर्याद्यतिशाययतीति ॥६२॥

एवं सपीठिकाबन्धं प्राणस्य चारमानमभिधाय तदानन्तर्येणानुजोद्देशोद्दिष्टमहोरात्राद्यपि विभक्तुमुपक्रमते

षट्त्रिंशदङ्गुले चारे यद्गमागमयुग्मकम् ।
नालिकातिथिमासाब्दतत्सङ्घोऽत्र स्फुटं स्थितः ॥६३॥

'गमागमौ' प्राणापानरूपावारोहावरोहौ । तच्छब्देन नालिकादीनां सर्वेषामेव परामर्शः ॥६३॥

एतदेव क्रमेण विभजते

तुटिः सपादाङ्गुलयुक्प्राणस्ताः षोडशोच्छ्वसन् ।
निःश्वसंश्चात्र चषकः सपञ्चांशेऽङ्गुलेऽङ्गुले ॥६४॥
श्वासप्रश्वासयोर्नाली प्रोक्ताहोरात्र उच्यते ।
नवाङ्गुलाम्बुधितुटौ प्रहरास्तेऽथमो दिनम् ॥६५॥
निर्गमेऽन्तर्निशेनेन्दू तयोः संध्ये तुटेर्दले ।

सचतुर्भागमङ्गुलयुग्मं तुटिरुच्यते,--इति तत्षोडशधा गुणितं षट्त्रिंशदङ्गुलानि भवन्तीत्युक्तं 'प्राणस्ताः षोडशोच्छ्वसन्' इति । अपानवाहेऽप्येवमित्युक्तम् 'निश्वसंश्चेति' 'तेनोभयत्र द्वात्रिंशत्तुटयः । यदुक्तम्

'प्राणापानाश्रिते वाहे द्वात्रिंशत्तुटयः स्थिताः ।'

इति । तथात्र षट्त्रिंशदङ्गुलात्मनि प्राणचारे सपञ्चभागमङ्गुलं प्रति चषकः,--इति त्रिंशद्धा विभक्ते प्राणवाहे त्रिंशच्चषका भवन्ति, एवमपानवाहेऽपि,--इति प्राणापानोभयमीलनेन चषकषष्टयात्मनो घटिकाया उदयः,--इत्युक्तं 'श्वासप्रश्वासयोर्नाडी प्रोक्ता' इति । 'निर्गमे' प्राणस्य बहिरुल्लासे, 'नवाङ्गुलाम्बुधितुटौ' नवाङ्गुलिस्थानासु चतसृषु तुटिषु प्रहरो, नवस्वङ्गुलीष्वसावुदेतीत्यर्थं । यदुक्तम्

'......................प्रहरः स्यान्नवाङ्गुलः ।'

इति । 'ते'इति नवाङ्गुलिमानाः प्रहराः 'अब्धयः' चत्वारः, अन्तरित्यर्थादपानस्योदये । एवं निशापि चत्वारः प्रहरा तदुक्तम्

'अहोरात्रस्त्वथोऽष्टभिः..............।' (स्व० ७।२८)

इति । तावेव च प्राणापानौ 'इनेन्दू' सूर्याचन्द्रमसौ भवत इत्यर्थः । यदुक्तम्

'वासरे तु चरेत्सूर्यो धारायां संचरञ्छशी ।
चन्द्रसूर्योदयो ह्येष........................ ।।'(स्व० ७।४०)

इति । तयोः प्राणापानरूपयो रात्रिदिनयोरर्थाद्द्वादशान्ते हृदि च तुटेर्दले संध्ये । सायंप्रातःसंध्ययोः प्रत्येकं प्राणीयस्यापानीयस्य चान्त्यस्यान्त्यस्य च तुट्यर्धस्य संमेलनया सकलैव तुटिरुदयस्थानमित्यर्थः । अत एव संध्ययोस्तुटिद्वयमहोरात्रस्य च त्रिंशत्तुटयः । यदाहुः

'संध्याकालं विना त्रिंशत्तुटिकोऽहोरात्रः ।'

इति । यत्तु

'चतुर्थान्ते च देवेशि प्राणसूर्यः सदास्तगः ।
ततोऽस्तमयसंध्यात्र तुट्यर्धं तु भवेत्प्रिये ।।' (स्व० ७।३६)

इति । तथा

'हृत्पद्मं तु यदा प्राप्तः प्रभातसमयस्तदा ।
तुट्यर्धं तु वरारोहे पूर्वसंध्या भवेत्ततः ।।' (स्व० ७।३९)

इत्याद्युक्तं तत्केवलमेव प्राणवाहमधिकृत्यापानवाहं चेत्यधिगन्तव्यम् । एवं

'शक्तेर्मध्योर्ध्वभागे तु तुट्यर्धं यत्प्रकीर्तितम् ।
पक्षसन्धिस्त्वसौ ज्ञेयः........................ ।।'(स्व० ७।६८)

इत्यादौ पक्षसन्धिग्रन्थेऽप्ययमेवाशयो योज्यः। अन्यथा ह्येका त्रुटिरक्तविनियोगा स्यात् ॥६५॥

न केवलमत्र सूर्याचन्द्रमसोरेवोदयो यावद्ग्रहान्तराणामपि,—इत्याह

केतुः सूर्ये विधौ राहुर्भौमादेर्वारभागिनः ॥६६॥
प्रहरद्वयमन्येषां ग्रहाणामुदयोऽन्तरा ।

केतुः सूर्येऽन्तर्भवति, एवं विधौ राहुः। तेन य एव सूर्याचन्द्रमसोरुदयः स एवानयोरित्यर्थः। यदुक्तम्

'राहुश्चरति सोमेन केतुश्चरति भास्वता ।' (स्व० ७।४२)

इति। वारभागिनः पुनर्भौमादेर्ग्रहस्य प्रहरद्वयमुदयस्तस्य प्रत्यहोरात्रमाद्यन्तार्धप्रहरचतुष्टयोपभोगात्, अन्येषां षष्ठपञ्चमानां ग्रहाणामन्तरा प्रहरं प्रहरं प्रत्येकमुदयः प्रत्यहोरात्रमर्धप्रहरद्वयोपभोगात्। तदुक्तम्

'पूर्वोऽष्टभागो दिवसाधिपस्य तथैव चान्ते दिवसस्य विद्यात् ।
शेषाः ग्रहाः षट्परिवर्तनेन भुञ्जन्ति होरां निशि पञ्चमेन ॥'

इति ॥६६॥

अत्रैव प्रथमार्धप्रहरादारभ्य क्रमेण फलं निर्दिशति

सिद्धिर्दवीयसी मोक्षोऽभिचारः पारलौकिकी ॥६७॥
ऐहिकी दूरनैकट्यातिशया प्रहराष्टके ।

सिद्धिर्दवीयसीत्यादिना सप्त भेदाः ॥६७॥

ननु संध्यायाश्चतुर्धोदयोऽपि कथं द्विधैवोक्त? इत्याशङ्क्याह

मध्याह्नमध्यनिशयोरभिजिन्मोक्षभोगदा ॥६८॥

अभिजयति सर्वान्विघ्नानित्यभिजिन्नक्षत्रविशेषः। यदुक्तम्

'मध्याह्ने चार्धरात्रे च उदयोऽभिजितो भवेत् ।
अभीप्सितं फलं तत्र साधकानां भवेदिह ॥' (स्व० ७।४७)

इति। स च तालुनि, इत्यधिगन्तव्यम्। यदुक्तम्

'....................मध्याह्नस्तालुमध्यतः ।' (स्व० ७।३३)

इति ॥६८॥

न केवलमत्राभिजित एवोदयो यावदश्विन्यादीनामपि,—इत्याह

नक्षत्राणां तदन्येषामुदयो मध्यतः क्रमात् ।

'तदन्येषाम्' इति राशितारादीनाम् । यदुक्तम्

'ऋक्षाणि राशयश्चैव तारास्त्वंशास्तथैव च ।
प्राणे वै उदयन्त्येते अहोरात्रेण सुव्रते ॥' (स्व० ७।३१)

इति । अत्र च नक्षत्राणां सत्रिभागमङ्गुलमुदयस्थानम्, एवमन्येषामपि संख्यानुसारमुदयस्थानं परिकल्पनीयम् ॥

प्रहराष्टके च न नक्षत्राणामेवोदयोऽपि त्वन्येषामपि,—इत्याह

नागा लोकेशमूर्तीशा गणेशा जलतत्त्वतः ॥६९॥
प्रधानान्तं नायकाश्च विद्यातत्त्वाधिनायकाः ।
सकलाद्याश्च कण्ठचोष्ठ्यपर्यन्ता भैरवास्तथा ॥७०॥
शक्तयः पारमेश्वर्योंवामेशा वीरनायकाः ।
अष्टावष्टौ ये य इत्थं व्याप्यव्यापकताजुषः ॥७१॥
स्थूलसूक्ष्माः क्रमात्तेषामुदयः प्रहराष्टके ।

'नागा' इत्यनन्ताद्याः । यदुक्तम्

'इनस्त्वनन्त इत्युक्तः सोमो वासुकिरुच्यते ।
तक्षकः कुज इत्युक्तः कार्कोटः सोमजो भवेत् ॥
सरोजो गुरुराख्यातो महाब्जः शुक्र उच्यते ।
शङ्खो मन्दगतिर्ज्ञेयः सप्त नागाः ग्रहाः क्रमात् ॥
अष्टमः कुलिको नाम राहुः क्रूरग्रहो भवेत् ।'

इति । एषां च ग्रहवदेव षट्परिवृत्त्यादिक्रमेणोदयः किंतु कुलिकस्य शङ्खवन्मन्दगतिनैव सहोदयः । यदुक्तम्

'शनैश्चरस्य यः कालस्तं भुङ्क्ते कुलिकः प्रिये ।
सोऽपि दुष्टः समाख्यातः सर्वकर्मस्वसिद्धिदः ॥'

इति । लोकेश्वरादीनां पुनराद्यार्धप्रहरक्रमेणैवोदयोऽन्यथा सप्तानां ग्रहाणामष्टकैः सह संगत्ययोगात् । एते च सर्वं एवाष्टका भुवनाध्वनि वक्ष्यन्ते,—इति तत एवावधार्याः,—इति किं तद्व्यावर्णनग्रन्थविस्तरेण । व्याप्यव्याप-

कत्वे स्थूलसूक्ष्मत्वं हेतुः, स्थूलं हि सूक्ष्मेण व्याप्यत इति भावः। यथा ग्रहाणां नागा व्यापकास्तेषामपि लोकेश्वराः,—इत्याद्युत्तरोत्तरम् अत एव क्रमादित्युक्तम्। तदुक्तम्

'ये ग्रहास्ते च वै नागा लोकपालाष्टकं च ते।
मूर्तयश्चैव ते चाष्टावष्टौ ते च गणेश्वराः॥' (स्व० ७।४३)

इत्यादि। एवमनेन

'तेन प्राणपथे विश्वाकलनेयं विराजते॥' (तं० ६।४५)

इत्यादि यदुक्तं तत्स्मारितमित्यवसेयम् ॥७१॥

ननु यत्र प्रहराष्टके फलभेद उक्तस्तत्र दिननिशयोः कथं न? इत्याशङ्क्याह

दिने क्रूराणि सौम्यानि रात्रौ कर्माण्यसंशयम् ॥७२॥

ननु

'वासनाभेदतः प्राप्तिः सांध्यमन्त्रप्रचोदिता।'

इत्यादिदृशानुसन्धानभेदेन फलमपि भिद्यते,—इति कथमेवं नियम एव भवेत्? इत्याशङ्क्याह

क्रूरता सौम्यता वाभिसन्धेरपि निरूपिता।

तेन कदाचिद्व्यत्ययोऽपि भवेदिति भावः॥

ननु संध्याद्वयस्य फलं निर्दिष्टं सायंप्रातःसंध्ययोः पुनः किं न? इत्याशङ्क्याह

दिनरात्रिक्षये मुक्तिः सा व्याप्तिध्यानयोगतः ॥७३॥
ते चोक्ताः परमेशेन श्रीमद्वीरावलीकुले।

'दिनरात्रिक्षये' इति सायंप्रातःसन्ध्ययोः। 'ते' इति व्याप्तिध्यानादयः॥७३॥

तदेव पठति

सितासितौ दीर्घह्रस्वौ धर्माधर्मौ दिनक्षपे ॥७४॥
क्षीयेते यदि तद्दीक्षा व्याप्त्या ध्यानेन योगतः।

अहोरात्रः प्राणचारं कथितो मास उच्यते ॥७५॥

यदि नाम प्राणापानरूपौ सितासितौ परस्परव्यावृत्त्या वर्तमानौ दीर्घ-ह्रस्वादिशब्दव्यपदेश्यौ शुभाशुभौ पक्षौ 'क्षीयेते' अपोहात्मविकल्परूपता-घट्टनेन निर्विकल्पात्मपरसंविद्रूपत्वेन परिस्फुरतस्तदेव व्याप्त्या ध्यानेन योगेन च दीक्षा, ज्ञानयोगक्रियात्मिकया दीक्षया निर्यन्त्रणमेव मुक्तिर्भवे-दित्यर्थः। एतदेव हि व्याप्तिध्यानयोगानां मुख्यं रूपं यत्सितासितादिपक्षयोः प्रक्षयो नामेति। तदुक्तं तत्र

'सितासितौ च यौ पक्षौ दीर्घह्रस्वौ च कीर्तितौ।
धर्माधर्ममयौ पाशौ महाघोरौ भयानकौ॥
द्वयोर्यत्र भवेच्छेदः क्षयेन्माया तु योगिनी।
क्षये शून्यं परं ज्ञेयं दीक्षा ह्येषा प्रकीर्तिता॥
नान्यथा भवते दीक्षा रजसां पातने न तु।
नैव शास्त्रैर्भवेन्मुक्तिर्यजने नैव याजने॥
एषा ब्रह्मविदां दीक्षा नान्यथा तु वदाम्यहम्।'

इति। तथा

'सितासितौ कथिष्यामि नामपर्यायवाचकैः।'

इत्युपक्रम्य

'अहः शुक्लस्तथा प्राणः…………………।'

इति।

'अधर्मश्च क्षपा चैव…………………।'

इति। एवमहोरात्रमुपसंहृत्य मासमवतारयति 'अहोरात्र' इत्यादिना ॥७५॥

तमेवाह

दिनं कृष्णो निशा शुक्लः पक्षौ कर्मसु पूर्ववत्।

पूर्ववदिति, रात्रिन्दिनवत्। तेन कृष्णपक्षे क्रूराणि कर्माण्यन्यत्र च सौम्यानीति। तदुक्तम्

'क्रूरकर्माणि तत्रैव कुर्वन्सिद्धिमवाप्नुयात्।
शुभकर्माणि कृष्णे च न च सिद्ध्यन्ति सुव्रते॥'

इति । तथा

'तदारभ्य च कर्माणि शुभान्याभ्युदयानि च ।
ध्यानमन्त्राभियुक्तस्य सिद्ध्यन्ते नात्र संशयः ॥'

इति ॥

तत्रैव तिथिभागमाह

याः षोडशोक्तास्तिथयस्तासु ये पूर्वपश्चिमे ॥७६॥
तयोस्तु विश्रमोऽर्धेऽर्धे तिथ्यः पञ्चदशेतराः ।

उक्ता इति, प्राणवाहेऽपानवाहे वा । तयोरिति, पूर्वपश्चिमयोस्तुट्योः । विश्रम इति, पक्षसंधित्वेन वक्ष्यमाणः । अर्धेऽर्धे इति, प्राणीयेऽपानीये च । तयोश्च संमेलनात्तुटिर्विश्रमस्थानं स्यान्नतु तुटचर्धम् । 'इतरा' इति हृदि द्वादशान्ते च विश्रमस्थानत्वेनार्धाधिकयोक्तायाः षोडश्यास्तुटेरन्या इत्यर्थः । यदुक्तम्

'तुटचर्धं चाप्यधश्चोर्ध्वं विश्रमः परिकीर्तितः ।
मध्ये पञ्चदशोक्ता यास्तिथयस्ताः प्रकीर्तिताः ॥' (स्व० ७।६१)

इति ॥७६॥

अत्राप्यहोरात्रविभागमाह

सपादे द्व्यङ्गुलेऽतिथ्या अहोरात्रो विभज्यते ॥७७॥
प्रकाशविश्रमवशात्तावेव हि दिनक्षपे ।

'विभज्यत' इति प्रकाशविश्रमात्मना विभागेन व्यवस्थाप्यत इत्यर्थः । क्वचित् ह्यत्र प्रकाशस्य प्राधान्यं, क्वचिच्च विश्रमात्मन आनन्दस्य; तत्र प्रकाशप्राधान्ये दिनमन्यथा तु रात्रिरित्युक्तं 'तावेव हि दिनक्षपे' इति । तेनैकैकस्यास्तुटेः साष्टभागाङ्गुलशरीमाणमाद्यमर्धं प्रकाशरूपं दिनं, परं तु विश्रान्त्यात्मा रात्रिरिति । तदुक्तम्

'प्रथमोदये हृत्पद्मात्तुटचर्धं तु दिनं भवेत् ।
द्वितीये चैव तुटचर्धे यदा चरति शर्वरी ॥' (स्व० ७।६२)

इति ॥७७॥

ननु यदहोरात्रस्य प्रकाशविश्रान्तितारतम्येत दिननिशाविभाग उक्तस्त-

दास्तां को दोषः, यत्पुनर्बाह्याहोरात्रक्रमातिक्रमेणाप्युक्तमन्तः प्राणापानरूपं दिननिशाविभागमुल्लङ्घ्य तुटचन्तरमितयोरवस्थानमुच्यते तदपूर्वमिव नः प्रतिभाति,—इत्याशङ्क्याह

संवित्प्रतिक्षणं यस्मात्प्रकाशानन्दयोगिनी ॥७८॥
तौ क्लृप्तौ यावति तया तावत्येव दिनक्षपे ।

प्रतिक्षणमिति, सदैव प्रकाशानन्दमयीत्यर्थः । अतश्च तथा संविद उदयः प्रमातॄणां वेद्यग्रहणपरत्वादेस्तारतम्यात्कस्यचित्क्षणः कस्यचित्कल्पः कस्यचिन्निमेषोऽपि वा स्यात् ॥७८॥

अत एवाह

यावत्येव हि संवित्तिरुदिनोदितसुस्फुटा ॥७९॥
तावानेव क्षणः कल्पो निमेषो वा तदस्त्वपि ।

नन्वेवमपि भवतु को दोषस्तत्राप्यस्या वेद्यग्रहणपरत्वं स्वात्मनि विश्रान्तिपरत्वं वा किं तुल्यकक्ष्यतयैव भवेदुतान्यथापि ? इत्याशङ्क्याह

यावानेवोदयो वित्तेर्वेद्यैकग्रहतत्परः ॥८०॥
तावदेवास्तमयनं वेदितृस्वात्मचर्वणम् ।

'वित्तेः' इति संविदः । अस्तमयनमिति, वेद्यप्रकाशस्य न्यग्भावात् । 'चर्वणम्' इति विश्रान्तिः । एवकाराभ्यां च साम्यमेव द्योतितम् ॥ ८०॥

ननु स्वात्मविश्रान्तिपरत्वेऽप्यन्तारूपाणां सुखादीनां वेद्यानां सद्भावात् तद्ग्रहणपरत्वं न हीयेत,—इति कथमनयोस्तुल्यकक्ष्यत्वं स्यात्, इत्याशङ्क्याह

वेद्ये च बहिरन्तर्वा द्वये वाथ द्वयोज्झिते ॥८१॥
सर्वथा तन्मयीभूतिर्दिनं वेत्तृस्थता निशा ।

वेद्यं नाम बहिरस्त्वन्ततर्वा, मा वा भूत्किमनेन प्रयोजनं, यावता हि तन्मयीभावो नाम सर्वथा दिनं वेत्तृस्थता स्वात्मविश्रान्तिश्च निशा,—इत्यस्माकं विवक्षितं; तेन यावद्वेद्यग्रहस्तावद्दिनमन्यथा तु रात्रिरिति। यदाहुः 'ततो यत्र यात्त्तावदनया वेद्यग्रहवेदकविश्रान्तिभूमौ प्रकाशानन्दा-

वाभास्येते तत्र तावद्रूपे एव दिननिशे' इति। अतश्च दिननिशयोस्तुल्यकक्ष्यत्वमेव भवति, इति न कश्चिन्नियमः। 'द्वयोर्जिह्मते' इत्यनेन वेद्यस्यानवक्लृप्तिरेवोपोद्बलिता न त्वेवमस्य संभवो दर्शितः, नह्यनन्तर्बहीरूपं वेद्यं किंचित्संभवेत् ॥८१॥

ननु योऽयं संविदः प्रकाशविमर्शयोरेकतरप्राधान्याद्विशेष उक्तः स किं प्रमातॄणामपि संभवेन्न वा ? इत्याशङ्क्याह

वेदिता वेद्यविश्रान्तो वेत्ता त्वन्तर्मुखस्थितिः ॥८२॥

'वेदिता' इति ज्ञाता, 'वेत्ता' इति विचारयिता विमृष्टेत्यर्थः। तेनैकत्र प्रकाशप्राधान्यमन्यत्र तु विमर्शस्य,— इति प्रमातुरपि द्वैविध्यम् ॥८२॥

वेत्तापि द्विधा,—इत्याह

पुरा विचारयन्पश्चात्सत्तामात्रस्वरूपकः।

विमर्शनान्तरीयक एव हि स्वरूपलाभो भवेदिति भावः। एवमत्र ज्ञानविचारसत्तार्थतया त्रिविधोऽपि विधिराश्रयणीयो येन प्रमातुस्त्रैविध्यं सिध्येदिति भावः ॥

अत्रैव प्रसङ्गाज्जाग्रदादिस्वरूपमपि निरूपयति

जाग्रद्वेदितृता स्वप्नो वेतृभावः पुरातनः ॥८३॥
परः सुप्तं क्षये रात्रिदिनयोस्तुर्यमद्वयम्।

जाग्रदिति, वेद्यविश्रान्तेरेव प्राधान्यात्। पुरातन इति, विमृष्टृतात्मकः। स्वप्न इति, वेद्यस्य कथंचिदप्राधान्यात्। पर इति, सत्तामात्रनिष्ठः। सुप्तमिति, वेद्यक्षोभप्रक्षयात् अद्वयमिति, प्रमातृभेदस्यापि विगलनात्। अनेन च 'विश्वात्मता च प्राणत्वम्' इत्याद्युक्तं स्मारितम् ॥८३॥

ननु रात्रिदिनयोर्बहिः कदाचित्साम्यं भवेत् कदाचिच्च वैषम्यमित्यत्र किं निमितम् ? इत्याशङ्क्याह

कदाचिद्वस्तुविश्रान्तिसाम्येनात्मनि चर्वणम् ॥८४॥
वेद्यवेदकसाम्यं तत् सा रात्रिदिनतुल्यता।

यन्नाम कदाचिद्वेद्ये स्वात्मनि च तुल्यकक्ष्यतया विश्रान्तिर्भवेत् तदेव

वेद्यवेदकयोः साम्यं भवेत्, तदनुप्राणितं च रात्रिदिनयोस्तुल्यत्वं, यत्सर्व एव योगिनो महापुण्यं विषुवत्कालमाचक्षते । यदुक्तम्

'वेद्यवेदकसाम्येन वस्तुविश्रमचर्वणम् ।
यदा कदाचिद्भवति सा रात्रिदिनतुल्यता ॥
विषुवत्कालयोगोऽसौ योगिभिः समुदाहृतः ।'

इति ॥८४॥

एवं च वेद्यस्य वेदकस्य च विश्रान्तेराधिक्ये दिनस्य निशायाश्च दैर्घ्यं भवेदन्यथा त्वपचयः, तदाह

वेद्ये विश्रान्तिरधिका दिनदैर्घ्याय तत्र तु ॥८५॥
न्यूना स्यात्स्वात्मविश्रान्तिर्विपरीते विपर्ययः ।
स्वात्मौत्सुक्ये प्रबुद्धे हि वेद्यविश्रान्तिरल्पिका ॥८६॥

न्यूनेति, अन्यथा हि वेद्यविश्रान्तेराधिक्यमेव न स्यात् । स्यादित्यर्थाद्रात्र्यपचयनिमित्तम्, 'विपरीत' इति स्वात्मनो विश्रान्तेराधिक्ये वेद्यस्य चान्यथात्वे; यतः स्वात्मन्यौत्सुक्ये विश्रान्त्यभिलाषे विकस्वरतामुपेयुषि वेद्यविश्रान्तिरल्पीयसी भवेत्, येन निशाया दैर्घ्यं दिनस्यापचयः । तदुक्तम्

'द्राघीयसी वेद्यवृत्तिर्दिनदैर्घ्याय कल्पते ।
तथैव स्वात्मविश्रान्तिवृत्तिः स्याद्रात्रिविस्तरः ॥'

इति ॥८६॥

अयमेव चात्र पक्षो युक्तः,--इत्याह

इत्थमेव दिवारात्रिन्यूनाधिक्यक्रमं वदेत् ।

नन्वन्तर्बहिश्च रात्रिदिनयोः स्थितेऽप्यौत्सर्गिके क्रमे यथान्तरसावुक्तयुक्त्या प्रकाशविमर्शयोरेकतरप्राधान्यात्प्रतिप्रमातृ विशिष्यते, तथा बहिरपि प्रतिभुवनं किं विशिष्यते न वा ? इत्याशङ्क्याह

यथा देहेष्वहोरात्रन्यूनाधिक्यादि नो समम् ॥८७॥
तथा पुरेष्वपीत्येवं तद्विशेषेण नोदितम् ।

विशेषेणेति देहमधिकृत्य, तथात्वेन हि तत्कथितं तत्तत्फलसंपत्तिनिमित्तं स्यादित्याशयः ॥८७॥

नन्वेवं रात्रिदिनविभजने किं प्रमाणम् ? इत्याशङ्क्याह

श्रीत्रैयम्बकसन्तानविततामबरभास्करः ॥८८॥
दिनरात्रिक्रमं मे श्रीशंभुरित्थमपप्रथत् ।

अत एवान्यथान्यैर्यत्तद्विभजनं कृतं तदग्राह्यमेव,--इत्याह

श्रीसन्तानगुरुस्त्वाह स्थानं बुद्धाप्रबुद्धयोः ॥८९॥
हृद आरभ्य यत्तेन रात्रिन्दिवविभाजनम् ।
तदसत्सितपक्षेऽन्तः प्रवेशोल्लासभागिनि ॥९०॥
अबुद्धस्थानमेवैतद्दिनत्वेन कथं भवेत् ।

यन्नाम प्राच्यैर्हृदयादारभ्य द्वादशान्तं यावत्तुट्यर्धपरीमाणं प्राणीयमाद्यं स्थानं बुद्धस्य परं त्वबुद्धस्य,- इत्युक्तं, तेनैव बुद्धाबुद्धस्थानवदनेन समाख्यौचित्याद्रात्रिदिनयोरपि विभागः कृतो यद्बुद्धस्थानं दिनमबुद्धस्थानं तु रात्रिरिति, तत्त्वयुक्तं; यदन्तःप्रवेशात्मन्यपानवाहे स्थानस्याविशेषाद्रात्रित्वेन परिकल्पितमबुद्धस्थानमेव दिनं स्यात्,--इति पूर्वापरव्याहतत्वम् ॥९०॥

न चैतद्विद्वेषपूर्वमस्माभिरुक्तमिति न शिष्टनिन्दा कृता स्यात,--इत्याह

अलं वानेन नेदं वा मम प्राङ्मतमत्सरः ॥९१॥
हेये तु दर्शिते शिष्याः सत्पथैकान्तदर्शिनः ।

इदानीं प्रकृतमेवावतारयति

व्याख्यातः कृष्णपक्षो यस्तत्र प्राणगतः शशी ॥९२॥
आप्यायनात्मनैकैकां कलां प्रतितिथि त्यजेत् ।
द्वादशान्तसमीपे तु यासौ पञ्चदशी तुटिः ॥९३॥
सामावस्यात्र स क्षीणश्चन्द्रः प्राणार्कमाविशेत् ।

प्राणगत इति, तत्रास्य प्राधान्यात् । तेन तुटिस्थानावस्थितां यां तिथिं प्राणादित्य आक्रमते तस्यां तस्यामपानचन्द्रः सुरादीनामपानरूपेण हेतुना 'एकैकां कलां त्यजेत्' एकैककलाह्रासक्रमेण क्षैण्यमासादयेत्; यावत्स एव कलामात्रशेषत्वात्क्षीणः सन् द्वादशान्तसमीपस्थायां पञ्चदशतुटचात्मिकाया-

ममावास्यायां 'प्राणार्कमाविशेत्' तदन्तर्लीनो भवेत्, यदेवास्य बहिरस्तमय इत्युच्यते ॥९३॥

न चैतन्निर्मूलमेवोक्तम्,—इत्याह

उक्तं श्रीकामिकायां च नोर्ध्वेऽधः प्रकृतिः परा ।
अर्धार्धे क्रमते माया द्विखण्डा शिवरूपिणी ॥९४॥
चन्द्रसूर्यात्मना देहं पूरयेत्प्रविलापयेत् ।

इह खलु 'परा' पूर्णा, अत एव 'शिवरूपिणी' शक्तिमदवियुक्ता 'प्रकृतिः, विश्वोत्पत्तिभूः संवित् 'माया' स्वरूपगोपनशीला प्रथमं प्राणात्मतया समुच्छलन्ती 'द्विखण्डा' प्राणापानात्मतया द्वैध्यमापन्ना सती नोर्ध्व एव नाध एव अपि तूर्ध्वाधःप्रवाहात्मना 'अर्धार्धे क्रमते' दक्षवामनाड्योरन्तः समप्रविभागेन प्रवहतीत्यर्थः। अत एव प्राणापानदशामधिशयाना परा संविच्चन्द्रात्मनाप्यायकारितया देहं प्रपूरयेत् सूर्यात्मना च चान्द्रीणामेव कलानामपचयात् 'प्रविलापयेत्' शोषयेदित्यर्थः ॥९४॥

ननु चान्द्रीणां कलानामपचये किं निमित्तम् ? इत्याशङ्क्याह

अमृतं चन्द्ररूपेण द्विधा षोडशधा पुनः ॥९५॥
पिबन्ति च सुराः सर्वे दशपञ्च पराः कलाः ।
अमा शेषगुहान्तःस्थामावास्या विश्वतर्पिणी ॥९६॥

यच्चन्द्ररूपेण षोडशधा भिन्नममृतं स्थितं तत्पुनर्द्विधा दृश्यमानसितरूपपञ्चदशकलात्मना तद्भित्तिभूतातिस्वच्छारूपकलात्मना चेत्यर्थः। तत्र पञ्चदश कलाः सर्व एव बहिः सुरादयोऽन्तः करणानि कार्याणि चाप्यायलिप्सया पिबन्ति येनासां प्रतिदिनमपचयः स्यात्। यदभिप्रायेणैव

'यस्मिन्सोमः सुरपितृनरैरन्वहं पीयमानः
क्षीणः क्षीणः प्रविशति……।' (साम्य पं० ८ श्लो०)

इत्याद्यन्यत्रोक्तम्। अमाख्या षोडशी पुनः कला सुराद्युपसंहृतकलापञ्चदशकावशिष्टस्वभावत्वाच्छेषरूपा, अत एव गुहान्तरिव स्थितं वस्तु सुरक्षितत्वादक्षीणं स्यात्तथैवेयमपीत्यर्थः। यतः सा विश्वस्य पञ्चदशकलाक्रोडीकारितयाप्यायकारिणी, अत एव येयममा सह यौगपद्येन पञ्चदशानां कलानां

वसनात् 'अमावास्या' तद्व्यपदेश्येत्यर्थः। तिथौ पुनस्तदधिष्ठितत्वादौपचारिकस्तव्द्यपदेश इत्याशयः ॥९६॥

एतदेव प्रकृते योजयति

एवं कलाः पञ्चदश क्षीयन्ते शशिनः क्रमात् ।
आप्यायिन्यमृताद्रूपतादात्म्यात्षोडशी न तु ॥९७॥

षोडशी न तु क्षीयते, यदद्रूपतादात्म्यादर्कस्तां क्षपयितुमक्षम इत्यभिप्रायः ॥९७॥

इदानीमेतदनन्तरभाविनं कृष्णस्य शुक्लस्य च पक्षस्य सन्धिं दर्शयति

तत्र पञ्चदशी यासौ तुटिः प्रक्षीणचन्द्रमाः ।
तदूर्ध्वगं यत्तुट्यर्धं पक्षसंधिः स कीर्तितः ॥९८॥

पञ्चदशी तुटिरित्यमावास्योदयस्थानम्, अत एव 'प्रक्षीणचन्द्रमा' इत्युक्तम । यदिति, प्राणीयं षोडशतुटिसंबन्धि ॥९८॥

ननु संधिर्ह्युभयोर्भवति, तत्कथमेकस्यैव प्राणीयस्य तुटचर्धस्यासौ स्यात् ? इत्याशङ्क्याह

तस्माद्विश्रमतुट्यर्धादामावस्यं पुरादलम् ।
परं प्रातिपदं चार्धमिति संधिः स कल्प्यते ॥९९॥

तत्प्राणीयमन्त्यं विश्रमतुटचर्धमवलम्ब्य 'पुरादलं' प्रथममर्धमामावस्यं तत्संलग्न 'परं' द्वितीयं चापानीयमाद्ये तुटचर्धं प्रातिपद तत्सलग्नम्, इत्यनयोरुभयोरर्धयोः संमेलनात्प्रतिपदमावस्यान्तरालभूतोऽसावेकतुटचात्मा 'सन्धिः कल्प्यते' तथा व्यपदिश्यत इत्यर्थः । तदुक्तम्

'स पक्षसन्धिः प्रतिपत्पञ्चदश्योर्यदन्तरम् ।' (अ० को० १।४।७)

इति । इदमेवान्यत्र प्रधानतया पूजाकालत्वे नोक्तम् । यदुक्तम्

'न दिवा पूजयेद्देवं रात्रौ नैव च नैव च ।
अर्चयेद्देवदेवेशं दिनरात्रिपरिक्षये ॥'

इति । अत्र विश्रमतुटचर्ध एवार्धाधिकया विभक्ते यदि सन्धिर्व्याख्यायते तत्सन्धिद्वयस्याप्येकैव तुटिरर्धाधिकया स्यात्,—इत्येकस्यास्तुटेर्विनियोगाभावादासमञ्जस्यं पर्यवस्येदित्यलं बहुना ॥९९॥

एवं प्राणे पक्षोदयं प्रदर्श्य सूर्यग्रहणमपि दर्शयति

तत्र प्रातिपदे तस्मिस्तुटचर्धार्धे पुरादलम् ।
आमावस्यं तिथिच्छेदात्कुर्यात्सूर्यग्रहं विशत् ॥१००॥

अर्धं चार्धं च अर्धार्धं, तुटेरर्धार्धं तुटचर्धार्धं, तस्मिन् सन्धित्वेन परिकल्पिते तुटचर्धद्वय इत्यर्थः । तत्रैवं स्थिते सति तुटचर्धद्वयमध्यादामावस्यं पूर्वमर्धम् अर्थात्परस्मिन्प्रातिपदेऽर्धे वक्ष्यमाणाद्दणशब्दाभिधेयात् तिथिच्छेदाद्विशत् सत् सूर्यग्रहणं कुर्यात्, प्रतिपदमावास्यासंघट्टात्सूर्यग्रहणं भवेदित्यर्थः ॥१००॥

नन्वेतावन्मात्रात्सूर्यग्रहणं भवेदित्यत्र क इवाशयः ? इत्याशङ्क्याह

तत्रार्कमण्डले लीनः शशी स्रवति यन्मधु ।
तप्तत्वात्तत्पिबेदिन्दुसहभूः सिंहिकासुतः ॥१०१॥

मध्वित्यमृतं । तप्तत्वादिति, यथायथमर्केण संनिकर्षात् । इन्दुसहभूरिति 'विधौ राहुः' इत्याद्युक्त्या तत्सहचारित्वात्, अन्यथैषां त्रयाणामपि संघट्टो न भवेदिति भावः । यदुक्तम्

'रविबिम्बान्तरे देवि चन्द्रबिम्बं तदा भवेत् ।
तदन्तरे भवेद्राहुरमृतार्थी वरानने ॥
अमृतं स्रवते चन्द्रो राहुश्च ग्रसते तु तत् ।
पीत्वा त्यजति तद्बिम्बं तदा मुक्तः स उच्यते ॥'

(स्व० ७।७०)

इति ॥१०१॥

ननु त्रयाणामप्येषां संघट्टे किं सतत्त्वम् ? इत्याशङ्क्याह

अर्कः प्रमाणं सोमस्तु मेयं ज्ञानक्रियात्मकौ ।
राहुर्मायाप्रमाता स्यात्तदाच्छादनकोविदः ॥१०२॥
तत एव तमोरूपो विलापयितुमक्षमः ।

'तयोः' प्रमाणप्रमेययोः 'आच्छादनं' स्वात्मसात्कारेण तिरोधानं न पुनरत्यन्तमेव विलयः, संस्कारात्मना पुनरपि बोधकमाहात्म्यात्तदुदयस्य भावात्, अत एवोक्तं 'विलापयितुमक्षमः' इति । 'तत' इत्याच्छादकत्वात्, तमसो ह्यावरकत्वमेव तत्त्वम् ॥१०२॥

नन्वेवमेतद्विलापने कः क्षम ? इत्याशङ्क्याह

तत्संघट्टाद्द्वयोल्लासो मुख्यो माता विलापकः ॥१०३॥

तेषां मातृमानमेयानां 'संघट्टः' सामरस्यं ततः समुल्लसितमद्वयमेव मुख्यः प्रमाता विलापकस्तत्त्रयसंघट्टनेन परसंविन्मात्रसार एवेत्यर्थः । यदाहुः

'प्राणार्कमानहठघट्टितमेयचन्द्रविद्रावितामृतरसोत्सुकितः खमाता ।
स्वर्भानुरावृणुत एव रविं रसं तु पुण्ये ग्रहेऽत्र रसयेत्त्रयघट्टनज्ञः ॥'

इति ॥१०३॥

अत एव चायं कालो महापुण्यः,—इत्याह

अर्केन्दुराहुसंघट्टात् प्रमाणं वेद्यवेदकौ ।
यदद्वयेन ततस्तेन पुण्य एष महाग्रहः ॥१०४॥

'अद्वयेन' चिन्मात्रात्मना भवन्तीत्यर्थः । तदुक्तम्

'राहुरादित्यचन्द्रौ च त्रय एते ग्रहा यदा ।
दृश्यन्ते समवायेन तन्महाग्रहणं भवेत् ॥
स कालः सर्वलोकानां महापुण्यतमो भवेत् ।' (स्व० ७।७३)

इति ॥१०४॥

नन्वयं सूर्यादीनां संघट्टः किं प्रतिपदमावस्यासंभेद एव भवेदुतान्यथापि ? इत्याशङ्क्याह

अमावस्यां विनाप्येष संघट्टश्चेन्महाग्रहः ।
यथार्के मेषगे राहावश्विनीस्थेऽश्विनीदिने ॥१०५॥

अमावस्यां विनापि शुद्धायामेव प्रतिपदि यद्येष संघट्टः स्यात् तदापीदं महद्ग्रहणं भवेदेव । यथा वह्निश्चन्द्रार्कराहूणामश्विन्यामेवावस्थानादेकर्क्षेण वैशाखामावस्यायां प्रहरद्वयादूर्ध्वं शुद्धायामेव प्रतिपदि सूर्यस्य ग्रहणं संभवेत्, लम्बनस्य धनगतत्वाद्ग्रहणस्थित्यर्धस्य लम्बनादूनत्वात् । एवं यत्र प्रतिपदमावास्यासंभेदेन सूर्यग्रहणं भवेत् तत्रामावस्यायां प्रग्रहणं मोक्षस्तु प्रतिपदि, अन्यथा तूभयमपि प्रतिपद्येवेत्यर्थसिद्धम् ॥१०५॥

तदेवाह

अमावास्यं यदा त्वर्धं लीनं प्रातिपदे दले ।
प्रतिपच्च विशुद्धा स्यात्तन्मोक्षो दूरगे विधौ ॥१०६॥

तन्मोक्षे च विधुदूरीभावो हेतुरित्युक्तं 'दूरगे विधौ' इति । तस्मिन् हि दूरीभूते तत्सहचारी राहुरपि तथा भवेदिति भावः ॥१०६॥

अस्य च ग्रहणस्य महत्त्वे निमित्तं दर्शयति

ग्रासमोक्षान्तरे स्नानध्यानहोमजपादिकम् ।
लौकिकालौकिकं भूयःफलं स्यात्पारलौकिकम् ॥१०७॥

भूयःफलमित्यनन्तफलम् । यदुक्तम्

'तत्र स्नानं तथा दानं पूजाहोमजपादिकम् ।
यत्कृतं साधकैर्देवि तदनन्तफलं भवेत् ॥' (स्व० ७।७४)

इति ॥१०७॥

पारलौकिकत्वे निमित्तमाह

ग्रास्यग्रासकताक्षोभप्रक्षये क्षणमाविशन् ।
मोक्षभाग्ध्यानपूजादि कुर्वंश्चन्द्रार्कयोर्ग्रहे ॥१०८॥

इह खलु योगी चन्द्रार्कयोर्ग्रहे सूर्यग्रहणे 'ग्रास्यग्रासकयोः' प्रमेयप्रमात्रोर्यः संबन्धस्तद्रूपो यः 'क्षोभः' तत्प्रक्षयात्मनि परस्मिन्प्रमातर्याविशन् परां वृत्तिमवलम्ब्य क्षणमात्रं ध्यानादि कुर्वन् मोक्षभागपवृज्यत एवेत्यर्थः । यदुक्तम्

'पक्षद्वयं परित्यज्य पूर्वोक्तकरणेन च ।
उन्मन्यन्ते स्थितो नित्यं परवृत्त्यवलम्बकः ॥
परित्यज्य त्वधः सर्वं ध्यानमास्थाय योजयेत् ।
तस्य मुक्तिर्न सन्देहस्त्वन्यथा सिद्धिभाग्भवेत् ॥'

इति ॥१०८॥

तिथिच्छेदादित्युक्तमधिकावापेन लक्षयति

तिथिच्छेद ऋणं कासो वृद्धिर्निःश्वसनं धनम् ।
अयत्नजं यत्नजं तु रेचनादथ रोधनात् ॥१०९॥

यन्नाम कासवशेन शीघ्रमेव प्राणस्य प्रसरणात् सहसैवामावास्यो भागः प्रतिपद्भागमनुप्रविशति तदुच्यते ऋणं, तिथिच्छेदयोः कार्यकारणयोरभेदोपचारात्कासश्चेति । यन्नाम च निःश्वासवशादपानवाहस्य चिरेण प्रसरणात् तिथेरधिकीभावेन पूर्णतया पौर्णमास्युदयस्तदुच्यते वृद्धिर्धनं निःश्वसनं च, इत्येतच्चोभयं सर्वेषामयोगिनामपि कासश्वासादिना स्वरसत एवोत्पद्यते,-इत्युक्तम् 'अयत्नजम्' इति, यद्वशादन्तरा चन्द्रसूर्योपरागो भवन्नपि तैरनवधानान्न परं लक्ष्यते । योगिनां पुनश्चन्द्रसूर्योपरागयोग्येतत्प्राणस्य रेचकपूरकाद्यात्मना यत्नेन भवेदित्युक्तं 'यत्नजम्' इति । यदुक्तम्

'तिथिच्छेद ऋणं ज्ञेयं वृद्धौ चैव धनं भवेत् ।
ऋणं चैव भवेत्कासो निःश्वासो धनमुच्यते ॥' (स्व० ७।६४)

इति । तथा

'तिथिच्छेदस्तथा वृद्धिः कासश्वासादि वा भवेत् ।
अयत्नजो यत्नजस्तु प्राणवृत्तिनिरोधतः ॥'

इति ॥१०९॥

एतदेवापानवाहेऽप्यतिदेष्टुमाह

एवं प्राणे विशति चित्सूर्य इन्दुं सुधामयम् ।
एकैकश्येन बोधांशु कलया परिपूरयेत् ॥११०॥
क्रमसंपूरणाशालिशशाङ्कामृतसुन्दराः ।
तुटयः पञ्चदशैताः स्युस्तिथयः सितपक्षगाः ॥१११॥

'एवं' पूर्वोक्तयैव गत्या प्राणे 'विशति' शक्तेर्हृदन्तमवरोहति चिदात्मा प्राणसूर्यः प्रतितुटयेकैकश्येन प्रबुद्धांशुजालया कलया सुधामयमिन्दुं परिपूरयेत्, येन प्रतिपद्येककलो द्वितीयस्यां द्विकलः—इत्याद्यात्मना क्रमेण संपूरणाशालिनः शशाङ्कस्यामृतेन सुन्दरा एताः पञ्चदश तुटय एव सितपक्षगास्तिथयो भवेयुः । यदुक्तम्

'प्राणहंसो यदा प्राप्तस्त्वधस्तात्प्रथमां तुटिम् ।
पूर्वमर्धं त्वहः प्रोक्तं तुटयर्धमपरं निशा ॥' (स्व० ७।७७)

इत्युपक्रम्य

'प्रतिपत्सा तु विज्ञेया चन्द्रश्चैककलो भवेत् ।

द्वितीयायां द्वितीया तु वृद्धिमेति क्रमेण तु ॥
तिथयश्चैवमारभ्य यावत्पञ्चदशी तुटिः। (स्व० ७।७९)

इति ॥११०॥

अत्रैव च पक्षसन्धिताद्यप्यतिदिशति

अन्त्यायां पूर्णमस्तुटयां पूर्ववत्पक्षसन्धिता।
इन्दुग्रहश्च प्रतिपत्सन्धौ पूर्वप्रवेशतः ॥११२॥
ऐहिकं ग्रहणे चात्र साधकानां महाफलम्।
प्राग्वदन्यदयं मासः प्राणचारेऽब्द उच्यते ॥११३॥

पूर्णो माश्चन्द्रो यस्यामेवंविधायां पञ्चदश्यां तुटयां पूर्ववदिति, तुटयर्घद्वयसंमेलनया। पूर्वेति, पूर्वं पौर्णमासं सन्धिलक्षणं तुटयर्धं तत्प्रवेशात्। एतच्च यद्यपि पूर्ववदित्यतिदेशाद्गतार्थमेव तथापि पूर्णिमाप्रतिपत्संभेदेनैवेन्दुग्रहो भवेत् न तु शुद्धायामेव प्रतिपद्यपि,—इति दर्शयितुं साक्षादुक्तम्। ऐहिकमिति, सृष्टिप्राधान्यात्। प्राग्वदन्यदिति, मातृमेयसंघट्टादि। यदाहुः

'शक्तिसंस्नुतसुधारसक्रमात् पूर्णमिन्दुमणुराहुराहरन्।
छादयेदिह महाशुभे ग्रहे द्रावितं पिबति तं महामुनिः ॥'

इति। इदानीं मासमुपसंहरन्नब्दमवतारयति अयमित्यादिना ॥११३॥

तमेवाह

षट्सु षट्स्वङ्गुलेष्वर्को हृदयान्मकरादिषु।
तिष्ठन्माघादिकं षट्कं कुर्यात्तच्चोत्तरायणम् ॥११४॥

मकरादिष्वर्थान्मिथुनान्तेषु, तेन षड्भिरङ्गुलैः षड्गुणितानि षट्त्रिंशद्भवन्तीति भावः। माघे हि मकरस्योदयो यावदाषाढे मिथुनस्य। यदुक्तम्

षडङ्गुलं च सङ्क्रामो मकरादिषु राशिषु।
भानोर्माघाद्याषाढान्तं भवेत्तच्चोत्तरायणम् ॥

इति ॥११४॥

अत्रैव विषुवत्सङ्क्रान्ति दर्शयति

संक्रान्तित्रितये वृत्ते भुक्ते चाष्टादशाङ्गुले।

मेषं प्राप्ते रवौ पुण्यं विषुवत्पारलौकिकम् ॥११५॥

अष्टादशाङ्गुल इति प्रतिसंक्रान्त्यङ्गुलषट्कस्य भोगात् ।

'हृदयादुदयस्थानात्सङ्क्रान्तिर्मकरे स्मृता ।
षडङ्गुलान्यधस्त्यक्त्वा कुम्भे सङ्क्रमते पुनः ॥
कण्ठोर्ध्वं द्व्यङ्गुलं त्यक्त्वा मीने सङ्क्रमते पुनः ।
गलोर्ध्वाद्यावत्ताल्वन्तं त्यक्त्वा मेषेऽथ संक्रमेत् ॥
नासान्तं यावत्सङ्क्रान्तिरङ्गुलानि षडेव हि ।
एषा वै विषुसङ्क्रान्तिरुत्तरे संव्यवस्थिता ॥'
(स्व० तं० ७।९४)

इति । विषुं व्याप्तिं साम्यमर्हति इति विषुवत् । 'विषुवत्पारलौकिकम्' इत्येतच्च यद्यपि निखिलस्यैवोत्तरायणस्य संभवति तथाप्यत्र विशेषेणेति स्वकण्ठेनैतदुक्तम् । यदुक्तम्

'मकराच्च समारभ्य मिथुनान्तं च सुव्रते ।
उत्तरायणमत्रैतद्दैहिकीसिद्धिवर्जितम् ॥'
(स्व० तं० ७।९७)

इति ॥११५॥

ननु यद्येतद्विषुवत्पारलौकिकं दक्षिणायनं पुनः कीदृक् ? इत्याशङ्क्याह

प्रवेशे तु तुलास्थेऽर्के तदेव विषुवद्भवेत् ।
इह सिद्धिप्रदं चैतद्दक्षिणायनगं ततः ॥११६॥

'प्रवेश' इति शक्तितो हृदन्तम् । 'तदेव' इत्यष्टादशाङ्गुलोपभोगात्मसंक्रान्तित्रयानन्तरभावीत्यर्थः । यदुक्तम्

'शक्त्यधो हृदये हंसः सङ्क्रामेत्कर्कटे प्रिये ।
षडङ्गुलानि संत्यज्य सिंहे वै सङ्क्रमेत्पुनः ॥
षडङ्गुलैः पुनस्त्यक्तैः कन्यां सङ्क्रमते पुनः ।
नासिकाग्रात्तु ताल्वन्तं त्यक्ते वै विषुवद्भवेत् ॥
तुलासंक्रान्तिरेषोक्ता दक्षिणं विषुवद्भवेत् ।'
(स्व० ७।११३)

इति । इह सिद्धिप्रदमिति, यदुक्तम्

'साधनं यत्कृतं यत्र इह जन्मनि सिद्धिदम् ।'

इति ॥११६॥

ननु मकरादे राशिद्वादशकस्य सामान्येन पारलौकिकैहलौकिकत्वेऽपि प्रत्येकमस्ति कश्चिद्विशेषो न वा ? इत्याशङ्कयाह

गर्भता प्रोद्बुभूषिष्यद्भावश्चाथोद्बुभूषुता ।
उद्भविष्यत्त्वमुद्भूतिप्रारम्भोऽप्युद्भवस्थितिः ॥११७॥
जन्म सत्ता परिणतिर्वृद्धिर्ह्रासः क्षयः क्रमात् ।
मकरादीनि तेनात्र क्रिया सूते सदृक्फलम् ॥११८॥

'गर्भता' आधानं, प्रोद्भवितुमेषिष्यन् 'भावः' सत्ता यस्यासौ तथा आद्य इच्छापरिस्पन्दः । उद्भवितुमिच्छुरुद्बुभूषुस्तस्य भावस्तत्त्वं, उद्भवनात्मकं-षणीयसंयुक्तमिच्छामात्रमित्यर्थः । 'उद्भविष्यत्त्वम्' उद्भवनाय स्वातमन्ये-वोच्छलत्त्वेनावस्थानम् । 'उद्भूतिप्रारम्भः' तत्रैव नैविडचम् । 'उद्भव-स्थितिः' तत्रैवौन्मुख्यम् । एवं मकरादिराशिद्वादशकं क्रमादिति, गर्भतादि-रूपं यतो भवति तेन हेतुनात्र बाह्यबीजादिवज्जपादिक्रियापि गर्भताद्यनुगुण-मेव फलं 'सूते' ददातीत्यर्थः । यदुक्तम्

'आधानमिच्छा संयोग आनन्दो घनता स्थितिः ।
जन्म सत्ता परिणतिर्वृद्धिर्ह्रासः क्षयः क्रमात् ॥
माघान्मासात्समारभ्य स्थितयः परिकीर्तिताः ।
साधकानां सिद्धिविधौ भावानां चापि संभवे ॥

इति ॥११८॥

अत्राप्यवान्तरोऽस्ति विशेष,:--इत्याह

आमुत्रिके झषः कुम्भो मन्त्रादेः पूर्वसेवने ।
चतुष्कं किल मीनाद्यमन्तिकं चोत्तरोत्तरम् ॥११९॥
प्रवेशे खलु तत्रैव शान्तिपुष्टयादिसुन्दरम् ।
कर्म स्यादैहिकं तच्च दूरदूरफलं क्रमात् ॥१२०॥

'झषो' मकरः । एतौ चार्थात्सिद्धमन्त्रस्य, असिद्धमन्त्रस्य तु मन्त्रादि-सेवानिमित्तं मीनादिचतुष्कं; 'प्रवेशे' इत्यपानवाहे । यदुक्तम्

'तस्मादारभ्य मकराद्ध्यानहोमजपादिकम् ।
परलोकनिमित्ताय तदनन्तफलं भवेत् ॥
पुरश्चर्यानिमित्ताय मन्त्रग्रहव्रतं च यत् ।
मीनादावारभेत्सर्वं मन्त्रसिद्ध्यर्थमात्मनः ॥'
(स्व० ७।१०३)

इति । तथा

'तस्मादिहात्मसिद्ध्यर्थं पुष्ट्यर्थं चैव साधयेत् ।
दक्षिणायनजे काले यस्मात्सृष्टिः प्रजायते ॥
(स्व० ७।११०)

इति । एवमुत्तरायणस्य वेद्यग्रहणपरत्वम्,—इति यथायथं फलदानेऽप्यासन्नत्वं; दक्षिणायनस्य त्वन्तर्विश्रान्तिपरत्वम्,—इति फलदाने यथायथं दूरत्वम्, अत एवोत्तरायणे दिनस्य वृद्धिर्निशाया ह्रासोऽत्र त्वन्यथा ॥१२०॥

तदाह

निर्गमे दिनवृद्धिः स्याद्विपरीते विपर्ययः ।
वर्षेऽस्मिंस्तिथयः पञ्च प्रत्यङ्गुलमिति क्रमः ॥१२१॥
तत्राप्यहोरात्रविधिरिति सर्वं हि पूर्ववत् ।

ननु मासारब्धो वर्षः,—इति तेषां प्रत्यङ्गुलषट्के उदय उक्तः; ते च तिथ्यारब्धा,—इति कथमत्र न तासाम् ? इत्याशङ्क्याह 'प्रत्यङ्गुलं पञ्च तिथय' इति । तत्षट्के त्रिंशद्भवन्ति येन तत्र मासोदय उक्तः । 'तत्रापि' इत्यङ्गुलपञ्चांशे तेन प्रत्यङ्गुलदशांशं दिनं निशा च । 'सर्वं' पक्षादि, तेन पूर्वस्मिन्नङ्गुलत्रये कृष्णपक्षोऽन्यत्र तु परः । तदुक्तम्

'अङ्गुले ह्यङ्गुले ह्यत्र तिथयः पञ्च संस्थिताः ।
तस्याप्यर्धं दिनं पूर्वमपरार्धं निशा भवेत् ॥
षट्पञ्चकास्तिथीनां ये तेऽहोरात्रास्तु मासिकाः ।
त्रिंशता तैरहोरात्रैर्द्विपक्षो मास उच्यते ॥'
(स्व० ७।९१)

इति ॥१२१॥

ननु प्रहराष्टकन्यायेन मासद्वादशकस्यापि किमधिष्ठातारः केचित्संभवन्ति न वा ? इत्याशङ्क्याह

प्राणीये वर्षे एतस्मिन्कार्तिकादिषु दक्षतः ॥१२२॥
पितामहान्तं रुद्राः स्युर्द्वादशाग्रेऽत्र भाविनः ।

यदुक्तम्

'दक्षनाभा तु यो रुद्रः कतिथोऽत्र महेश्वरि ।
कार्तिकं मासमखिलं स तु भुङ्क्ते महेश्वरि ॥
चण्डो मार्गशिरोमासि हरः पौषे तु कीर्तितः ।
शौण्डी तु माघमासे च प्रथमः फाल्गुने तथा ॥
भीमश्चैत्रे समाख्यातो वैशाखे मन्मथः स्मृतः ।
शकुनिर्ज्येष्ठमासे तु आषाढे सुमतिस्तथा ॥
नन्दोऽथ श्रावणे मासि भाद्रे गोपालकस्तथा ।
पितामहश्च वीरेशो मासस्याश्वयुजस्य च ॥'

इति । अग्र इत्येकीकारप्रकाशनाह्निके ॥१२२॥

एतदुपसंहरन्नन्यदवतारयति

प्राणे वर्षोदयः प्रोक्तो द्वादशाब्दोदयोऽधुना ॥१२३॥
खरसास्तिथ्य एकस्मिन्नेकस्मिन्नङ्गुले क्रमात् ।
द्वादशाब्दोदये ते च चैत्राद्या द्वादशोदिताः ॥१२४॥

खरसा इति । खेति, शून्यं 'रसाः' षट्, एवं षष्टिः । तेन प्रत्यङ्गुलमृतुरङ्गुलानां त्रयेऽयन षट्के वर्षः । एवमेकस्मिन्नेव प्राणचारे वर्षोदये यथा प्रत्यङ्गुलषट्कं द्वादशानां संक्रान्तीनामुदयः एवमिहाब्दानामित्यभिप्रायः । यदुक्तम्

'सङ्क्रान्तयो द्वादशात्र यद्वदब्दे प्रकीर्तिताः ।
द्वादशाब्दोदये प्राणे वत्सरास्ते प्रकीर्तिताः ॥'
(स्व० ७।१२६)

इति ॥१२४॥

ननु चैत्रस्य प्राक् तालुन्युदयः, इति ततः प्रभृति मन्त्रसेवादि कार्यमित्युक्तम्, इह तु हृदि तस्यैवोदय उक्तः, तदिदानीं साधकः कुत्र मन्त्रादिसेवां कुर्यात् ? इत्याशङ्क्याह

चैत्रे मन्त्रोदितिः सोऽपि तालुन्युक्तोऽधुना पुनः ।
हृदि चैत्रोदितिस्तेन तत्र मन्त्रोदयोऽपि हि ॥१२५॥

उक्त इत्यब्दोदये । अधुनेति, द्वादशाब्दोदये ॥१२५॥

एवं द्वादशाब्दोदयमभिधाय षष्टचब्दोदयमप्यभिधत्ते

प्रत्यङ्गुलं तिथीनां तु त्रिशते परिकल्पिते ।
सपञ्चांशाङ्गुलेऽब्दः स्यात्प्राणे षष्टचब्दता पुनः ॥१२६॥

प्रत्यङ्गुलं तिथिशतत्रयमित्युङ्गुलपञ्चभागे षष्टिरहोरात्राः । एवं सपञ्चभागेऽङ्गुले षष्टचधिकशतत्रयात्माब्द उदियात् । ततः सपञ्चांशाङ्गुलेऽब्दस्योदयात्प्रागुक्तचषकोदयस्थित्या प्राणापानवाहात्मनि प्राणे षष्ठचब्दता, षष्टिरब्दा भवन्तीत्यर्थः । यदुक्तम् ।

'हृत्पद्माद्याव शक्त्यन्तं त्रिंशदब्दोदयो भवेत् ।'
(स्व० ७।१३४)

इति ॥१२६॥

अत्रैवाहोरात्राणां संकलनां दर्शयति

शतानि षट् सहस्राणि चैकविंशतिरित्ययम् ।
त्रिभागः प्राणगः षष्टिवर्षाहोरात्र उच्यते ॥१२७॥

अनेन चात्र श्रोतॄणामपूर्वदर्शनात् संमोहो मा भूत्,—इति बाह्याहोरात्रगतप्राणचारसंख्यासाजात्यमुद्भावितम् । तदुक्तम्

'विंशतिस्तु सहस्राणि सहस्रं षट्शताधिकम् ।
अहोरात्रास्तु षष्टचब्दे संख्यातास्तु वरानने ॥'
(स्व० ७।१३६)

इति ॥१२७॥

नन्वेवं तिथिविभाजनेऽस्य किं प्रयोजनम्,—इत्याशङ्क्याह

प्रहराहर्निशामासऋत्वब्दरविषष्टिगः ।
यश्छेदस्तत्र यः सन्धिः स पुण्यो ध्यानपूजने ॥१२८॥

अब्दरवीत्यब्दद्वादशकं 'छेदः' समाप्तिः, 'संधिः' संध्या । अयमत्राशयः—

यन्नाम हि नित्यनैमित्तिकादि बाह्ये प्रयत्नशतैरपि पुरुषायुषेण निष्पत्तिं यायात् न वा, तदन्तरेकस्मिन्नेव प्राणचारे प्रहराहर्निशादिक्रमेण क्षणमात्रमवधानात्सुखमेव योगिनः सिध्येदिति। यदुक्तम्

'चन्द्रसूर्योपरागे च पक्षमासायनेषु च।
'युगादिषु युगान्तेषु यच्च संवत्सरेऽथथ॥
वर्षद्वादशके चैव षष्ट्यब्देऽथ वरानने।
स्नानदानेन यत्रैश्च पूजाहोमजपेन च॥
'ध्यानयोगतपोभिश्च बाह्ये कालेऽथ यत्कृतम्।
अमुनोक्ते वरारोहे तत्फलं लभते महत्॥
प्राणहंसगतिं चारे ज्ञात्वैकस्मिस्तु तद्व्रजेत्।'
(स्व० ७।१४०)

इति। यदभिप्रायेणैवाह

'या अग्निहोत्राहुतयः सहस्रद्वासप्ततिः स्युः पुरुषायुषेण।
नाड्यंशयुक्त्या सकृदाशु जुह्वत् संपादयेद्यस्तव मार्गवित्सः॥'

इत्याद्यन्यैरुक्तम्। ननु भवतु नामैतद्यदन्तः क्षणमवधानमात्राद्योगिनो जन्मकृत्यं सिद्ध्येदिति, इदं तु न नः प्रतिभाति यदन्तःप्राणचारे नालिकाद्यब्दान्तं क्रमेणाभिधाय द्वित्रिचतुरब्दादिक्रमव्यतिक्रमेण निष्कारणमेव द्वादशाब्दाद्यभिहितमिति। तत्रापि द्वादशानामेवाब्दानामुदयो न त्रयोदशानां, षष्टिरेव न पुनरेकोनषष्टिरिति, तदधिकस्य चोदयानाभिधानमिति न किंचिदत्र निमित्तमुत्पश्यामः,—इति किमेतदिति न जानीमः। अत्रोच्यते—इह तावद्योगिनां प्राणे जिते सत्येतद्भवेत् न त्वन्यथा, प्राणजयश्च योगशास्त्राद्युक्त्या क्रमेणैव भवेत्; अत एव तत्र 'क्रामेदजितां मात्राम्' इत्याद्युक्तम्। ततश्चात्र तुट्यादिक्रमेणैव यथायथं तारतम्यादब्दपर्यन्तं तदुदय उक्तः। एवं जितप्राणः कश्चिद्योगी यदि क्रममपहाय तत्र द्वादशानामब्दानामुदयमनुसंदध्यात्, तत्तस्य निमित्ततामियात् अत्यन्तमेव प्राणस्य जितत्वात्; न चेह ज्योतिःशास्त्रवत् संवत्सराणां क्रमः कश्चिद्विवक्षितो येनास्यातिक्रमः स्यात्; यावता हि जितप्राणे योगी यन्नाम तत्रानुसंधत्ते तत्तस्य साक्षात्कृतं भवेत्,—इत्यभिधानीयं, तच्चैवमस्तु नैवं वा को विशेषः। न चात्र योगिनां प्राणं जेतुं किंचिदपेक्षान्तरमस्ति येन क्रमोऽवश्यस्वीकार्यः स्यात्। न च सहसैवात्यन्तं विदूरेऽप्यनुसन्धानं कार्यम्,-इत्यन्तरा सोपानकल्पतया द्वादशाब्दोदय उक्तः।

एवं षष्टयब्दोदयेऽपि वाच्यम्। तस्माद्यथांशांशिकाक्रमेण विषं भक्षयन् कश्चिज्जीर्णविषः सन् अक्रमेण बह्वपि विषं भक्षयन् जरयेदेवमिहापि ज्ञेयम्। एतदेव च तदधिकस्याप्युदयानभिधाने निमितम्। एवं परां काष्ठां प्राप्तो योगी यत्किंचित्तत्रानुसंदध्यात् तदेव साक्षात्कुर्यात्---इत्यानन्त्यात्कियदन्यदभिधीयते इति। न ह्यतोऽधिकेनोक्तेन किंचित्प्रयोजनान्तरमुत्पश्यामः। यदुक्तमनेनान्यत्र

'न षष्ट्यब्दोदयादधिकं परीक्ष्यते आनन्त्यात्।'

(तं. सा० ६ आ०)

इति। यत्पुनरन्यत्र विंशत्यधिकोत्तराब्दशतोदयोऽप्युक्तस्तदप्येवं प्रदर्शनपरमेवेत्येकस्मिन्नेव प्राणचारे कल्पोऽप्यनुपसंहितः साक्षात्कृतो भवेदेव को नामात्र विरोधः। यत्तु द्वादशानामेवाब्दानां षष्टेरेव वा कथमभ्युदयोऽभिहितः,—इत्युक्तं तद्यद्यपि शिशपाचोद्यं तदन्याभिधानेऽप्येवंचोद्यावकाशात्, तथापि अत्यन्तमेवापूर्वार्थदर्शनेन श्रोतॄणामत्र संमोहो मा भूत्,—इति कारुण्याद्भगवता प्राच्यगणनाक्रमसजातीयमेवैतदुक्तमिति न कश्चिद्दोषः ॥१२८॥

एवमन्तः कालस्य स्वरूपं निरूप्य बहिरपि निरूपयति

इति प्राणोदये योऽयं कालः शक्त्येकविग्रहः।
विश्वात्मान्तःस्थितस्तस्य बाह्यं रूपं निरूप्यते ॥१२९॥

प्राणोदय इत्यर्थादपानोदयेऽपि विश्वात्मत्वे हेतुः 'शक्त्येकविग्रह' इति॥

तदेवाह

षट् प्राणाश्चषकस्तेषां षष्टिर्नाली च तास्तथा।
तिथिस्तास्त्रिंशता मासस्ते द्वादश तु वत्सरः ॥१३०॥
अब्दं पित्र्यस्त्वहोरात्र उदग्दक्षिणतोऽयनात्।
पितॄणां यत्स्वमानेन वर्षं तद्दिव्यमुच्यते ॥१३१॥
षष्ट्यधिकं च त्रिशतं वर्षाणामत्र मानुषम्।

तथेति षष्टिरेव। स्वमानेनेति मानुषात्मकस्वकाहोरात्रकल्पनयेत्यर्थः। यत्पित्र्यं वर्षं तदेव दिव्यमुच्यते, येन पितॄणां देवानामप्यहोरात्रादि समान-

मेवेति भावः। तस्य च पित्र्यस्य दिव्यस्य वा वर्षस्य कियन्मानमित्युक्तं 'मानुषं षष्ट्यधिकं वर्षशतत्रयम्' इति ॥१३१॥

एतदेव विभजति

तच्च द्वादशभिर्हत्वा माससंख्यात्र लभ्यते ॥१३२॥
तां पुनस्त्रिंशता हत्वाहोरात्रकल्पना वदेत् ।
हत्वा तां चैकविंशत्या सहस्रैः षट्शतेन च ॥१३३॥
प्राणसंख्यां वदेत्तत्र षष्ट्याद्यब्दोदयं पुनः ।

तदिति, दिव्यं वर्षं 'द्वादशभिर्हत्वा, इति द्वादशभिर्विभज्य, तेनात्र मानुषवर्षत्रिंशदात्मा द्वादशो भागो मासः। तामिति, माससंख्यां 'त्रिंशता हत्वा' त्रिंशद्धा कृत्वा, तेनात्र मानुषवर्षात्मा त्रिंशो भागो दिव्योऽहोरात्रः। तामिति, मानुषषष्ट्यधिकशतत्रयदिनात्मिकामहोरात्रकल्पनाम् 'एकविंशत्या सहस्रैः षट्शतेन च हत्वा' इति तथात्वेन भागशः कृत्वेत्यर्थः। एवं हि प्रति मानुषीं नालिकां दिव्यः प्राणचारो भवेदिति भावः। एवमविशिष्टैव सर्वत्र प्रत्यहं प्राणचारे संख्येत्याख्यातं स्यात्। तत्रेति प्राणसंख्यायां, पुनरित्यादावि-वेत्यर्थः ॥१३३॥

नन्वन्ये पित्र्यमेव वर्षं देवानां दिनमित्युक्तवन्तस्तत्कथमिह तयोः साम्य-मुक्तं, किमत्र किंचित्साधकं प्रमाणमस्ति ? इत्याशङ्क्याह

उक्तं च गुरुभिः श्रीमद्रौरवादिस्ववृत्तिषु ॥१३४॥

तदेव पठति

देवानां यदहोरात्रं मानुषाणां स हायनः ।
शतत्रयेण षष्ट्या च नृणां विबुधवत्सरः ॥१३५॥

पित्र्यं दिनं मानुषाणां हायन इत्यविवादः। देवानामप्येवमित्युक्तेरनयोः साम्यमेव,—इत्यर्थासिद्धम्। नृणामित्यत्र हायनानामिति शेषः॥

न केवलमेतद्गुरुभिरेवोक्तं यावदागमोऽप्येवमेव,—इत्याह

श्रीमत्स्वच्छन्दशास्त्रे च तदेव मतमीक्ष्यते ।
पितृणां तदहोरात्रमित्युपक्रम्य पृष्ठतः ॥१३६॥
एवं दैवस्त्वहोरात्र इति ह्यैक्योपसंहृतिः ।

पृष्ठत इति पश्चात् । यदुक्तं यत्र

'दक्षिणं चायनं रात्रिरुत्तरं चायनं दिनम् ।
पितृणां तदहोरात्रमनेनाब्दस्तु पूर्ववत् ॥
एवं दैवस्त्वहोरात्रस्तत्राप्यब्दादि पूर्ववत् ।'

(स्व० ११।२०८)

इति ॥१३६॥

एवं पित्र्यं वर्षं देवानां दिनमिति यदन्यैरुक्तं तदयुक्तमेव,—इत्याह

तेन ये गुरवः श्रीमत्स्वच्छन्दोक्तिद्वयादितः ॥१३७॥
पित्र्यं वर्षं दिव्यदिनमूचुर्भ्रान्ता हि ते मुधा ।

'भ्रान्ता' इत्यत्र हेतुः 'उक्तिद्वयादितः' इति पितृणामित्येण्योक्तिः, एवं दैव इति द्वितीया, आदिशब्दाद्गुरुवृत्तिकारोक्तिः ॥१३७॥

इदानीमेतदुपजीवनेनैव युगादिव्यवस्थामप्याह

दिव्यार्काब्दसहस्राणि युगेषु चतुरादितः ॥१३८॥
एकैकहान्या तावद्भिः शतैस्तेष्वष्ट संधयः ।
चतुर्युगैकसप्तत्या मन्वन्तरस्ते चतुर्दश ॥१३९॥
ब्रह्मणोऽहस्तत्र चेन्द्राः क्रम यान्ति चतुर्दश ।

'अर्का' द्वादश । युगेषु चतुर्ष्वपि चतुरादित एकैकहान्येत्येषां विभागः; तेन कृते चत्वारि सहस्राणि, त्रेतायां त्रीणि, द्वापरे द्वे, कलावेकम्,—इति दिव्यानां वर्षाणां दशसहस्राणि चतुर्षु युगेषु मानम् । अवशिष्टस्य सहस्रद्वयस्य विभागमाह 'तावद्भिरित्यादिना' । तावद्भिश्चतुस्त्र्यादिभिरेवाष्ट सन्धय इति चतुर्णां युगानामाद्यन्तयोर्भावात्, उभयमीलनया तु चत्वारः । एवं कलेरन्तगं शतं कृतस्यादौ चत्वारि शतानीति कलिकृतयुगसंध्या पञ्च शतानि एवं कृतत्रेतयोः संध्या सप्तशतानि, त्रेताद्वापरयोः पञ्च, द्वापरकलियुगयोस्त्रीणि गणयित्वा सहस्रद्वयम्,—इत्युभयतो दिव्यं वर्षसहस्रद्वादशकं चतुर्युगम् । तदुक्तम्

'द्वादशाब्दसहस्राणि विज्ञेयं तु चतुर्युगम् ।
चतुर्भिस्तु कृतं देवि सहस्रैस्तु यथाक्रमम् ॥

त्रेता त्रेता त्रिभिर्देवि द्वाभ्यां वै द्वापरः स्मृतः ।
सहस्रेणैव वर्षाणां विज्ञेयस्तु कलिः प्रिये ॥'

(स्व० ११।२१०)

इति । तथा

'शतानि चत्वारि कृते त्वादिरन्तश्च कीर्त्यते ।
त्रेते शतत्रयं ज्ञेयं द्वापरे तु शतद्वयम् ॥
कलौ चापि शतं ज्ञेयं संध्यामानदिदं स्मृतम् ।'

(स्व० ११।२१२)

इति । त इति मन्वन्ताः । तत्रेति ब्राह्मेऽह्नि, चतुर्दशेति तेन प्रतिमन्वन्तरमेकैक इन्द्रः संहारं यातीत्यर्थः । तदुक्तम्

'दिनेनैकेन ब्राह्मेण इन्द्राश्चैव चतुर्दश ।
राज्यं कृत्वा क्रमाद्यान्ति मन्वन्तरव्यवस्थया ॥'

(स्व० ११।२२९)

इति । अत एवानेन संहारचित्रताया अप्यवकाशो दत्तः ॥१३९॥

तदाह

ब्रह्माहोऽन्ते कालवह्नेर्ज्वाला योजनलक्षिणी ॥१४०॥
दग्ध्वा लोकत्रयं धूमात्तऽन्यत्प्रस्वापयेत्त्रयम् ।

लोकत्रयमिति, निरयेभ्यः प्रभृति भुर्भुवःस्वःपर्यन्तमित्यर्थः । यदुक्तम्

'सा दहेन्नरकान्देवि पातालनि समन्ततः ।
त्रींल्लोकांश्चैव दहति भूर्भुवःस्वःपदान्तकान् ॥'

(स्व० ११।२३७)

इति । अन्यदिति, महोजनस्तपःसंज्ञम् ॥१४०॥

ननु सर्वेषां भुवनेश्वराणामधोऽध एव सर्वत्र सृष्टिसंहारकारित्वं श्रूयते, वक्ष्यते च पुरस्तात्तदिदं पुनः कस्मादन्यथोक्तम्,—इत्याशङ्क्याह

निरयेभ्यः पुरा कालवह्नेर्व्यक्तिर्यतस्ततः ॥१४१॥
विभुरधःस्थितोऽपीश इति श्रीरौरवं मतम् ।

अस्य खलु निरयेभ्यः पूर्वं सृष्टिरिति तदधोऽवस्थानं न तु तदपकर्षात्,

अतश्च तदधःस्थितोऽपि विभुर्व्यापकत्वादूर्ध्वमपि संहारादौ स्वामीत्यर्थः । न चैतदस्माभिः स्वोपज्ञमेवोक्तमित्याह 'इति श्रीरौरवं मतम्' इति । तदुक्तं तत्र

'नरकाणामधः पूर्वं व्यक्तिरस्योपजायते ।
सर्वस्थानोऽपि संस्तस्मादधःस्थ इव लक्ष्यते ॥'

इति ॥१४१॥

न केवलमेवं विश्वमास्ते यावदेकार्णवीभावेऽपि,––इत्याह

ब्रह्मनिःश्वासनिर्धूते भस्मनि स्वेदवारिणा ॥१४२॥
तदीयेनाप्लुतं विश्वं तिष्ठेत्तावन्निशागमे ।

ननु यद्येवं तत्तदा तेषां भुवनानामीश्वरास्तद्वासिनो वा जीवाः कुत्रासते ? इत्याशङ्क्याह

तस्मिन्निशागमे सर्वे पुद्गलाः सूक्ष्मदेहगाः ॥१४३॥
अग्निवेगेरिता लोके जने स्युर्लयकेवलाः ।
कूष्माण्डहाटकाद्यास्तु क्रीडन्ति महदालये ॥१४४॥

'सूक्ष्मदेहगाः' पुर्यष्टकरूपाः । तुशब्दो व्यतिरेके । अत एव क्रीडन्तीत्युक्तम् ॥१४४॥

निशाक्षये पुनः किं स्यात्,––इत्याशङ्क्याह

निशाक्षये पुनः सृष्टिं कुरुते तामसादितः ।

तामसादित इति, यदुक्तम्

'प्रथमं तामसीं सृष्टिं करोति तमसोत्कटाम् ।'
(स्व० ११।२४)

इत्युपक्रम्य

'तमोरजःसमावेशान्मानवान्स सृजेत्पुनः ।
रजःसत्त्वसमाविष्टः सृजेन्मुनिवरेश्वरान् ॥
गतनिद्रः प्रबुद्धः स सत्त्वाविष्टो जगत्पतिः ।
सृजेद्देवान्सलोकांश्च पूर्वयैव व्यवस्थया ॥'
(स्व० ११।२६)

इति ॥

एवं प्रत्यहं कुर्वतो मन्वन्तराष्टाविंशत्यात्मकाहोरात्रकलनया स्वकवर्ष-शतान्तेऽस्य संहारः,—इत्याह

स्वकवर्षशतान्तेऽस्य क्षयस्तद्वैष्णवं दिनम् ॥१४५॥
रात्रिश्च तावतीत्येवं विष्णुरुद्रशताभिधाः ।
क्रमात्स्वस्वशतान्तेषु नश्यन्त्यत्राण्डलोपतः ॥१४६॥

एतदेव यथोत्तरमतिदिशति 'तदित्यादिना'। तद्ब्राह्मं वर्षशतम्। 'अण्डलोपतः' इत्यण्डलोपमवधिं कृत्वा, तेन तन्नाशाद्ब्रह्माण्डोऽपि नश्यतीत्यर्थः। तदुक्तम्

'विष्णोश्च तद्दिनं प्रोक्तं रात्रिर्वै तत्समा भवेत् ।
अनेन परिमाणेन तस्याब्दं तु विधीयते ॥
वर्षाणां च शते पूर्णे सोऽपि याति परे लयम् ।
विष्णोरायुर्यदेवोक्तं रुद्रस्यैतद्दिनं प्रिये ॥'
(स्व० ११।२६३)

इति ।

'वत्सराणां शते पूण शतरुद्रदिनक्षयात् ।
सोऽपि याति परं स्थानं······ ॥' (स्व० ११।२७१)

इति ।

शतरुद्राश्च देवेशि स्वाब्दानां तु शतात्यये ।
ते प्रयान्ति परं तत्त्वं ततोऽण्डं च विनश्यति ॥'
(स्व० ११।२७३)

इति च। अण्डनाशाच्च कालाग्निरुद्रस्यापि नाशः,—इत्यर्थसिद्धम्। यदुक्तम्

'ततः कालाग्निरुद्रश्च कालतत्त्वे लयं व्रजेत्।'
(स्व० ११।२७७)

इति ॥१४६॥

अव्यक्तान्तमपीयमेव व्यवस्था,—इत्याह

अबाद्यव्यक्ततत्त्वान्तेष्वित्थं वर्षशतं क्रमात् ।

दिनरात्रिविभागः स्यात् स्वस्वायुःशतमानतः ॥१४७॥

एवं व्यवस्थयाव्यक्तस्थानां कियन्मानं दिनं भवेत्,--इत्याशङ्क्याह

ब्रह्मणः प्रलयोल्लाससहस्रैस्तु रसाग्निभिः ।
अव्यक्तस्थेषु रुद्रेषु दिनं रात्रिश्च तावती ॥१४८॥

रसाग्निभिरिति, षट्त्रिंशता । ब्रह्मण इति, बुद्धितत्त्वस्थस्य न तु सत्यलोकस्थस्य; नहि तदायुष्कलनयैतत्कलयितुमेव शक्तमिति भावः । तेन बुद्धितत्त्वस्थस्य ब्रह्मणो गुणतत्त्वशतरुद्रदिनान्ते संहारस्तद्दिनारम्भे च सृष्टिः,--इति तदीयेऽह्नि तस्य सषष्टिशतत्रयं प्रलयोल्लासा भवन्ति, ते च शतेन गुणिताः षट्त्रिंशत्सहस्रसंख्याका भवेयुरित्युक्तं 'रसाग्निभिः प्रलयोल्लाससहस्रैरिति तावद्गुणपरीमाण च गुणतत्त्ववासिनां रुद्राणामायुर्यदव्यक्तस्थानां दिनमित्युक्तम् 'अव्यक्तस्थेषु दिनं रात्रिश्च तावती' इति । यदुक्तम्

'षट्त्रिंशत्तु सहस्राणि ब्रह्मणां प्रलयोद्भवाः ।
अव्यक्ते च दिनं प्रोक्तं रुद्राणां तन्निवासिनाम् ॥'
(स्व० ११।२८९)

इति । अस्याश्च व्यवस्थायाः शक्तितत्त्वान्तमविशेषेऽप्यव्यक्तान्तमेवमतिदेशस्येदमेव प्रयोजनं यदत्र गुणतत्त्ववर्तिरुद्रायुरपेक्षया दिनमानस्य संख्यानैयत्यमुत्पन्नमिति ॥१४८॥

अत्र च सृष्टिसंहारादौ कस्याधिकारः,--इत्याशङ्क्याह

तदा श्रीकण्ठ एव स्यात्साक्षात्संहारकृत्प्रभुः ।
सर्वे रुद्रास्तथा मूले मायागर्भाधिकारिणः ॥१४९॥
अव्यक्ताख्ये ह्याविरिञ्चाच्छ्रीकण्ठेन सहासते ।

साक्षान्न तु विरिञ्चादिमुखेन, यतस्तदानीं विरिञ्चात्प्रभृति प्रकृतिगर्भाधिकारिणः सर्वं एव तत्तद्भुवनेश्वररूपा रुद्रा अव्यक्ताख्ये मूले प्रकृतितत्त्वे श्रीकण्ठेन सहासते, अर्थाच्छ्रीकण्ठनाथमेव नायकतया प्रधानीकृत्य तिष्ठन्तीत्यर्थः । यदुक्तम्

'प्रजाः प्रजानां पतयः पितरो मानवैः सह ।
सांख्यज्ञानेन ये सिद्धा वेदेन ब्रह्मवादिनः ॥

छन्दःसामानि चोङ्कारो बुद्धिस्तद्देवताः प्रिये।
अह्नि तिष्ठन्ति ते सर्वे परमेशस्य धीमतः ॥'

इति ॥१४९॥

ननु

'महाकल्पस्य पर्यन्ते ब्रह्मा याति परे लयम्।'

(स्व० ११। २६१)

इत्याद्युक्त्या तस्य परशिवे लय उक्तस्तत्कथमसावास्ते,—इत्याशङ्क्याह

निवृत्ताधःस्थकर्मा हि ब्रह्मा तत्राधरे धियः ॥१५०॥
न भोक्ता ज्ञोऽधिकारे तु वृत्त एव शिवीभवेत्।
स एषोऽवान्तरलयस्तत्क्षये सृष्टिरुच्यते ॥१५१॥

यद्यसाववृत्तपरशक्तिपातस्तद्बुद्ध्यधोनिवृत्तकर्मतया भोगाभावात्तत्र भोक्ता न भवेत्,—इत्यत्रैवास्ते, अन्यथा पुनर्यदि ज्ञानी साक्षात्कृतात्मतत्त्वः स्यात् अधिकारनिवृत्त्यनन्तरं स 'शिवीभवेत्' तदैकात्म्येनैव प्रस्फुरेदित्यर्थः। एवमन्येषामपि ज्ञेयम्। अवान्तरलय इति, ब्रह्माण्डलयस्योक्तत्वात्प्रकृत्यण्डलयस्य च वक्ष्यमणत्वात् ॥१५१॥

नन्वत्र

'बुद्धितत्त्वे स्थिता बौद्धा गुणेष्वप्यार्हताः स्थिताः।
स्थिता वेदविदः पुंसि त्वव्यक्ते पाञ्चरात्रिकाः ॥'

इत्याद्युक्त्या केचिदात्मानो मुक्ताः संभवन्ति, केचिच्च बद्धास्तत्कथमविशेषेणैवोक्तं 'तत्क्षये सृष्टिरुच्यते' इति, नहि मुक्तात्मनां पुनः संसृतिः स्यात्,—इत्याशङ्क्याह

सांख्यवेदादिसंसिद्धाञ्छ्रीकण्ठस्तदहर्मुखे।
सृजत्येव पुनस्तेन न सम्यङ्मुक्तिरीदृशी ॥१५२॥

इदानीं पूर्वोक्तयैव नीत्या यथोत्तरं वृद्धिक्रमेण दिनादिव्यवस्थामतिदेशद्वारेण दर्शयति-'प्रधाने' इत्यादिना 'सामनसे पदे' इत्यन्तम्

प्रधाने यदहोरात्रं तज्जं वर्षशतं विभोः।
श्रीकण्ठस्यायुरेतच्च दिनं कञ्चुकवासिनाम् ॥१५३॥

तत्क्रमान्नियतिः कालो रागो विद्या कलेत्यमी ।
यान्त्यन्योन्यं लयं तेषामायुर्गाहनिकं दिनम् ॥१५४॥
तद्दिनप्रक्षये विश्वं मायायां प्रविलीयते ।
क्षीणायां निशि तावत्यां गहनेशः सृजेत्पुनः ॥१५५॥
एवमव्यक्तकालं तु परार्धैर्दशभिर्जहि ।
मायाहस्तावती रात्रिर्भवेत्प्रलय एष सः ॥१५६॥
मायाकालं परार्धानां गुणयित्वा शतेन तु ।
ऐश्वरो दिवसो नादः प्राणात्मात्र सृजेज्जगत् ॥१५७॥
तावती चैश्वरी रात्रिर्यत्र प्राणः प्रशाम्यति ।

अहोरात्रमिति, गुणतत्त्ववर्तिरुद्रायुरपेक्षया ब्राह्मप्रलयोल्लासद्वासप्तति-सहस्रसंख्याकम् । तज्जमिति, षष्ट्यधिकेन शतत्रयेण गुणयित्वा इत्यर्थः । एतदिति, वर्षशतपरीमाणं श्रीकण्ठीयमायुः । कञ्चुकवासिनामित्यर्थान्नियति-तत्त्वस्थानां वामदेवादीनां न तु कालतत्त्वादिगतानामपि; तदपेक्षया हि कालतत्त्वादौ यथोत्तरं वृद्ध्यादिव्यवस्था संभवेत्, अत एव 'क्रमादन्योन्यं लयं यान्ति' इत्युक्तम् । आगमोऽप्येवं

'ततो नियतिकालौ च रागो विद्या कला तथा ।
परस्परं लयं यान्ति क्रमात्सर्वे स्वमानतः ॥'
(स्व० ११।२९२)

इति । तेषामिति, कलातत्त्वस्थानां महादेवादीनां न तु सर्वेषां कञ्चुक-वासिनां; तथात्वे हि गाहनिकं दिनमव्यक्तकालसंख्यामपेक्ष्य पञ्चदशस्था-नावस्थितेन दशगुणेन परार्धेन वक्ष्यमाण गुणनं सङ्गतिमियात् । तत्सर्वेषामेव कञ्चुकवासिनां यथोत्तरमायुषो वृद्ध्या गाहनिकस्य दिनस्यानवच्छिन्नसंख्या-प्रतिपादनार्थमेवं वक्ष्यमाणं सङ्गच्छते,--इत्यलं बहुना । गणना तु ग्रन्थ-विस्तरभयान्न लिखिता,--इति स्वयमेवाभ्यूह्या । तावत्यामिति, वक्ष्यमाण-दिनसमानायाम् । जहीति गुणयेत्यर्थः यदुक्तम्

'प्राधानिकपरार्धेन दशधा गुणितेन च ।
माया संहरते सर्वं पुनश्चैव सृजेज्जगत् ॥

मायाकालपरार्धस्य शतधा गुणितस्य च ।
ईश्वरः कुरुते सृष्टिं संहरेच्च पुनः सृजेत् ॥
स्व० ११।२९७)

इति। अनेन चात्रोत्तरोत्तरं कालः प्रकृष्यते,--इत्युक्तं स्यात्; एवमुत्तरत्रापि ज्ञेयम् । 'नाद' इति बहिरुन्मेषरूपतया नदनस्वभाव ईश्वरः । प्राणात्मेति, प्राणप्रमातृत्वात् । प्रशाम्यतीति अत ऊर्ध्वं प्राणस्य प्राधान्याभावात्, विश्वमिति तस्याप्यहन्तायां विश्रान्तेः ॥१५७॥

न केवलमत्र नादात्मनः प्राणस्यैव प्रशमो यावद्बिन्द्वाद्यात्मिकायाः संविदोऽपि भविष्यति,--इत्याह

प्राणगर्भस्थमप्यत्र विश्वं सौषुम्नवर्त्मना ॥१५८॥
प्राणे ब्रह्मबिले शान्ते संविद्याप्यत्र शिष्यते ।
अंशांशिकातोऽप्येतस्याः सूक्ष्मसूक्ष्मतरो लयः ॥१५९॥
गुणयित्वैश्वरं कालं परार्धानां शतेन तु ।
सादाशिवं दिनं रात्रिर्महाप्रलय एव च ॥१६०॥
सादाशिवः स्वकालान्ते बिन्द्वर्धेन्दुनिरोधिकाः ।
आक्रम्य नादे लीयेत गृहीत्वा सचराचरम् ॥१६१॥
नादो नादान्तवृत्त्या तु भित्त्वा ब्रह्मबिलं हठात् ।
शक्तितत्त्वे लयं याति निजकालपरिक्षये ॥१६२॥
एतावच्छक्तितत्त्वे तु विज्ञेयं खल्वहर्निशम् ।
शक्तिः स्वकालविलये व्यापिन्यां लीयते पुनः ॥१६३॥
व्यापिन्या तद्दिवारात्रं लीयते साप्यनाश्रिते ।
परार्धकोट्या हत्वापि शक्तिकालमनाश्रिते ॥१६४॥
दिनं रात्रिश्च तत्काले परार्धगुणितेऽपि च ।
सोऽपि याति लयं साम्यसंज्ञे सामनसे पदे ॥१६५॥

महाप्रलय इति, शुद्धाध्वनोऽपि संहरणात् । तदुक्तम्

'ततः सदाशिवो देवः स्वमानेन च संहरेत् ।

सृजते च पुनर्भूय आत्मीये देव्यहर्मुखे ॥
महाप्रलय एवोक्तः सादाख्ये तु दिनक्षये ।'
(स्व० ११।२९८)

इति ।

'बिन्दुं चैवार्धचन्द्रं च भित्त्वा चैव निरोधिकाम् ।
नादतत्त्वे लयं याति गृहीत्वा सचराचरम् ॥'
(स्व० ११।३००)

इति । नादानवृत्येति, नादान्तभूमिकामासाद्येत्यर्थः । यदुक्तम्

'नादः सौषुम्नमार्गेण भित्त्वा ब्रह्मबिलं प्रिये ।
शक्तितत्त्वे लयं याति शक्तितत्त्वदिनक्षये ॥'
(स्व० ११।३०१)

इति । एतावदिति, सदाशिवायुःसंख्यातम् । तदिति, यः शक्तिलयकालः । परार्धकोट्येति, यदुक्तम्

'शक्तिकालपरार्धस्य कोटिधा गुणितस्य तु ।
अनाश्रितस्य देवस्य दिनमेकं प्रकीर्तितम् ॥'
(स्व० ११।३०२)

सोऽपित्यनाश्रितः तदुक्तम्

'अनेन परिमाणेन परार्धगुणितेन च ।
सोऽपि याति परं स्थानं कारणं समनाश्रयम् ।'
(स्व० ११।३०४)

इति ॥ १६५ ॥

नन्वेयं समनाया अपि लयः कस्मान्नोच्यते,—इत्याशङ्क्याह

स कालः साम्यसंज्ञः स्यान्नित्योऽकल्यः कलात्मकः ।
यत्तत्सामनसं रूपं तत्साम्यं ब्रह्म विश्वगम् ॥१६६॥

यतः स विश्वकलनाकारी कालः समनाख्या येयं कला शक्तिस्तदात्मकोऽत एव नित्यो, न ह्यस्याः समनाख्यायाः शक्तेर्महाप्रलयेऽपि नाशः—इत्याशयः । यदभिप्रायेणैयान्यैः 'शंभुः पुरुषो माया नित्यम्' इत्याद्युक्तम् । अत एव पृथिव्यादेरनाश्रितान्तस्य विश्वस्याभेदात्मना साम्येनावस्थाना-

त्साम्यशब्दाभिधेयः, अत एव भेदप्रथाया अभावात् 'अकल्यः' कलयितुमशक्य इत्यर्थः। शक्त्यन्तं हि विश्वसंहारे वृत्ते सकलोऽयमणुवर्गः संभूय समनायामेवास्ते,—इत्याह 'यत्तत्सामनसं रूपं तद्विश्वगं साम्यम्' इति। न चैवमपि भेदवादिवदिदं परस्माद्ब्रह्मणोऽतिरिक्तमित्युक्तं 'ब्रह्म' इति, परब्रह्मरूपमित्यर्थः। तदुक्तम्

'स कालः साम्यसंज्ञश्च जन्ममृत्युभयापहः।
तस्याप्यूर्ध्वममेयस्तु कालः स्यात्परमावधिः॥
नित्यो नित्योदितो देवि अकल्यश्च न कल्यते।'
(स्व० ११।२४६)

इति॥ १६६॥

न केवलमत्र प्रलयावसरे विश्वस्यावस्थानमेव यावत्सृष्टिर (ष्टाव) पि,—इत्याह

अतः सामनसात्कालान्निमेषोन्मेषमात्रतः।
तुट्यादिकं परार्धान्तं सूते सैवात्र निष्ठितम्॥१६७॥

निमेषोन्मेषमात्रत इति, सदाशिवेश्वरदशामधिशयानादित्यर्थः। यदुक्तम्

'स चाधः कलयेत्सर्वं व्यापिन्याद्यं धरावधि।
तुट्यादिभिः कलाभिश्च देव्यध्वानं चराचरम्॥'
(स्व० ११।३०७)

इति। अत एव चान्यैरस्मच्छास्त्रप्रक्रियामजानानैः 'शक्त्यन्तं महाप्रलये वृत्ते सकलोऽयमणुवर्गः प्रलयान्त ऊर्ध्वोर्ध्वमवस्थितेरभिधानात्परिशिष्टं शिवतत्त्वमेवासादयेत्। तदासादनमेव च मुक्तिः; तदक्रमेण सर्वेषामनायासमेव सा सिद्ध्येदिति किं शास्त्रानुष्ठानादिना' इत्यादि यच्चोदितं तदुत्थानोपहतमेव। न हि शक्त्यन्तं प्रलयेऽप्येषां शिवतत्त्व एवावस्थानं समनायामेवमभिधानात्

'समनान्तं वरारोहे पाशजालमनन्तकम्।'
(स्व० ४।४२९)

इत्याद्युक्त्या तदन्तं च बन्ध एव,—इति को नाम तत्र मुक्तेरवकाशः। न चैवमपि शंभुवत्समनाया अपि नित्यत्वादभेदवादक्षतिर्भेदमेवाधिकृत्य

सृष्टिप्रलयादिव्यवहारस्योत्थानात्; वस्तुतः पुनरभेदवादचर्या प्रतिपदमिह दर्शिता दर्शयिष्यते च,--इत्यलं बहुना ॥ १६७ ॥

एवमुक्तवक्ष्यमाणपरिमाणोपयोगिन्याः संख्यायाः क्रमेण रूयं दर्शयति

दशशतसहस्रमयुतं लक्षनियुतकोटि सार्बुदं वृन्दम् ।
खर्वनिखर्वे शंखाब्जजलधिमध्यान्तमथ परार्धं च ॥१६८॥

अब्जेति पद्मं, जलधीति सागरः ॥ १६८ ॥

नन्वेवमवस्थानमेषां कथं स्यात् ? इत्याशङ्क्याह

इत्येकस्मात्प्रभृति हि दशधा दशधा क्रमेण कलयित्वा ।
एकादिपरार्धान्तेष्वष्टादशसु स्थितिं ब्रूयात् ॥१६९॥

यदुक्तम्

'एकं दशगुणं पूर्वं शतं दशगुणं तु तत् ।
शतं दशगुणं कृत्वा सहस्रं परिकीर्तितम् ॥
सहस्रं दशधा चैवमयुतं तद्धि कीर्तितम् ।
दशायुतानि लक्षं तु नियुतं दश तानि तु ॥
दश तानि च कोटिः स्याद्दश कोटयस्तदर्बुदम् ।
अर्बुदैर्दशभिर्वृन्दं खर्वं दशभिरेव तैः ॥
दशभिस्तन्निखर्वं तु शङ्कुः स्याद्दश तानि तु ।
शङ्कुभिर्दशभिः पद्मं दश पद्मानि सागरः ॥
सागरैर्दशभिर्मध्यमन्तस्तैर्दशभिः स्मृतः ।
अन्तं दशाहतं कृत्वा परार्धं तु प्रकीर्तितम् ॥
एवमष्टादशैतानि स्थानानि गणितस्य तु ।'

इति ॥ १६९ ॥

एवमत्र सृष्टिप्रलयानामानन्त्येऽपि गौणमुख्यभावं दर्शयितुमाह

चत्वार एते प्रलया मुख्याः सर्गाश्च तत्कलाः ।
भूमूलनैशशक्तिस्थास्तदेवाण्डचतुष्टयम् ॥१७०॥

मुख्या इत्यवान्तराणामनन्तानां प्रलयानां सर्गाणां चात्रैवान्तर्भावात् ।

'तत्कला' इति तेषां प्रलयानां सर्गाणां च 'कलाः' पृथिव्यादिभेदचतुष्टय-रूपा अंशा इत्यर्थः ॥ तदेवेति, भूमूलादि । तदुक्तम्

'निजशक्तिवैभवभरादण्डचतुष्टयमिदं विभागेन ।
शक्तिर्माया प्रकृतिः पृथ्वी चेति प्रभावितं प्रभुणा ॥'
(प० सा० ४ श्लो०)

इति ॥ १७० ॥

अत्रैव स्रष्टृसंहर्तृविभागमपि दर्शयति

कालाग्निर्भुवि संहर्ता मायान्ते कालतत्त्वराट् ।
श्रीकण्ठो मूल एकत्र सृष्टिसंहारकारकः ॥१७१॥
तल्लयो वान्तरस्तस्मादेकः सृष्टिलयेशिता ।
श्रीमानघोरः शक्त्यन्ते संहर्ता सृष्टिकृच्च सः ॥१७२॥

संहर्ता न पुनः स्रष्टा तद्धि ब्रह्मादीनामेव हि पूर्वमुक्तं, कालतत्त्वराडिति कालतत्त्वाधिपः श्रीकण्ठः । यदुक्तम्

'एकवीरः शिखोदश्च श्रीकण्ठः कालमाश्रितः ।'
(मा० वि० ५।२७)

इति । श्रीकण्ठ इत्यव्यक्तस्थः । एकत्रेपि त्रिष्वपि योज्यम् । तल्लय इति श्रीकण्ठकर्तृकः संहारः । यद्वा त्रिष्वपि पृथिव्यादिषु स्थानेषु परापररूप-तामधिशयानः श्रीकण्ठनाथ एककः सृष्टिसंहारकारकः । यदुक्तम्

'श्रीकण्ठ एव परया मूर्त्या कालाग्निरुच्यते ।'

इति । तथा

'त्रिष्वेव संस्थितो रुद्रः कालरूपी महेश्वरः ।'

इति । 'शक्त्यन्त' इति शुद्धाध्वनि । तदुक्तम्

'तदूर्ध्वे शुद्धमध्वानं यावच्छक्त्यन्तगोचरम् ।
तत्सर्वं संहरेद्घोरमघोरो घोरनाशनः ॥'

इति ॥ १७२ ॥

न केवलं शक्त्यन्तं प्रलयस्यैव महत्त्वं यावत्सृष्टेरपीत्याह

तत्सृष्टौ सृष्टिसंहारा निःसंख्या जगतां यतः ।
अन्तर्भूतास्ततः शाक्ती महासृष्टिरुमाहृता ॥१७३॥

ननु पृथिव्यादितत्त्वप्रलये यैव तन्निवासिनामणूनां व्यवस्था सैव किं तत्त्वेश्वरणां न वा ? इत्याशङ्क्याह

लये ब्रह्मा हरी रुद्रशतान्यष्टकपञ्चकम् ।
इत्यन्योन्यं क्रमाद्यान्ति लयं मायान्तकेऽध्वनि ॥१७४॥
मायातत्त्वलये त्वेते प्रयान्ति परमं पदम् ।

शुद्धाध्वव्यवस्थितानां पुनः किं परमं पदम् ? इत्याशङ्क्याह

मायोर्ध्वे ये सिताध्वस्थास्तेषां परशिवे लयः ॥१७५॥
तत्राप्यौपाधिकाद्भेदाल्लये भेदं परे विदुः ।

तत्रापीति, परशिवे । परे विदुरिति, न पुनरस्माकमिदं मतमित्याशयः ॥ १७५ ॥

नन्वेवमपवृक्तेषु पुनः सृष्टौ तत्र केषामधिकारः ? इत्याशङ्क्याह

एवं तात्त्वेश्वरे वर्गे लीने सृष्टौ पुनः परे ॥१७६॥
तत्साधकाः शिवेष्टा वा तत्स्थानमधिशेरते ।

तत्साधका इति

'लोकधर्मिणमारोप्य मते भुवनभर्तरि ।'

इत्यादिना निरूपिताश्चर्यादिक्रमेण प्रेप्सिततत्तद्भुवनैश्वर्याः । शिवेष्टा इति, तदिच्छामात्रानुगृहीता ॥ १७६ ॥

नन्वेवमप्येषां ब्रह्मादिशब्दप्रवृत्तौ किं निमित्तम् ? इत्याशङ्क्याह

ब्राह्मी नाम परस्यैव शक्तिस्तां यत्र पातयेत् ॥१७७॥
स ब्रह्मा विष्णुरुद्राद्या वैष्णव्यादेरतः क्रमात् ।

'अत' इति शक्तेः । तदुक्तम्

'ब्राह्मी च वैष्णवी शक्तिरधिकारपदं गता ।
यं चाधितिष्ठत्यात्मानं तत्संज्ञां स प्रपद्यते ॥

तदाधिकारं कुरुते इच्छया परमात्मनः ।'

(स्व० ११।२६५)

इति ॥ १७७ ॥

ननु ब्राह्मी नाम यदि शिवस्यैव शक्तिस्तत्कथमसावन्यं यायाद्येनायं ब्रह्मेत्युच्यते, न ह्यन्यदीयधर्मस्यान्यत्रान्वयः संभवेत् ? इत्याशङ्क्याह

शक्तिमन्तं विहायान्यं शक्तिः किं याति नेदृशम् ॥१७८॥
छादितप्रथिताशेष शक्तिरेकः शिवस्तथा ।

न ह्येतच्छिवलक्षणं शक्तिमन्तं विहायान्यं ब्रह्मादिलक्षणं शक्तिर्याति' इत्येवंविधमुक्तं, किंत्वनन्तशक्तिखचितत्वेऽपि कांचिच्छक्तिं प्रच्छाद्य कांचिच्च प्रकटीकृत्यैक एव शिवस्तथा ब्रह्मविष्ण्वाद्यात्मनावभासत इति ॥ १७८ ॥

ननु प्राणस्य परं तत्त्वं प्रत्युपायत्वमस्तीति प्रागुपक्रान्तं तत्तदनभिधाय तदाश्रयेण सृष्टिसंहारादीनामेव स्वरूपमुच्यते,--इति किमेतत् ? इत्याशङ्क्याह

एवं विसृष्टिप्रलयाः प्राण एकत्र निष्ठिताः ॥१७९॥
सोऽपि संविदि संविच्च चिन्मात्रे ज्ञेयवर्जिते ।
चिन्मात्रमेव देवी च सा परा परमेश्वरी ॥१८०॥
अष्टात्रिंशं च तत्त्वं हृदयं तत्परापरम् ।

संविदीति, तत्तन्नीलाद्याभाससंभिन्नायां परिमितात्मरूपायाम् । चिन्मात्रमेव चाष्टात्रिंशं तत्त्वमित्येतदग्र एवोपपादयिष्यते,--इति नेहायस्तम् । तत्स्थितमेवास्य चिन्मात्रविश्रान्तत्वं यद्वशादेवात्र नालिकादिषष्टयब्दोदयान्तं लयोदययोर्वैचित्र्यमिति ॥ १८० ॥

तदाह

तेन संवित्त्वमेवैतत्स्पन्दमानं स्वभावतः ॥१८१॥
लयोदया इति प्राणे षष्टयब्दोदयकीर्तनम् ।

संवित्त्वमिति, ये नाम लयोदयास्तत्संवित्स्वातन्त्र्यम्,--इत्येवं संविद-

धीनमेव सर्वमेतत्कालीयं वैचित्र्यं, न पुनरस्वाधीनं किंचिद्रूपं बहिरस्तीत्युक्तं स्यात् ॥ १८१ ॥

अत आह

इच्छामात्रप्रतिष्ठेयं क्रियावैचित्र्यचर्चना ॥१८२॥
कालशक्तिस्ततो वाह्ये नैतस्या नियतं वपुः ।

नैतस्या नियतं वपुरिति, तथात्वे हि यत्रैकचषकोदयस्तत्रैवाब्दोदयः कथं भवेदिति भावः ॥ १८२ ॥

ननु कथमति परिमितस्यापि कालांशस्य वैतत्येनावभासो भवेत् ? इत्याशङ्क्याह

स्वप्नस्वप्ने तथा स्वप्ने सुप्ते संकल्पगोचरे ॥१८३॥
समाधौ विश्वसंहारसृष्टिक्रमविवेचने ।
मितोऽपि किल कालांशो विततत्वेन भासते ॥१८४॥

यत्राद्यां स्वाप्नीमेव दशां जाग्रद्दशात्वेन परिकल्प्य द्वितीयां स्वप्नत्वेन कश्चिदभिमन्यते स स्वप्न स्वप्नउच्यते । एवं स्वप्ने क्षणेनैव हरिश्चन्द्रस्येवानेककालिकोऽप्यनुभवोऽभवदिति युक्तमुक्तं मितेऽपि काले वैतत्येनावभासः' इति 'सुप्ते' इति सुषुप्तदशायाम्ः तत्र हि क्षणमात्रमपि मोहादौ 'चिरस्य गाढमूढोऽहमासम्' इत्याद्यभिमानोदयः । 'सङ्कल्पगोचरे' इति स्वतन्त्रविकल्पादौः तत्र हि क्षणेनैव कल्पपरिकल्पनमपि शक्यम् । 'समाधौ' इति विश्वसाक्षात्कारात्मनि । विश्वसंहारसृष्टिक्रमस्य 'विवेचने' समनन्तरोक्तकालीयप्रमेयसंकलनाबुद्धावित्यर्थः

एतच्च कालीयं वैतत्यं स्वपरदृष्टत्वेनापि वैचित्र्यमियात्,—इत्याह

प्रमात्रभेदे भेदेऽथ चित्रो विततिमाप्यसौ ।

अन्ये नैतत्स्वप्नादावनुभूतम्,—इति प्रमात्रन्तरैकीकारेण विततिम्नोऽवभासः; मयैवैतदसाधारण्येनानुभूतम्,—इति वा ॥

इदानीं प्राणीयमेव कालविभागमपानेऽप्यतिदिशति

एवं प्राणे यथा कालः क्रियावैचित्र्यशक्तिजः ॥१८५॥
तथापानेऽपि हृदयान्मूलपीठविसर्पिणि ।

यद्यपि द्वादशान्ताद्धृदन्तमपाने कालवैचित्र्यमुक्तं तथापि हृदयान्मत्तगन्धपर्यन्तं प्रसरणेऽस्यैव प्राधान्यमित्येवमुक्तम् । तदुक्तम्

'अपानस्यापि सचारे सर्पितेयं सुविस्तृता ।
गुदं यावत्ततो बायुरधस्तादुपयाति हि ॥'

इति ॥ १८५ ॥

नन्वत्रापि प्राणवत्कालवैचित्र्यं किं संचेत्यते न वा ? इत्याशङ्क्याह

मूलाभिधमहापीठसङ्कोचप्रविकासयोः ॥१८६॥
ब्रह्माद्यनाश्रितान्तानां चिनुते सृष्टिसंहृती ।

'रासभी वडवा यद्वत्' (तं० ५।५८) इत्यादिप्रायुक्तयुक्त्या जन्माधारोदितायाः शक्तेर्यौ सङ्कोचविकासौ तौ ब्रह्माद्यनाश्रितान्तस्य विश्वस्य सृष्टिसंहारादौ योगिनामनुभवसिद्धावित्युक्तं 'चिनुते सृष्टिसंहृती' इति ॥ १८६ ॥

ननु यद्येवं तत्सर्वत्र प्रणोदय एव प्राधान्येनैतत्कस्मान्निर्दिष्टम् ? इत्याशङ्क्याह

शश्वद्यद्यप्यपानोऽय मित्थं वहति किंत्वसौ ॥१८७॥
अवेद्ययत्नो यत्नेन योगिभिः समुपास्यते ।

ननु यद्यत्र ब्रह्मादीनां कारणानां सृष्टयादि संभवेत् तत्कुत्र कस्यावस्थानम् ? इत्याशङ्क्याह

हृत्कन्दानन्दसंकोचविकासद्वादशान्तगा ॥१८८॥
ब्रह्मादयोऽनाश्रितान्ताः सेव्यन्तेऽत्र सुयोगिभिः ।

'द्वादशान्तः' शक्तेरुदयविश्रान्तिस्थानम् । सुयोगिभिरित्यन्तःप्राणे सावधानैर्न सामान्यैस्तेषामपानस्यावेद्ययत्नतया तत्सेवनस्य यत्नसाध्यत्वत् ॥ १८८ ॥

ननु व्यापकत्वादेषां स्वरसत एव सर्वत्रावस्थानं सिद्धमित्यत्र विशेषाभिधाने किं प्रयोजनम् ? इत्याशङ्क्याह

एते च परमेशानशक्तित्वाद्विश्ववर्तिनः ॥१८९॥
देहमप्यश्नुवानास्तत्कारणानीति कामिके ।

तत्कारणानीति, तस्य देहस्य कारणानि तत्तदधिष्ठानद्वारेणोत्पत्तिनिमित्तमित्यर्थः ॥ १८९ ॥

कामिकीयमेव ग्रन्थं पठति

बाल्ययौवनवृद्धत्वनिधनेषु पुनर्भवे ॥१९०॥
मुक्तौ च देहे ब्रह्माद्याः षडधिष्ठानकारिणः ।

तद्बाल्ये ब्रह्मणोऽधिष्ठानकारित्वं, यावन्मुक्तावनाश्रितस्येति ॥ १९० ॥

नन्वस्मद्दर्शने मुक्तेः किमनाश्रिताधिष्ठानं युक्तम् ? इत्याशङ्क्याह

तस्यान्ते तु परा देवी यत्र युक्तो न जायते ॥१९१॥
अनेन ज्ञातमात्रेण दीक्षानुग्रहकृद्भवेत् ।

अन्त इति यदुक्तम्

'षट्त्यागात्सप्तमे लयः ।' (स्व० ४।२६७ ।

इति । 'युक्त' इत्यर्थाद्गुरुणा योजितः ॥ १९१ ॥

नन्वपानस्य कालवैचित्र्याभिधाने प्रक्रान्ते किमनेनोपदिष्टेन ? इत्याशङ्क्याह

समस्तकारणोल्लासपदे सुविदिते यतः ॥१९२॥
अकारणं शिवं विन्देद्यत्तद्विश्वस्य कारणम् ।

हेये हि सुष्ठु ज्ञाते सुखमुपादेये विश्रान्तिर्भवेदितिभावः ॥ १९२ ॥

ननु प्राणक्रमेण 'द्वादशान्ते परः शिवः' इत्याद्युक्त्या तत्तत्कारणोल्लङ्घनेन तत्र शिवे विश्रान्तिः स्यादिह पुनः सा कुत्र यत्रैवं स्यात् ? इत्याशङ्क्याह

अधोवक्त्रं त्विदं द्वैतकलङ्कैकान्तशातनम् ॥१९३॥
क्षीयते तदुपासायां येनोर्ध्वाधरडम्बरः ।

यत्र नामापानस्य विश्रान्तिस्तदिदं द्वैतकलङ्कापहम् 'अधोवक्त्रं' षष्ठस्रोतोरूपं योगिनीवक्त्रमित्युच्यते; यतोऽग्रमद्वैतार्थोपदेशिनां रहस्यशास्त्राणामुदयो, येन द्वैतापहतत्वेन हेतुना तत्र विश्रान्तिभाजाम् 'ऊर्ध्वाधरडम्बरः' शाम्येत् चिदानन्दैकघनपरशिवैकात्म्यमुल्लसेदित्यर्थः ॥ १९३ ॥

नन्वत्रैवं विश्रान्तिः किं प्राणवत्तुट्यादि क्रमेणैव भवेदुतान्यथापि ? इत्याशङ्क्याह

अत्रापानोदये प्राग्वत्षष्टयब्दोदययोजनाम् ॥१९४॥
यावत्कुर्वीत तुट्यादेर्युक्ताङ्गुलविभागतः ।

युक्तं तुट्यनुगुणमङ्गुलविभागमाश्रित्य तुट्यादेरारभ्य षष्टयब्दोदय-योजनां यावत् प्राग्वदत्रापानोदयेऽर्थाद्योजनां कुर्वीत, येनैवं विश्रान्तिः स्यात् ॥ १९४ ॥

न केवलमेतदपाने यावत्समानेऽपि इत्याह

एवं समानेऽपि विधिः स हि हार्दीषु नाडिषु ॥१९५॥
संचरन्सर्वतोदिक्कं दशधैव विभाव्यते ।

हार्दिषु, हृदि तासामभिव्यक्तेः, वस्तुतस्त्वासां नाभेरुदयः । यदुक्तम्

'नाभ्यधो मेढ्रकन्दे च स्थिता वँ नाभिमध्यतः ।
तस्माद्विनिर्गता नाड्यस्तिर्यगूर्ध्वमधः प्रिये ॥
चक्रवत्संस्थितास्तत्र प्रधाना दश नाडयः ।' (स्व० ७।८)

इति । समानस्यापि मुख्यया वृत्त्या नाभिरेव स्थानम् । यदुक्तम्

'हृद्गुदे नाभिकण्ठे च सर्वसन्धौ तथैव च ।
प्राणाद्याः संस्थिता ह्येते.................. ॥' (स्व० ७।३०१)

इति ॥ १९५ ॥

नन्वेवं व्यपदेशस्य किं निमित्तम् ? इत्याशङ्क्याह

दश मुख्या महानाडीः पूरयन्नेष तद्गताः ॥१९६॥
नाड्यन्तराश्रिता नाडीः क्रामन्देहे समस्थितिः ।

मुख्या इति प्रधानाः । तदुक्तम्

'इडा च पिङ्गला चैव सुषुम्ना च तृतीयिका ।
गान्धारी हस्तिजिह्वा च पूषा चैवार्यमा तथा ॥
अलम्बुसा कुहूश्चैव शङ्खिनी दशमी स्मृता ।
एताः प्राणवहाः प्रोक्ताः प्रधाना दश नाडयः ॥' (स्व० ७।१६)

इति । 'तद्गताः' इति तद्भेदरूपद्वासप्ततिसहस्रसंख्याकाः । नाड्यन्तरेति, तदुपभेदरूपाणि । यदुक्तम्

'द्वासप्ततिसहस्राणि नाड्यस्ताभ्यो विनिर्गताः ।
पुनर्विनिर्गताश्चान्या आभ्योऽप्यन्याः पुनः पुनः ॥'
(स्व० ७।९)

इति । अत एव देहे समननात्समाननामायमित्युक्तं समस्थितिः' इति ॥ १९६ ॥

ननु यदि नामायं दश नाडीराक्रम्य वर्तते तावतास्य किमायातं येन दशधात्वमुच्यते ? इत्याशङ्क्याह

अष्टासु दिग्दलेष्वेष क्रामंस्तद्दिक्पतेः क्रमात् ॥१९७॥
चेष्टितान्यनुकुर्वाणो रौद्रः सौम्यश्च भासते ।

तद्दिक्पतेरिति, इन्द्रादेः । चेष्टितानीति, स्तम्भादिरूपाणि । रौद्रो याम्यादौ, सौम्यश्च वारुण्यादौ: अत एव पुंसां प्रतिक्षणं क्रोधहर्षाद्याविर्भावः । यदुक्तम्

'पद्मस्याष्टदलस्येत्थं तन्मध्ये भोगभुक्सदा ।
संस्थितः सर्वगोऽप्यस्मात्कारणात्सुप्रतीयते ॥
येनाशु विषयान्दृष्टवा विचारयति सादरम् ।
शोकः क्रोधो विषादो वा विस्मयस्ताप एव च ॥
हर्षो वाप्यथ संचिन्त्य हृदयेनैव भाव्यते ।'

इति ॥ १९७ ॥

एवमस्य शर्वत्र साम्येनावस्थानेऽपि मुख्यया वृत्त्या नाडीत्रय एव चार,--इत्याह

स एव नाडीत्रितये वामदक्षिणमध्यगे ॥१९८॥
इन्द्वर्काग्निमये मुख्ये चरस्तिष्ठत्यहर्निशम् ।

नाडीत्रितये इति, इडापिङ्गलासुषुम्नात्मके । यदुक्तम्

'दक्षिणे तु स्थितः सूर्यो वामे सोमो विजायते ।
पाके प्रकाशकत्वे च मध्यस्थश्चैव पावकः ॥'
(स्व० ७।५२)

इति यदुक्तम्

'दशानां तु परं देवि नाडीत्रयमुदाहृतम् ।
बिन्दुनादात्मिके द्वे वै मध्ये शक्त्यात्मिका स्मृता ॥'

इति ॥

नन्वत्र कथमसावहर्निशं चरन्नास्ते ? इत्याशङ्क्याह

सार्धनालीद्वयं प्राणशतानि नव यत्स्थितम् ॥१९९॥
तावद्वहन्नहोरात्रं चतुर्विंशतिधा चरेत् ।

'षट्प्राणाश्चषकस्तेषां षष्टिर्नाली तथा तिथिः ।'

इत्याद्युक्त्या बाह्यायां घटिकायामन्तः प्राणचाराणां सषष्टिशतत्रयमुदियात्, इति बाह्येन सार्धेन घटिकाद्वयेन नवशतानि वहन् षष्टिघटिकात्म बाह्यमहोरात्रं चतुर्विंशतिभिः प्रकारैरर्थात् स एव समानश्चरेत्, येनात्र सषट्शतसहस्रैकविंशत्यात्मकप्राणचाराश्रयेण चतुर्विंशतिः संक्रान्तीनामुदियात् । यदुक्तम्

'चतुर्विंशतिसंक्रान्त्यः समधातोः स्वभावतः ।
शतानि नव वै हंस एकामेकां वहेत्सदा ॥'

(स्व० ७।१६८)

इति ।

'बाह्ये चैव त्वहोरात्रे अध्यात्मं तु वरानने ।
चतुर्विंशतिसंक्रान्तीः प्राणहंसस्तु संक्रमेत् ॥
अहनि द्वादश प्रोक्ता रात्रौ वै द्वादश स्मृताः ।'

(स्व० ७।१६६)

इति च ॥ १९९ ॥

एतदेव विभजते

विषुवद्वासरे प्रातः सांशां नालीं स मध्यगः ॥२००॥
वामेतरोदक्सव्यान्यैर्यावत्संक्रान्तिपञ्चकम् ।
एवं क्षीणासु पादोनचतुर्दशसु नालिषु ॥२०१॥
मध्याह्ने दक्षविषुवन्नवप्राणशतीं वहेत् ।

दक्षोदगन्योदग्दक्षैः पुनः संक्रान्तिपञ्चकम् ॥२०२॥
नवासुशतमेकैकं ततो विषुवदुत्तरम् ।
पञ्चके पञ्चकेऽतीते संक्रान्तेर्विषुवद्बहिः ॥२०३॥

यद्वत्तथान्तः सङ्क्रान्तिर्नवप्राणशतानि सा ।

'विषुवद्वासरे' रात्रिन्दिनसाम्यात्मनि मेषसंक्रान्तिदिने प्रातः सार्धशतचतुष्टयप्राणचारात्मिकां सचतुर्भागां घटिकां मध्यगःसौषुम्नमार्गावस्थितः सन् स समानस्तावद्वामेतरोदक्सव्यान्यैर्वामदक्षनाड्योः प्रत्येकं सार्धं नालीद्वयं पञ्चधा गमागमैश्चरेत् यावद्वृषादिकन्यान्तं संक्रान्तिपञ्चकं भवेत्, येन सभागत्रयासु त्रयोदशसु घटिकासु व्यतीतासु मध्यनाड्यां मध्याह्नसमये दक्षविषुवत्तुलासंक्रान्तिर्नवप्राणशतीं वहेत्, सार्धं घटिकाद्वयमुदियादित्यर्थः । ततोऽपि दक्षोदगन्योदग्दक्षैर्दक्षवामनाड्योः समानस्य पञ्चधा गमागमैः पुनरेकैकं नवासुशतं प्रत्येकं सार्धं नालीद्वयं वृश्चिकादिमीनान्तं संङ्क्रातिपञ्चकमुदेतीत्यर्थः । तदनन्तरं च मध्यनाड्यां सायमुत्तरं मेषसङ्क्रान्तिरूपं विषुवत् प्राग्वत्सार्धशतचतुष्टयप्राणचारात्म सचतुर्भागैकघटिकोदयं भवेद्येन त्रिंशद्घटिकात्मनि दिने सङ्क्रान्तिद्वादशकमुदियात् । तत्र सङ्क्रान्तीनामेकादशकमखण्डम्, एका तु सायंप्रातरर्धाधिकया, तस्य चार्धद्वयस्य पक्षसन्धिवद्रात्रीयार्धद्वयसंमेलनेऽप्यखण्डत्वम्, इति सायंप्रातरुत्तर विषुवद्द्वयंमध्याह्नार्धरात्रयोश्च दक्षविषुवद्द्वयमिति । यद्वक्ष्यति

'रात्र्यन्तदिनपूर्वांशौ मध्याह्नो दिवसक्षयः ।
स शर्वर्युदयो मध्यमुदक्तो विषुतेदृशी ॥'
(तं० ६।२०४)

इति । एतच्च दक्षविषुवद्दिनोदयाभिप्रायेण

'दक्षिणादुत्तरं याति उत्तराद्दक्षिणं यदा ।
दक्षिणोत्तरसंक्रान्तिः सा चैवं संविधीयते ॥
दक्षिणस्यां यदा नाड्यां संक्रामेत्तु यदोत्तरम् ।
यावदर्धं तु तत्रस्थं मध्येनोत्तरतो वहेत् ॥
तावत्तु विषुवत्प्रोक्तमुत्तरं तूत्तरायणे ।
उत्तराद्दक्षिणायां तु संक्रामन्स वरानने ॥

यावदर्धं वहेत्तत्र अर्धं दक्षिणतो वहेत् ।
विषुवद्दक्षिणं तावद्दक्षिणायनजं प्रिये ॥'
(स्व० ७।१६३)

इत्यादि श्रीस्वच्छन्दशास्त्रेऽभिहितम् । न चान्तरपूर्वं एवायं संक्रान्तीनामुदय इत्याह 'पञ्चक' इत्यादि । संङ्क्रान्तिरिति, विषुवद्रूपा । 'नव प्राणशतानि सा' इत्यनेन यथोक्तमेव मानं स्मारितम् ॥ २०३ ॥

एतदेवान्यत्राप्यतिदिशति

एवं रात्रावपीत्येवं विषुवद्दिवसात्समात् ॥२०४॥
आरभ्याहर्निशावृद्धिह्राससङ्क्रान्तिगोऽप्यसौ ।

इत्येवं बाह्येनाहोरात्रेण संक्रान्तिचतुर्विंशतेरुदयादि सर्वं समात्त्रिंशद्घटिकाद्विषुवद्दिवसादारभ्योक्तम्, अन्यथा ह्यहर्निशयोर्वृद्धिह्रासौ न स्यातां, संक्रान्तिष्वपि चयापचयाभ्याम् अहनि द्वादश संक्रान्तयो रात्रौ च, इत्येवं विभागनियमो नोक्तः स्यात् ॥ २०४ ॥

अत्र च विषुवत्संक्रान्तीनां विभागं स्फुटयति

रात्र्यन्तदिनपूर्वांशौ मध्याह्नो दिवसक्षयः ॥२०५॥
स शर्वर्युदयो मध्यमुदक्तो विषुतेदृशी ।

मध्यमित्यर्थाच्छर्वर्याः । 'उदक्तः' इति उत्तराद्विषुवत आरभ्येत्यर्थः । यदुक्तम् ।

'पूर्वाह्ने विषुवत्त्वेकं मध्याह्ने तु द्वितीयकम् ।
तृतीयं चापराह्ने वै अर्धरात्रे चतुर्थकम् ॥
चतुर्धा विषुवत्प्रोक्तमहोरात्रेण मुक्तिदम् ।'
(स्व० ७।१६७)

इति ॥ २०५ ॥

नन्वासां चतसृणां संक्रान्तीनामेवं व्यपदेशे किं निमित्तम् ? इत्याशङ्क्याह

व्याप्तौ विषेर्यतो वृत्तिः साम्यं च व्याप्तिरुच्यते ॥२०६॥
तदर्हति च यः कालो विषुवत्तदिहोदितः ।

वृत्तिरिति, 'विष्लृ व्याप्तौ' इति पाठात्। 'अर्हति' इत्यर्हेऽर्थे वतेः प्रयोगात् ॥ २०६ ॥

ननु विषवत्संक्रान्तौ यद्येवं नियमस्तत्तदितरासु का व्यवस्था ? इत्याशङ्क्याह

विषुवत्प्रभृति ह्रासवृद्धी ये दिनरात्रिगे ॥२०७॥
तत्क्रमेणैव संक्रान्तिह्रासवृद्धी दिवानिशोः ।

तत्क्रमेणेति, रात्रिदिनवृद्धिह्रासपरिपाठ्या ।

तेन पञ्चत्रिंशद्घटिके दिने चतुर्दश संक्रान्तयः, पञ्चविंशतिघटिकायां रात्रौ दशेति ॥ २०७ ॥

तदेवोपसंहरति

इत्थं समानमरुतो वर्षद्वयविकल्पनम् ॥२०८॥
चार एकत्र नह्यत्र श्वासप्रश्वासचर्चनम् ।

वर्षद्वय इति, संक्रान्तिचतुर्विंशतेरुदयात् । एकत्रेति, न तु प्राग्वत्प्राणापानात्मनि चारद्वये ॥२०८॥

ननु किमत्र वर्षद्वयमेवोदियादुतान्यदपि ? इत्याशङ्क्याह

समानेऽपि तुटेः पूर्वं यावत्षष्ट्यब्दगोचरम् ॥२०९॥
कालसंख्या सुसूक्ष्मैकचारगा गण्यते बुधैः ।

सुसूक्ष्मत्वे हेतुः 'एकचारगा' इति। पूर्वं हि तुट्याद्युदयश्चारद्वये प्रोक्तः--इत्येतदपेक्षया तत्र स्थौल्यं संभाव्यमिति भावः ॥ २०९ ॥

नन्वत्राप्येवं विभागेन कोऽर्थ ? इत्याशङ्क्याह

संध्यापूर्वाह्नमध्याह्नमध्यरात्रादि यत्किल ॥२१०॥
अन्तःसंक्रान्तिगं ग्राह्यं तन्मुख्यं तत्फलोदितेः ।

एतदुपसंहरन्नन्यदवतारयति

उक्तः समानगः काल उदाने तु निरूप्यते ॥२११॥

तदेवाह

प्राणव्याप्तौ यदुक्तं तदुदानेऽप्यत्र केवलम् ।
नासाशक्त्यन्तयोः स्थाने ब्रह्मरन्ध्रोर्ध्वधामनी ॥२१२॥
तेनोदानेऽत्र हृदयान्मूर्धन्यद्वादशान्तगम् ।
तुटयादिषष्टिवर्षान्तं विश्वं कालं विचारयेत् ॥२१३॥

यदि परमत्रानयोः प्राणोदानयोरियान्विशेषो यत्प्राणस्य ब्रह्मरन्ध्रवर्तिनासिवयद्वादशान्तमुदयस्थानमस्य तु ऊर्ध्वधामवर्तिशक्तिद्वादशान्तमिति । तेनेति, शक्तिद्वादशान्तं यावदुदानव्याप्तेः ॥ २१३ ॥

नन्वेवं कालीयो विभागः किं व्याने संभवेन्न वा ? इत्याशङ्कयाह

व्याने तु विश्वात्ममये व्यापके क्रमवर्जिते ।
सूक्ष्मसूक्ष्मोच्छलद्रूपमात्रः कालो व्यवस्थितः ॥२१४॥

सूक्ष्मसूक्ष्मेति, स्पन्दमात्रात्मेत्यर्थः । अत्रैव विश्वात्ममयत्वादिविशेषणद्वारेण हेतुत्रयम्: अत एव चास्य व्यापकत्वात्मना विशेषेणाननाद्व्यानत्वम् ॥ २१४ ॥

एषां च क्रमेण सृष्टयादिपञ्चकृत्यकारित्वमस्ति,—इत्याह

सृष्टिः प्रविलयः स्थेमा संहारोऽनुग्रहो यतः ।
क्रमात्प्राणादिके काले तं तं तत्राश्रयेत्ततः ॥२१५॥

तं तमिति, प्राणादिकम् । तत्रेति, सृष्टयादिकारित्वे ॥ २१५ ॥

एवं प्राणे चारमानादि सर्वमभिधाय तदानन्तर्येणानुजोद्देशोद्दिष्टं वर्णोदयं वक्तुमुपक्रमते

प्राणचारेऽत्र यो वर्णपदमन्त्रोदयः स्थितः ।
यत्नजोऽयत्नजः सूक्ष्मः परः स्थूलः स कथ्यते ॥२१६॥

इह तावत्प्राणचारे वर्णानां पदानां मन्त्राणां चोदय इति स्थितम् । स तु द्विधा स्वारसिकः प्रायत्निकश्चेति । तत्राद्यो वर्णानां तेषां नैयत्येन सर्वत्रैवाविशेषात्; द्वितीयस्तु पदानां मन्त्राणां च, ते हि वर्णवदपरिगणितत्वादनियताः, इति योगीच्छानिबन्धन एवैषामुदयः । यो हि यस्याभिप्रेतो

मन्त्रादिः स तस्योदयं कारयेत्; अतश्च परेच्छाधीनत्वादेषां प्रायत्निक एवोदयः, स च समनन्तराह्निके प्रतिपादयिष्यते। यद्वक्ष्यति

'इत्ययत्नजमाख्यातं यत्नजं तु निगद्यते।' (तं० ७।२)

इति ॥ २१६ ॥

इह पुनर्वर्णोदय एवायत्नजः परसूक्ष्मस्थूलात्मतया त्रिप्रकारोऽभिधीयते। तत्र परस्यापि वर्णोदयस्य तरतमभावेन द्वैविध्यमिति परतमं तदुदयमभिधातुमुपक्रमते

एको नादात्मको वर्णः सर्ववर्णाविभागवान्।
सोऽनस्तमितरूपत्वादनाहत इहोदितः ॥२१७॥

इह खल्वेक एव सर्ववर्णसामान्यात्मा सततोच्चरद्रूपत्वादनाहतशब्दाभिधेयो नादात्मको वर्ण 'उदितः' सततमेवोदयमान आस्त इत्यर्थः ॥ २१७ ॥

स एव च परमुपेयः,--इत्याह

स तु भैरवसद्भावो मातृसद्भाव एष सः।
परा सैकाक्षरा देवी यत्र लीनं चराचरम् ॥२१८॥

द्वितीयं परतरमपि एषामुदयमभिधातुमाह

ह्रस्वार्णत्रयमेकैकं त्र्यङ्गुलमथेतरत्।
प्रवेश इति षड्वर्णाः सूर्येन्दुपथगाः क्रमात् ॥२१९॥
इकारोकारयोरादिसन्धौ संध्यक्षरद्वयम्।
एओ इति प्रवेशे तु ऐऔ इति द्वयं विदुः ॥२२०॥
षण्ठार्णानि प्रवेशे तु द्वादशान्तललाटयोः।
गले हृदि च बिन्द्वर्णविसर्गौ परितः स्थितौ ॥२२१॥

त्र्यङ्गुलम्' इति द्वादशाङ्गुलम्; अत एवाकारादेर्ह्रस्वत्रयस्योदयात्प्राणवाहे षट्त्रिंशदङ्गुलानि भवन्ति। इतरदिति, दीर्घत्रयम्। षड्वर्णा इति, अकाराद्यूकारान्ताः। क्रमादिति, सूर्यपथे ह्रस्वानां त्रयमिन्दुपथे च दीर्घाणामिति। आदिसंधाविति, अकारेणाकारेण च 'संधौ' संधिकार्ये कृते सती-

त्यर्थः। अस्यैव संध्यक्षरद्वयस्यादिसंधावितरत्संध्यक्षरद्वयम्। एषां च प्रत्येकमष्टादशाङ्गुलमुदयो येन प्राणापानवाहयोर्व्याप्तिः सिद्धये। प्रवेश इति न तु निर्गमेऽपि। द्वादशान्तेति न तु समचतुर्भागकलनया, तेन द्वादशान्ते ॠकारः, इत्यादिक्रमः। 'परितः' इति सर्वतः। तेन प्राणे बिन्दोः षट्त्रिंशदङ्गुलात्मन्यभ्युदयो विसर्गस्य त्वपाने, द्वयोरपि बिन्दुनादात्मकत्वात् ॥ २२१ ॥

एतदेवान्यत्राप्यतिदिशति

कादिपञ्चकमाद्यस्य वर्णस्यान्त सदोदितम्।
एवं सस्थानवर्णानामन्तः सा सार्णसन्ततिः ॥२२२॥

अन्तरिति, तेन यदेवाकारस्योदयस्थानं तदेव कवर्गस्येति। सस्थानवर्णानामितीकारादीनां सा सेति चवर्गादिका, तदिकारोदयस्थाने चवर्गस्य यकारशकारयोश्चोदय इत्यादिक्रमः ॥ २२२ ॥

ननु सर्वत्रायं नियमः किं संभवेन्न वा? इत्याशङ्क्याह

हृद्येव प्राणरूपस्तु सकारो जीवनात्मकः।
बिन्दुः प्रकाशो हार्णश्च पूरणात्मतया स्थितः ॥२२३॥

यद्यपि सस्थानतया सकारस्य दन्ता उदयस्थानं हकारस्य च कण्ठस्तथापि प्राणात्मजीवनरूपत्वात्सकारो हृद्युदेति हकारश्च प्रकाशात्मकत्वात्सर्वत इति ॥ २२३ ॥

एतदुपसंहरन्नन्यदवतारयति

उक्तः परोऽयमुदयो वर्णानां सूक्ष्म उच्यते।

सूक्ष्मश्च त्रिधेति, तत्र सूक्ष्मसूक्ष्मं तावदुदयमाह

प्रवेशे षोडशौन्मुख्ये रवयः षण्ठवर्जिताः ॥२२४॥
तदेवेन्द्वर्कमत्रान्ये वर्णाः सूक्ष्मोदयस्त्वयम्।

षोडशेति, अपानवाहस्यानन्दप्राधान्यात्; अत एव परोदयेऽप्यपानवाह एव षण्ठवर्णानामुदय उक्तः। 'औन्मुख्ये' इति निर्गमे। तेनापाने प्रत्येकं सचतुर्भागमङ्गुलद्वयमुदयः प्राणे पुनरङ्गुलत्रयमिति। तदेव वर्णानां षोड-

शकं द्वादशकं वावलम्ब्यान्ये सस्थानाः कवर्गाद्या इन्द्वकं प्राणापानविषये समुदयन्ति,—इत्यत्र सूक्ष्मेऽपि वर्णोदये सूक्ष्मोऽयमुदय इत्यर्थः ॥ २२४ ॥

एवं सूक्ष्मसूक्ष्मं वर्णोदयमभिधाय सूक्ष्मस्थूलमप्याह

कालोऽर्धमात्रः कादीनां त्रयस्त्रिंशत उच्यते ॥२२५॥
मात्रा ह्रस्वाः पञ्च दीर्घाष्टकं द्विस्त्रिः प्लुतं तु ॡ ।

दीर्घाष्टकमिति, संध्यक्षरैः सह । द्विरिति, द्विमात्रं, त्रिरिति, त्रिमात्रं, दीर्घाणां च प्लुतत्वेऽपि तन्नोक्तं तस्योच्चारणापेक्षत्वात्; नह्येषां दीर्घत्ववत्प्लुतत्वमपि स्वाभाविकमिति भावः । एवं ॡकारस्यापि प्लुतत्वमेव स्वभावः,— इति दीर्घत्वापरिगणनेन तदेवेहास्य प्राधान्येनोक्तमिति न कश्चिद्दोषः । तेन कादीनां त्रयस्त्रिंशदर्धमात्राः ह्रस्वानां दश, दीर्घाणां द्वात्रिंशत्, प्लुतस्य षडित्येकाशीतिरर्धमात्राणामिति ॥ २२५ ॥

नन्वेवं विभाजने किं प्रमाणम् ? इत्याशङ्क्याह

एकाशीतिमिमामर्धमात्राणामाह नो गुरुः ॥२२६॥

तस्याप्येवमभिधाने क इवाशयः ? इत्याशङ्क्याह

यद्वशाद्भगवानेकाशीतिकं मन्त्रमभ्यधात् ।

यद्वशादिति, अस्याः परस्या मन्त्रमातुरेकाशीतिमात्रासद्भावात् । एकाशीतिकमिति, तावत्संख्याकपदारब्धत्वात् ॥

ननु भगवतो व्योमव्याप्यभिधानेऽप्येतन्निमित्तमित्यत्र किं प्रमाणम् ? इत्याशङ्क्याह

एकाशीतिपदा देवी शक्तिः प्रोक्ता शिवात्मिका ॥२२७॥
श्रीमातङ्गे तथा धर्मसंघातात्मा शिवो यतः ।

शक्तिरिति, व्योमव्यापिरूपा । प्रोक्तेति, श्रीमातङ्गे । यदुक्तं तत्र

'एकाशीतिपदा देवी या सा शक्तिः शिवात्मिका ।'
(म० तं० १।७।३१)

इति । तथा

'मन्त्राश्च शक्तिगर्भस्थाः शक्तिर्वै पारमेश्वरी ।

कालानलान्तमध्वानं शिवाद्व्याप्तं यया मुने ॥
एकाशीतिपदोपेता विद्यापादे मयोदिता ।'
(म० तं०)

इति । नन्वस्या व्योमव्यापिरूपिण्याः पारमेश्वर्याः शक्तेस्तत्तद्रुद्रादिमन्त्रात्मकत्वेऽपि कथं शिवात्मकत्वमपि स्यात् ? इत्याशङ्क्योक्तं 'तथेत्यादि' । यत्तथोक्तेन प्रकारेण धर्माणां

'पत्युर्धर्माः शक्तयस्तु ...... ।' (मत. १।२०)

इत्याद्युक्त्या शक्तीनामेकाशीत्यात्मा यः संघातस्तदात्मा शिवः,—इति सामस्त्येनास्यास्तदात्मकत्वम् । तदुक्तं तत्र

'एकत्रैव समस्तानि एकाशीतिपदानि तु ।
अष्टषष्ट्यधिकं प्रोक्तं वर्णानां तु शतत्रयम् ॥
अर्चा तु देवदेवस्य समस्तव्यस्तरूपिणी ।'

इति ।

'एकोऽपि वर्णो देवानां वाचकः परिकीर्तितः ।
सर्वेऽप्येकस्य युज्यन्ते यतस्ते विश्वमूर्तयः ॥'

इति च ।

न चैतदागमेनैव सिद्धं यावद्युक्तितोऽपि,—इत्याह

तथा तथा परामर्शशक्तिचक्रेश्वरः प्रभुः ॥२२८॥
स्थूलैकाशीतिपदजपरामर्शैर्विभाव्यते !

'शक्तिमतः खलु शक्तिरनन्या इत्याद्युक्तयुक्तत्या वस्तुतः सर्वशक्त्यविभिन्नस्वभावोऽपि 'प्रभुः' परमेश्वरः शिवस्तत्तद्वर्णाख्यत्वात् स्थूलानि यान्येकाशीतिपदानि तज्जा ये प्रणवाद्याः परामर्शास्तैस्तथा तथा सर्वात्मानन्तादितया परामर्शो यस्यैवंविधो यद्रुद्रादिशक्तिचक्रं तस्य 'ईश्वरः' संयोजनवियोजनकारी 'विभाव्यते' एवं यस्य ज्ञप्तिः क्रियते इत्यर्थः । अत एव चात्र सर्वात्मादीनां यावता परामर्शः सिद्ध्येत् तावत्येव पदत्वं, येनैकाशीतित्वं स्यात् ॥ २२८ ॥

तदाह

तत एव परामर्शो यावत्येकः समाप्यते ॥२२९॥
तावत्तत्पदमुक्तं नो सुप्तिङ्नियमयन्त्रितम् ।

नो सुप्तिङ्नियमः, तथात्वे हि

'नमः शिवायेति पदं षडर्णं प्रणवादिकम् ।'

इत्याद्युक्तयैकत्वेऽप्यस्य पदस्य त्रिपदत्वमापतेदिति गणना विसंवदेत् ॥ २२९ ॥

ननु यद्येवं तदेकाशीत्यर्धमात्रात्मिकेयमेव भगवती परा शक्तिरवस्थितेति किमनेनैतत्समव्याप्तिकेन व्योमव्यापिनोपदिष्टेन ? इत्याशङ्क्याह

एकाशीतिपदोदारविमर्शक्रमबृंहितः ॥२३०॥
स्थूलोपायः परोपायस्त्वेष मात्राकृतो लयः ।

'लयः' इति स्वात्ममात्रविश्रान्तिः । 'स्थूलोपायः' इत्यनेनोपदेश्यभेदादुपदेशस्यापि भेदः,—इति प्रकाशितम् ॥ २३० ॥

एवमेतत्प्रसङ्गादभिधाय प्रकृतमेवानुसरति

अर्धमात्रा नव नव स्युश्चतुर्षु यत् ॥२३१॥
अङ्गुलेष्विति षट्त्रिंशत्येकाशीतिपदोदयः ।

प्रत्यङ्गुलचतुष्टयं नवार्धमात्राः,—इत्यङ्गुलषट्त्रिंशदात्मनि प्राणचारेऽर्धमात्राणामेकाशीतिरुदियात् ॥ २३१ ॥

आसां चोदये विभागान्तरमस्ति—इत्याह

अङ्गुले नवभागेन विभक्ते नवमांशकाः ॥२३२॥
वेदा मात्रार्धमन्यत्तु द्विचतुःषड्गुणं त्रयम् ।

एकैकस्मिन्नङ्गुले नवधा विभाजिते षट्त्रिंशतोऽङ्गुलानां सचतुर्विंशतिशतत्रयं मानं भवेत् । भागानां तत्रैकैकस्यार्धमात्रात्मनो व्यञ्जनस्य चत्वारो नव भागा उदयस्थानमित्युक्तं 'नवमांशका वेदाः मात्रर्धम्' इति । अन्यत्पुनर्ह्रस्वदीर्घप्लुतलक्षणं त्रयं द्विचतुःषड्गुणं, ह्रस्वस्यैकमात्रत्वादष्टौ नव भागा उदयस्थानं, दीर्घस्य द्विमात्रत्वात्षोडश, प्लुतस्यत्रिमात्रत्वाच्चतुर्विंशतिः ॥

एतदेव संकलयति

एवमङ्गुलरन्ध्रांशचतुष्कद्वयगं लघु ॥२३३॥

दीर्घं प्लुतं क्रमाद्द्वित्रगुणमर्धं ततोऽपि हल् ।

'रन्ध्रांशानां' नवभागानां 'चतुष्कद्वयम्' अष्टौ नवभागा इत्यर्थः । लघ्विवति, ह्रस्वं 'ततो' लघोरपीत्यर्थः । तेन पञ्चानां ह्रस्वानां प्रत्येकमष्टसु भागेषूदयाच्चत्वारिंशन्नव नव भागा भवन्ति, दीर्घाणामष्टानां प्रत्येकं षोडशभागकलनया साष्टाविंशति शतम् इति । प्लुतस्य चतुर्विंशतिस्त्रयस्त्रिंशतां हलां प्रत्येकं भागचतुष्टयकलनया द्वात्रिंशदधिकं शतमिति । यद्यप्येकाशीतेरर्धमात्राणां प्रत्येकमङ्गुलीयाश्चत्वारो नव भागा उदयस्थानमित्येव स्पष्टमभिधातव्यं, तथाप्येवमभिधानेऽयमाशयः—यदादौ ह्रस्वानामुदयस्तदनन्तरं दीर्घाणां प्लुतस्य व्यञ्जनानां च, इति क्रमः प्रदर्शितो भवेदिति ॥ २३३ ॥

नन्वेतन्मध्ये क्षकारश्चेद्गण्यते तदा कियत्योऽर्धमात्रा अधिकीभवन्ति, तथात्वे वासां कथमुदयः ? इत्याशङ्क्याह

क्षकारस्त्र्यर्धमात्रात्मा मात्रिकः स तथान्तरा ॥२३४॥
विश्रान्तावर्धमात्राऽस्य तस्मिंस्तु कलिते सति ।
अङ्गुलार्धेऽद्रिभागेन त्वर्धमात्रा पुरा पुनः ॥२३५॥
क्षकारः सर्वसंयोगग्रहणात्मा तु सर्वगः ।
सर्ववर्णोदायस्द्यन्तसन्धिषूदयभाग्विभुः ॥२३६॥

कथमस्य त्र्यर्धमात्रात्मकत्वमित्याशङ्क्योक्तं 'मात्रिकः' इत्यादि । ककारसकारात्मकार्धमात्राद्वयारब्धत्वात् । अन्तरा विश्रान्ताविति, ककारान्तरमर्धमात्रीयं कालं विश्रम्य सकारस्योच्चारात् । 'कलिते' इत्येकाशीत्या, तेनार्धमात्राणां चतुरशीतिरिति । 'अद्रि' इति सप्त । अङ्गुलार्धे हि सप्तधा विभक्ते प्रत्यङ्गुलं चतुर्दश भागाः—इति षट्त्रिंशतोऽङ्गुलानां सचतुष्टयं शतपञ्चकं भागानां भवेत् । तेनार्धाङ्गुलीयेषु षट्सु सप्तभागेष्वर्धमात्रेति षट्त्रिंशदङ्गुलात्मनि प्राणचारे चतुरशीतेरर्धमात्राणामुदय इति । नन्वेवमेकाशीतिकलोदयपक्षे क्षकारस्य नास्त्येवोदयःइत्युक्तं स्यादित्यां शङ्क्याह पुरेत्यादि । सर्वसंयोगग्रहणात्मेति, संयोगान्तलक्षणपरत्वात् । यदुक्तं प्राक्

'योनिरूपेण तस्यापि योगे क्षोभान्तरं विदुः ।
तन्निदर्शनयोगेन पञ्चाशत्तमवर्णता ॥' (तं० ३।१८१)

इति। अनुत्तरविसर्गानुप्राणितयोः ककारसकारयोः प्रत्याहारतयोपादाने निखिलस्य वर्णजातस्य, गर्भीकारात्, अत एवायं सर्ववर्णानामादावन्ते परस्परं संमेलनात्मनि संधौ' चोदयभाक्सर्ववर्णानुस्यूततयोदियात्, यतोऽयं विभुः' व्यापक इत्यर्थः ॥ २३६ ॥

नन्वेवं वर्णोदयेनाभिहितेन कोऽर्थ ? इत्याशङ्क्याह

इत्थं षट्त्रिंशके चारे वर्णानामुदयः फले ।
क्रूरे सौम्ये विलोमेन हार्दि यावदपश्चिमम् ॥२३७॥

'वर्णानाम्' इत्यकारादीनां, उदय इत्यर्थाद्धृदयाद्द्वादशान्तम्। 'क्रूरे' इति मुक्तिलक्षणे, 'सौम्ये' इति तत्तत्सिद्ध्यात्मनि भोगलक्षणे। 'विलोमेन' इत्यर्थादपानोदये। विलोममेवाह 'हार्दि यावदपश्चिमम्' इति। तदुक्तम्

'अधः प्रवहणे सिद्धिर्हृत्पद्मं यावदागतः ।
मुक्तिश्चैव भवेदूर्ध्वे परतत्त्वे तु सुव्रते ॥' (स्व० ७।५६)

इति। वस्तुतस्त्वकारस्य हृद्युदयस्थानं, हकारस्य तु द्वादशान्त इति ॥ २३७ ॥

एवमेतदुपजीवनेनैव सूक्ष्मपरमपि वर्णानामुदयमाह

हृद्यकारो द्वादशान्ते हकारस्तदिदं विदुः ।
अहमात्मकमद्वैतं यः प्रकाशात्मविश्रमः ॥२३८॥

अद्वैतमिति, प्रत्याहारक्रमेणाशेषवर्णान्तःकारात्। प्रकाशेति, यदुक्तम्

'प्रकाशस्यात्मविश्रान्तिरहंभावो हि कीर्तितः ।'
(अ० प्र० सि० २२)

इति ॥ २३८ ॥

एतच्चापानोदयेऽप्यतिदेष्टुमाह

शिवशक्त्यविभागेन मातृकाशीतिका त्वियम् ।
द्वासप्तताङ्गुलेषु द्विगुणत्वेन संसरेत् ॥२३९॥

शिवशक्त्योरविभाग इति, बिन्दुनादात्मप्राणापानोभयमेलनायामित्यर्थः। एकाशीतिरित्युपलक्षणं, तेन चतुरशीतिरपि। द्विगुणत्वेनेति, षट्त्रिंशतोऽङ्गुलानाम् ॥ २३९ ॥

एतदुपसंहारन्नन्यदवतारयति

उक्तः सूक्ष्मोदयस्त्रेधं द्विधोक्तस्तु परोदयः ।

अथ स्थूलोदयोऽर्णानां भण्यते गुरुणोदितः ॥२४०॥

अथ इत्यानन्तर्ये । गुरुणोदित इति सर्वशेषः ॥

तत्र वर्गक्रमेण तावद्वर्णानां स्थूलमुदयमाह

एकैकमर्धप्रहरं दिने वर्गाष्टकोदयः ।

रात्रौ च ह्रासवृद्ध्यत्र केचिदाहुर्न केऽपि तु ॥२४१॥

ह्रासवृद्धीति, बाह्यमहोरात्रमपेक्ष्यानपेक्ष्य वा ॥ २४१ ॥

तत्र बाह्याहोरात्रानपेक्षिमते साम्येनैवैषामुदयः,--इत्याह

एष वर्गोदयो रात्रौ दिवा चाप्यर्धयामगः ।

'अर्धयामग' इति, प्रतिवर्गं सार्धचतुरङ्गुलमुदय इत्यर्थः ।

एवं बाह्याहोरात्रानपेक्षिमतमभिधाय तदितरेषामपि दर्शयति

प्राणत्रयोदशशती पञ्चाशदधिका च सा ॥२४२॥

अध्यर्धा किल संक्रान्तिर्वर्गे वर्गे दिवानिशोः ।

सेति प्रागचारीया सार्धत्रयोदशशती । 'अध्यर्धा' इति सार्धा, प्रतिसंक्रान्ति इति सार्धा, प्रतिसंक्रान्ति नवानां प्राणचारशतानामभिधानात् । तेन दिने द्वादशानां संक्रान्तीनामुदयः, इति साष्टशतं सहस्रदशकं प्राणचाराणां भवेत् । रात्रावप्येवं सषट्शतसहस्रैकविंशतिः ॥ २४२ ॥

अहोरात्रमेलनायां पुनः प्रतिसंक्रान्तित्रयमेकैकस्य वर्गस्योदयः--इत्याह

तदैक्ये तूदयश्चारशतानां सप्तविंशतिः ॥२४३॥

एवं प्रागुक्तसंक्रान्तिद्वयवद्बाह्याहोरात्रह्रासवृद्धयनुसारं वर्गाष्टकोदयस्यापि ह्रासवृद्धी भवतः,—इति सिद्धम्, अन्यथा प्रतिवर्गोदयं प्राणचाराणां नैयत्यं न स्यात् ॥ २४३ ॥

ननु क्षकारेण सह नव वर्गाः,--इति येषां मतं तत्रैषामुदये प्राणचाराणां कीदृग्विभागः ? इत्याशङ्क्याह

नव वर्गास्तु ये प्राहुस्तेषां प्राणशती रवीन् [विः]
सत्रिभागैव संक्रान्तिर्वर्गे प्रत्येकमुच्यते ।।२४४।।
अहर्निशं तदैक्ये तु शतानां श्रुतिचक्षुषी ।

रवीनिति द्वादश। सत्रिभागेति प्राणशतत्रयस्याधिक्येनोपादानात्। तेन प्रतिवर्गं प्राणचाराणां शतद्वादशकम्,—इति वर्गनवके साष्टशतं सहस्रदशकं भवेत् 'तदैक्ये' इत्यहर्निशमेलने। 'श्रुतिचक्षुषी' इति चतुर्विंशतिः ::

एवं वर्णानां वर्गक्रमेण स्थूलमुदयमभिधाय क्रमान्तरेणाप्याह

स्थूलो वर्गोदयः सोऽयमथार्णोदय उच्यते ।।२४५।।

तदाह

एकैकवर्णे प्राणानां द्विशतं षोडशाधिकम् ।
बहिश्चषकषट्त्रिंशद्दिन इत्थं तथा निशि ।।२४६।।

चषकषट्त्रिंशदिति, प्रतिचषकं षण्णां प्राणचारणामुदयात्। तेन पञ्चाशतो वर्णानां साष्टशतं सहस्रदशकं प्राणचाराणां स्यात् ॥ २४६ ॥

अत्र चोदये विशेषं दर्शयति

शतमष्टोत्तरं तत्र रौद्रं शाक्तमथोत्तरम् ।
यामलस्थितियोगे तु रुद्रशक्त्यविभागिता ।।२४७।।

'यामलस्थितियोगे' इत्युभयसंमेलनायाम् ॥ २४७ ॥

एतदेव चाहोरात्रसंमेलनायां द्विगुणीभवेत्,--इत्याह

दिनरात्र्यविभागे तु दृग्वह्न्यब्ध्यसुचारणाः ।
सपञ्चमांशा नाडी च बहिर्वर्णोदयः स्मृतः ।।२४८।।

दृग्वह्न्यब्धिरिति, द्वात्रिंशदधिकं शतचतुष्टयम् 'असुचारणाः' इति प्राणसंचारणाः। सपञ्चमांशां नाडीति, चषकषट्त्रिंशतो द्वैगुण्यात् ।।२४८।।

एतदुपसंहरन्नन्यदवतारयति

इति पञ्चाशिका सेयं वर्णानां परिचर्चिता ।

एकोनां ये तु तामाहुस्तन्मतं सम्प्रचक्ष्महे ॥२४९॥

तदाह

वेदाश्चाराः पञ्चमांशन्यूनं चारार्धमेकशः ।
वर्णेऽधिकं तद्द्विगुणमविभागे दिवानिशोः ॥२५०॥

'वेदा' श्चत्वारः । पञ्चमांशेनार्थात्किंचिदंशेन 'न्यूनं' रहितम् । अधिकमिति, षोडशाधिकशतद्वयस्योपरीत्यर्थः । तेनैकोनपञ्चाशतो वर्णानां प्रत्येकं षोडशाधिकशतद्वयात्मकत्वात् चतुरशीतिशतपञ्चकाधिकं शहस्रदशकं प्राणचारा भवन्ति, अधिकैश्च प्रत्येकं चतुर्भिः सषण्णवतिशतम्, अनेन च चाराणां सार्धचतुर्विंशतेः किंचिदंशन्यूनं पञ्चभागं विंशति (?) साष्टशतं सहस्रदशकम् ॥ २५० ॥

एतदेवोपसंहरति

स्थूलो वर्णोदयः सोऽयं पुरा सूक्ष्मो निगद्यते ।

सूक्ष्म इत्यर्थात्परोऽपि पुरा निगदित इत्यर्थः ॥ २५१ ॥

इदानीमाह्निकार्थमार्यायाः प्रथमार्धेनोपसंहरति

इति कालतत्त्वमुदितं शास्त्रमुखागमनिजानुभवसिद्धम् ।

मुखागमेति 'शैवी मुखमिहोच्यते' (वि० भै० २० श्लो०) इत्यादिन्यायेन परतत्त्वप्रवेशोपायत्वाद्गुरुस्तस्य 'आगमो' वचनमित्यर्थः । सिद्धमिति

'यतः शास्त्रक्रमात्तज्ज्ञगुरुप्रज्ञानुशीलनात् ।
आत्मप्रत्ययितं ज्ञानं पूर्णत्वाद्भैरवायते ॥' (तं० ४।७७)

इत्याद्युक्तयुक्त्या पारिपूर्ण्येन लब्धसिद्धीति शिवम् ॥

प्राणापानसमाश्रयचारप्रविचारचातरीनिष्ठः ।
षष्ठाह्निके वरिष्ठां विवृतिमिमां जयरथश्चक्रे ॥

इति श्रीमन्महामाहेश्वराचार्यवर्य-श्रीमदभिनवगुप्तविरचिते तन्त्रालोके श्रीजयरथविरचितविवेकाभिख्यव्याख्योपेते कालतत्त्वप्रकाशनं नाम षष्ठमाह्निकम् ॥ ६ ॥